सूरसागर शब्दावली

[एक सांस्कृतिक अध्ययन]

डा० निर्मला सक्सेना,
एम० ए० डी० फिल्०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति ९ ७, १९६२
मूल्य १३) रु०

मुद्रक
भार्गव प्रेस इलाहाबाद

पापा मम्मी
को

प्रकाशकीय

भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास के गीत और पद 'सूरसागर' के नाम से संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ जगत्प्रसिद्ध है। सूरदास हिन्दी भाषा और साहित्य के आधार-स्तम्भों में हैं। हिन्दी साहित्य के आदि युग से विद्वत्समाज हिन्दी के इस सूर्य की भाषा और भाव-व्यंजना पर चिन्तन-मनन तथा विचार-विमर्श करता आ रहा है। विदुषी लेखिका ने सूरसागर में महाकवि द्वारा प्रयुक्त संज्ञा शब्दों का सांस्कृतिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अध्ययन की यह दिशा सर्वथा नवीन है। हिन्दी के वर्तमान महत्त्वपूर्ण काल में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी की अमूल्य निधियों का सांगोपांग और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। महा-कवि सूरदास की शब्द-साधना महती है और लोकोत्तर आनन्द के प्रणेता हैं। अपने समय में कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए ब्रज तथा इतर भाषाओं के जिन शब्दों का प्रयोग किया था उनके सन्दर्भ सहित अध्ययन को रुचि की रचना को उजागर करने में और भाषा को गौरव देने में निश्चय ही सहायक होनी चाहिए। इस दृष्टि से डाक्टर निर्मला सक्सेना का यह कार्य महत्त्वपूर्ण अवश्य श्लाघनीय है।

डाक्टर निर्मला सक्सेना ने बड़े अध्यवसाय से सूरसागर के संज्ञा शब्दों का संकलन कर उनका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया है। शब्द, शब्द का प्रयोग, पद, सन्दर्भ और समकालीन रचनाओं में या उससे पुरातन साहित्य में शब्द-विशेष का प्रमाण आदि सभी आवश्यक तथ्य इस ग्रन्थ में निहित हैं। हमारा विश्वास है कि इस अभिनव अध्ययन को विद्वज्जन और साधारण पाठक समान रूप से उपयोगी पायेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि डाक्टर निर्मला सक्सेना के इस विद्वत्तापूर्ण कार्य से स्फूर्ति लेकर अन्य शोधकर्ता हिन्दी के महाकवियों की रचनाओं पर अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। हमें यह ग्रन्थ प्रकाशित करते हर्ष है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ वास्तव में थीसिस के रूप में लिखा गया था जिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने १९५८ में मुझे डी फ़िल्० की उपाधि प्रदान की थी। उसी थीसिस का यह संशोधित और परिवर्धित रूप है। एम ए करने के कुछ वर्ष पश्चात् १९५१ में मैंने शोध कार्य के लिए सूरसागर की शब्दावली को अध्ययन का विषय चुना था। सूरसागर की समस्त शब्दावली को एक ही थीसिस की सीमा में बांधना असम्भव समझ कर अपने निर्देशक डा धीरेन्द्र वर्मा की सम्मति तथा आदेश के अनुसार केवल संज्ञा-शब्दों का सांस्कृतिक दृष्टि से विवेचन करने का मैंने निश्चय किया था।

अत इस ग्रंथ की विशेषता सूरसागर में प्रयुक्त लगभग १७ संज्ञा शब्दों के सांस्कृतिक विवेचन से है। इस दृष्टि से सूरसागर की शब्दावली पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। प्रस्तुत अध्ययन समाप्त करने के बाद डा प्रेमनारायण टंडन का 'सूर की भाषा' शीर्षक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसका छठा अध्याय सांस्कृतिक नामावली से संबंधित है। डा टंडन के वृहद् ग्रंथ का एक अंश होने के कारण उसमें सांस्कृतिक शब्दों के उदाहरणस्वरूप कुछ सूचियाँ मात्र दी गई हैं तथा इनके साधारण महत्त्व पर कुछ प्रकाश डाला गया है। विषय साम्य के कारण 'सूर की भाषा' के इस अध्याय के साथ प्रस्तुत ग्रंथ का आंशिक साम्य दिखलाई पड़ सकता है, किन्तु वास्तव में सूरसागर के समस्त सांस्कृतिक संज्ञा शब्दों को लेकर उनका विस्तृत वर्गीकरण तथा अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेषता है। शब्दावली की व्याख्या के साथ-साथ इन शब्दों के सूर द्वारा प्रयोग पर विशेष प्रकाश डालने के उद्देश्य से प्राचीन काल में सूर के समकालीन कवियों विशेषतया तुलसी तथा जायसी के काव्यों में तथा वर्तमान समय में ब्रजप्रदेश में प्रयुक्त इन शब्दों के रूपों से तुलना करने की भी यथासंभव चेष्टा की गई है।

प्राचीनकालीन शब्दों के रूपों को समझने के लिए डा वासुदेवशरण अग्रवाल के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों 'इंडिया एज नोन टु पाणिनि' तथा 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' से विशेष सहायता ली गई है। डा० अग्रवाल द्वारा व्याख्या सहित प्रकाशित पद्मावत तथा डा देवकीनंदन श्रीवास्तव लिखित 'तुलसीदास की भाषा' क्रमश जायसी तथा तुलसी द्वारा व्यवहृत शब्दावली पर प्रकाश डालने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए। तुलनात्मक अंशों में इन ग्रन्थों का उपयोग निरंतर किया गया है। वर्तमान समय में ब्रजभाषाभाषी कृषक वर्ग की सांस्कृतिक शब्दावली का ज्ञान प्राप्त करने के लिए डा अम्बाप्रसाद सुमन के ग्रन्थ 'कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली' से भी विशेष सहायता मिली है। सूरदास की समकालीन स्थिति पर प्रकाश डालने वाले अन्य भाषाओं के ग्रन्थों में 'आईने अकबरी' तथा बर्नियर और मनूची के यात्रा-विवरणों से सहायता ली गई है। शब्दावली का संकलन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर (प्रथम संस्करण संवत् २ ५ वि) से किया गया था। शब्दों के आगे दी गई संख्याएँ इसी संस्करण की पूर्ण संख्या की बोधक हैं।

इस ग्रन्थ की त्रुटियों से मैं अपरिचित नहीं हूँ। शब्दावली की संख्या बढ़ जाने के

कारण शब्दों का पूर्ण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विवेचन करना संभव नहीं हो सका। यदि भविष्य में इस अध्ययन को अग्रसर करने का अवसर मिल सका तो मेरी इच्छा अध्ययन के इस पहलू पर विशेष ध्यान देने की है। वास्तव में शब्दों के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिए दीर्घकालीन व्यापक और गंभीर अध्ययन तथा मनन की आवश्यकता होती है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में लगभग दो वर्ष (१९५३-५५) डी॰ फ़िल् के नियमित विद्यार्थी के रूप में डा॰ धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में मैंने शब्दों का संग्रह तथा विषय से संबंधित साहित्य का अध्ययन किया था। इसके उपरान्त विशेष परिस्थितियों के कारण मुझे प्रयाग छोड़ना पड़ा और कार्य अत्यन्त मन्द गति से अग्रसर हो सका। डा॰ वर्मा के निरंतर प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के बिना यह कार्य कदाचित् अधूरा ही रह जाता। उनके बार-बार उत्साहित करने के फलस्वरूप १९५७ से मैंने इस शब्दावली का विस्तृत अध्ययन फिर प्रारम्भ किया और अंत में उसे प्रस्तुत अध्ययन का रूप देने में सफल हो सकी। डा॰ वर्मा को गुरु-रूप में पाना उनके विद्यार्थी अपना परम सौभाग्य मानते हैं, किन्तु मैं पिता और गुरु दोनों रूपों में उनको पाकर गौरवान्वित हूँ। पिता गुरु और साथ ही मित्र के समान वे सदैव जीवन के हर क्षेत्र में पथ-निर्देशन करते रहे हैं। उनसे मैंने क्या पाया है यह मेरे लिए शब्दों में बताना असम्भव है।

डा॰ वासुदेव शरण अग्रवाल के ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे जो निरंतर प्रेरणा और सहायता मिली उसके लिए मैं हार्दिक आभारी हूँ। हिन्दी इंस्टीट्यूट आगरा के डायरेक्टर डा॰ विश्वनाथ प्रसाद जी ने इस अध्ययन की रूपरेखा को कृपया ध्यानपूर्वक देखकर अनेक उपयोगी सुझाव दिए। अंत में दी गई शब्दानुक्रमणिका उन्हीं के सत्परामर्श का परिणाम है। ग्रंथ की धार्मिक तथा दार्शनिक शब्दावली के अध्ययन में डा॰ दीनदयालु गुप्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय से मुझे बहुत सहायता मिली। अपने इन समस्त गुरुजनों के प्रति मैं सादर आभार प्रकट करती हूँ।

अंत में मैं उन अन्य समस्त विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकाशन अपना कर्तव्य समझती हूँ जिनके ग्रंथों से मैंने इस अध्ययन में सहायता ली है। इन कृतियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडमी के अधिकारियों की कृपा से ही रहा है। इसके लिए मैं इस संस्था के सहायक मंत्री डा॰ सत्यव्रत सिनहा तथा अन्य अधिकारियों की कृतज्ञ हूँ।

आगरा
मार्च १९६१

निर्मला सक्सेना

विषय-सूची

अध्याय			पृष्ठ

अध्याय		पृष्ठ
४	सवारी के लिए उपयोगी पशु	२९६
५.	जल में रहने वाले जानवर	२९९
६	सर्प तथा अन्य रेंगने वाले जानवर	३
७	कीट पतंग	३ ३
८.	पक्षी	३ ।
९	कल्पित पौराणिक पशु-पक्षी	३१३
	खण्ड १०—वृक्ष, लता तथा पुष्प [पृ० ३१५—३३१]	
१	वृक्षादि के सूचक साधारण शब्द	३१७
२	पुष्पों के नाम	३१८
३	पुष्प-वृक्ष	३२५
४	फलों के वृक्ष	३२७
५	अन्य वृक्षों के नाम	३२८
६	झाड़ लता आदि	३२९
७	कल्पित पौराणिक वृक्ष	३३
	खण्ड ११—गृहस्थी की उपयोगी वस्तुएँ [पृ० ३३३—३५३]	
१	साधारण पात्रों के नाम	३३५
२	भोजन करने के पात्र	३३९
३	अन्य पात्र	३४
४	अन्य छोटी वस्तुएँ	३४१
५.	बैठने तथा सोने के उपकरण	३५
	खण्ड १२—मनोविनोद तथा वाहन [पृ० ३५५—३६७]	
१	मनोविनोद के साधन	३५७
२	वाहन	३६४
३	दूरी के माप	३६
	शब्दानुक्रमणिका	३६९

सहायक-ग्रंथों की सूची

क मुख्य-ग्रन्थ

सूचना—ग्रन्थों के आवश्यक संकेत कोष्ठक में दिए गए हैं।

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग १ २)	डा दीनदयालु गुप्त हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग २ ४ वि ।
आईने अकबरी (आईने अ)	भाषान्तरकार तथा संपादक श्री रामलाल पांडेय विद्या मंदिर कानपुर, सन् १९१५ ई ।
अष्टछाप के वाद्य-यन्त्र (अष्टछाप)	श्री चुन्नी लाल 'शेष' ब्रज साहित्य मंडल मथुरा सं २ ११वि ।
कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली [अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर] (कृ जी०)	श्री अम्बाप्रसाद सुमन हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद ।
कबीर का रहस्यवाद	डा रामकुमार वर्मा साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग १९१७ ।
ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली (ग्रा श)	डा हरिहर प्रसाद राजकमल प्रकाशन सितंबर १९५६ ।
तुलसीदास की भाषा (तु भा)	डा देवकी नंदन श्रीवास्तव लखनऊ विश्वविद्यालय सं २ १४ वि ।
प्राचीन भारतीय वेशभूषा (प्रा भा वे)	डा मोतीचन्द्र भारती भंडार प्रयाग प्र सं २ ७वि ।
ब्रज की लोक कहानियाँ	डा सत्येन्द्र ब्रज साहित्य मंडल मथुरा प्रथम संस्करण मार्गशीर्ष पूर्णिमा सं २ ४।
ब्रज लोक संस्कृति	डा सत्येन्द्र ब्रजसाहित्य मंडल मथुरा सूर जयन्ती २ ०५वि
ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन	डा सत्येन्द्र
भारतीय चित्रकला का विकास	प्रो चिरंजीलाल झा लक्ष्मी कला कुटीर, गाजियाबाद १९५७ ई
सूर की भाषा	डा प्रेमनारायण टंडन हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ, १९५७ ई ।

सूर-निर्णय	श्री द्वारिका प्रसाद पारीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल अग्रवाल प्रेस मथुरा प्रथम सं० श्रीकृष्णजन्माष्टमी २ ६ वि० ।
संगीत शास्त्र (भाग १)	श्री महेश नारायण सक्सेना ।
संस्कृत साहित्य की रूपरेखा	पं चन्द्रशेखर पांडेय तथा श्री शांतिकुमार नानूराम व्यास साहित्य निकेतन १९५४ ई ।
हर्षचरित् एक सांस्कृतिक अध्ययन (हर्ष सां अ)	डा वासुदेव शरण अग्रवाल बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् सम्मेलन भवन प्रथम सं वि सं २ १ ।
हिंदुओं के व्रत पर्व और त्यौहार	श्री रामप्रताप त्रिपाठी किताब महल इलाहाबाद १९५७ ई० ।

ख काव्य-ग्रन्थ

तुलसी-ग्रंथावली दूसरा खंड (तु ग्रं०)	रामचन्द्र शुक्ल भगवानदीन ब्रजरत्नदास काशी नागरी प्रचारिणी सभा १९२ ई ।
पद्मावत मूल और संजीवनी टीका (प सं टी)	डा वासुदेव शरण अग्रवाल साहित्य सदन चिरगांव झाँसी २ १२ वि ।
मेघदूतम् (कालिदास विरचित)	श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री १९५१ ई ।
श्री रामचरित मानस (मानस)	श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर २ १ सं ।
श्रीमद्भगवद् गीता (गीता)	गीता प्रेस गोरखपुर, २ ११ सं ।

ग कोश

प्रामाणिक हिंदी कोश	श्री रामचन्द्र वर्मा हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस ।
हिंदी शब्दसागर	श्री श्यामसुन्दर दास ना प्र सभा काशी ।
संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	चतुर्वेदी द्वारका-प्रसाद शर्मा रामनारायण लाल इलाहाबाद ।
उर्दू-हिंदी कोश	श्री रामचन्द्र वर्मा

घ पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी-अनुशीलन (हि अनु)	आश्विन-मार्गशीर्ष २ ८ अंक ३ 'दस हिंदी शब्दों की निरुक्ति' डा वासुदेव शरण अग्रवाल । चैत्र-ज्येष्ठ २ ११ अंक १ 'भारतीय अभिधान क्षेत्र में आभूषणों का महत्व' डा विद्याभूषण विभु ।

आश्विन-मार्गशीर्ष २००७ अंक १
'हिंदी के सिलाई संबंधी शब्द और उनकी व्युत्पत्ति'
डा हरिहर प्रसाद गुप्त ।
पौष-फाल्गुन २०१ अंक ४
'कुछ ग्रामीण शब्दों की व्युत्पत्ति'
डा हरिहर प्रसाद गुप्त ।
अक्तूबर-दिसम्बर १९५७ अंक ४
'संस्कारों से संबंधित शब्दावली'
डा अम्बा प्रसाद सुमन ।

ङ अंग्रेजी-ग्रन्थ

A History of Sanskrit literature, Classical Period (Vol. 1)	Sri S N Das Gupta, and Sri S K. De, University of Calcutta, 1947
Ain I Akbari Vol 1 (आइने)	Abul Fazl translated from Persian by H Blochmann 1873-94
Glories of India on Indian Culture and Civilization. (ग्लोरीज आफ इंडिया)	Dr P K. Acharya, Jay Shanker Brothers, 1952.
India As Known to Panini [A Study of the Cultural Material in the Ashtadhyayi] (इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि)	Dr V S Agrawal Printed by J K Sharma, Allahabad Law Journal Press, 1953
Life And Conditions of the People of Hindustan (1200-1500 A. D) Mainly based on Islamic Sources (अशरफ)	Kunwar Muhammad Ashraf
Mathura, A District Memoir (Part I) (ग्राउस)	F S Growse M. A 1874 Printed at the North Western Provinces, Govt Press
Storia Do Mogor or Mogal India (1653-1708) Vol. 1-4 (मनूची)	Niccolao Manucci Venetian, Translated with introduction by W Irvine London John Murray 1907
Studies in Mughal Printings. (कौमुदी)	Dr Kaumudi.

The Court Life of the Great Mughals (1556-1707) Mainly based on Persian and European Sources (अन्सारी) — Sri M. A Ansari

Travels In the Mugul Empire, (1656-1668 A. D) (बर्नियर) — F Bernier. A revised and improved edition based upon J Brock's translation by A. Constable, W A. Constable And Company

संकेत-सूची

अं	..	अंग्रेजी
अ	....	अरबी
अध्या	..	अध्याय
खं		खंड
तु	...	तुर्की
बैत	..	बैतम
परि		परिशिष्ट
पृ	..	पृष्ठ
प्र	...	प्रकरण
फ़ा	..	फ़ारसी
भा	....	भाग
श्लो	..	श्लोक
सं	..	संस्कृत

सूचना—पुस्तकों के संक्षिप्त नाम सहायक-ग्रंथों की सूची में दिए गए हैं।

खण्ड १

वस्त्राभूषणों के नाम

१ वस्त्र के पर्यायवाची शब्द

१—वस्त्र के अर्थ में सूरसागर में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द या तो साधारणतया अनेक प्रकार के परिधानों के लिए आये हैं अथवा किसी वस्त्र विशेष की ओर संकेत करते हैं। बसन (१२९ ६५१) [सं वसनं] तथा अम्बर (६४२ २४७ ११) [सं अम्बरं] शब्द सूरसागर के अधिकांश पदों में वस्त्र के साधारण अर्थ में आये हैं। असन-बसन की चित न करै। विस्वंभर सब जन की भरै। (३६१)। कृष्णजन्मोत्सव पर नंद द्वारा तरह-तरह के परिधान रत्नाभूषण आदि दान करने का उल्लेख अनेक पदों में है —

'तब अम्बर और मंगाए, सारी सुरंग चुनी।
ते दीनी बधुनि बुलाइ जैसी जाहि बनी।
अथवा— उर मनि-माला पहिराइ, बसन विचित्र दिये।
दै दान-मान-परिधान पूरन काम किये। (६४२)
अथवा— 'इक पहिलैं ही आसा लागे बहुत दिननि तैं आए,
ते पहिरे कंचन-मनि भूषन नाना बसन अनूप।'[१] (६५१)
तथा— 'दै दाइनि कंचन-मनि-मुक्ता नाना बसन अनूप। (६६५)

बसन शब्द बालिका राधा के परिधान वर्णन में भी प्रयुक्त हुआ है —

'नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी' (१२९)।

प्रथम स्कंध के द्रौपदी-वस्त्र-हरण प्रसंग में 'बसन' तथा 'अंबर' द्रौपदी की सारी के लिये आये हैं[२] —

'दुस्सासन जब गही द्रौपदी तब तिहिं बसन बढ़ायौ' (१२)
'अंबर गहत द्रौपदी राखी पलटि अंग-सुत नारि' (११)
'सकल सभा में पैठि दुसासन अंबर आनि गह्यौ' (२४७)।

कृष्ण के वस्त्रों में बराबर पीत बसन तथा पीताम्बर का उल्लेख किया गया है। यह कहीं तो अधोवस्त्र कहीं उत्तरीय के लिये आये हैं। कहीं-कहीं 'बसन'[३] बिछाने वाले वस्त्र

१—मानस, बाल , १९३, 'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह'—राम के जन्म पर दान।

मानस, बाल , ३१९, 'मनि बसन भूषन भूरि वारहिं, नारि मंगल गावहीं'—राम-विवाह के अवसर पर।

२—मानस, बाल , ११६ 'केकि कंठ दुति स्यामल अंगा, तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा'—राम रूप वर्णन।

३—मानस, बाल , १२८ 'परत पाँवड़े बसन अनूपा'।

के अर्थ में आया है— कहँ ओढ़ि आवत बन कहँ तेज की पसन, कहँ निवारिहि मेंह बूंद बांधु घाम की। (२११४)।

२—थोड़े ही स्थानों में एक अन्य शब्द परिधान (१४२) [सं परिधानम्—वस्त्र धारण करना] मिलता है। अंगा नामक वस्त्र के नीचे पहना जाने वाला एक वस्त्र 'परिधानी-यम्' भी था। दूसरा उल्लेखनीय शब्द कापरा[1] (१५८,२११) [सं कर्पटः कर्पटम्] है— 'काढ़ी कोरे कापरा (अब) काढ़ो घी के मौन। जाति-पाँति पहिराइ कै (सब) करौ सबनि की वार। (१५८)

अथवा— 'कापर बान पहिरि तुम आए,
  बाबहु जु मिलि उनही पै बैंसे जिनि तुम रोक्न पंथ पठाए (२११)।

'कर्पट'[2] प्राय कपड़े की चीर या पैबंद लगे पुराने कपड़े को कहते थे। गेरुए रंग के वस्त्र को भी कभी-कभी कर्पट कहते थे किन्तु वर्तमान काल में कपड़ा शब्द वस्त्र मात्र के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

कोरा (१५८) [सं कुमार][3] बिना धुले नये वस्त्र या मिट्टी के बर्तन को कहते हैं। यह प्राय ऐसे नये सूती वस्त्र के लिए आता है जिसमें बिना धुले एक मटमैलापन होता है। इस प्रकार कोरा शब्द एक सीमित अर्थ में कपड़े या मिट्टी के बर्तन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगा। सूरसागर में भी कोरा शब्द इसी अर्थ में आया है 'काढ़ी कोरे कापरा (१५८)। मेरठ की बोली में आज भी 'कोरा पिंड' क्वाँरा के अर्थ में बोला जाता है। नये वस्त्र के लिए नये शब्द के अतिरिक्त नूतन या नव भी आया है—'तन पहिरे नूतन चीर (१४२)। चीर उतारि वस्त्र नव[4] पहिरौ। (११६६)।

३—पाणिनिकालीन चीर (२४७ १४२) [सं चीर] शब्द भी सूरसागर में अनेक बार प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द प्राय साड़ी या धोती के अर्थ में अधिक आया है। प्रथम स्कंध के द्रौपदी-चीर-हरण प्रसंग में वह साड़ी के अर्थ में ही मिलता है—'एकै चीर हुतौ मेरे पर, सो हम हरन चह्यौ। हा जगदीस ! राखि इहि अवसर प्रगट पुकारि कह्यौ। (२४७)

अथवा—'भक्ति-हेत प्रहलाद उबार्‌यो द्रौपदि-चीर बढ़ायौ। (२)।

दशम स्कन्ध में कृष्ण-जन्मोत्सव तथा अन्य प्रसंगों में भी चीर कहीं-कहीं साड़ी या ओढ़नी का अर्थ देता है—'नव किसोरी मुदित ह्वै ह्वै गहति जसुदा पाइ। करि अलिंगन गोपिका पहिरैं अभूषन चीर। (१४४)

या—'तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिये।
  कसि कंचुकि तिलक लिलाट सोभित हार हिये। (१४२)

अथवा—'एकनि को मैंगल समर्पत एकनि को पहिरावत चीर।[5]
  एकनि को भूषन पाटम्बर एकनि को जु देत नग हीर। (१४२)।

कृष्ण तथा बलराम मक्खन के लिए माता यशोदा से झगड़ रहे हैं—

[1]—अ सं व्या १७६।१ 'रत्नयोनि कहुँ कापर आयें'।

[2]—हर्ष सां अ पू ११

[3]—हिन्दी शब्दसागर के अनुसार 'कोरा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'केवल' से है। उसमें भी कोरा का अर्थ नया अथवा अछूता मिलता है।

[4]—गीता अ २, श्लोक २२—'नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।'

[5]—मानस, बाल १४८—'करहिं निछावरि मनि गन चीरा'।

माखन माँगत, बात न मानत झँखत जसोदा जननी तीर
जननी मधि सनमुख संकर्षन खैंचत कान्ह खस्यौ सिर-चीर। (७७६)

कृष्ण के लिए उबटना लेकर गोपियाँ यशोदा के पास जाती हैं—

'फूटी चुरी चोलि भरि स्यामैं फाटे चीर दिखावति गात (६५)।

हिंडोला शीर्षक पदों में भी यह शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

'पहिरे चोर सुरंग सारी, चुह-चुह चूनरि बहुरंगनी
नील लँहगा लाल चोली कसि केसरि अंग सुरंगनी' (३५५०)

या— 'सब पहिरि चुनि-चुनि चीर चुहि चुहि चूनरी बहुरंग
कटि नील लँहगा लाल चोली उबटि केसरि अंग' (३४८८)

तथा 'पीय-बाहु जमुन-तीर नव ललना सुभग नीर, पहिरे अंग विविध चीर
नव सत सब साजे। (३४४७)[1]।

४—'वस्त्र'[2] शब्द भी सूरसागर में आया है—'चीर उतारि वस्त्र नव पहिरो नेह देहरी पग तब दीजो। (३१६६)।

चीर-हरण प्रसंग में प्रायः उपर्युक्त सभी शब्द वस्त्र के साधारण अर्थ में प्रयुक्त किये गए हैं—

'अंबर लिये सब भाए (१४१२)
'अंबर दीन्हे परमानंद' (१४१)
'बसन भूषन सबनि पहिरे' (१४११)
'लो वस्त्र हार सब पावहु' (१४ ३)
'मेरे अहो माइ पहिरी पट' (१४ ५)
'भूषण चीर तहाँ कछु नाहिं' (१४०२)
'चोली चार हार लिवराए (१४१७)।

इन पर्यायों में भी चीर तथा पट प्रायः साड़ी की ओर संकेत करते हैं।

कपड़े सीते समय यदि सिकुड़न-सी पड़ जाती है तो उसके लिये झोल शब्द आता है। झोल पड़ी सिलाई दोष-युक्त मानते हैं। सूर ने 'झोल' शब्द खोट या दोष के साधारण अर्थ में प्रयुक्त किया है—

१—मानस, बाल०, ३१८, 'पहिरे बरन बरन बर चीरा'। राम-विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार की सुन्दर साड़ियाँ पहने हुए थीं।

मानस, अयोध्या०, १६५, 'बिनु बासन भूषन बसन, नाथ तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर।'

प० सं० व्या० 'बहु चीर अरु चंदन चीरू' (१६८।३)
'पुनि पहिरे तन चंदन चीरू' (२९६।१)
'पहिरे सुरंग चीर मनि भीना' (३१६।२)
'पदुमावत आनि चीर सब छोरे' (३२२।१)

आईन की सूची में सोने के काम के वस्त्रों में चीर का उल्लेख है। जायसी ने भी 'मोति लाग औ छाजे सोने' वर्णन किया है।

२—ऋग्, मं० ३, सूक्त ४७, मन्त्र ६ 'वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति'।

कैधौं तुम पावन प्रभु नाहीं कै कछु मो मैं भोरौ' (११६)।

५—सूर के अतिरिक्त जायसी तथा तुलसीदास ने भी प्रायः ये सभी शब्द प्रयुक्त किये हैं और इन्हीं अर्थों में। आजकल इनमें से कुछ शब्द जैसे 'बसन' परिधान तथा 'अंबर' बोलचाल में साधारणतया प्रयुक्त नहीं होते हैं। इनका स्थान प्रमुख रूप से 'कपड़ा' शब्द ने ले लिया है। 'वस्त्र' भी सुनने में आता है। चीर शब्द बच रहा है किन्तु बिल्कुल भिन्न अर्थ में। आजकल किसी कपड़े की लम्बी किन्तु पतली पट्टी को ही चीर कहते हैं। कुछ लोग कपड़ा फाड़ने के लिए 'चीरना' शब्द भी काम में लाते हैं। वास्तव में चीर शब्द पुराने साहित्य में भी बिना सिले कम चौड़े पर लम्बे वस्त्रों के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था जैसे साड़ी अंगोछी धोती या पगड़ी। यही अर्थभेद के फलस्वरूप अब कपड़े की पतली पट्टी के लिए आने लगा है। फैलन कोष[1] में अवश्य 'पचरंग चीरा' एक प्रकार की चादर को कहते हैं जिसमें कई रंगों की धारियाँ होती हैं। यहाँ की जनपदी बोली में वर के वस्त्रों में एक लाल रंग की पट्टी को भी 'चीरा' कहते हैं।[2] कपड़े के लिए जनपदी बोली में एक अन्य शब्द 'लत्ता' [सं. लत्तक] भी प्रयुक्त होता है तथा कभी-कभी पहने जाने वाले विशिष्ट वस्त्रों के लिए 'पराऊ लत्ता'[3]।

२—वस्त्रों की सामग्री तथा बनावट

१—सूरसागर के कुछ थोड़े से ही पदों से वस्त्रों के साथ उनकी बनावट के संबंध में भी पता चलता है। इनमें से कुछ नाम अत्यन्त प्राचीन हैं जैसे दुकूल तथा पट।

दुकूल[4] (१४५६, १२४५) [सं. दुकूल] शब्द प्रथम स्कन्ध के द्रौपदी-वस्त्रहरण शीर्षक पदों में एक दो स्थलों में आया है—

'बढ़े दुकूल कोट अंबर लौं सभा मांझ पति राखी' (२७)

दशम स्कन्ध में कृष्ण के वस्त्रों की शोभा-वर्णन में भी दुकूल मिलता है—

'स्याम-देह दुकूल-दुति मिलि लसति तुलसी-माल'[5] (१२४५)।

१—कृ. वी., प्र. १३, अध्याय ३

२—कृ. वी., प्र. १२, अध्याय ११

३—कृ. वी., प्र. ११, अध्याय १

४—हर्ष. सां. अ., पृ. ७६, ७७—बाण ने जो छः प्रकार के वस्त्र बताये हैं उनमें दुकूल भी एक है। अमरकोश में क्षौम व दुकूल एक ही अर्थ में आये हैं किन्तु बाण ने दोनों में भेद बताया है। समानता इतनी ही थी कि दोनों पौधों की छाल के रेशों से बनाये जाते थे। बाण ने 'दुकूल' तथा 'क्षौम' शब्द प्रयुक्त किये हैं। यह प्रायः पुंड्रदेश 'उत्तरी बंगाल' से आता था जिससे धोती, उत्तरीय, चादर, वितान आदि बनाये जाते थे। सावित्री तथा सरस्वती के वस्त्रों में दुकूल वल्कल का उल्लेख है। दुकूल तथा दुकूल वल्कल के अन्तर के संबंध में अनुमान है कि पहला महीन व दूसरा मोटा होता होगा। 'दुकूल' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। संभवतः यह प्राचीन या देश्य भाषा के 'कूल' कपड़ा से आया है जिससे कौलिक 'हि. कोली' बना है। दोहरी चादर या थान के रूप में बिकने के कारण 'द्विकूल' या 'दुकूल' नाम पड़ गया होगा।

गुप्तकाल में दुकूल अत्यन्त प्रिय वस्त्र था। इसमें से हंसदुकूल वस्त्र-निर्माण कला का उत्कृष्ट उदाहरण था। बाण ने हर्ष के वस्त्रों में उल्लेख किया है।

५—तु. ग्रं., गीता. ७, 'बल्कल विमल दुकूल मनोहर'।

हिंडोला शीर्षक पदों में कई स्थानों पर राधा-कृष्ण के नीले तथा पीले दुकूल वस्त्रों का उल्लेख है—

'कनक नूपुर कुनित कंकन किंकिनी झनकार।
तहं कुंवरि वृषभानु की संग सोहै नंदकुमार।
नील पीत दुकूल स्यामल गौर अंग बिकार।
मनहुँ नौतन घन-घटा मैं तड़ित तरल-प्रकार। (३४५६)

अथवा— गौर स्यामल अंग मिलि दोउ भए एकहिं भाँति
नील पीत दुकूल दुति घन दामिनी दुरि-जाति (३४५१)।

दुकूल वस्त्र पौधों की छाल के रेशे से बना अत्यन्त मुलायम कीमती रेशमी वस्त्र होता था[1]। सूरसागर के उल्लेखों से अनुमान होता है कि यह शब्द अच्छे किस्म के रेशमी वस्त्र के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। द्रौपदी तथा कृष्ण-राधा संबंधी वस्त्रों के वर्णन में प्राचीन नाम देना स्वाभाविक ही है। सूरसागर में पीले व नीले रंगों के दुकूल का जिक्र आया है जब कि प्राचीन साहित्य में सफ़ेद दुकूल का उल्लेख अधिक है[2]। वर्तमान काल में दुकूल शब्द लोग भूल से गये हैं।

७—दूसरा उल्लेखनीय शब्द पट (१४७४ १४५७ १२४२) [सं पटः] है। यह शब्द अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है। द्रौपदी वस्त्र-हरण प्रसंग में वस्त्र के अन्य पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त 'पट' भी आया है—

'सुमिरत नाम द्रुपद-तनया की पट अनेक।बिस्तार्‌यौ' (१७)

या—'सुमिरत पट की कोट बढ्यौ तब दुःख सागर उबरी'। (१६)।

कृष्ण तथा राधा के वस्त्रों में नीले या पीत-पट का पहले भी जिक्र किया जा चुका है—'या पट पीत की फहरानि (२७९)।

या— नव नील-तन-घनस्याम। नव पीतपट अभिराम' (१२४१)

तथा— नील पीत पट घन दामिनी की भोरैं' (१४५७)।

पट के अतिरिक्त पटंबर (९५१ ६४१) [सं पट + अंबर] पाटंबर-अंबर (१९९ ६५४) तथा पाट-पटम्बर (४१) शब्द प्रथम स्कन्ध में विनय तथा दशम स्कन्ध के कृष्ण-जन्मोत्सव संबंधी पदों में विशेष रूप से मिलते हैं—'पाटम्बर अम्बर तजि गूदरि पहिराऊँ' (१९९) तथा 'तुम्हरें भजन सबहिं सिंगार किंकिनि नूपुर पाट पटंबर मानौ लिये फिरै घरबार' (४१)।

१—भा० भा वे , पृ १४७ आचारांग की टीका में 'गौडविषय विशिष्ट कार्पासिक' दिया गया है किन्तु निशीथ ७, (पृ०४६७) में दूसरी व्याख्या है 'दुगुल्लो रुक्खो तस्स वागो घेत्तु उदूखले कुट्टिज्जति पाणिएण ताव जाव भूसो भूतो ताहे कज्जति दुगुल्लो', अर्थात् दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे पानी में कूट कर अलग कर लेते हैं और उनसे सूत कात कर बनाते हैं। यही व्याख्या ठीक लगती है। ऐसा लगता है कि लोग ठीक अर्थ भूल कर प्रत्येक महीन सुन्दर वस्त्र को दुकूल कहने लगे।

२—भा भा वे , पृ १४

भा भा वे , पृ ६०

हर्ष सां अ , पृ ७५

पुत्र-जन्म पर नंद पट-पाटम्बर भी दान करते हैं—

'एकनि कौं भूषन पाटंबर, एकनि कौं जु देत नग हीर (६४१)

अथवा—'हीरा रतन-पटंबर इनको दीजे ब्रज के भूप' (६५६)

या —'मनि मानिक पाटंबर अंबर सेत न बनत विभूति' (६५४)।

सारी के पट का भी उल्लेख किया गया है—'कंचुकि झीनि झीनि पट सारी चंदन सरस सुधंग' (४४११)।

यहाँ पट के अतिरिक्त 'झीनि'[१] शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। पद्मावत में भी 'झीनि' का उल्लेख है (पहिरे सुरंग चीर अति झीना—११६।२)।

हिंडोला शीर्षक कुछ पदों में रंगीन या पाँच रंग के पाट की डोरी का वर्णन है—

पंचरंग पाट कनक मिलि डोरी अतिहीं सुघर बनावनी' (१४५)

अथवा— पंच रंग वर पाट-पवित्रा बिच बिच फूँदा गोहनी

नाचति सखी संगीत परस्पर पहिरि पवित्रा सोहनी

तथा—'पंचरंग-बरन पाट की डाँडी अतिहीं सौंच बनाई'।

पाट या पट शब्द वस्त्र-खंड के अर्थ में आते रहे हैं। 'पट्ट' शब्द अत्यन्त प्राचीन है तथा रेशम का द्योतक था[२]। सूरसागर की उपर्युक्त पंक्तियों में पट या पाट शब्द रेशमी वस्त्र का ही पर्यायवाची ज्ञात होता है। कृष्ण राधा तथा द्रौपदी के वस्त्रों में रेशमी वस्त्रों का उल्लेख अधिक स्वाभाविक है। अंबर के साथ प्रयुक्त होने के कारण व सूती तथा रेशमी वस्त्रों में भी संभवतः अन्तर किया गया है। पंच रंग' पाट की डोरी के लिए अन्य पदों में 'बहुरंग रेशम बरहा' प्रयुक्त किया गया है अतः 'पचरंग पाट' का अर्थ भी पाँचरंग के रेशम से बनी डोरी अधिक उपयुक्त होगा।

कुछ स्थलों पर पट शब्द साधारण वस्त्र खंड के लिये भी लिया जा सकता है—

१—हर्ष सां अ पृ २१—नृप के वस्त्रों में भी वासुकि के केंचुल के समान अत्यन्त महीन श्वेत फेन जैसे अम्बरवास का उल्लेख है। बाण ने इसके लिये 'अच्छांशुक' शब्द भी प्रयुक्त किया है। बाण ने अन्य विशेषण 'अकठोररम्भागर्भकोमल', 'निःश्वासहार्य' तथा 'स्पर्शानुमेय' दिये हैं। (पृ ७६) अंग्रेजी में इसी को 'बेब ऑफ एयर' भी कहते हैं। मुग़ल काल में इनको 'बाफ्त-हवा' विशेषण देते थे (पृ ७६)।

२—प्रा भा वे, पृ २६, २७, २८, ६५— जैनग्रंथ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में 'पट्टकार' रेशमी वस्त्र बिनने वाले व्यक्ति के लिये आया है (पृ २६)। आचारांग सूत्र में (२।५।१।४) भी पट्ट शब्द रेशम का द्योतक है। (पृ २७) महाभारत के सभापर्व में (२।४७।२२) बाह्लीक तथा चीन के बने कीटज तथा पट्ट वस्त्रों का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण में (१।१८।५) राम-दर्शन प्रसंग में क्षौम व पट्ट के पाँवड़े बिछाने का उल्लेख है। चीन-पट्ट का अर्थ चीन का बना रेशमी कपड़ा था (पृ २८)।

पृ ६५, हिन्दी-काव्य (पृ ११६) में रेशमी वस्त्र के लिए पट्टांशु कौशेय, कौसेय तथा चीन-पट्ट शब्द आये हैं। (पृ १४८) आचारांग टीका में (२ ५, १,१) 'पट्ट सूत्र निष्पन्नानि' व्याख्या है। हर्ष सां अ, पृ ७८—जैनआगम के अनुयोगद्वार सूत्र में कीटज वस्त्र पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं—पट्ट, मलय, अंशुक, चीनांशुक तथा किमिराग। पट्ट से पाट-संज्ञक रेशम तथा किमिराग से सुनहरे रंग के मूँगा रेशम का अनुमान होता है। पृ ६८, १२६, पट्ट शब्द मुकुट के अर्थ में भी आया है, जैसे शीर्षपट्ट।

'पट कुचैल दुरबल द्विज देखत ताके तंदुल खाये (हो) (७)

या—'द्रुपद सुता पन हीन करत को दुस्सासन अभिमानी' (२५०)

तथा—'सुमिरत नाम द्रुपद तनया कौ पट अनेक विस्तारयौ (१७)।

सूरसागर में पट के ये दोनों अर्थ बहुत स्पष्ट रूप से अलग अलग नहीं का सकते हैं आजकल पट शब्द वस्त्र के अर्थ में आता है या फिर अक्सर घूंघट या पर्दे के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

८—कहीं-कहीं रेशमी साड़ी या धोती के लिए पटौले या पटौरी (२५६ २१११) [स पट्टकम पत्रोर्णं] शब्द कृष्ण तथा राधा के वस्त्रों में मिल जाते हैं —

'काढे मीत नंदनन्दन से डकि लइ पीत पटोले (२५६)

या—'अंग भरगजी पन्यारी राजति छबि निरखत रीझ। ठाढे हरि (२१११)।

होली प्रसंग में भी इक सँ पोंछति ललित पटोलनि' आया है।

गुजराती पटोल वस्त्र आज भी प्रसिद्ध है। पाटन के पटोलों में रंगीन सूत की बुनाई में भी 'भातें' [सं भक्ति] बनाते हैं[1]। पटोल के मूल म सं 'पट्टकूल' शब्द है इसका तथा 'दुकूल' का क्रम एक ही है[2]। पटोर[3] [सं पत्रोर्ण] रेशम को क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से बना बताया है। गुप्तकाल मे पत्रार्ण को कीमती मानते थे तथा यह एक प्रकार का घुला रेशम होता था। पद्मावत तथा मानस में भी 'पटोरी' रेशमी सारी या धोती का उल्लेख आया है[4]।

६—सूरसागर मे प्रयुक्त अन्य उल्लेखनीय शब्द रेसम (६५६, १४४६) [फ़ा अबरेशम] है। यह प्राय पालने तथा हिंडोले की डोरी के विशेषण रूप में आया है—

'पंचरंग रैसम लगाउ हीरा मोतिनि मढ़ाउ' (६५६)

तथा—'बहुरंग रैसम-बरहा होत राय झकोरें'। (१४४६)।

आजकल अंग्रेजी शब्द सिल्क के अतिरिक्त रेशम' शब्द सबसे ज्यादा प्रयुक्त होता है। फ़ारसी उद्गम होने के कारण स्पष्ट ही है कि यह शब्द मुसलमानी संस्कृति के साथ ही आया होगा।

कुछ पदों मे तनसुख (४४१५) [तन + सुख] नामक वस्त्र का उल्लेख हुआ है। तनसुख सम्भवत मही का फूलदार कपड़ा होता था। प्राय इन सभी स्थलों में गोपियों के शृंगार के अवसर पर तनसुख की सारी किसी अच्छे वस्त्र की सारी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। आईने अकबरी में सूती कपड़ों की सूची में तनसुख का नाम है। एक थान का मूल्य चार रुपये से पाँच मोहर तक था[5]। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं —

१—हर्ष सां अ , पृ ७४

२—हर्ष सां अ , पृ ३७

३—हर्ष सां अ , पृ ७७—'सदृशवदवदाटिपत्रेषु कृमिलालोत्कीर्णं पत्रोर्णम्'— क्षीरस्वामी, 'पत्रोर्ण धौतकौशेयं बहुमूल्यं महाधनम्'—अमरकोश।

४—प सं व्या , १४८।१ 'बहुभाँति लइ पहिरि पटोरी' १८५।२ 'मैं धोरी संग पहिरि पटोरा' १८५।२ 'लहरि पटोरे' (१२६।१)-नामक भारी रेशमी कहुआ साड़ी में वर पक्ष वाले कन्या के लिए भेजते थे। अवधी में ये शब्द आज भी प्रयुक्त होते हैं।

प्रा भा वे , पृ १६६—गुप्तयुग में बनतोर के बने वस्त्र बहुत प्रचलित थे। वर्णन से यह 'पटोल' नामक वस्त्र लगता है।

मानस, बाल , ३२६—'कम्बल बसन विचित्र पटोरे।'

'हाँ है तरल तरयौना जाके भव तनसुख की सारी' (४४१५)।

गोपियों के चीर-हरण रास हिंडोला होली आदि प्रसंगों के शृंगार-संबंधी पदों में ही प्राय: उल्लेख मिलता है :—

'जुवती अंग सिंगार संवारति'।

*　　*　　*　　*

'सुरंगटिका कटि लंहगा रंग तन तनसुख की सारी।
सूर श्याम छवि देखत निकरी, पग नूपुर-धुनि भारी (२११९)।

भक्ति के उपकरणों में वल्कल (१११) [सं० वल्कल] का उल्लेख स्वाभाविक है। वल्कल वस्त्र वृक्ष की छाल से बनते थे तथा प्राचीन काल में साधु मुनि तथा ब्राह्मण वर्ग के लोगों में प्रचलित था। बौद्ध भिक्षुओं को वल्कल पहनने की अनुमति न थी[1]। अमरकोष में वस्त्रों के चार प्रकार मिलते हैं[2]। छाल के रेशे से निर्मित वस्त्र 'वल्क' नाम से कथित है। अतएव सूरसागर में भी भक्ति-संबंधी पदों में वल्कल का उल्लेख स्वाभाविक ही है—'असन-काज प्रभु बन-फल करे। तृपा हेत जल झरना भरे। पात्र-स्थान हाथ हरि दीन्हे। बसन काज बल्कल प्रभु कीन्हे। (१११)।

नवम स्कन्ध में भी वनवासी राम का प्रथानुसार रेशमी तथा बहुमूल्य वस्त्रों का त्याग कर वल्कल वस्त्र अथवा द्रुम-चर्म (४८१) धारण करना उचित ही है—'हूँ विरक्त सिर जटा धरे, द्रुमचर्म भस्म सब गात'—४८२।

१ —वस्त्रों की बनावट के सम्बन्ध में कमखाब या ब्रोकेड की तरह के वस्त्र का बोध भी एक पद द्वारा होता है। शिशु कृष्ण के 'झगुलि' की बनावट ऐसी ही बताई गई है—'झीनीयै झगुलि तामें कंचन तगा (६५७)। तुलसी ने 'जरकसी' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है।[3] सोने चाँदी के तारों के वस्त्र बनाने की कला प्राचीन भारत में भी थी। आज भी धनी वर्ग में इस प्रकार के वस्त्र प्रचलित हैं तथा बनारस इनके बुने जाने का प्रधान केन्द्र है। सदैव से ये वस्त्र भारत से विदेशों में जाते रहे हैं।

सूरसागर में कुछ स्फुट प्रसंगों में तूल (२६८, ४६) का निर्देश भी है। यह दीपक के साथ प्राय: आया है—'गृह दीपक धन तेल तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर' (४६) अथवा 'तेल-तूल-पावक-पुट भरि धरि बनै न बिना प्रकासत' (११६)। इसके अतिरिक्त सेमर (१ २, १६१) [सं शाल्मल: शाल्मलि] की ओर भी ध्यान जाता है—'भेष सुफल जानि ज्यों सेमर कौ चाउँ' (१६६)। सेमर की रुई के अर्थ में भी तूल का प्रयोग हुआ है—'सेमर फूल सुरंग अति निरखत मुदित होत खग भूप। परसत चोंच तूल उधरत मुख परत दुख कैं कूप। इस प्रकार अधिकतर मिथ्या सांसारिक आकर्षणों का उदाहरण सेमर की रुई से दिया गया है। संकर्षण प्रसंग में तूल के साथ सन (५४२) [सं शण] का उल्लेख भी है—'सन अरु सूत चीर पाटम्बर, लौ संगूर बँधाए। तेल-तूल पावक-पुट भरिकै देखत चहुँ धरी।

तूल तथा सन शब्द प्राचीन हैं। बौद्ध साहित्य में 'सनी' वस्त्र का उल्लेख है ही।[4]

१—प्रा भा० वे, पृ ११, (महावग्ग ८।२८।२ ३)
२—प्रा भा वे, पृ १४४
३—तुलसी, गीता ४९ 'ललित अंगुली मनी दामिनि की छबि छीनी,
　　सुंदर बदन सिर पगिया जरकसी।'
४—प्रा भा वे० पृ ११

उसके बाद भी निर्धन लोग सन की बनी धोतियाँ पहनते थे। आईने अकबरी में सन पटसन से रस्सियाँ बनाने का जिक्र है।[1] तूल के अर्थ में आज साधारणतः 'रुई' शब्द बोला जाता है, जो सेमल तथा कपास दोनों के लिए ही आता है। सूर ने भी आकरुई (१४७१) द्वारा रुई शब्द भी तूल के अर्थ में प्रयुक्त किया है —'उड़ियै उड़ी फिरति नैनन संग फर फूटें ज्यों आकरुई' (१४७१)। कार्तिकी फसल में पटसन या कुसमन नामक पौधा लगाते हैं। इसी के ऊपरी रेशे से सन तैयार किया जाता है। तुलसी ने भी वल्कल तथा मृग के चर्म का उल्लेख मानस में किया है।[2] पद्मावत में भी 'पाट' शब्द रेशम के अर्थ में आया है।[3] वस्त्र बनाने वालों के लिए पटवन्ह या पटुवन्हे [सं० पट्टवाय] शब्द भी आये हैं।[4]

३—वस्त्रों के रंग तथा रंगाई

११—सूरसागर में स्त्री पुरुषों के वस्त्रों के साथ-साथ बराबर उनके रंगों का निर्देश भी किया गया है। सारी का कुसुमी रंग उस समय का प्रिय रंग ज्ञात होता है—'भूसन भाई रंग हिडारै। पंचरंग वरन कुसुंभी सारी कंचुकि सीं वोरें' (१४५६) अथवा 'नख-सिख सजि सिंगार ब्रज-जुवती तनु अंगिया कुसुमी बोरी की। (१४९०)। कृष्ण के राधा-रूप बनाने में भी इस शब्द का उल्लेख आया है—'स्याम अंग कुसुमी नई सारी' (१८१७) अथवा 'स्याम अंग कुसुमी नई सारी फल गुंज की भाँति इत नागरि नीलांबर पहिरे जनु दामिनि घन कांति। (२७०१) तथा 'साँवरे तन कुसुमी सारी। (२७८१)।

उपर्युक्त पद्यांशों में इस रंग की तुलना गुंजा फल अथवा दामिनि से होने के कारण इसके सही अर्थ का भी अनुमान हो जाता है। कुसुम पुष्प के पौधे का नाम बर्रे है जिसमें अलग अलग लाल तथा पीले दो वर्णों के फूल आते हैं। इससे ही रंग भी तैयार होता है। वर्षा ऋतु में पद्मावती ने भी इस रंग का चोला पहन लिया था।[5]

१२—दूसरा अधिक उल्लिखित रंग नीला है। नीलाम्बर सारी के अनेक उल्लेख हैं। बलराम तथा तथा गोपियों के वस्त्र आदि इस रंग के बताए गए हैं—'नील वसन भामिनि बनी (१४८५) अथवा 'उत गिरिधर नीलाम्बर सारी घूँघट ओट निहारें (२७७)। सारी की किनार प्रायः लाल बताई गई है— लाल किनारि की सारी' (१११२)। किनारि का अर्थ किनार है। सारी पाँच रंगों[6] की भी रंगी जाती थी—'अंग पचरंग सारि' (२६६१) अथवा 'पंचरंग सारी अधिक विराई' (२५२८)। आजकल सतरंगी सारी या इन्द्रधनुषी भाँति की सारी रखने की प्रथा चल रही है। जायसी ने सात रंगों का उल्लेख किया है। सूर ने वनमाल का रंग अवरम

१—आईने अ०, पृ० १०९

२—मानस, अयोध्या०, १९४ 'पितु आयस भूषन वसन तात तजे रघुवीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बल्कल चीर।'

३—प० सं० व्या० २९३।६ 'पुहुँ दिसि गेंडुवा औ गलसुई। काँचे पाट भरी धुनि रुई।'

४—प० सं० व्या० १८४।४ 'भल पटवन्ह बारबार सँवारे'
१२९।१, 'पटवन्ह चीर आनि सब छोरे'।

५—प० सं० व्या० ३१७।७ 'हरियर भुम्मि कुसुमी चोला'।

६—'श्वेतो रक्तस्तथा पीतः कृष्णो हरितमेव च।'

७—प० सं० व्या० ११९।४ 'सातहुँ रंग सो चित्र चितेरे' ४४१।२ 'सातहुँ रंग सो सातहुँ पँवरी'।

सतरंगी बताया है जो इंद्रधनुष के समान शोभा देता था— की बनमाल लाल उर राजहि की सुरपति धन बाव' (२६७६) अथवा इंद्रधनु नहिं बन-दाम बहु सुमन के' (२६७६)।

१३—अनेक रंगों का निर्देश भी कई पदों में है—'चुहि चुहि चूनरि बहुरंगनी' (१४४८) या 'रंग रंग बहु भांति के मोतनि पहिराए' (१६६०)। चुनरी रंगने की कला के संबंध में बताया जा चुका है। चुहचुह अथवा डहडहौ (२१२६)—'नीलाम्बर ओढ़े ही आए, पति डहडही नयौ' शब्द चटक रंग के बोधक हैं। इसको आज चोखा [सं० चोक्षा—चोक्ष + क] रंग भी कहते हैं।

कृष्ण के बहुनायकत्व सम्बन्धी पदों में उनके नवरंगी रूप तथा रंग-मग्न होने का विषय अनेक पदों में है—'आजु बनी नवरंग पियारी अथवा 'आजु बने नवरंग छबीले (१२६१ २२६४) तथा 'अंग अंग रंग भरि आए हो। (११७५)। कृष्ण जन्मोत्सव पर नाइन के सम्बन्ध में भी कवि ने यही कहा है—'नाइन बोलहु नवरंगी' (६५८)।

१४—सारी के अन्य रंगों में लाल या सुरंग' भी उल्लेखनीय है—'पहिरे चीर सुरंग सारी' सारी सुरंग मिलि तथा सारी सुरंग सुही' (६४२)। गोपियों का उपमान लाल मुनिया के मुंह से लेकर अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा गया है—

'मुख मंडित रोरी रंग सेंदुर मांग छुही
उर अंचल उड़त न जानि सारी सुरंग सुही
मनु लाल-मुनयनि पांति पिंजरा तोरि चली (६४२)[१]।

सारी लाल तथा पीली दोनों रंगी जाती थी—'पीत अरुन तन चीर (१५११) नीलाम्बर पाटंबर सारी सेत पीत चुनरी अरुनाए' (१४ २)। इसी प्रकार कंचुकी लंहगा तथा ओढ़नी के रंग प्रायः लाल तथा नीले ही बताये गये हैं—'नील लंहगा लाल चोली (१८५)[२] अथवा 'सारी सुरंग मिलि नील लंहगा सोभ कंचुकि लाल' (१४५६)। थोड़े ही स्थलों म अंगिया तथा उपरना का रंग श्वेत बताया गया है—'स्वेत अंगिया अंग' (१४४६) तथा 'पहिरे राती चूनरी सेत उपरना सोहे हो' (७४)। अंगिया का रंग लाल पीला अथवा कुसुमी भी रंगा जाता था—'राती पीरी अंगिया पहिरे, नव तन भूमक सारी' (१४९१) 'कंचुकि कुसुम सुरंग' (१८८५) नीलाम्बर कंचुकि सुरंग तनु' (१४९)। स्त्रियां अंगिया दो रंगों की भी पहनती थी—'अंगिया नील मांडनी राती' (१६७१) 'लाल चोली नील लहिगा' (१७८६)। अजंता के कुछ चित्रों में कई रंगों की अथवा बुन्दीदार कंचुक चित्रित है। कभी पीठ का रंग दूसरा व सामने का लाल है।

१५—कृष्ण तथा बलराम के वस्त्रों में क्रमशः पीले तथा नीले रंगों का अधिकांश रूप से उल्लेख है। कृष्ण के परम्परागत पहनावे में पीताम्बर है अतः इसके अनेक उल्लेख स्वाभाविक हैं—'रावली कहि स्याम पुकारयौ। नीलाम्बर कर ऐंचि लियौ हरि, मनु बादर तै चंद

१—प स व्या १२३।५ 'सुरंग चीर लाल तिलक बीपी।'
१८२।७ 'पहिरनि पहिरि सुरंग तन चोला।'

२—प स व्या १७३।६, ७ 'सबै सुरूप पदुमिनी नारी, पान फूल सुंदर सब रानी
'करहि कुरेरें सुरंग रंगीली, औ चौवा चन्दन सब चोली।'
२६०।२, ३, 'बरन बरन सारी पहिराई—रामसुनी निकर दुति छूटी।

३—प स व्या, १२३।२ 'फुं दिया और कसनिया राती'।

४—तुलसी, मानस १२७ 'पियर उपरना काखासोती 'पीत पुनीत मनोहर धोती।'
तु० दे, गीता०, १ १ 'ललित चूनरी पीत पिछौरी'।

उघार्‌यो' (४०७) 'पीताम्बर कहँ गयौ तुम्हारौ कौनें लियौ मही (११३४)

अथवा— भीजैगो पियरो पट भावत है मेहरा (११६५)

तथा पीत बरन लखि पीत बसन उर, पीत धातु अंग साजै' (३१९७)। पीत पट का उपमान प्रायः तड़ित है—'तड़ित किधौं पटपीत' (२६७५)।

राधा तथा कृष्ण के वस्त्रों में भी नीले तथा पीले रंगों का ही मिलान है—'नील पीत दुकूल स्यामल गौर अंग सिंगार' 'गौर स्याम मिलि नील पीत छबि' (१७५)। 'नै कारी कामरी उढ़ाई (२६०८) कमरी का रंग अवश्य काला बताया गया है। उनकी पाग में जावक या महावर का रंग लगने का उल्लेख अनेक बार है—'सिथिल पाग रसतार की जावक रंग भीनें' (३१३) 'लटपटी पाग महावर पागी (३२६१)। शिशु कृष्ण की चौतनी का रंग प्रायः लाल बताया गया है—'सिर लाल चौतनी' (७ ७)। 'पीत झगुलिया' (७२५, ७५०) के साथ एक जगह झगुली चित्र विचित्र (७३२) भी बताई गई है।

१६—कहीं-कहीं अनेक रंगों के नाम एक साथ दिये गये हैं—'पहिरे बसन अनेक बरन तन नील अरुन सित पीत (१४८७)[1] अथवा— नये बसन आभूषन पहिरत अरुन सेत पाटंबर कोरी' (१५२६) पद २५३ में अनेक रंगों के नामों की सूची-सी मिल जाती है—

'स्याम-रंग राँची ब्रज नारी। और रंग सब दीन्हें डारी ॥
कुसुम-रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भगिनी अरु भ्राता ॥
दिना चारि में सब मिटि जैहैं। स्याम रंग अजराइल रैहैं ॥
उज्जवल रंग गोपिका नारी। स्याम रंग गिरिवर के धारी ॥
स्यामहि में सब रंग बसेरी। प्रगट बताइ देउँ कहु केरी ॥
अरुन सेत सित सुन्दर तारे। पीत रंग पीताम्बर धारे ॥
नाना रंग स्याम गुनकारी। सूर स्याम-रंग गोप कुमारी ॥

इन पंक्तियों में यह संकेत भी है कि सफ़ेद तथा काला मूल रंग है तथा काले रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। सूरसागर में इस प्रकार एक-एक रंग के कई-कई पर्यायवाची शब्द भी मिलते हैं जैसे लाल के सूचक सूहा सुही लाल राता[2] अरुन, लोहित [प्रा॰ ललल स रक्त अरुण लोहित] सफ़ेद के लिये सित[3] उज्जवल धौर तथा धवल [सं॰ श्वेत उज्ज्वल धौर, धवल] काले के लिये कारा स्यामल स्याम कृष्ण [सं॰ श्यामल श्याम काल कृष्ण] तथा पीले के लिये पियरा पीत [सं॰ पीत] तथा हरे के लिए हरा तथा हरित [सं॰ हरित] आदि।

१७—रंगों के वर्ण भी जगह-जगह उपमा या रूपक द्वारा स्पष्ट किये गये हैं। प्रायः नीला रंग बादल के वर्ण का बताया गया है—'स्याम तनु घन नील मानौ या मानौ घन जलद पर दामिनी की प्रभा (२६५२)। पीला वर्ण दामिनि या स्वर्ण सा वर्णित है—'कनक बरन तनु पीत पिछौरी' (२१४८)। सफ़ेद रंग का वर्ण चूना बक-पंक्ति आदि से मिलाया गया है—

१—प सं ध्या , १२६।६ पियरा डोरिया भी बीरटी। स्याम सेत सियरी हरी'। १८४।५ 'बरन बरन पहिरे सब सारी'।

२—प स ध्या , ५२६।१ 'बिद्रावन राता'।

३—प सं ध्या , ११६।६ 'सेत बिद्रावन सौर सुपेती'।

'हृदय फूल रंग' (२५२७) अथवा—'मही बग पाँति बर मोतिन-माला' (२६७६)। सफेद दांतों व अधरों और लाल मसूढ़ों के उपमान निम्नलिखित हैं—

'कुंद दसन (२५ ५) 'दाड़िम दसन (२३६५) 'दसन की दुति तड़ित मानौ (२४४) अथवा 'अधर विद्रुम' (२४४१)।

१८—इन रंगों के अतिरिक्त फाग या होली सीपक पदों में जिन वस्तुओं अथवा फूलों आदि से रंग बनाये जाते थे उनके नाम भी दिये गये हैं। इन अनेक प्रकार के फूलों तथा धातुओं से रंग बनाये जाते थे—

'हाथनि लै भरि भरि पिचकारी नाना रंग सुमन बोरी की' (३४६)

या— बहु बिधि सुमन अनेक रंग छबि उत्तम भाँति भरे (३४७१)

तथा—'भूरि धातु रंग घट भरे' (३५१२)।

फूलों के रंगों में टेसू (३४६२) [सं किंशुक] केसरि (३४१७) [सं॰केसरम्, केशरम्] कुमकुमा (३४७२) [सं कुंकुमम्] कुसुंम (३४९८) [सं कुसुंभ] अथवा कुसुम [सं कुसुम] के रंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'टेसू-कुसुम निचोइ के रंगमीनी ग्वालिनि' (३४८१) या 'टेसू कुसुम मिलाई कै (री) रस केसरि को रंग (३४६२) 'कनक-कलस कसरि भरि ल्याई डारि दियौ हरि पर ढोरी की' (३४६) तथा कनक कलस कुमकुम भरि लीन्हें, कस्तूरी तामें नथि घोरी' (३५१६)।

१६—टेसू [सं किंशुक] अथवा पलाश चैत के महीने में होली के समय में फूलता है। इसका पीले वर्ण का रंग होली में खेला जाता है। इसके फूल एक साथ खिलते हैं तो ऐसा लगता है मानो वन में आग-सी लग गई है। सूरसागर म टेसू के रंग का उल्लेख है—'डारत बन रतनारे देखियत चहूँ दिसि टेसू फूले (३४७२)। जायसी मे भी टेसू फूलने का वर्णन किया है।[१] आइने अकबरी में भी केसू या टेसू के सबंध में लिखा गया है।[२] पलाश के वृक्ष से अनेक उपयोगी वस्तुएँ भी बनती हैं जैसे पतली डंडियों से साधारण कत्था लाल से रस्सी और कागज तथा पत्ते से दोने। इस वृक्ष से गोंद भी प्राप्त होती है। उपनयन-संस्कार में ब्रह्मचारी का दंड मन-पात्र आदि भी बनते हैं। पाणिनि ने आषाढ़ या पलाश का उल्लेख किया है जो उपनयन में काम आता था।[३] सूरसागर में दोने बनने का उल्लेख है—'दोना-पलाश के' (१०८३)। साहित्य मे पलाश से संबंधित अनेक उपमायें व रूपक मिलते हैं।

२ —दूसरा पौधा केसर का है। इससे भी रंग बनाते थे। इसका रंग सफाई लिए हुए पीला या सोने के समान होता है। सूरसागर में इसके रंग का वर्ण बताया गया है —'बरन केसर' (३४८६) या 'फल गुंजा की भाँति' 'बनु दामिनि' (२७७१)। उसको केसरिया रंग कहते हैं। पद्माकर में भी 'कुसुंह-बानी' (केसरिया) 'कुसुम फूल' तथा 'केसर' ओलवरन शब्द मिलते हैं।[४] आईने अकबरी से जाफरान (केसर) के सजाने तथा चुनने आदि

१—प त व्या , ३४३।३ 'मौल संचीत टेसु बन राता'।

२—आईने अ पृ १८३

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, अध्याय ३, पृ ११२

४—प सं व्या , २८२।१ 'बिरत धरपखा कु कु ह-बानी'

१२७। 'कुसुम फूल बास'

१२६। 'सोन बरन बस केसर'।

की उस समय की प्रचलित विधियों का ज्ञान होता है।[1] इसका पौधा ढलुवाँ जगह पर लगाते हैं जो जाड़े मे फूलता है। प्रत्येक फूल में तीन केसर होते हैं। केसर चुनने का ही काम कठिन होता है। श्रीनगर के पास के गाँव पमपूर में सबसे अधिक केसर उगाने का निर्देश आईने अकबरी में है। भारत भी स्पेन फारस तथा चीन में केसर होती है किन्तु काश्मीर की सबसे अच्छी मानी गयी है। केसर का उपयोग वैद्यक शास्त्र में दवा की तरह भी है। इसकी सुगंध तथा रंग अत्यन्त चित्ताकर्षक होते हैं अतः मीठे पकवानों में भी डालते हैं। कुमकुमा (१५११) रंगों के पाउडर से भरी १६ लाख की गेंद होती थी जो किसी व्यक्ति विशेष की ओर फेंक कर मारते थे। शरीर से टकरा कर इसके रंग बिखर जाते थे। होली शीर्षक इन पदों में कुमकुमा का उल्लेख अनेक बार हुआ है।

फुलेल रंग (१४६) [सं पुष्पतैल—पुप्फएल—फुल्लएल—फुलाएल—फुलेल] का उल्लेख भी है—'कनक-कलस कोटिक कर लीन्हें भरि फुलेल रंग गोरी की। घड़ों में सुगन्धित तेल भरकर रंग घोल लेते थे जो फुलेल रंग कहलाता था। रग मजीठी (४११) [सं॰ मंजिष्ठ] का निर्देश भी है जो इसकी छाल से बनता है।

२१—इन फूलों के रंगों के अतिरिक्त अन्य नाम चोवा (१४६१) चंदन (१५१०) [सं चंदन] अगरु (१४६१) [सं अगरु-ऊद लकड़ी] अरगजा (१४६१) [सं॰ अगरु] कपूर (१५ ५) [सं॰कर्पूरः कर्पूर] अबिर (१४७२) [अ अबीर] गुलाल (१४५६) [फ़ा गुल्लाल] तथा वंदन (१४८५) [सं वंदनीया] आदि प्राय सभी एक साथ होली शीर्षक पदों में मिल जाते हैं—

'चोवा चंदन अगरु अरगजा छिरकति नगर गली' (१४६१)

'चोवा चंदन अबिर कुमकुमा छिरकत भरि पिचकारी' (१४७२)

अथवा—'पिय प्यारी खेलैं जमुन-तीर। भरि केसर कुमकुम अरु अबीर। (१४७४)

'जाति मृग मद चंदन अरु गुलाल। रंगभीने अरगजा बसन लाल।

तथा— चोवा चंदन अगरु कुमकुमा सोहैं माट भरे। (१५१५)।

२२—चंदन अगरु तथा कपूर वृक्षों से प्राप्त होता है। आईने अकबरी में इनके बारे में लिखा गया है। अबुलफ़ज़ल ने संदल (चंदन) के संबंध में लिखा है[2] कि यह चीन से भारत में लाया गया था। यह लाल सफ़ेद व पीला तीन रंग का होता है। आजकल दक्षिण भारत में कुर्ग हैदराबाद करनाटक तथा नीलगिरि पर अधिक होता है। मलयगिरि का चंदन विशेष रूप से प्रसिद्ध है—'मलय चंदन लेप कीन्हें (२७५६)। चंदन से इत्र तेल तथा जलाने की धूप बनाते हैं तथा इसकी लकड़ी से भी अनेक वस्तुएँ बनती हैं। चंदन अपनी सुगन्धि के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है तथा शीतल[3] होने के कारण लोग पानी में घिस कर शरीर पर

१—आईने अ , पृ १७६

आईने अ पृ १६२—एक सेर केसर का मूल्य बारह से बाइस रुपये तक तथा कमती केसर का एक रुपये से तीन मोहर तक था। काश्मीरी केसर आठ से बारह रुपये तक मिलती थी।

२—आईने अ पृ १७१—चंदन का प्रति मन मूल्य बत्तीस से पैंतीस रुपये तक था (पृ॰ १६२)।

३—प स॰ व्या ,'चंदन चिरचि सुहाई अंगहु' ३३३।४ 'चंदन चरचि लाय मिल लेत' ३३६।४

लगाते थे। इसकी सुगंधि तथा शीतलता के कारण वृक्ष पर साँपों के लिपटे रहने का उल्लेख साहित्य में बहुत आया है।

आईने अकबरी में अगर के बारे में बताया गया है तथा उसके भेद भी दिये गये हैं[१]। यह एक वृक्ष की जड़ अथ (अगर) होती है। इसको गुजरात से लाने तथा उस समय चंपानेर में पैदा होने का जिक्र भी है। इसकी सुगन्धि के कारण लोग इसे जलाते थे और बदन में लगाते थे तथा खाने के काम भी आता था। आजकल अगर के वृक्ष अधिकतर आसाम बंगाल खसिया तथा मर्तबान की पहाड़ियों तथा भूटान में पाये जाते हैं। सिलहट में अगर का इत्र बनता है और मद्रास तथा बंबई में अगरबत्ती।

२३—तीसरा वृक्ष कपूर का है जो आईने अकबरी में हिन्द महासागर तथा चीन का बताया गया है[२]। लकड़ी के अन्दर कपूर नामक की डली के समान व बाहर गोंद की तरह दिखायी देता है। साफ करने से ही इसका रंग सफेद हो जाता है। कपूर के अनेक भेद तथा बनाने की विधि भी दी गई है। यूनान में कपूर को ठंढा व हिन्दुस्तान में गर्म मानते हैं। भीमसेनी कपूर का उल्लेख भी है[३]। आजकल कई वृक्षों से कपूर निकालते हैं जो अधिकतर दारचीनी क़िस्म के हैं। प्रधान वृक्ष दारचीनी और कपूरी देहरादून व नीलगिरि पर मिलते हैं। कलकत्ते तथा सहारनपुर के कम्पनी बागों म भी कुछ वृक्ष हैं। दारचीनी कीनामी (जिसका पत्ता तेजपात व छाल दालचीनी कहलाती है) से भी कपूर बनता है। यह दक्षिणी भारत लंका तथा बरमा में अधिक होता है। सुमात्रा तथा बोर्नियो म बरास वृक्ष से कपूर बनाते हैं। चीन व जापान में भी कपूर बनाया जाता है। कपूर की सुगंधि भी अच्छी होती है। आईने अकबरी में चोवा बनाने की विधि भी दी गई है[४]। यह अगर की लकड़ी से बनाते हैं। एक सेर अगर से दो से पन्द्रह तोले तक चोवा निकल आता है। अरगजा भी मेद चोवा अलफ़ला मेहला गुलाब चंदन तथा कपूर आदि के मिश्रण से बना सुगंधित द्रव्य है। आईने अकबरी मे इसके बनाने की विधि वर्णित है तथा गरमी में शरीर में लगाने का उल्लेख है[५]। चंदन बंदन गुलाल आदि के सूखे चूरे से अथवा इन सभी सुगंधित पदार्थों का रंग मे मिला कर होली खेलने का ही बराबर सूरसागर में वर्णन है। एक तो इनमें से कुछ द्रव्य शीतल होते हैं दूसरे सुगन्धित होने के कारण मनहर बात होते होंगे—

मृगमद साख जवादि कुमकुमा केसरि मिलै मिलै मधि घोरी' (१४८९)

'चंदन कपूर चूर फैटनि भराइ री' (१५ ५)

'कनक कलस कुमकुम भरि लीन्हौ कस्तूरी तामैं मधि घोरी' (१५२१)

'मद केसरि अरगजा घोरि' (१४६०)

कुमकुम चंदन अरगज घोरे' (१५११)।

२४—उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित मृगमद (१४५१ १४२१) [सं मृगमद] तथा साख जवादि (१४८९) मृग तथा गंधबिलाव नामक पशुओं से प्राप्त सुगंधित द्रव्य है। मृगमद या कस्तूरी (फा मुश्क) मृग की नाभि से प्राप्त होता है। आईने अकबरी में सुगन्धियों की

१—आईने अ , पृ १७१

२— ,, ,, पृ १६८

३—प सं व्या , ११६।४ 'कपूरीभवलेना'।

४—आईने अ पृ १७१

५—आईने अ०, पृ ११

सूची में कस्तूरी तथा शाख या जवाद का विस्तृत वर्णन है[१]। हिन्दी में इसी को जवादि कहते हैं। यह द्रव्य गन्धबिलाव या मुश्कबिलाव नामक नवले के समान पशु से प्राप्त होता है। सुमात्रा से इसके लाने का उल्लेख भी है। यह अफ्रीका में भी होता है। इसी प्रकार की तीसरी वस्तु चंदन (१५१६ १४८५([सं० चंदनीया] भी है। इसे गोरोचन भी कहते हैं जो गाय से प्राप्त होता है तथा इसका रंग पीला होता है। होली शीर्षक अनेक पदों में चंदन की चर्चा है—'कोउ चंदन मांड़ति' (१५११) बुका चंदन सांनि (१४२५) तथा 'चरन चदन ऊपर सींचै (१५१४)। इसी को संभवतः हरिताल कहते हैं जिससे पीला रंग बनाया जाता था।

२५—इनके अतिरिक्त होली में अबीर (१५१) [अ] तथा गुलाल (१४५६) [फ़ा गुलाल] डालने की अभी तक प्रथा है। अबीर तो अबरक के चूर्ण से बनता है तथा गुलाल भी लाल रंग का चूरा सा होता है। अबीर के रंग भी बताये गये हैं— बुका सुरंग अबीर उड़ावत (१४८८) तथा 'वरन वरन पचासक अबिर संवारे (१५१)। रोरी 'चंदन बंदन रोरी केसरि मृगमद घोरी' (१५३५) [सं रोचनी] भी लाल रंग का चूर्ण होता है। होली के अवसर के अतिरिक्त हम्द्र-अन्नोत्सव पर भी कवि ने यह चित्र खींचा है—'चोवा चंदन अबिर गलिनि छिरकावन रे' (१४९)[२]। सूरसागर में होली के इन नैसर्गिक रंगों म लाल तथा पीले रंग विशेष रूप से मिलते हैं—'पीत अरुन रंग भाए सिर तैं' (१५१०)

अथवा—'तन पटपीत किये रंगराते इन कंचुकी पीत रंग बोरी' (१४९९)

'सीधे भरयो कमोर लाल रंग होरी (१४८४)

'कुसुम-बरन रंग बोरि' (१४१८)।

केसर तथा किंशुक के रंग बनाने के कारण उनके वर्ण भी लाल तथा पीले होना उचित ही है।

२६—रंग में भीगने का भाव भी अनेक प्रकार के शब्दों में प्रकट किया गया है—

'खेलत हैं अति रसमसे रंगभीने हो (१४८१)

'रंगभीनी भामिनि' (१४८५) 'रंगराती भामिनि' (१४८५)

अति सोहित दृग रगमँगे खेलत बने रोउ रंगभीने (१५११) भीने रंग कौन के हो लाल' (११७०) 'स्याम-रंग-रसपागी' (१५२७) तथा तन पट-पीत किये रंगराते[१] इन कंचुकी पीत रंग बोरी' (१४८९)। इन पंक्तियों द्वारा सूर के भाषा पाण्डित्य की ओर स्वतः ध्यान चला जाता है।

सूरसागर से स्त्री पुरुषों के तत्कालीन प्रादेशिक प्रिय रंग लाल नीला तथा पीले ज्ञात होते हैं। यह रंग उस समय सरलता से तैयार हो जाते थे। काले हरे तथा सफ़ेद का उल्लेख बहुत कम स्थलों में है। मिश्रित रंगों जैसे बैंगनी तथा रंगों के हल्के वर्ण जैसे आसमानी गुलाबी धानी आदि नाम भी नहीं मिलते हैं। उत्तर से दक्षिण तक गांवों में आज भी नीले तथा लाल रंग के परिधान अधिक दिखाई देते हैं। कुमायूं प्रदेश में अवश्य पहाड़ी स्त्रियाँ अधिकतर काले लंहगे पहने दिखलाई पड़ती हैं। यों ये चटक रंग लोगों को अधिक अच्छे लगते हैं किन्तु गांवों में इनके अधिक पहनने का कारण यह भी है कि इन रंगों में मैल नहीं चमकता है। पुरुषों में

१—आईने अ , पृ ११९—१७ अबुलफ़ज़ल ने एक तोला कस्तूरी का मूल्य एक से साढ़े चार रुपए तक बताया है।

२—सु० पं , गीता ११२, 'चोबिन्दु कुंकुम कीच, अरगजा, अगर, अबीर उड़ाई'।

१—प० सं० टी०, ४९५१ 'अपेउ रंग राता'।

रंगीन चोली पहनना छोड़ दिया है। विवाह के अवसर पर अवश्य प्रायः वर को पीली चोली पहननी पड़ती है।

४—ओढ़ने तथा बिछाने के वस्त्र

२७—सूरसागर में ओढ़ने तथा बिछाने के काम में आने वाली चीज़ों के शब्द मिल जाते हैं। इनमें से सर्वप्रथम उल्लेखनीय शब्द कामरि, कमरी या कांवरि (१०७१ १ ८५,४४११) [सं० कम्बल कम्बली-कामरी-कांवरि] है। कृष्ण के परिधानों में कमरी का विशेष स्थान है। गोचारण-प्रसंग में कृष्ण के कंधे पर पड़ी कामरि का अनेक बार वर्णन हुआ है—'सोई हरि कांधे कामरि, काछ किए, नांगे पाइनि, गाइनि टहल करैं' (१ ७१) अथवा सूरदास कांधे कामरिया और लकुटिया कर लीं' (२११२) तथा 'हाथ लकुट कामरि कांधे पर' (४२१६)। कृष्ण के साथी ग्वाल बाल भी बन जाते समय अपनी-अपनी कमरी ले जाना नहीं भूलते—

'ग्वाल मंडली में बैठे मोहन बट की छांह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने'

एक हुम फल एक भमारि चबेना लेत निज निज कामरी के आसननि कीने। (१०८९)

कामरी का रंग प्रायः काला बताया गया है—

'कान्ह कांधे कामरिया कारी लकुट लिये कर घेरै हो' (१ ७)

अथवा— तुम कमरी के ओढ़नहारे, पाटंबर नहिं छाजत।

सूर स्याम कारे तन ऊपर कारी कामरि भ्राजत। (२११५)।

काली कमरी से संबंधित मुहावरों का भी अनेक पदों में प्रयोग किया गया है—

'सूरदास कारी कमरी पै चढ़त न दूजो रंग' (११२)

अथवा—'बोमे रंग लाल नहिं कैसेहुं ज्यों कारी कमरी' (४१४४)।

वल्लभ संप्रदाय में कमरी ईश्वर की शक्ति-स्वरूपा विद्या माया की प्रतीक मानी गई है। सूरसागर में भी कई स्थलों में इसका संकेत मिलता है। इस दृष्टि से पद (२१११) बहुत महत्वपूर्ण है—

'यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति॥
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटंबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी जो तिहुं लोक अडंबर॥
कमरी के बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति पांति कमरी सब मेरी सूर सबै यह जोग॥

एक और पद (२११४) भी ध्यान देने योग्य है—'धनि धनि कामरी मोहन स्यामकी।

कंबल शब्द वैदिककालीन है[1] तथा बहुत समय तक ऊनी वस्त्रों के साधारण अर्थ में आता रहा था। तुलसी तथा जायसी ने भी कंबल का उल्लेख किया है[2]। आजकल व्रजकी बोली में कंबर या 'कम्मर' कहते हैं। सूरसागर में भी कंबर शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त किया गया है—'पीर्ड कान्ह कांधे की कबर' (२६ १)।

१—भा भा वे , पृ १ , अथर्व (१४।२।६६)

२—तुलसी, मानस, बाल १२६—'कम्बल बसन विचित्र पटोरे।'

प ल ध्या , १२६।६ 'कैसे ओढ़ब कांवरि कंबा'।

२८—कृष्ण के जन्मोत्सव पर चादर परि० ७ [फ़ा० चादर] दान देने का उल्लेख है—'काहू को चादर दई हो काहू दीनी खोर'। बोली में 'चादरा' या 'चद्दर' कहते हैं। यह शब्द प्रायः ओढ़ने तथा बिछाने दोनों प्रकार के वस्त्रों का बोधक है। ओढ़ने वाली चादर की लंबाई चौड़ाई शाल से अधिक होती है। शाल बेहतर क़िस्म के गर्म कपड़े का तथा प्रायः कढ़ा हुआ होता है। दो पर्त की चादर को दोहर कहते हैं। यहाँ ओढ़ने वाली चादर की ओर संकेत प्राप्त होता है।

कुछ पदों में गूदरि (१९९) का उल्लेख है—'पाटम्बर अम्बर तजि गूदरि पहिरावै'। फटे पुराने वस्त्रों से ओढ़ने या बिछाने का जो वस्त्र बनाते हैं उसे 'गूदरि' या गुदड़ी कहते हैं। पुराने कपड़ों तथा कपड़ों की कतरन आदि को गूदड़ कहते हैं। कवि ने चीर पुरातन (४१११) द्वारा इस भाव को स्पष्ट किया है—पहिरि मेखला चीर पुरातन फिरि फिरि फेरि सियाए। (४१११)। ऊपर की पंक्ति में पाटम्बर-अंबर छोड़ कर 'गूदरि' धारण करने से यही अर्थ स्पष्ट होता है। भ्रमरगीत के योग संबंधी पदों में गूदरि तथा कंथा (४४२१) का उल्लेख अनेक बार किया गया है। योग के अन्य उपकरणों में इसका भी स्थान है। यह दोनों पुराने वस्त्रों से बनाये गये साधारण वस्त्र हैं अतः सांसारिक सुखों की ओर से विमुख योगी तथा योगिनियों के लिये इसका उपयोग उचित ही है किन्तु भला राधा तथा गोपियाँ कैसे धारण कर सकती हैं—

'सिखो सेल्ही अधमजल कंथा कहि भसि काके मरे परैगी' (४१२७)

अथवा—'कंचुकि झीनि झीनि पट सारी अंचल उरस सुधंर

अब कंथा एकै अति गुदरी क्यों उपजी मति मंद' (४४१२)।

उनकी विरह-व्यथा ही स्वतः योग है—

'विरह सहम भड़ार बैठी सहज कंथा चीर

हृदय सिंगी टेर मुरली नैन खप्पर हाथ' ४११२।

जायसी ने भी रत्नसेन के योगी रूप में कंथा का उल्लेख किया है[1]। आजकल भी स्त्रियाँ घर में ही पुरानी धोतियों की कई पर्तें मिलाकर कथरी बनाती हैं जो प्रायः बिस्तर पर दरी के समान बिछाने के काम आती है। वे डोरे डाल कर उसमें फूल पत्तियाँ आदि बनाकर आकर्षक रूप देने का यत्न करती हैं। साधु सन्यासी आदि कथरी ओढ़ते भी हैं। सूरसागर में ओढ़ने या पहनने के उल्लेख ही हैं। पुराने वस्त्र के लिये सूरसागर में चीरन १४१ [सं० चीर्ण] अथवा पुरातन (४१११) शब्द कई स्थलों में मिलते हैं—'चीरन पट कुचील तन कारि'। जायसी ने इसी के लिये चिरकुट शब्द प्रयुक्त किया है[2] [चिरकुट अवधी सं चीर+कुट्ट (काटना पीसना)]। सूरदास जी ने चुरकुट (१४७) शब्द चूर-चूर करने के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन्द्र गोवर्द्धन के संबंध में अपना क्षोभ प्रकट करते हैं—'बज्र-घातनि करौं चुरकुट देउँ धरनि मिलाइ। (१४७)।

२९—साधु योगी आदि मृगचर्म (४१२१ ४१५९) [सं० मृगचर्म] या त्वचामृग (४१ ८) भी काम में लाते थे। गोपियाँ उद्धव की योग शिक्षा से अत्यन्त चिन्तित थीं—'बचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यों पजरे पर लौन सृंगी मुद्रा भस्म त्वचामृग अरु अवधारन पौन' (४१ ८) अथवा 'मुद्रा भस्म विषान त्वचामृग ब्रज युवतिन नहिं भाए (४१११)।

1—प० सं टी, १९९।२ 'कंथा पहिरि डंड कर गहा।'

२७१।७ 'काछहु कंथा चिरकुट लावा। पहिरहु राता दगल सोहावा।'

2—प सं० टी०, २७१।७ 'काछहु कंथा चिरकुट लावा'

मृगचर्म का पर्यायवाची शब्द मृगछाला (४१५६) भी मिलता है—'ऊधो कहँ सु भी मन सेली मेटी भस्म बनाऊँ' सोलह सहस सु दरी कारै मृगछाला कहँ पाऊँ । (४१५६) तथा धरि ग्रासन मृगछाला' (४१५६) ।

शिव-संबंधी पदों में भी मृग-चर्म का उल्लेख है—

'उमा कौं छाँडि मन गरि मृगचर्म कौं आइकै निकट रहे घर कोई (४१७) ।

वैदिक काल से ही चमड़े व खालों का उपयोग बिछाने तथा ओढ़ने के लिए होता आया है । मृगचर्म पवित्र माना जाता था और यज्ञादि के अवसर पर विशेष रूप से उपयोग में आता था । साधु तथा योगी मृगचर्म ओढ़ते भी थे । आज भी मृगचर्म पवित्र माना जाता है तथा धार्मिक कृत्यों में विशेष रूप से काम में आता है । मानस में तो मृगचर्म संबंधी प्रसंग महत्वपूर्ण है ही । रत्नसेन के योगी रूप में जायसी ने बघछाला का उल्लेख किया है[१] ।

१०—चटाई के समान बिछाने की वस्तुओं में कुसासन (१४१) [सं० कुशासन] तथा कुस-साथरी[२] (५६५) [सं कुश] भी उल्लेखनीय शब्द है—

'कुस-आसन है तिनहिं बिछायौ (१४१)

अथवा—'नाती मानि उमर साथर सौं कुस-साथरी पर्यौ' (५६६)

अथवा 'कुस-साथरी बैठि इक आसन बासर तीनि बिताए' (५६५) ।

कुस [सं कुश] एक प्रकार की नुकीली घास होती है । इसकी लम्बी तथा पतली पत्तियों से ही आसन बनाये जाते हैं । इसकी एक दूसरी क़िस्म डाभ [सं दर्भ] कहलाती है जिससे पितरों का तर्पण करते हैं । हाथ में कुश लेकर स्नान करने का उल्लेख सूरसागर में भी है—

'साकम्भ लै सबै अन्हाए न्हात भये कुस धारी' (१२२)।

विवाह-संस्कार में कन्यादान भी कुशोदक से लेते हैं । इसका उल्लेख तुलसीदास ने किया है[३] । कुश का आसन मृगचर्म के समान ही पवित्र माना जाता था तथा यज्ञादि के अवसर पर बिछाते थे । पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी यज्ञ के उपकरणों में कुश घास का उल्लेख है तथा पवित्र बताई गई है[४] ।

आतिथ्य सत्कार में सदैव ही सर्वप्रथम अर्घासन अरघासन [सं अर्घासन] देने की प्रथा रही है । सूरसागर में कई स्थलों में इसका उल्लेख किया गया है, विशेषकर किसी मुनि पंडित आदि के आगमन पर—

'महर भवन रिषिराज गए ।

१—मानस, अरण्य २७ 'सीता परम रुचिर मृग देखा । अंग-अंग सुमनोहर बेखा । सुनहु देव रघु बीर कृपाला । एहि मृग करि अति सुंदर छाला । सत्यसंध प्रभु बधि करि एही । आनहु चर्म कहति बैदेही । तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काजु सँवारन ।'

प सं टी १२६।५, ६ 'कर जपमाल कौम बघ छाला' ।

२—तु मं, गीता , पृ ११ 'कुस-साथरी देखि रघुपति की हेतु अपनपौ जानी' ।

३—तु सं जानकी , १६३ 'धनिगिनि भाति मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ कन्यादान विधान संकल्प कीन्हेउ' ।

४—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, अध्याय ६, पृ १७१

बरन बोद बरमोबक बीम्हो भरबासन करि हित मए। (७०१)

यथा—'तो मह रिपि भगिरा सिधाए

मर्बासन है तिनि बैठाए। (४१६)।

इस शब्द पर तुलसीदास जी के काव्य से भी प्रकाश पड़ता है[1]। जायसी ने कहीं-कहीं आसन या सिंहासन के लिए पाट शब्द प्रयुक्त किया है।[2]

५—स्त्रियों का पहनावा

११—राधा और गोपियों के वस्त्राभरणों के वर्णन संबंधी पदों द्वारा उस समय के पहनावे का पता चलता है। यह पहनावा प्रमुख रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ग्रामीण स्त्रियों का था। वस्त्रों के संबंध में विशेष रूप से दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध के रासपंचाध्यायी बालक्रीड़ा पन घट-लीला दान-लीला रूप-वर्णन मान-लीला झूलन बसंत-लीला शीर्षक पदों में विशेष उल्लेख मिलते हैं। इनमें तीन वस्त्र प्रमुख थे—ओढ़नी कंचुकी तथा लहँगा। भ्रमर-गीत के पदों में गोपियाँ 'कंथा' न पहनने का उल्लेख करती हैं (४११२) क्योंकि यह तपस्विनियाँ पहनती थीं। कुछ पदों (१६६१ २०६१) में एक साथ अनेक वस्त्राभूषणों के नाम मिलते हैं। ओढ़नी (७२४) और उढ़निया (११११२) लहँगे के साथ सिर पर ओढ़ी जाती थी। कृष्ण के पहनावे में भी ओढ़नी का वर्णन है—'लाल ढिमनि की सारी ताकी पीत उढ़निया कीनी' (११११२) अथवा 'पीत उढ़निया कहाँ बिसारी' (११११)। आजकल भी सिर पर ओढ़ने के वस्त्र को ओढ़नी कहते हैं। यह पाँच हाथ लम्बी तथा तीन हाथ चौड़ी होती है।[3] यह शब्द 'ओढ़न' से संबंधित है—[सं॰ उपवेष्टन प्रा॰ आवेढ्ढन][4]। चूनरी (४४) तथा चूनरि (परि॰ ११२) का उल्लेख अनेक पदों में किया गया है—'चुहचुह चूनरि बहुरंगनी' (१४५) अथवा 'नयी पितांबर, नई चूनरी नई नई बूंदनि भीजति गोरी' (११ १)। विनय शीर्षक पदों में माया संबंधी एक पद में 'राती चूनरी' (४४) का निर्देश है। चुंदरी में एक विशेष प्रकार की रंगाई होती थी। राजस्थान गुजरात, पंजाब तथा विशेष रूप से बीकानेर में आजकल भी ऐसी रंगाई होती है। इसमें कपड़ा बाँध-बाँध कर रंगा जाता है अतएव इसे बाँधनू की रंगाई भी कहते हैं। अन्य-अन्य भाँत की चूनरी जयपुर में 'भाँत मतूस्या' कहलाती है तथा मेरठ में 'भाँत-भँतीली'। इसके लिए संस्कृत शब्द 'भक्ति' था। इंद्रधनुष की भाँति की चूनरी भी बनती है। चूनरी हल्के व बारीक सूत की बनती है। हर्षचरित में इसी के लिए 'पुलक-बंध' तथा 'भक्ति' शब्द आए हैं। बाँधनू की रंगाई का यह उल्लेख प्राचीनतम है।[5] एक अन्य प्राचीन शब्द 'पुट्टक' भी संभवतः इसी रंगाई का बोधक

१—मानस, बाल , ११६ 'भरतु देह आसन बठाए'।

२—प स टी ५५६ 'तहाँ पाट राजा सुलतानी'।

३—ह बो , भ ११, संख्या २—हेमचन्द्र ने ओढ़ना के लिये देशी नाम-माला (१।१५५) में 'ओड्डण' शब्द लिखा है।

४—हि अनु , मासिक मार्गशीर्ष ९ ७ भ १—'हिन्दी के सिलाई संबंधी शब्द और उनकी व्युत्पत्ति।

५—हर्ष सां अ , पृ॰ २१, ७१-७४ 'बहुविधभक्तिनिर्मालबन्धुरपुलकबंधपुरा गिरिधन्यमानैरिव ध्व'

था।[१] जायसी ने गुजरात के छपे वस्त्रों का परिचय दिया है।[२] लँहगे के साथ ओढ़ने के अन्य वस्त्रों में दुपटि (परि ७) [सं द्वि + पट] और उपरैना (४४ १६१८) शब्द भी मिलते हैं। उपरैना स्त्री-पुरुष दोनों के वस्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। चीर-हरन-लीला में गोपियों के उपरना छीनने का वर्णन किया गया है—'लिए उपरना छीनि सबनि के जहाँ तहाँ कुँवनि धरआए' (२११०)। माया संबंधी पद (४४) में 'पहिरे राती चूनरी सेत उपरना सोई (हो) मिलता है। इस पद में उपरना चूनरी के ऊपर ओढ़ने का वस्त्र बताया गया है। उपरना (उपरि। आवरण) आज भी चूनरी या ओढ़नी के ऊपर ओढ़ते हैं। यह चूनरी से बड़ा होता है—पाँच हाथ चौड़ा तथा आठ हाथ लम्बा।[३] दुपटिया बढ़िया कपड़े की ओढ़नी होती है।[४]

३२—घाँगरी ([सं घर्घरा घर्घरी घर्घरिका] अथवा घाघरी शब्द सूरसागर में कम मिलता है। यह अधिक घेर का लँहगा होता है। इसमें चौबीस से तीस तक पाट होते हैं। छोटी तथा क्वाँरी लड़कियाँ घघरिया पहनती हैं।[५] लँहगा (४४ ३४५)। [सं० लंक + अंगा] सूरसागर के अनेक पदों में मिलता है—'नील लँहगा लाल चोली' (१४५) अथवा 'दच्छिन चीर तिपाट को लँहगा पहिर विविध पट ओढ़नि महँगा । (१५१६)।[६] लँहगे के चार भाग होते हैं—नेफा घेर, संजाफ या गोठ तथा दामन अथवा गोट की रंगीन पट्टी। नेफे के ऊपरी भाग को 'नीबिया' कहते हैं। धोती के सामने की चुनट को भी नीबी कहते हैं। सूर ने उसी अर्थ में 'नीबी' शब्द प्रयुक्त किया है। राधा के शोभा वर्णन में 'चाल, गज मदहुना नूपुर नीबि नव-नवि दाम' (१ ६) अथवा 'नीबी ललित गही जदुराई' (११)। प्राचीन स्त्री-पुरुष 'नीवि' नामक तहमदनुमा वस्त्र भी पहनते थे। नीवि की व्युत्पत्ति नि' = नीचे और 'वी' = ढकना से की गयी है। डा सरकार तामिल शब्द 'नइ' = बुनना से करते हैं और उसे चौड़ा बुना हुआ किनारा मानते हैं। जायसी ने फुंदिया शब्द संभवतः फुँदनेदार नीबीबन्ध के लिए प्रयुक्त किया है।[७] बालिका राधा के वस्त्रों में फरिया (११२२ ११२६ १२६) शब्द ही अधिकतर मिलता है—जसुमति राधा कुँवरि सँवारति—सारी चीरि नई फरिया लै अपने हाथ बनाई। (११२२) तथा 'तिल चाँवरी बतास करि दीन्हीं फरिया दई फारि नव सारी' (११२६)। छोटी लड़कियों के लँहगे को अब भी फरिया कहते हैं। तहसील अतरौली अनूपशहर

१—भा ना पे पृ ६६—'फुल्लक' चित्माचरराम पृ (११६) शब्द संभवतः चूनरी अथवा छींट के अर्थ में आया है तथा 'पुष्पपट्ट' (ललित-विस्तर पृ १४१) फूलदार वस्त्र के अर्थ में।

२—प सं टी १२६।२ 'झाएस पंडुवार गुजराती' का उल्लेख जायसी ने भी किया है।

३—कृ० चौ प्र ११, प्र २

४— ,, ,, ,,

५—कृ० चौ प्र ११ अध्याय २, 'घग्घर' हेमचंद्र देशी नाम-माला २।१ ७

६—अबुलफजल के अनुसार दक्खिन के बेस्तीर तथा महादेवनगरी अच्छे कपड़े के लिये प्रसिद्ध थे। अच्छे प्रकार की मलमल के पूरे टुकड़े का मूल्य १ टंक तक था।

७—कृ चौ, प्र ११ अध्याय २

८—भा० ना पे , पृ १७, १८

९—प० सं टी , १२६।२ 'फुँदिया और कसनिया राती'।

सिकंदराराऊ तथा कासगंज में यह शब्द लँहगे के अर्थ में बोला जाता है किन्तु तहसील इगलास कोल हाथरस तथा सादाबाद में ओढ़नी के अर्थ में।[1] पद्मावत में फरिया के लिये फारी शब्द आया है।[2]

१३—स्त्रियों का तीसरा वस्त्र 'चोली'[3] (२१७२) [सं० चोली] 'अँगिया' (१४७९) [सं अंगिका] अथवा कंचुकी (११६२) [सं कंचुक कंचुली कचुलिका] था। 'नील लँहगा लाल चोली' (१४५०) 'अँगिया नील (११७१) 'कसनि कंचुकि बंद' (१ ९८) आदि वर्णन अनेक पदों में मिलेंगे। चोली में प्रायः अँगिया के समान बंद नहीं होते हैं। दोनों ओर से बड़े कपड़े को खींचकर बाँध लेते हैं अथवा डोरी डाली जाती है। अँगिया में चार बंद होते हैं और पेट व पीठ खुली रहती है। सूरसागर में भी बंद या तनी का उल्लेख है—'कसनि कंचुकी बंद' (१ ६८) 'तनी चोली की तोरी' (१४८८)। अँगिया की सजावट भी बताई गई है जैसे 'कटाव की अँगिया' (२१५८) तथा 'बहु नग जरे जराऊ अँगिया' (२ ६१)। कुछ स्थलों में इसके अलग-अलग भागों के नाम भी मिलते हैं—'अँगिया नील माँडनी राती' (११७१) अथवा 'नील कचुकी माँडनि लाल' (१७९८)। अँगिया के सामने टके हुए तिकोने भाग को [सं मंडन सजावट] माँडनी या लहर कहते हैं। अंतरौटा अवलोकि कै असुर महामद मातें (हो) (७४) में अंतरौटा शब्द आया है। अंतरौटा [सं अंतरपट] अँगिया के सामने नीचे किनारे पर लटकती पट्टी होती है। यह इस तरह ओढ़ते हैं कि पेट ढक जाता है। इसका नीचे का भाग नाभि तक लटकता रहता है। इसे 'बाट' भी कहते हैं।[4]

१४—ब्रजप्रदेश में प्रचलित ऊपर के पहनावे के अतिरिक्त सारी[5] (६४२ २११६ १६६१ १४१२) [सं शाटिका शाटक] शब्द बहुत बार आया है। सारी के साथ कंचुकी का उल्लेख प्रायः मिलता है। लँहगे के साथ भी सारी का उल्लेख बहुत से पदों में है—'पचनि चोहटि, लाल लँहगा अंग पचरंग सारि' (१६६१) या 'भुज कंटिका कटि लँहगा रंग तन तनसुख की सारी' (२११६)। इन स्थलों में संभवतः साड़ी शब्द ओढ़नी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आज भी राजस्थान में लँहगे के साथ ओढ़ने वाले वस्त्र को 'साड़ी' या 'हाड़ी' कहते हैं। इसकी लम्बाई चौड़ाई ओढ़नी से अधिक होती है अर्थात् ढाई गज के स्थान पर चार गज। सूर ने साड़ी के रंगों 'कुसुंभी' (१४५६) 'पचरंगी (१६६१) आदि के साथ-साथ किनार का भी उल्लेख कई पदों

१—ह को० प्र० ११, अध्या २

२—प० सं टी १२६।९—फारी या फरिया एक विशेष प्रकार का लहँगा था जो सामने की ओर सिला नहीं रहता था। इसमें सामने 'फफ़्का' नामक पटली सट रहती थी। कुछ जैन तथा राजस्थानी चित्रों में यह वस्त्र पहने हुए स्त्रियाँ चित्रित हैं। पटली के दोनों ओर कुछ तार छूटे रहते हैं। प्राय लड़कियाँ तथा नई वधू को स्त्रियाँ ही फरिया पहनती हैं। बुंदेलखण्डी तथा ब्रजभाषा में फरिया ओढ़नी को कहते हैं।

३—हर्ष सां अ , पृ ५९—थानेश्वर की स्त्रियाँ कचुक पहनती थीं। लगभग छठी शताब्दि में हूणों के आने के बाद चोली या कुर्ता पहनने की प्रथा प्रारंभ हुई थी। अहिच्छत्रा की खुदाई में चोली पहने मृण्मूर्तियाँ मिली हैं।

४—ह को प्र० ११ अध्या० २

५—भा भा के पृ १७ साड़ी को सट्ट या शाटक कहते थे—जातक (४११) ३, २८९ अतिरूप शाटको—जातक (१२४, १, पृ० ४४)।

में (१३११ १३१२ १३१३) किया है जैसे लाल हिंगनि की सारी'। टिपनि अथवा किनार का रंग प्राय लाल ही बताया गया है। कुछ पदों में तनसुख की सारी का उल्लेख है—'तन तनसुख की सारी' (२११६ ४४३५)।[1] तनसुख संभवतः तंजेब या मलमल की तरह का बढ़िया फूलदार कपड़ा होता था। वस्त्रों की बनावट के प्रसंग में इसके सम्बन्ध में बताया जा चुका है। कुछ पदों में 'झूमक सारी' का वर्णन है— 'झूमक सारी तन गोरेहिं' (१४१२)। झूमक साड़ी या ओढ़नी में सोने चांदी के झुमकों या मोती के गुच्छों की कतार इस तरह लगाते हैं कि वह माथे पर आए। 'चूनरी सारी' (२ ३५) का उल्लेख भी है। यह सारी राजस्थान की बांधनी रंगाई से रंगी जाती थी। चूंदरी के किनारे लाल बाकी पीली भी होती है। डंड़िया (१४६) तथा पटोरी (२३११) साड़ियां भी उल्लेखनीय है। डड़िया [हिन्दी डांड़ी-रेखा] धारीदार अथवा ऐसी साड़ी को कहते है जिसमें बीच की लम्बाई में गोटा टांककर रेखाएँ बनाई जाती हैं। पटोरी के संबंध में बताया जा चुका है। पल्ले के कोने को खूँट कहा गया है—'पीताम्बर गहि खूँट चूनरी हँसि-हँसि गाठि जुराई। (१४६७) अंचरा (२०५५) आंचल (१ ७३) [सं अंचल] सारी के सामने का भाग है— अंचल चंचल गति'।[2] अथवा उर पहत अंचल उघरि मुख' तथा उड़त अंचल सटकै वेनी छपट मरुटे मोर' (१४४१)।

१५—अन्य वस्त्रों में सूथन (१६७२) उल्लेखनीय शब्द है। यह एक दो पदों में ही मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रजप्रदेश के हिन्दू वर्ग में इसे पहनने की प्रथा अधिक न थी। 'सूथन बंधन बांधि नाराबंद तिरनी पर छवि भारी' (१६७२) अथवा 'नाराबंद सूथन बंधन' (१७६८) का उल्लेख है। हर्षचरित में तीन प्रकार के पाजामों—स्वस्थान पिंगा और सतुला के नाम मिलते है। पाजामें की तग मोहरी में सिकुड़ी कसी रहती थी।[3] पाजामे का नाम रिवाज (प्र सदी ई पू॰) शकों के समय से इस देश में हुआ और गुप्त राजाओं ने सैनिक-वर्दी में रक्खा। इसी को पाजामा (फ़ा॰ पायजामा) भी कहते है। तंग मोहरी का पाजामा सतीमकी पाजामा कहलाता है सं [स्वस्थान-सुत्थान-सुथन-सूथना]। गणपति शास्त्री की टीका के अनुसार—संपुटक जांघों की रक्षा के लिये एक विशेष वस्त्र होता है। कोई-कोई टीकाकार इसे सुथना या सूथन कहते है। पाजामे के लिए आजकल भी सुथना [सं॰ सुत्रमङ] शब्द मिलता है।[4] सूथन के साथ ध्यान देने योग्य दूसरा शब्द नाराबंद (१६७२) [फ़ा बंद] आया है। बौद्धकाल में इसी के लिये कायबंध शब्द मिलता है।[5] नाराबंद [फ़ा कमरबंद] नेफ़े में डाला जाता है। बोलियों में इसे नारबन' नारिन' अथवा 'इजारबन्द' भी कहते है।[6] कमरबंद आजकल कई प्रकार के बनते हैं—धुनैना बटैना फुलना, मन्नुआ तथा नारना। सूरसागर में यह विस्तार नहीं मिलते है।

१—'तनसुख की सारी लहँगो'—हरिदास
'तनसुख की सेज लाल'—केशवदास

२—अचल को पल्ला (स पल्लव-पल्लम-पल्ला) भी कहते हैं किन्तु सूरसागर में प्रयुक्त नहीं किया गया है। संस्कृत साहित्य में 'पल्लव' शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है।

३—हर्ष सां अ , पृ १४८

४—भा वा वे , पृ ३४

५—भा वा वे , पृ ३५

६—हिं अनु , भारतीय मार्गशीर्ष २ ०७, अंक ३ 'हिन्दी के विवादित शब्दों सम्बन्ध तथा उनकी व्युत्पत्ति।'

७—कु॰ थी , अ ११, अध्या २

१६—अनेक पदों में घूंघट (१७६८, १२७१) [सं अवगुंठन] का उल्लेख है। यह नैन-संबंधी तथा रास पंचाध्यायी शीर्षक पदों में अधिक प्रयुक्त हुआ है। कृष्ण-प्रेम के कारण गोपियों ने लोक-लज्जा सूचक घूंघट छोड़ दिया—

'नाच कह्यो तब घूंघट छोरयौ, लोक लाज सब फटकि पछोरयौ (१२७२) अथवा 'कौउ न रहत बर घूंघटवारी' (१८८१)। हिंडोले में भी घूंघट का निर्देश है—'हँसि हाव भाव कटाच्छ घूंघट चिरत लेति समुहारि (१४५६)। कृष्ण के रूप के प्यासे राधा तथा गोपियों के नेत्र घूंघट की आड़ नहीं मानते—

'मेरे माई लोभी नैन भये।.. ..
रहत न घूंघट ओट भवन में पलक कपाट दिए। (२६११)
अथवा 'मनु घूंघट पट में दुरि बैठ्यौ पारधि रति-पति ही कौं' (२१२)
तथा 'दै घूंघट-पट ओट नील हँसि कुँवरि मुदित मुख मोरे। (११५)
और 'सखी हिराती हरि-मुख हेरैं।
घूंघट-ओट-पट-ओट करी सखि हाथ न हाथनि मेरैं (२२७१)

घूंघट का वर्तमान पर्दे वाला रूप मुसलमानों के साथ आया था। प्राचीन काल का अवगुंठन इस रूप में नहीं था।[१] मालती के वस्त्र में।हर्षचरित में[२]भी अवगुंठन का उल्लेख है। बाण ने देहाती स्त्रियों के वर्णन में ही घूंघट का उल्लेख किया है। मुसलमानों से रक्षा के लिए इसका प्रचार बढ़ा। ग्रामीण वर्ग की हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान स्त्रियों के समान बुर्का या मलमल कपड़े का पर्दा (Voil) काम में नहीं लाती थीं। बाहर के व्यक्तियों के सामने अपनी साड़ी का पल्ला खींचकर ही मुख ढांक लेती थीं।[३] सूरसागर में भी ऐसे ही अवगुंठन का वर्णन मिलता है। तुलसीदास ने एक स्थल में विवाह के।अवसर पर प्रचलित घूंघट की प्रथा का संकेत किया है।[३]

सूरदास जी के समकालीन कवियों तुलसी तथा जायसी ने भी प्रायः इन सब वस्त्रों का उल्लेख किया है। तुलसी द्वारा स्त्रियों के पहनावे में प्रयुक्त प्रमुख शब्द चूनरी, सारी, तथा पिछौरी हैं।[४] तुलसी ने वस्त्राभूषणों का वर्णन सूर के समान विस्तार से नहीं किया है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में लँहगा तथा ओढ़नी पहनने की प्रथा अधिक न थी। यों जायसी ने पद्मावती-शृङ्गार-वर्णन आदि प्रसंगों में सारी के साथ लहरपटोर नामक लँहगे फरी कसनिया तथा कंचुकी का उल्लेख भी किया है। 'चोलन चीर' या चोला'[५] के साथ-साथ रंगाई तथा छपाई के भी विस्तार दिये गए हैं।[६]

१—हर्ष सां अ , पृ २१ 'मौलावगुंठनासितमेव निरुद्धार्धवदना'
२—मालतक, पृ २४४, मजूमी, भाग १, पृ ६२
३—तु० ग्रं०, बरवै, १६—'का घूंघट मुख मूँदहु नवला नारि ?
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि।'
४— ,, ,, गीता०, पृ ११२ 'सखनि राम ललकी कोरी ।.......
मनमय तोउ, मृग मनोहर पवनि चूनरी पीत पिछौरी।'
५—प सं० टी , पद १५७
६—प सं० टी , पद ३२६'पहुचन्ह चौरि मानि सब छोरे'

६—पुरुषों का पहनावा

१७—सूरसागर में कृष्ण के रूप-वर्णन से सम्बन्धित दशम स्कंध के अनेक पदों में उनके वस्त्रों का विस्तृत वर्णन है। राम बलराम, नन्द तथा गोप आदि के वस्त्रों का उल्लेख भी जहाँ तहाँ है। कृष्ण के वस्त्रों में कवि ने प्रधानरूप से उनके परम्परागत वस्त्राभूषणों का वर्णन किया है जैसे—पीताम्बर कुंडल मोरमुकुट आदि। फिर भी कृष्ण के वर्णित वस्त्रों तथा अन्य स्थलों के कुछ उल्लेखों से हम सूरकालीन ब्रज प्रदेश में प्रचलित ग्रामीण वर्ग के पहनावे का अनुमान अवश्य लगा सकते हैं। यह लोग धोती पटका तथा दुपट्टा पहनते थे। कभी-कभी जामा या ढीला कुर्ता भी पहना जाता था। सिर पर पगड़ी या टोपी और पैर में जूते होते थे।

१८—कृष्ण के वस्त्रों में धोती के लिये काछनी (१ ७) [कांछ लगाकर धोती पहनना, सं कक्षा से] शब्द बहुत से स्थलों में प्रयुक्त हुआ है—'काछनी कटि पीत दुति कमल-केसर खंड' (१०७) 'कटि काछनी किंकिनि-धुनि बाजति' (२ ७) तथा सुभग कटि काछनी राजति जलज केसरि-खंड (१२५१)। काछनी की दोनों लांगें पीछे खुरस ली जाती हैं। यह आधी जांघ तक का चुन्नटदार पहनावा भी होता है जो आजकल रासलीला या मूर्तियों के शृङ्गार में पहनाते हैं। 'काछा' [सं कक्षा = कमरबन्द] साधुओं के लंगोट को भी कहते हैं।[1] हर्षचरित में 'कक्षा' का उल्लेख हुआ है।[2]

कृष्ण के परम्परा से आये हुए पहनावे म पीताम्बर (१२४१ २ २) [सं] पीत-पट (१२४९ ११६४) [सं] तथा पीत-वसन (२ ७) [सं] उल्लेखनीय है। कृष्ण के रूप-वर्णन शीर्षक पदों में पीली धोती तथा पीला दुपट्टा दो प्रमुख वस्त्र माने जा सकते है। पट, वसन तथा अम्बर शब्दों की व्याख्या वस्त्र के पर्यायवाची शब्दों के सिलसिले में की गई है। यह शब्द कुछ पदों में धोती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'पीताम्बर कटि-तट छवि सुन्दर'[3] (१२४१) 'कनक मेखला कटि पीताम्बर' (११८९) 'पहिरि पिताम्बर चरन पांवरी ब्रज-वीथिनि मैं जात (११८६) तथा 'कटि तट सुभग पीत-पट राजत अरमुख बैठ बनावत' (११६४) और 'कटि-तट पीत-बसन सुदेस' (१२५१)। कुछ पदों मे उत्तरीय या दुपट्टे के अर्थ में मिलते हैं जैसे—'कटि काछनी किंकिनि धुनि बाजति चरन-चलत नूपुर रव लावे। ग्वाल मंडली मध्य स्याम घन पीत-बसन दामिनिहिं लजावे। (२ ७) अथवा—'तड़ित फिरौ पीत-पट (२६७५) 'की दामिनि कौंधति चहुँ दिसि की सुभग पीत-पट फेरनि' (२६७९) 'मोर-मुकट कुंडल बनमाला पीताम्बर फहरावै' (२ २) तथा 'रोहिनि सुत जसुमति सुत की छवि गौर स्याम हरि-हलधर-गात। नीलांबर, पीताम्बर ओढ़े यह सोभा कछु कही न जात। (१८११)। इन पदों में वस्त्र फहराने का उल्लेख है अत उत्तरीय ही होना चाहिए। बलराम के उत्तरीय का रंग पीला (पीताम्बर) न होकर नीला (नीलांबर) है यह ध्यान देने की बात है।

१९—धोती (१९ २) [सं धोतिका-धोतिया-धोती-धोती] का उल्लेख कृष्ण सम्बन्धी पदों में कम है, किन्तु नन्द के वस्त्रों में कई पदों में मिलता है। धोतियाँ कृष्ण के मथुरा जाने

१—हि अनु , 'कुछ सिलाई संबंधी शब्द तथा उनकी व्युत्पत्ति'

२—हर्ष सा अ , पृ २१, 'कक्ष्याविक्षिप्तपल्लवं'।

३—मानस, बालकाण्ड, २३३ 'किहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।'

" " २४४ 'कटि तूनीर पीतपट बांधे'।

" " २१९ 'पीत बसन परिकर कटि भाथा'

के बाद व्यंग्य करती है— दधि मद माखन हाथ करि लीते सौ मुँडनि में खात । अब सुमिरत है धोती पहिरे, बड़े कहाऊँ ग्वाल । (४४४१) । नन्द यमुना में स्नान के लिए गए तो वस्त्र उन्हें बाँध कर ले जाते हैं । इस प्रसंग में धोती शब्द प्रयुक्त हुआ है—'यह कहि नन्द गये जमुना तट । दै धोती-झारी विधि कर्मट' (११ २) व 'धोती झारी तट पै धरि (११ २) । धोती को जनपदी बोली में 'धावती' भी कहते हैं ।[१] 'धौत शब्द का अर्थ कपड़ा[२] है । आजकल धोती एक लांग की अथवा दो लांग की पहनी जाती है । फेंट लगाने की भी कई विधियाँ प्रचलित हैं जैसे किसान काम के समय दुसंगी फेंटिया बँधाय बाँधते हैं ।[३] लपेट के लिए फेंट शब्द भी आया है—'फेंट कसे अबीर झोरी को या फेंट गुलाल भराइ कै (१४१२) । आजकल इस अधोवस्त्र के लिये धोती शब्द ही प्रचलित है ।[४] पाश्चात्य प्रभाव से समाज के कुछ वर्गों में यह पहनावा उठता जा रहा है और उसका स्थान मुसलमानी पहनावे पाजामे तथा पश्चिमी पहनावे पैंट ने ले लिया है । फिर भी बंगाल दक्षिणी भारत आदि भागों में धोती ही अधिक पहनी जाती है । ग्रामीण वर्ग के पहनावे में पाश्चात्य प्रभाव का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है और धोती उनके पहनावे का प्रमुख अंग है ।

४ —कंधे पर डालने वाले वस्त्र-खण्ड के लिए सूरसागर में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं— दुपटि (परि० ७) [सं द्वि-पट:]—'काहू को दीनी दुपटि हो हरि करि पीरे छोर'[५] (परि ७) । कृष्ण के वस्त्रों में 'दुपटि' शब्द प्राय प्रयुक्त नहीं हुआ है । उनके वस्त्रों में पीताम्बर, पीत-पट तथा पीतवसन के अतिरिक्त उत्तरीय के अर्थ में उढ़निया (१११११ १११२) [ओढ़ना] शब्द ही अधिकांश पदों में मिलता है—'पीत उढ़निया कहाँ बिसारी' (११११) अथवा 'लाल ढिगनि की सारी ताकी पीत उढ़निया कीन्ही (१११२) । इसी अर्थ में एक नया शब्द पामरी (२ ७५) प्रयुक्त हुआ है —

ओढ़े पीरी पामरी (हो) पहिरे लाल निचोल ।
मौंहें कांट कटीलिया (माहि) मोल लियो बिनु मोल । (२ ७५)

पामरी शब्द बहुत कम प्रयुक्त किया गया है । निचोल (२ ७५) [सं निचोल] का अर्थ ओढ़नी या चादर है किन्तु यहाँ संभवत धोती अथवा शरीर के ऊपरी भाग के किसी वस्त्र के अर्थ में लिया जा सकता है ।

स्त्री-पुरुष दोनों उपरैना या उपरना (६२१ १६८६ ११ २) [सं उपरि+आवरण] ओढ़ते थे क्योंकि विनय पदों में माया-वर्णन में तथा राधा के वस्त्रों में उल्लेख होने के साथ ही कृष्ण के वस्त्रों में भी आया है— बसि उपरैना मिरिवर नाल' (१६८६) व 'उपरि धरी उर है उपरैना नव-घन बिनु गुन माल' (११ २) अथवा 'उपरैना मुरली गई' (१५२०) । उपरैना

१—ब्र ग्रा ,भ ११, अध्या १
२— „ „ „ „ डा सु कु० चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ १ १
३—ब्र० ग्रा ,भ ११, अध्या १
४—अमरकोश में धोती के लिये 'अंतरीय' 'उपसंव्यान', 'परिधान' तथा 'अधोंशुक' आदि पर्याय मिलते हैं । इनके अर्थों में क्या भेद थे, यह स्पष्ट नहीं है ।
५—संस्कृत में छोर के लिए 'अञ्चल' शब्द है— 'राजा पटाञ्चलेन ....'
हर्ष रत्नावली नाटिका, निर्णय सागर प्रेस च स पृ ६२
हर्ष० ना० र , पृ ७४ 'जघनपटाञ्चलम्', पृ ६८ 'ममा[illegible]'

वस्त्रों के ऊपर चादर की तरह ओढ़ते थे। हर्षचरित में भी राजाओं के वस्त्रों में 'प्रच्छादक' नामक हलकी चादर का वर्णन है। मथुरा संग्रहालय में सूर्य तथा उनके अनुचर की मूर्तियाँ चादर ओढ़े हुए हैं। अजन्ता के भित्ति चित्रों में भी चादर चित्रित की गई है। चादर ओढ़ने की प्रथा ईरानी पहनावे से आई थी।[1]

कृष्ण के वस्त्रों में पिछौरी (२ १ ४९४) [सं पक्ष+पट्ट] भी ओढ़ने वाले वस्त्र के अर्थ में आया है—'राजति पीत पिछौरी मुरली बजावै गौरी' (२ ०१)। यही शब्द नवम स्कंध में राम-लक्ष्मण आदि भाइयों के वस्त्रों में धोती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'कटि-तट पीत पिछौरी बांधे काकपच्छ धरे सीस' (४९४)। आजकल भी स्त्रियों के जाड़े में ओढ़ने की बड़ी चादर को 'पिछौरी' कहते हैं।[2]

४१—पटुका (परि ७) [सं पट अथवा पट्टिका] का उल्लेख बहुत कम है तथा कृष्ण संबंधी वस्त्रों मे नहीं मिलता है। अन्य स्थलों में आया है जैसे कृष्ण-जन्मोत्सव पर—'काहू को पटुका दियो हो'। हर्षचरित में राजाओं के वस्त्रों के वर्णन में 'हस्त' शब्द का उल्लेख है। शंकर ने 'हस्त' का अर्थ पट्टिका ओर किया है।[3] पटका बांधने की प्रथा भारत में शकों द्वारा आई तथा गुप्तकाल में भी चलती रही। बौद्ध तथा जैन साहित्य में स्त्रियां भी पटके [कायबंध] के समान वस्त्र कमर में कलात्मक ढंग से बांधती थी। यह पटके बांस के रेशे, चर्मपट्ट, ऊनी पट्टी बटे हुए गोल वस्त्र आदि के बनते थे।[4] आजकल पटके को फेंटा या कमरफेंटा भी कहते हैं।[5] सूरसागर में भी फेंटा (१५१ इसी अर्थ में मिलता है—'माया को कटि फेंटा बांध्यौ' (१५१)। उत्तर प्रदेश के गांवों में फेंटा बांधने की प्रथा अब भी चल रही है। शहरों में भी विवाह के अवसर पर वर को कमर में पटका बांधना पड़ता है।

प्रथम स्कंध में राजा के वैराग्य लेने के सिलसिले में कुपीन [सं कौपीन] वस्त्र का निर्देश भी है—'चीरनपट कुपीन तन धारि, चल्यौ सुरसरी सीस उघारि'। यह संन्यासियों के पहनने की चीर अथवा लंगोटी होती है। प्राचीन काल से ही साधु संन्यासी इस प्रकार का वस्त्र पहनते आए हैं।

४२—सिले हुए वस्त्रों में *बागा, झगा* तथा *चोलना* शब्द मिलते हैं। बागा तथा झगा बालक कृष्ण के वस्त्रों में आये हैं अतः इन शब्दों का विवेचन उस स्थान पर ही किया गया है। चोलना (१५१) [सं चोल-ढीला वस्त्र] भी विनय पदों में ही मिलता है। कृष्ण के वस्त्रों में सिले कपड़ों का उल्लेख कहीं नहीं है। इसका यही कारण हो सकता है कि सूर ने कृष्ण को प्राचीनकाल से परम्परागत वस्त्राभूषणों से ही सुसज्जित किया है। उस समय के प्रचलित सिले कपड़ों—चोलना, बागा आदि का उन्होंने अन्य स्थलों पर उल्लेख मात्र कर दिया है जैसे—'काम-क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल' (१५१)। हर्षचरित में 'चीन चोलक' नामक कोट राजाओं के वस्त्रों में आया है। यह एक तरह का ऊंचा कोट था जो चीन से शकों द्वारा भारत में लाया गया था।[6] पद्मावत में 'चोला' शब्द अंगरखे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'तारा मंडर

१—हर्ष सां अ , पृ १५१
२—हु० की , अ ११, अध्याय १—कबीर ने पिछौरी के लिए 'पछेवड़ा' शब्द प्रयुक्त किया है।
३—हर्ष सां० अ , पृ १५४
४—प्रा भा० वे , पृ १२
५—हु की , अ ११, अध्या १
६—हर्ष० सां अ०, पृ १५१, १५२

पहिर भल चोला' (१८४१)[1]। आजकल साधु-मुल्ला जो ढीला सा लम्बा कुर्ता पहनते हैं उसे भी 'चोला' कहते हैं।

परि० ७ में[2] 'काहू की पटुका दियौ हो काहू कुलह कबाइ' में 'कबा' शब्द विचारणीय है। यों तो 'कबा' नामक वस्त्र अकबर तथा जहाँगीर के समय में अत्यधिक प्रचलित था। आइने अकबरी में भी इसके बारे में दिया गया है कि यह एक तरह का रुई का कोट-नुमा वस्त्र था। मनूची[3] ने भी कबा का उल्लेख किया है कि एक लम्बा बुना हुआ गाउन होता था। उस समय के पहनावे का प्रधान अंग होने पर भी सूरदास ने इसका उल्लेख बहुत कम किया है। होली प्रसंग में बागे (३५२०) का नाम भी आया है—'नाना रंग नये रँगि बागे'। इसकी व्याख्या बच्चों के वस्त्रों में है। एक स्थल में 'मरगजे तन के बागे' (३४४४) भी वर्णित है।

४१—पाग, पगा (९४१ ५५८ १९८९ ११०१) अथवा पगिया (११७८) तथा पागरी (परि० ७) [सं० पटक] पगड़ी के अर्थ में मिलते हैं। नवम स्कन्ध के रावण-मंदोदरी संवाद में मंदोदरी रावण से कहती है—'तृन दसननि लै मिलि दसकंधर कंठनि मेलि पगा' (५५८)। पगड़ी बदलने की प्रथा मित्रता की द्योतक थी। कृष्ण के वस्त्रों में 'पाग' के रंग तथा बाँधने के ढंग का वर्णन मिलता है—'रोकि रह्यौ गहि गली साँकरी टेढ़ी बाँधत पाग' (९४१) अथवा 'बनि कुंडल बनि पाग लटपटी' (१९८९)। कृष्ण फूलों से अलंकृत पाग भी पहनते थे—'फूलनि सौं लाल पाग लटकि रही बाम भाग सो छबि लखि सानुराग टरति न मन तें' (१९९१)। कृष्ण की पाग प्रायः लाल रंग की बताई गई है। कुछ पदों में जावक का रंग लग जाने का भी उल्लेख है—'जावक सौं कंह पाग रंगाई रंगरेजनि कौन मिसि बागा' (११०१) अथवा 'सूर देखि लटपटी पाग पर जावक की छवि लाल' (११ १)। इस विषय पर्याय में मनुष्य के अहंकार का सुन्दर चित्र है—

'कबहुँक कूदि सभा मैं बैठ्यौ मूँछनि ताव दिखायौ।
टेढ़ी बाम पाग सिर टेढ़ी टेढ़ै-टेढ़ै धायौ। (१ १)

पाग छोटी पगड़ी को कहते थे। इसे प्रायः हिन्दू या राजपूत पहनते थे। राजपूतों की पगड़ी दक्षिणी ढंग की पगड़ी से संभवतः आई थी।[4] पगड़ी (उष्णीष) भारत के प्राचीनकालीन पहनावे में भी थी। स्त्रियाँ भी कभी-कभी उष्णीष पहनती थीं। अथर्ववेद (१५।२।१) में उष्णीष का सर्वप्रथम उल्लेख है। पगड़ी बाँधने तथा अलंकृत करने के ढंग में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। हर्ष में 'पांडर उष्णीष' का उल्लेख है।[5] मुगल बादशाह भी मोतियों तथा बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत पगड़ी पहनते थे। बर्नियर ने भी इसका उल्लेख किया है। पगड़ी को आजकल स्वाफा या साफा मुड़ास्सा मुड़ासा [सं० मुण्डवासक] तथा हिमामा [अ० इमामा][6] भी

१—प० सं० टी०, पृ० १७५

२—परि० ७ में वस्त्रों के कुछ ऐसे नाम एक साथ दिये गये हैं जो सूरसागर में, बहुत कम आए हैं या नहीं मिलते हैं जैसे कबा, पटका तथा कुलहि। परि० ७ के पद संदिग्ध समझे गए हैं।

३—मनूची, पृ० १४

४—चौधुरी, पृ० ८२

५—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४४

६—क० थी०, प्र० ११, अध्याय १

कहते हैं । आजकल भी राजस्थान पंजाब तथा दक्षिण में साफा बांधने की प्रथा चल रही है । उत्तर प्रदेश के गाँवों में अवश्य साफा दिखाई पड़ जाता है । यहाँ की गर्म लू से बचने में इस पहनावे से बहुत सहायता मिलती है । साफे की लपेट को भी फेंट पेंच या बंधन कहते हैं—'बांधत फेंटे पाग सँवारी' (१५२) 'लटपट पेंच पेंचारति (२६५४) तथा 'लटपटी सिरपेंच छूटे बंधान लागे (१२६१)।

परि ७ में कुलह कबाह का उल्लेख है । बालक कृष्ण के पहनावे में कुलही शब्द बराबर प्रयुक्त हुआ है । कुलाह (परि ७) [फ़ा कुलाह] शकों द्वारा भारत में आई थी । सांची के अर्धचित्रों तथा अजन्ता के भित्ति चित्रों मे कुलाहनुमा टोपी मिलती है । संस्कृत 'खोल' ईरानी 'कुलाह' का रूपान्तर था ।[1]

४४—सूरसागर में जूते के पर्यायवाची शब्द पांवरी (१६६१) पनहियाँ (४६१) [सं पदनद्धा पदनध्री] और पदत्राण (४८२) [सं पदत्राण] मिलते हैं—'पहिरि पितंबर, चरन पांवरी, ब्रज बीथिनि मैं आवत' (१६६१) । नवम स्कंध में राम लक्ष्मण आदि भाइयों की दानलीला शीर्षक पदों में— खेलत फिरत कनकमय आंगन पहिरे लाल पनहियाँ (४६१) तथा दशरथ-विलाप शीर्षक पदों में—'जिन रथ चढ़ कुशह कुश मारग बिन पद त्रान चले बीच भ्रात' (४८२) वर्णन है । कृष्ण के रूप-वर्णन में जूते का उल्लेख कम किया गया है । एक तो कृष्ण के समुख रूप के *परम्परागत पहनावे में जूते का स्थान नहीं है तथा गाँव के अहीर ग्वाला आदि वर्ग के लोग जूते* कम पहनते होंगे । आज भी निर्धनता के कारण यह वर्ग जूते[2] कम ही पहन पाता है । पदमावत में भी खड़ाऊँ अथवा पादुका के अर्थ मे 'पांवरि' शब्द मिलता है—'पांवरि पांव लीन्ह सिर छाता' (१२५।७) अथवा 'पांवरि तजहु देहु पग पैरी'[3] (खड़ाऊँ उतार कर पनही पहनो) । पदमावत में 'पांवरि' पांवड़े के अर्थ में भी मिलता है ।[4] सूरसागर क कृष्ण संबंधी उल्लेखों में पांवरि पादुका के अर्थ में ही आया है । नवम स्कन्ध मे राम के 'पदत्राण' तथा 'पनहियाँ' जूते के अर्थ में आए हैं । कृष्ण की पादुका के लिए खराऊ (४४४५) शब्द भी कहीं-कहीं आया है—'अब सुमिरत है धोती पहिरे चढ़ें खराऊँ न्हात ।

४५—सूरसागर द्वारा दरबारों में प्रचलित सिरोपाव (१२ ४ २५५७) [सिर+पांव] देकर सम्मानित करने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है । कंस ने अक्रूर को सिरोपाव देकर नन्दपुत्र को बुलाने भेजा—'कहि अवास को सैन दै सिरोपाव मगायो अपने कर लै करि दियो, सुफलक-सुत लीन्हों' (१५५७) । कंस द्वारा नन्द को भी सिरोपाव[5] दिया गया—'दियो सिरपाव

१—हर्ष सां अ , पृ १२२

प सं टी , ४६६।४ 'खेला कोलि राग सौं मढ़े'

२—प्रा भा वे पृ १७६—महाव्युत्पत्ति में जूते के लिये उपानह, पादुका, पाद वेष्टनिका और गंडपूल शब्द आए हैं । गंडपूल भारतीय मुंडा जूते से सम्बन्धित हो सकता है ।

पृ २ —यजुर्वेद में 'उपानह' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख है ।

३—प सं व्या २७६।२ पैरी—पनही जूता (अवधी)

४—प सं टी , १६७।६ 'पांवरि होउ जहां ओहि पावा'

('स पादपट्ट-पायपट्ट-पांवड़-पांवड़ा')

५—विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले पांच वस्त्र 'पहिरावनी' कहलाते हैं । अथर्व वेद ९।५।२९ में भी पंचवस्त्रों का उल्लेख है—'पंच रुक्मा पंचनवानि वस्त्रा पंचास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति

नृपराज ने महर को (१२ ५)। सिरपाव मे जैसा कि शब्द से ही पता चलता है कि सिर से पैर तक की पूरी पोशाक होती है। इसमें पाग झंगा कुल्हा पाजामा तथा पटका होता है। पहिरावनि (१५१७) का प्रयोग प्रसंग में उल्लेख है—'रंग रंग पहिरावनि दई' (१५१७) अथवा राधा शृंगार वर्णन में मनहुँ देति पहिरावनि अंग' (२८ १)। यह भी सिरोपाव का ही अर्थ देता है। आज कल भी यह प्रथा चल रही है।

कृष्ण गाय चराने के लिये जाते थे तो लकुट[1] (२ २४ २०५८) [सं लगुड लकुट-लकुट] भी अपने साथ रखते थे। कंचन-मकुट का उल्लेख गोचारण शीर्षक पदों में है—'मागी चाह कनक-लकुटी लै, पंथ संवारि बताबै (२ ५८) अथवा—

'भट भरि देहु लकुट तब दैहौ।
हौं हूँ बड़े महर की बेटी तुम सौ नहीं डरैहौं॥
मेरो कनक लकुटिया देरी मैं भरि दैहौं नीर। (२ २४)

तथा 'कटि कछनी कर लकुट मनोहर गोचारन चले मन अनुमानि (१८११)।

आज भी ग्रामीण पुरुष बाहर जाते समय हाथ में एक लाठी अवश्य रखते हैं। जानवर भी चराने के लिये जाते समय छोटा-सा डण्डा लिये रहते हैं। लकुट' छोटे डण्डे के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। नन्द अपने गांव के 'महर' थे और विष्णु के सगुण रूप कृष्ण के रूप वर्णन में विशेष वैभव तथा सम्पन्नता सूचक वस्तुओं का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। इसी को ध्यान में रखकर शायद कवि ने'लकुट कनक की बताई है। गोवर्द्धन-धारण प्रसंग में गोप ग्वालों के लकुट रखने का जिक्र भी है—

स्याम कह्यौ नहिं भुजा पिरानी ग्वालनि कियो सहैया।
लकुटिनि टेकि सबनि मिलि राख्यौ अरु बाबा नन्दरैया। (१५८१)

माया नटी के वर्णन में—'माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचायो (४२) द्वारा नटियों के लकुट लेकर नृत्य करने की ओर संकेत है।

तुलनात्मक

४६—सूर के समान तुलसी ने वस्त्राभूषणों का वर्णन नहीं किया है। राम कृष्ण तथा अन्य देवताओं के सगुण रूप वर्णन में उन्होंने उनके परम्परागत वस्त्रों में पीत वसन तथा पीताम्बर का उल्लेख किया है।

तुलसी ने विवाह के अवसर पर वर-वधू की सज्जा का संक्षिप्त वर्णन अवश्य किया है। वर के वस्त्रों में पीत धोती कटिसूत्र पीत जनेऊ मुद्रिका पियर उपरना कुंकुम तिलक तथा दुलहन की वेशभूषा में चुनरी तथा पीत पिछौरी का उल्लेख है। राम की शोभा का सुन्दर वर्णन है—

(१) 'पीत पुनीत मनोहर धोती हरत बाल रविदामिनि जोती।
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर।
पीत जनेउ महाछवि देई करमुद्रिका चोरि चित लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे उर आयत भूषण उर राजे।
पियर उपरना काखासोती दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती।

१—अ सं टी, ४८८।१ पान दीन्ह राखी पहिरावा
२—हु० बी०, प्र म अध्याय २—अँधेरा होने पर अनुसाला (मार) में जाते समय किसान सन की डंडी जलाकर हाथ में ले लेते हैं उसे भी 'लकुटी' कहते हैं।

है और इसका आकार गोल होता है। आजकल भी बच्चे इस प्रकार की टोपी पहनते हैं।[1] तनी कपड़े की दोहरी सिली पतली-सी पट्टी को कहते हैं। सूर में भी 'तनी' शब्द प्रयुक्त किया है—'तनी चोली की तोरी' (१४८८)।

टोपी के अर्थ में एक दूसरा शब्द कुलही (७२१ ७७८) तथा कुलहिया (७५०) [फ़ा कुलाह] भी मिलता है—

'कुलही लसति सिर स्यामसुन्दर के बहुबिधि सुरंग बनाई।
मानौ नवघन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई। (७२१)

या 'सिर कुलही पग पहिरि पैजनी तहाँ जाहु नंद नंद बबा रै' (७७२)

या 'सीस कुलहिया चौतनियाँ (७५०)

कुलही कुलाह के आकार की छोटे बच्चों की टोपी होती है। इसमें चार तनी होने पर 'चौतनिया' कुलहिया (७५) कहते होंगे। बच्चों की टोपी कई रंगों की भी बनाते होंगे इसी लिये स्याम कृष्ण के शरीर पर रङ्ग-बिरङ्गी टोपी की उपमा बादलों के ऊपर इंद्रधनुष से दी गई है।[2]

८—स्त्रियों के आभूषण

५०—सूरसागर में राधा तथा गोपियों के आभूषणों का अनेक पदों में विस्तार से वर्णन किया गया है। यह विशेषत कृष्ण के मथुरा-गमन से पहले के संयोग प्रेम संबंधी पदों में है। कुछ पदों में (१९९१ २०९१ २१५८ २१११ १४५) केवल आभूषणों के नामों की नाम सूची दी गई है। इनमें से कुछ प्राचीन तथा कुछ विदेशी नाम हैं। अलंकार-शास्त्रियों ने स्त्रियों के बारह आभूषण माने हैं—सीसफूल टीका बाली बेसर कंठश्री, हार, बाजूबंद चूड़ी कंगन अंगूठी किंकिणी तथा नूपुर। जायसी ने इसका उल्लेख पद्मावत में कई स्थलों पर किया है।[3] धीरे-धीरे अनेक प्रकार के आभूषण प्रचलित हो गए। सूरसागर में भी इन बारह आभरणों के अतिरिक्त अन्य बहुत से नाम मिलते हैं।

सूरदास जी ने आभूषणों के लिए प्रधानतया आभूपन (१२४९) [सं आभूषण], भूपन १९५५) [सं भूषण], आभरन (१८ २) [सं आभरण] तथा अभरन (११२५) पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये हैं जैसे—'रचि आभरन सिंगार अंग सजि ज्यौं रतिपति सजनी' (२८ १) अङ्ग अभरन उलटि साजे (११२५) 'अंग अंग अभूपन (२१४४) तथा 'जब देखै उलटे भूपन' (१५५५)। कहीं-कहीं गहना (परि ८) [सं ग्रहणक ग्रहणम गहना] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—गहनो अपढ़ गढ़ायौ। जायसी तथा तुलसी ने भी प्राय यही शब्द प्रयुक्त

1—मानस, बालकाण्ड दो २४३ 'पीत चौतनीं सिरन्हि सुहाईं। कुसुमकली बिच बीच बनाईं।

2—सु प पीता , पृ २६२ 'सावर तनुहि बिलोकि—सुचि न अपनियां ११ सूरसागर के 'सावर सहित बिलोकि—सुचिन अपनियाँ' में बहुत साम्य है। एक नये शब्द 'नमकनियां के अतिरिक्त वक्तामुयालों की बिलकुल एक ही शब्दावली है।

3—प सं० व्या , २९९।१-८ 'पुनि कानन्ह कु डल पहिरैं —
बारह अभरन एह बखानै, ते पहिरे बरही अस्थानै।

किये हैं ।[1] आजकल गहना तथा जेवर [फा] के अतिरिक्त बोलियों में 'माल' या 'चीज' शब्द भी बोले जाते हैं । ऊपर के अंशों से शरीर के प्रत्येक अंग पर जेवर पहनने की प्रथा की ओर भी संकेत किया गया है—'अंग अंग आभूषन' (२६४४) अथवा 'अंग-अंग आभूषन की छबि बरनि होइ बखान (१ ६४)।

जेवर प्राय मोती सोने-चाँदी के या जड़ाऊ बनाए जाते हैं । सूरसागर में सोने या मोती के अथवा रत्नजटित आभरणों के उल्लेख ही प्रमुख रूप से किये गए हैं । इस प्रकार के जेवर बहुमूल्य व सुन्दर होते हैं । सूरसागर म अधिकतर आभूषणों के नाम ही दिए गए हैं किन्तु कहीं कहीं आभूषण विशेष की बनावट के बारे में भी बताया गया है जैसा कि आगे आभूषणों की व्याख्या में बताया जायगा । कहीं-कहीं साधारण तथा सभी आभूषणों के बारे में भी बताया गया है, जैसे—'सूरदास कंचन के अभरन से अंगनि पहराई (६१४) अथवा मनिमय भूषन संगनी (१४९) तथा 'कनक खचित मनिमय आभूषन । मनिमय या मनि भूषन (१४२ १६७१) का उल्लेख अनेक बार हुआ है—'मनिमय भूषन पट अंग साजै (परि १ ८) अथवा 'कंबु कंठ नाना मनिभूषन' (१६७१)। जड़े हुए गहनों के लिये जराइ (१२११) जराऊ (२ ६१) या रतन जटित (१०३८) भी कहा गया है । कहीं-कहीं जड़ाऊ जेवर से उपमा भी दी गयी है—'स्याम तनु घन नील मानो तड़ित तनु सुकुमारि । मनो मरकत कनक संपुट सच्यो काम सँवारि' (२६ ७) । जायसी ने भी जड़ाऊ जेवरों का वर्णन किया है ।[2]

५१—माँग के ऊपर पहनने का एक आभूषण माँगपाटी [सं मस्त्य—प्रा मच्छ-मांग] होता है—'माँग पाटी सुमग (१६१) । शृंगार तथा प्रसाधन के सिलसिले में माँग मोती से भरने का उल्लेख किया गया है । मस्तक पर पहनने के तीन चार आभरणों के नाम सूरसागर में दिये गये हैं—चंदक चन्द्रिका (२ ५७ ७१५) [सं चन्द्रिका], बेंदी (२७६१) [सं बिंदु] सीसफूल [२११६) [सं शीष + फूल] तथा टीको (२१५८) [सं तिलक]। माथे पर लटकता हुआ अर्द्धचंद्राकार आभूषण चंद्रक कहलाता है । यह एक शृंखला से माँग के ऊपर लटका लिया जाता है । चंदक या चंदवा चाँदी का भी बनाते हैं तथा अन्य प्रकार से भी । इसमें तीन शृंखलाएँ होती हैं । बीच वाली में चाँद के आकार की पत्तियाँ लगी होती हैं जो माँग के ऊपर आती है । शेष दोनों कानों के ऊपर लटकती रहती हैं जिनमें झुमके लगे होते हैं[3]। पनघट लीला, २ ५७ में चंदक की उपमा महावत से दी गयी है—

'चंदक मनहुँ महावत मुख पर' । बालक कृष्ण की 'चंद्रिका मानिक' (७१५) का उल्लेख किया जा चुका है ।

बेंदी या टीका चंद्राकार होता है तथा एक शृंखला से बंधा हुआ माथे पर लटकता

१—प सं व्या ११ 'बांध नूपुर पग रुनुने' ।
मानस, बालकाण्ड २४८ 'भूषन सकल सुदेस सुहाये अंग-अंग. रचि सखिन्ह बनाये ।'

२—प सं० व्या २६७, 'पहिरि जराऊ ठाढ़ि भी बरनि न आवै भाउ'।
३१६।५, 'कंचन करी जरी नग जोती ।
बरमा सौ बेंधा जनु मोती ।
४४ ।६, 'कंचन करी रतन नग बना ।
जहाँ पदारथ सोह न घना ।'

३—बा स , पृ ११८

रहता है। इसे प्रायः नगों से जड़ा हुआ बनाते हैं और किनारे मोतियों की झालर होती है। बेंदी या बिंदी चाँदी की भी बनाते हैं। इसका दूसरा नाम बेना भी है। सूरसागर में नग इसकेजड़े होने का वर्णन है—'पीरै भाल बिंदु सेंदुर पर टीका धर्यो जराऊ' (२११६) तथा 'जराइ की टीकौ' (२१५८) या 'बदन बिंब जराइ की बेंदी (१२४६)। शीशफूल का आकार फूल के समान गोल होता है। इसको बोर बोरला या बोरिमा कहते हैं। राधा लग [क्र नयी नगीन] से जड़ा शीशफूल पहनती हैं—'सीसफूल मनि सहत नग धर्यो ता पर सेस सीसमनि धारत' (२८०७)। राधा शीशफूल भी पहना करता था—'कबहूँ राजति सीसफूल लटकाइ कै' (२८०८)। झूला झूलते समय माथे का शीशफूल भी ताटंक के साथ ध्यान आकर्षित करता है—'मो सीसफूल अमोल तरिवन तिलक सुंदर भाल' (३४५१)। श्री (३४५१) या सिरी[1] भी माथे की टिकुली या बेंदी नामक आभूषण को कहते हैं। परि ७ में 'काहू सौतेही चोर' का उल्लेख है। चोर या चौर माथे के एक आभूषण को भी कहते हैं। नागमणि पहनने का उल्लेख भी है—'मनि-नाग सीस धरि' (१२१६)। आजकल राजस्थान गुजरात एवं मध्यप्रदेश में बोर पहने हुए स्त्रियाँ दिखायी देती हैं। विवाह के अवसर पर प्रायः वधू को बेंदी या टीका पहनाने की प्रथा चली आ रही है। इसको सौभाग्यसूचक भी मानते हैं। सूरसागर में भी यह संकेत है—'सीसफूल मनि-नाग सीस धरि मधु सुहाग करे सब लगायी (१२२६)। मोहनजोदड़ो की खुदाई में सिर पर बाँधने की दस-बारह इंच लंबी सोने की पत्तियाँ सी मिली हैं। सिन्धु-सभ्यता के इस आभरण से मिलता-जुलता आभरण पात' आज भी दक्षिणी-पूर्वी पंजाब में पहना जाता है। हर्षचरित में सिर के कुछ इसी प्रकार के आभरण बालपाश तथा मस्तक की चटुला-तिलक मणि का उल्लेख है। गुप्तकालीन स्त्री मूर्तियों के मस्तक पर यह मणि देखी जा सकती है।[2]

५२—कान के आभूषणों में कुण्डल (२७९६) [सं] अत्यन्त प्राचीन है जिसे स्त्री तथा पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे।[3] कृष्ण का तो यह प्रिय अलंकार था ही ब्रज की स्त्रियाँ भी इसे पहनती थीं। राधा के कानों में सूर्य या बिजली के समान देदीप्यमान कुंडलों[4] का वर्णन कई जगह है—

> 'कुंडल झलमलात मलकत अति चकचौंध नैन न ठहरात' (२७९६)
> जगमगि कुंडल रवि सम ज्योती' (१५१६)

1—अ सं ख्या, ४७२।७ 'सिरी को रतन मांग बैसारा।
जानहुँ गर्गन टूटि निसि तारा।'

2—हर्ष सां अ, पृ २३, १६१, १७ 'ललाटलासक सौभाग्यसूची चटुला-तिलक मणि'

3—,, ,, ,, पृ ४७, 'कुण्डलमरिकुटिलकोरिगणालम्बीरता' (हर्ष चरित) साथना भूमि की स्त्री के कानों में द्वितीया के चन्द्र के समान स्वर्णपत्र का कुण्डल था।

4—अ सं ख्या०, ११, 'कुंडल कनक रचे उजियारे'
४७६, 'मनि कुंडल चमकहिं अति लोने।
जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने।
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं।
नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।'

मणिजटित कुंडल के संबंध में भी पता चलता है—'मनि कुंडल ताटंक विलोल' (१७१८)। ताटंक तथा कुंडल की शोभा अवर्णनीय थी—

'कुंडल संग ताटंक एक भए सुमन कपोलनि भाई' (१७५१)।

कान के इस दूसरे आभूषण ताटंक (१११२ १७७८) [सं ताटंक] या तर्, यौना तरिवनि, तरौन [२८२१ २०११ १४२] तरिकौ (२१ ५) [सं तालक ताटंक] का आभूषण सबकी प्रायः सभी पदों में निर्देश हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय का यह प्रिय तथा अधिक प्रचलित आभूषण था। यह फूल के आकार का गोल दोनोंदार टॉप्स होता है, अतएव इसकी उपमा कई जगह चक्र से दी गई है—

'चक्र तरयौना' (१२११) अथवा की मनमथ-रथ-चक्र कि तरिवन रवा रचित सह-साज।

श्रवन रूप की रहँट घटिका रचत सुमन समाज॥ (१ ११)

गोपियों तथा राधा के ताटंक का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है—

'श्रवन तरिवन-छवि को कवि कहै निवारि (११४५)

सुभ अवननि तरल तरौन बेनी सिथिल गुही' (१४२)

रूपिदान प्रसंग में कृष्ण द्वारा आभूषण छीनने के सिलसिले में भी निर्देश है—'नकबेसरि खुटिला तरिवन की' (२ ६१) तथा 'मोती बगरि रहे सब बन में गयी कान की तरिकौ'। (२१ ५) मुरली ध्वनि से बेसुध हो ब्रज की स्त्रियां उलटे ताटंक पहन लेती हैं—'श्रवन ताटंक उलटे सवारे'। (११२६) जड़ाऊ ताटंक का उल्लेख भी है—'श्रवन मनि ताटंक मंजुल' (२७५१) या तरिवन श्रवन रतन मनि भूषित'। (२०११) गोलम बड़े ताटंक का वर्णन भी किया गया है—'ताटंक पंड पर, रतनजटित मनि नीली (१७७८) कहीं कहीं अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णन है—

'सुभग श्रवन तरिवन मनि भूषित इहि उपमा नहिं पार

मनहु काम विधि फंद बनाए, कारन नंदकुमार। (२११६)

आजकल इसे तरकी कहते हैं। ग्रामीण स्त्रियां अक्सर पहनती हैं। इसकी पुंडी मोटी होने के कारण कान का छेद खूब बड़ा किया जाता है। पुडी पर प्रायः ताड़ का पत्ता लपेट लिया जाता है। पहले संभवतः इसे ताड़ के पत्ते से बनाते होंगे अतः इसका यह नाम पड़ गया होगा। गांव में लाख की तरकी भी पहनी जाती है।

इसका एक अन्य नाम बीरैं (१२२६) या बीरे (१४४६) था जिसका आकार भी चक्र या सुम-शशि के समान बताया गया है तथा सोने का रत्नजटित—'कामनि की बीरैं मनि रचति मनहुँ मदन रथ चक्र चलायौ' (१२१६)

अथवा—'कनक जटित जराइ बीरैं कविनु उपमा पाइ

सूर शशि द्वै एक ह्वै कै उगे मानौं आइ।

५१—थोड़े से ही स्थलों में अवतंस (१२१) [सं अवतंस] का उल्लेख भी है—'मिलि रचत अवतंस'। यह बाली के समान कान का एक आभरण है। बाण ने हर्ष के आभरणों में 'मणवावतंस' का उल्लेख किया है जिसे संभवतः कुंडल के ऊपर पहनते थे।[1]

करन-फूल (१८ ७ २८०८) [सं कर्ण + फूल] का उल्लेख भी ताटंक के समान ही अनेक बार किया गया है। यह करन फूल (एक छोटा सफेद फूल) की अनुकृति पर बनाया जाता है। कर्णफूल भी ब्रज की स्त्रियों का प्रिय आभरण ज्ञात होता है—'करनफूल कर लिये संवारति

१—हर्ष० सा० प , पृ० ...

(२८०७) या 'मानो कर्णफूल धारा की' (१२१८) आजकल ग्रामीण बोली में इसे 'करनफूल' भी कहते हैं। कभी-कभी कर्णफूल के बीच में सोना जड़ कर भी बनाते हैं। जायसी ने भी नारी के कर्णफूल का उल्लेख किया है।[1]

कान के छेद में पहने जाने वाले अन्य आभूषणों में खुटिला, खुटिला (२ ६१) (१९११) तथा खुँभि या खुँभी (२ ५७, १९७१) भी थे। 'खुँटिला सुभग बराह के मुक्ता मनि छवि देत प्रगट भयो घन मध्य तें मधु सनि सहित समेत' में बराह खुटिला का वर्णन है। जायसी ने संभवतः इसी के लिए 'खूँट' या खुटी नाम दिये हैं जिसका आकार दीपक के समान होता था।[2] ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'खुटी' नामक आभूषण का उल्लेख नायिका के अलंकारों में किया है (वर्णरत्नाकर पृ ४) तथा उसे खुम्ही नाम भी दिया है (पृ० १ ४९)। खुमी या खुमी संभवतः की अनुकृति पर बनाते थे। सूरसागर में उसके आकार की ओर संकेत है—'खुभिनि बराब-फूल छवि मों मनु है मुख-ससि रजनी'[3] (२८ २) 'मोतिनि हार बनावक मानो खुमी दंत झलकाई (२०१७)। बराह खुमी भी वर्णित है—खुमी बराह बनी है (१९५१)।

१४—कान का अन्य आभरण झूमक झुमका (११८, १०९८) भी था। यह कान से नीचे लटकता रहता है और इसे घंटी अथवा कटोरी की अनुकृति पर बनाते हैं। इसके किनारे मोती की झालर होती है और बीच में लटकन। यह कर्णफूल के साथ भी पहना जाता है। रासनृत्य प्रसंग में कान के हिलते हुए झुमकों का वर्णन है—'चंचल चंचल झूमका' (१०९८) 'चंचल चलन झूमका' चंचल अद्भुत है यह कर (१९७५)। कृष्ण जन्म पर भी दाई को नेग में देने का उल्लेख है—'लाख टका अरु झूमका (सु) सारी दाइ को नेग'। इस आभूषण के अधिक उल्लेख नहीं हैं। लगता है ताटंक तथा कर्णफूल पहनने की अधिक प्रथा थी। आजकल गाँवों में प्रचलित कान के आभरणों में तरकी कनफूल ऐरन (Earring से) बाली या बाली मौप, बार तथा पिपिया आदि के नाम लिये जा सकते हैं तथा शहरों में प्रचलित तरह-तरह के टॉप्स बाली तथा इयरिंग के। सूरकालीन प्रचलित आभरणों में मोती की बाली का प्रमुख स्थान था किन्तु न जाने क्यों सूरसागर में इसका उल्लेख नहीं है। बाण ने हर्षचरित में बालिका शब्द प्रयुक्त किया है।[4] तथा बालिका विशेष 'बल्ली' आया है।[5] पद्मावत में भी 'बारी' शब्द मिलता है।

१५—नाक के प्रमुख आभूषणों में नथुनी नथ, (११४०, १०४६, १ ३१) [सं० नस्त-नत्थ-नाथ-नथ], बेसरि, नकबेसरि (६१ २ ६३, १५१९) [सं० इयल-बेसर]

१—प० सं व्या० ४२।१२, 'करनफूल पहिरे उजियारा'

२— „ , ११०।४ 'तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ ध्रुव दुओ खूँट बैसारे।'
४०६।७ 'खूँट दुहुँ ध्रुव तराईं खुटी। जानहुँ परहि कचपची टूटी।'

३—प० सं व्या, पृ० १०७।४

४— „ „ ११।१ 'पहिरे खुभी सिंगल दीपी।
जानहुँ भरी कचपची सीपी।'

५—हर्ष सां अ०,-पृ २१ 'बकुलफलानुकारिणीभिः सिसुभिर्मुक्ताभिः कल्पितेन बालिका युगलेन।'

६—हिन्दु धर्म, साहित्य मार्गशीर्ष २० ८, अंक १
'कुछ हिन्दी शब्दों की निरुक्ति'—डा वासुदेवशरण अग्रवाल

७—प० सं० व्या ११८।६, 'बारी टाड सलोनी टूटी'

तथा बुलाक (परि ११) [तुर्की बुलाक] का निर्देश है। इनमें सब से अधिक बेसर[1] या नकबेसर का वर्णन है—'सुभग बेसरि निरखि काम लाजै (१९६)।' बेसर आकार में छोटी नथ के समान होती है किन्तु नाक के बीच के छेद में बुलाक के समान पहनी जाती है। इसमें मोती माणिक्य या मूँगे पड़े होते हैं जिनका उल्लेख सूरसागर के अनेक पदों में है—'नासा मुक्ता गोल' (२२१६) 'बेसरि के मुक्ता मनिनि (१२११) 'नासा की बेसरि अति राजति मानो नग मनमोल (१४७५) तथा 'बेसरि बनी सुभग नासा पर मुक्ता परम सुढार (१२२८)। कहीं-कहीं अलंकारों द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा गया है—'बंकित भौंह, चपल अति लोचन बेसरि रस मुकुताहल आयो मानो। भूपनि अमी भाजन भरि, पियत न बन्यो हुई ढरकायो (११२६)। बेसर में गजमोती भी लगाए जाते थे—'नकबेसरि लटकै गजमोती' (१५११)। राधा तथा सखियों के बेसर छीनने के प्रसंग से संबंधित अनेक पद (२५७१ २५७४) हैं। 'बेसरि छीनति ही बकामहि जाहु न बरहि चमी' (२५७४)। यशोदा की नाक की बेसर का उल्लेख भी है—'लटकति बेसरि जननि की (१६)।

इसके बाद नथ[2] का वर्णन किया गया है—'नासा नथ अतिहीं छवि राजति मनहुँ वीरा-रंग' (२५४५)। नथ बुलाकवार चूड़ी की तरह पतले सोने के तार से या छोलसी बनाते हैं जिसमें मोती व मूँगे पड़े रहते हैं। यह नाक के एक तरफ छेद में पहनी जाती है तथा एक ओर कपोल पर पड़ी अधर तक लटकती रहती है।—

'नासा नथ-मुकुता के मारहिं, रही अधरपट आइ।
दाड़िम-कन सुक लेत बन्यो नहिं कनक फंद रही आइ।' (२११६)

तथा—'नासा-नथ-मुक्ता बिम्बाधर प्रतिबिम्बित अरुन।
सीप्यो कनक-पाश सुक सुन्दर करक-बीज नहिं चुंच।' (१ ६१)

आजकल नथ पहनने की प्रथा कम हो गयी है। किन्तु कुमायूँ प्रदेश के पहाड़ी पहनावे में नाक की बड़ी सी नथ का प्रमुख स्थान आज भी है। अन्य स्थानों में विवाह के अवसर पर प्रायः वधू को नथ भी पहनाई जाती है। नथ अरतुल तथा छोलसी दोनों प्रकार की बनती है। कभी कभी इसका आकार इतना होता है कि भार संभालने के लिए बनाने के डोरे या मोती की लड़ी से बांध कर एक ओर कपोल पर डाल कर बाल में बाँध देते हैं। पठान काल से पहले भारतीय साहित्य व कला में नथ का चित्रण नहीं हुआ है।[3] नाक के बीच के छेद में भी के आकार की बुलाक पहनी जाती है। इसका उल्लेख प्रायः चित्र कृष्ण के आभरणों में ही अधिक है। हिन्दू काल में नाक में आभूषण पहनने की प्रथा नहीं थी। मुसलमानी संस्कृति के सम्पर्क में आने के बाद ही नाक में आभरण पहने जाने लगे।[4] आज भी संसार के अधिकांश देशों में नाक में जेवर पहनने की प्रथा नहीं है। पाश्चात्य प्रभाव से भारत में भी नगरों में नाक छिदवाने की प्रथा कम होती जा रही है। स्त्रियाँ नाक में जेवर पहनती भी हैं तो लौंग या फूल के आकार की या हीरे आदि की बड़ी छोटी कील सी।[5]

५५—गले के आभूषणों की संख्या सबसे अधिक है। सर्व प्रथम माल (१ ७) [सं

१—न सं व्या, ११८, 'बेसरि टूटी'
२— " " ३१८ 'परो नाक कोइ ... न पारा
३—न सं व्या पृ १५।४
४— " " १८८।४
५— " " १८६ 'चुनि मानिक मल ... अमोला'

माला] या हार (६११)[1] [सं० हार] ही कई प्रकार के बताए गये हैं। पुरुषों के आभूषणों में मोती [सं मुक्ता] की माला का प्रमुख स्थान है उसी प्रकार यह स्त्रियों में भी प्रिय थी— 'सुमन मोतिन हार' (१६६१) अथवा 'उर मुकुता की माल' (१६७१) या 'चिबुक-तर कंठ श्रीमाल मोतिन छवि' (१६६)। दधि-दान प्रसंग में कृष्ण द्वारा मोती की माला तोड़ कर मोती बिखेर देने का विषय अनेक पदों में है — 'हरि तोरी मोतिनि की माला' (२१४६) या 'हार तोरि बिथराइ दियौ' (२१ २)। मोती की माला की उपमा प्राय: सुरसरी से दी गयी है— 'मुक्तामाल दृष्टि यों लागत मनु सुरसरी प्रयोगति मीनी' (२६११)। केवल एक लड़ की मुक्तावलि (१५१६) [मुक्तावली] या मोतिन हार (१६११) भी पहनी जाती थी—'मनु छवि मोतिन भर दीनी' (२६११) या 'कंठ कपोत मुक्तावलि हार। मनु घुम गिरि बिच सुरसरि धार (१५१६)। दधि दान प्रसंग में मोती की लड़ का अनेक पदों में उल्लेख मिलता है (२१५१ २१५२ २१५७)— मोतिनि सर तोरयौ' (२१ ४) काहे को मोतिन सर तोरी इम पीताम्बर छैहै (२१५५)। हिंडोला शीर्षक पदों में भी अन्य आभरणों के साथ मोती के हार का वर्णन है— मनिमय भूषन कंठ मुकुतावलि कोटि प्रभंजन सावनी (१४२)। हाथी के मस्तक से एक प्रकार के मोती निकलने की कल्पना है जिसे गजमौक्तिक कहते हैं। इस प्रकार के मोतियों की माला का भी उल्लेख है— कंठसिरी उर पदिक बिराजत गजमोतिनि के हार' (१२२८)।

५७—राधा का कृष्ण से मिलने के लिए अपना मोती का कंठा तोड़ने का सुन्दर प्रसंग है। कई पदों में (२५८४ २५९५) माला ढूँढने के बहाने राधा का घर से जाना और पुत्री की इस लापरवाही के लिए माँ की झुँझलाहट व क्रोध का कलात्मक विषय है — माइ उहीं मोतिसरी गवाई। तबहीं तो घर पैठन पैहौं जब ऐहौ ढंग माई' (२५६)। 'हार बिना क्यायें सड़बौरी घर नहिं पैठन देहौं' (२५११)।

मोतिसिरी या मुतिसिरी [सं० मौक्तिक + श्री] मोती का कंठा होता था। इसी प्रसंग में मुतिसिरी के चौसर (२५८१) एवं बहुमूल्य होने का उल्लेख भी है— चौसर हार अमोल गरे को ढूंढ न मेरी माई' (२५८७)।

अथवा— इक इक मन सत सत दामिनि की, लाख टका है ल्याई' (२५६)

या —(लाख टका की हानि करी तैं सो कब तोसौ लैहौं' (२५९१)

दधि-दान प्रसंग में मोती के ही लड़ के हार अथवा नौसरि हार (२१ ५) का उल्लेख भी है—'मैं कत तोरयौ हार नौसरि को।

मोती के हार के अतिरिक्त सोने की या जड़ाऊ माला पहनने की प्रथा भी थी। शिशु कृष्ण की धार काढ़ने के नेग में धाई कंचन हार (६१४) के स्थान पर यशोदा के गले में पड़े मनिमय जटित हार (६११) के लिए मचलती है—

'मनिमय जटित हार ग्रीवा को वहै माजु हौं लैहौं' (६११)

अथवा कंचन हार दिये नहिं मानति तुहीं अनोखी धाई' (६१४)

तथा 'सुनी रोहिनी परम मनंदित हार-रतन लै धाई' (६१६)

राधा तथा गोपियों के आभूषणों में भी मोती तथा माणिक्य के हार का वर्णन मिलता है—'मानिक मोती हार रंग को' (२०११)।

[1]—सू प , गीतावली, पृ १४२ 'सुदुल बीच सुकुमारि नारि इक राजति जित्यौ सिंगार।

हंसग्रीव, हारच्य, मुक्तामयि मनु पहिरे नहिं हार।'

अथवा—'मानिक मध्य पास चहुँ मोती-पंगति भ्राजक चिबुर
रेख्यौ जनु तम-तट तारागन ऊगत पेख्यौ सूर' (१ ६२)।

५८—जैसा कि नाम से ही अनुमान होता है दुलरी (१६६१ ३२७५) [सं० द्वि+यष्टि] तथा तिलरी (२ ६१) [सं त्रि+यष्टि] दो या तीन लड़ की माला को कहते हैं। यह मोती के अतिरिक्त सोने के दानों से भी बनती है। सोने के पत्तरों को गुह कर भी तिलरी बनाई जाती है। ब्रज की स्त्रियाँ दुलरी व तिलरी भी पहनती थीं—'कंठश्री दुलरी बिराजति चिबुक स्यामल बिंद' (१६६१) अथवा 'कंठसिरी दुलरी तिलरी उर' (२ ६१)। कहीं-कहीं स्पष्ट कर दिया गया है कि यह मोती की है—'मोतिनि की दुलरी' (३२७५)। गले में एक साथ कई प्रकार के हार पहिनने की प्रथा भी थी—'कंठसिरी दुलरी तिलरी अर और हार इक नौसरि की' (२१५८)।

ऊपर के पद्यांशों मे कंठश्री या कंठसिरी नाम आये हैं। यह गले का कण्ठा होता है जो गले में चिपटा हुआ-सा पहना जाता है। यह सोने का अथवा जड़ाऊ दोनों प्रकार का होता है। आजकल इसे कंठा या कठी कहते और वे प्राय मोती के या सोने के बड़े-बड़े मनकाकार दानों को पोह कर बनाते हैं। जायसी ने भी पद्मावती के आभरणों में मोती की माला तथा कंठश्री के नाम लिये हैं।[१]

सूरसागर मे हीरे के हार[२] का भी उल्लेख है जो माणिक्य मोती के हार से भी मूल्यवान होता है—'बीच-बीच हीरा लगे (न ह) लाल-गरे को हार' (६५८)।

५६—जड़ाऊ लटकन लगी हुई सोने की सकरी (१६७१) [सं शृंखला] का उल्लेख भी है—'सकरी-दमक रतन मुक्तामय लटकन विलहि चुराई (१६७१)।

सोने या चाँदी की गले म पहनने की जंजीर को सकरी कहते हैं। आजकल इस प्रकार के जड़ाऊ लटकन (Pendant) के साथ बारीक चेन पहनने की प्रथा बहुत है। लटकन किसी भी चीज से लटकती वस्तु को कहते है। यह नथ बेसर झलकी या बाजूबन्द सभी में होती है—'भूषन भुजा ललित लटकन वर मनहुँ मिल्यौ मसिपुंज सुहायो।

ग्रीवा के अन्य आभूषणों में हमेल (२ ६१, ३७५५) [अ हमायल] तौकी (२१५८) [अ तौक़] तथा खगवारी (परि ८) [फ़ा] थे। सिक्कों अथवा उस आकार के टुकड़ों को पोह कर हमेल बनाते है। पहले इसे अशर्फी या रुपयों से बनाते थे 'कंठ हमेल सजावत है (३७५५) या 'सुनि राधा अब तोहिं न पत्यैहौं। और हार चौकी हमेल अब तेरे कंठ न नैहौं' (२५६१) आदि उल्लेखों में हमेल के आकार आदि के संबंध में कुछ नहीं बताया गया है। तौक एक चन्द्राकार आभूषण होता है जो गले से लगा हुआ पहना जाता है। इसमें एक चौड़ी सी पट्टी सी होती है, जिसके नीचे घुँघरू लगे होते हैं। यह सोने तथा चाँदी दोनों की बनाते हैं। मुसलमान स्त्रियाँ अक्सर चाँदी की पहनती हैं। मुसलमान लोग अपने बच्चों को इसी प्रकार का ताबीज पहनाते हैं जो किसी मिन्नत को पूरा करने के लिए पहनाया जाता है। कभी-कभी मुसलमान स्त्रियाँ भी ऐसा ताबीज पहन लेती हैं। सूरसागर में तौक़ का बहुत कम उल्लेख है और है भी तो आभरण के लिए—'एते पर है तौकी' (२१५८)। सूरसागर में खंगवारों का उल्लेख भी बहुत ही कम है—'रतन खचित खंगवारी गर की अनुमति ले पहिरायी (परि० ८)। खँगवारी को आजकल हँसुली कहते हैं।

१—प सं० व्या , १११, 'कठसिरी, मुक्ताहुल माला सोहै अभरन गीव।'
१२१, 'गरे सुरे मिय हार लपेटी सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी।'

२—प० सं व्या २६६ 'हीर हार नग लाल अमोला।'

पद्मावत में भी 'हांसु' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] यह आजकल सोने या चाँदी तथा भरतुन अथवा कांसकी दोनों प्रकार की बनाई जाती है। यह भी तौक के समान ही गले से सटा हुआ चंद्राकार आभरण है किन्तु यह मोटा होता है चिपटा नहीं। उपयुक्त पंक्ति में यह रत्नजटित बताया गया है।

९—कलेवन शीर्षक के एक पद (७१८) में यशोदा के गले की धुकधुकी का उल्लेख आया है—'जसुमति की धुकधुकी धु उर की' (७१८)। धुकधुकी में पदक के आकार का आभरण हृदय पर लटकता रहता था। इसीलिए इसका नाम धुकधुकी पड़ा। मध्यकालीन साहित्य में इसके पर्याय 'उरबसी और 'जुगनी' मिलते हैं। धुकधुकी के पर्यायवाची नाम पदिक (१२२८) [सं पदक] या जुगनू सूरसागर में भी है। हुमेल के बीच में नीचे एक चौकोर टुकड़ा पड़ा रहता है जिसे चौकी (२१५८, १२२९) [सं चतुष्क] कहते हैं। हृदय पर पड़ी हुई चौकी बहुत बार वर्णित है—'हृदय चौकी चमकि बैठी सुभग मोतिन हार' (१९९१) या चौकी चमकति उर नागी (१७९२)। अधिकांश स्थलों में जड़ी हुई सोने की चौकी का उल्लेख है—

'नागनि जरित की चौकी' (२१५८) चौकी पर मग बन्यो बनायौ'(१२२९) या चौकी हेम चंद्रमनि लागी रतन जराइ जराइ' (१९ १)।

चंद्र या चंद्रकान्त मणि एक प्रसिद्ध मणि थी जिसके बारे में कृष्ण के आभरणों में भी उल्लेख किया जा चुका है। यह एक सफेद पत्थर होता था जिस पर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से पानी की बूँदे टपकने लगती थीं। मालतीमाधवरी में भी इसका उल्लेख है।[2] हुमेल में बीच का टुकड़ा पान के आकार का भी होता है और तब उसे पनवा कहते हैं।[3]

११—ऊपर के ग्रीवा संबंधी आभरणों के उल्लेखों से स्पष्ट ही है कि गले में एक साथ कई प्रकार के आभूषणों के पहनने की प्रथा थी। मोती की माला भारत का प्राचीन आभरण है। हर्षयुग में मोती की एकावली बहुत पहनी जाती थी। कालिदास तथा बाण ने इसके अनेक बार उल्लेख किये हैं तथा गुप्तकालीन मूर्ति व चित्रकला में मध्य में इन्द्रनील सहित मोती की माला का बहुत चित्रण हुआ है।[4] शुंगकालीन मूर्तिकला में इस प्रकार का कंठा देखा जा सकता है। पाणिनि ने ग्रैवेयक नामक जिस आभरण का उल्लेख किया है वह भी शुंगकालीन मूर्तियों में मिलता है तथा तौक से मिलता-जुलता है। हुमेल तौक तथा धुकधुकी आदि मुसलमानों के आने के बाद पहने जाने लगे थे। आजकल नगरों में स्त्रियाँ प्रायः मोती व रत्नजटित माला तथा सोने की जंजीर के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आकार के दानों की गुही हुई माला भी पहनती हैं। इनके नाम भेद दानों के आकार भेद से ही है, जैसे मटरमाला जौमाला शंखमाला तथा चम्पाकली। ग्रामीण स्त्रियों के गले में पहनने के जेवरों में अभी भी हँसली हुमेल तौक तथा गुलूबंद नाम लिए जा सकते हैं।

१२—हाथ में कोहनी के ऊपर पहनने के आभूषणों में तीन नाम उल्लेखनीय हैं—टाड़ (४९७८) [प्रा टड्डम = टड्डुग्रो अंगद या वलय] बहुँटा बहुँटनि (२१५८,

१—प सं ग्या, १८७।८ 'कंत कसौटी बानि कै पूरा भये कि हांसु' (सं अंस = कंधा, स अंसालिका = हँसली)

२—मालती प ४८

३—ग्रा० म, प ११८

४—हर्ष० सां ग प १९८

२०९२)[सं बाहुरक्ष प्रा बाहुट्ठ, स्त्री म बहुँटी] तथा बाजूबंद (२११६) [फ़ा० बाज़ूबन्द] टाड़ अथवा बहुँटा प्राय बाजूबन्द के ऊपर पहना जाता है—'बहुँटा कर-कंकन बाजूबंद एते पर है रीकी' (२१५८)।

अथवा — बहु नग जरे,जराऊ अँगिया भुजा बहुँटनि बलय संग कों (२ ९१)। कृष्ण-विरह में गोपियों की कलाइयों के कंगन कोहनी के ऊपर तक पहुँचने लगे—कर-कंकन तें भुज टाड़ भई' (४९७८)। यह वर्गाकार आभरण चार या तीन मोड़ का होता है। इसे आजकल अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक भाषा में 'बलडोरा' या 'टड्डा' कहते हैं। तहसील भांट में यह बहुँटा ही कहा जाता है।[1] इसी प्रकार का एक तार मुड़ा हुआ वृत्ताकार आभरण अनन्त या बरा होता है जिसे प्राचीन काल में स्त्री तथा पुरुष दोनों ही पहनते थे। जायसी ने भी पद्मावती के आभरणों में टाड़ का उल्लेख किया है।[2]

बाजूबन्द चौकोर टुकड़ों को पोह कर बनाया जाता है। इसका फुंदना कोहनी तक लटकता हुआ अत्यन्त आकर्षक ज्ञात होता है। एक बाजूबन्द मे प्राय बीस से तीस तक टुकड़े होते हैं। इन टुकड़ों के ऊपर बूँदें सी बनाई जाती हैं। टाड़ तथा बाजूबन्द दोनों ही प्राय चोकले या पत्तर चढ़ाकर बनाये जाते हैं तथा सोने-चाँदी दोनों के बनते हैं। जायसी ने बाजूबन्द के लिए 'बाँहू' शब्द प्रयुक्त किया है।[3] इसी प्रकार के अन्य आभरण 'बिजायठ' तथा 'जोशन भी हैं। सूरसागर में बाजूबन्द के साथ उसके लटकते हुए फुदने के संबंध में भी बताया गया है—

'कुच कंचुकी हार मोतिन के भुज बाजूबंद सोहत
डारनि चुरी करनि फुंदना बने कंज पास अलि मोहत' (२११६)

अथवा— पग पग पटकि भुजनि लटकावत फुंदा करनि अनूप। (१९७५)

९१—कलाई के उस समय के प्रचलित प्राय सभी आभूषणों के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं—'कंकन कंगन (२८ १ ११७ ९४२) [सं कङ्कण] पहुँचो पहुँचिया (९४१ ७३५, १९७४) चूरा, चूरो (७ ७ १५१६, १४४४) [सं चूड़] चुरी (१७९८) तथा बलय (१४८१ २ ९१) [सं वलय]। बालक कृष्ण की रत्नजटित पहुँची का उल्लेख दशम स्कन्ध के प्रारंभिक पदों में है ही किन्तु यह ब्रज-युवतियों की आभरण सूची में भी है—'अंगुरिनि मुँदरी पहुँची पानि (१७९८) तथा 'लसति कर पहुँची उपाजे मुद्रिका अति जोति (१९७४)। पहुँची में सोने या चाँदी के गोल दाने पोह कर तीन पंक्तियों में एक कपड़े पर टाँके जाते हैं। इसको चुटकी से बाँध कर चूड़ी आदि अन्य आभरणों के आगे कलाई में पहनने की प्रथा थी।

हाथों के आभरणों में कंगन का सबसे अधिक उल्लेख हुआ है। वहीं मथते समय नृत्य करते समय तथा हिंडोले पर झूमते समय कंगन बजने की सुन्दर ध्वनि का वर्णन है—

['दधि कै मथति ग्वालि गरबीली
छलक झुनक कर कंकन बाजे बाँह डुलावत ढीली। (९१७)

अथवा 'नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिश्रित ध्वनि माधुरी (१७९८)

1—कृ बो, अ ११, अध्याय ४

2—प स व्या ९९१।१ 'बहुँटा बाहू टाड़ सलोनी'
११२।१ 'बाँहू कंगन टाड़ सलोनी'

3—प स० व्या, ११२।१, 'बाँहू कंगन टाड़ सलोनी'

राधा तथा ब्रज-युवतियों के हाथों पड़े कंगन की शोभा का वर्णन भी अनेक पदों में है—'कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिये (६४२)

या—'बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार

....

कर कंकन काजर नकबेसर, बोन्ही तिलक लिलार' (२८ १)

दाई भी यशोदा से नेग में हार व कंगन पाती है—'दीन्हौ हार गरैं कर कंकन मोतिनि थार भरैं' (६३५)।

कंगन एक प्रकार का खड़ुआ होता है जिसमें ऊपर वाले या कंगूरे से उठे रहते हैं। यह चूड़ियों के आगे पहनते हैं। आजकल कंगन पहनने की काफ़ी प्रथा है। ग्रामीण बोली में इसे 'ककना' भी कहते हैं। जायसी ने कंगन में रत्न जड़े होने का वर्णन किया है।[1] रत्नजटित ब्रेसलेट को गजरा कहते थे। सूरसागर में इसके उल्लेख कम ही हैं—

रत्न-जटित गजरा बाजूबन्द सोभा भुजनि अपार

फूँदा सुभग फूल फूले मनु मदन बिटप की डार' (११९८)

मुगलकालीन आभरणों में गजरा का भी प्रमुख स्थान था। विवाह में कंकण मोचन की भी प्रथा होती है। इसका नाम भी कंगन है, किन्तु यह कमावे में मांगलिक वस्तुएँ बाँध कर बनाया जाता है। सूरसागर के नवम स्कन्ध में राम-सीता विवाह व राधा-कृष्ण के गंधर्व विवाह के प्रसंग में इस कंगन के भी उल्लेख मिलते हैं —

'कर बाँधे कंकन नहिं छूटै (४६६)

अथवा—'प्रथम ब्याह बिधि होइ रह्यौ हो कंकन-चार बिचारि

रचि रचि पचि पचि गूँथि बनायौ सकल निपुन ब्रज नारि' (११११)।

अथवा—'दुलहिनि छोरि दुलह कौ कंकन' (११११)।

१४—एक दो पदों में कन्चक (११८६) [सं कटक] का उल्लेख भी है— कटक कंगन मात्र। सोने के कड़े पहनने की प्रथा प्राचीन काल से है। कड़ा अनन्त के समान बीच में से खुला होता है तथा प्रायः दोनों ओर मकर या सिंह आदि का मुख बना होता है। वहीं से मोड़ कर कलाई में आगे पहन लिया जाता है। बाण ने हर्षचरित में मालती के एक हाथ की कलाई में पड़े सोने के माहरमुखी कड़ों का उल्लेख किया है जिनके मुख पर पन्ने जड़े हुए थे।[2] हाथ के सभी आभरणों के जोड़े दोनों हाथों में पहने जाते हैं। आजकल विदेश में तथा भारत में भी कहीं-कहीं (विशेषकर पंजाब या दिल्ली में) कुछ आभरण कड़ा या ब्रेसलेट एक हाथ में ही पहनने की प्रथा भी है। पद्मावत में 'हथोड़ा'[3] [सं हस्तपाटक][4] शब्द हाथ के कड़े का अर्थ देता है।

भारतीय हिन्दू स्त्रियों की सौभाग्य सूचक वस्तुओं, जैसे सिन्दूर बिंदिया, तथा टीके

१—पं सं व्या, ४३१, 'जो पहिरैं कर कंगन जोरी।
नहीं तो एक एक नग कोरी।
४२८, 'औ दोसर कंगन कर जोरी
रतन लागि तेहि सौल करोरी।'

२—हर्ष सां अ पृ २१ 'मरकतमकरवेदिकासनाथ हाटककटक'

३—प स व्या, ३७१२ 'रचे हथौड़ा कनई कारी।
चित्र कटाउ अनेक सँवारी।'

४—(सं हस्तपाटक-हत्थपाटक-हत्थअड़ा-हथअड़ा-हथौड़ा)

के अतिरिक्त काँच की रंगबिरंगी चूड़ियों का प्रमुख स्थान है। इनके बिना किसी भी विवाहिता स्त्री का शृङ्गार अधूरा माना जायगा। अतएव सूरसागर में भी कनक चार चूरी या वलय के उल्लेख स्वाभाविक ही हैं—

'नूपुर किंकिन कंकन चूरी' (१७६८)।

'बारनि चरि चरि चुरी बिराजति' (६५)।

तथा— भुजा चूटैंनि वलय संग कौं' (२०६२)।

मानलीला में भी चूड़ी का निर्देश है— हस्त-वलय पर नील न भारी' (१४४६)। चूड़ियाँ सोने की भी बनाई जाती थी। 'कनक-वलय' (१६)। आज इन्हें काँच की चूड़ियों के साथ मिला कर ही प्राय स्त्रियाँ पहनती हैं। 'कर कंकन चूरा भजवंती' (१५१८) में हाथी-दाँत के चूड़ा का वर्णन है। किन्तु कृष्ण संबंधी पदों में तो चूड़ा हाथ और पैर के कड़े के अर्थ में आया है। हाथीदाँत की बनी चूड़ियों के समूह का भी जो कलाई से कोहनी तक पहनी जाती है तथा आगे से पीछे बराबर बड़ी होती चली जाती है चूड़ा कहते हैं। कुछ जातियों में आजकल इसे सौभाग्य सूचक मानते हैं तथा कहीं-कहीं यह वधू को ही पहनाया जाता है, जैसे क्षत्रियों तथा पंजाबियों में।

आजकल हाथ के अन्य आभरणों में ग्रामीण स्त्रियाँ ही अधिकतर बखी व पछेली भी पहनती हैं। कुछ वर्ष पहले तक शहरों में भी स्त्रियाँ ये सब तरह-तरह के आभरण पहनती थीं। किन्तु यहाँ अब कोहनी के ऊपर के आभरण दिखाई ही नहीं देते हैं। कलाई में भी सोने की चूड़ी, बेलचूड़ी, कड़ा तथा कंगन आदि अधिक पहने जाते हैं।

६५—सूरसागर में अँगूठी के कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये गये हैं—मुद्रिका (११७१) [सं०], मुँदरी (२५७) [सं मुद्रिका] तथा अँगूठी (५१) [सं अंगुष्ठिका] राम-कथा में मुद्रिका के प्रसंग के अतिरिक्त ब्रज की स्त्रियों की उँगली की अँगूठी का शोभा-वर्णन भी अनेक पदों में है—

'करज मुद्रिका किंकिनी कटि बाम गज गति चाल (१४६०)

'कर पल्लवनि मुद्रिका सोहति (११७१)

अथवा—'अँगुरिनि मुँदरी पहुँची पानि' (१७६८)

दान लीला प्रसंग में कृष्ण द्वारा अन्य आभूषणों के साथ अँगूठी छीनने का उल्लेख भी है—

'झटकि लई कर मुद्रिका माला मुक्ता गोल

एक मुँदरी की होड़मी कान्ह तिहारी मोल (२११६)

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट ही है कि मुद्रिका अथवा मुँदरी शब्दों का प्रयोग ही अधिक है। अँगूठी शब्द बहुत कम मिलता है जो आजकल अधिक बोला जाता है। मुँदरी समवतः चाँदी की बनती है तथा अँगूठी सोने की। पाणिनि ने अंगुलीय[1] तथा बाण ने 'ऊर्मिका'[2] शब्द प्रयुक्त किये हैं। जायसी ने पद्मावत में अंगूठी शब्द का अधिक प्रयोग किया है तथा अन्य सोने की व नग जड़ी हुई बतायी है।[3] आजकल भी चाँदी के धुंधरूदार छल्ले सादी सोने की अथवा एक नग या कई नगों की अँगूठियाँ पहनने की प्रथा है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अँगूठी

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय ३, पृ ११

२—हर्ष सां० अ पृ १२ 'कमुलिर्मिकर्मिका'

३—प० र्व व्या०, ११९।५ 'जो पहिरे नग जरी अंगूठी'

४२१।५ 'तो नग सेई जो कनक अंगूठी'

पहनते हैं। कुछ लोग रत्नों के लाभ के लिए भी अंगूठी में जड़वा कर पहनते हैं जैसे नीलम, हीरा, मूंगा लहसुनिया आदि। इनमें विशेषकर नीलम के संबंध में अनेक विश्वास हैं। मुगल काल में अंगूठे में आरसी पहनने की बहुत प्रथा थी।[१] इसमें छोटा-सा दर्पण भी लगा होता है। आश्चर्य है, कि सूरसागर में इसको स्थान नहीं दिया गया है।

६६—ब्रज की स्त्रियाँ कमर में बजने वाली करधनी, किंकिनि (१६७२) [सं किंकिणि] या क्षुद्रघंटिका (१ ६८) [सं क्षुद्रघंटिका] पहनती थीं। 'कटि किंकिनि छवि रोरी' (१६७२) अथवा 'तनिक नूपुर चरन क्षुद्र कटि घंटिका कनक तन-गौर छवि संगमि रूपरैन की।' (१ ६८) तथा 'क्षुद्र घंटिका कटि लहंगा रंग तनसुख की सारी। सूर स्यामि पवि कंचन निकटो पग-नूपुर-धुनि भारो। (२११६) किंकिणी सोने की भी पहनी जाती थी—'कनक किंकिनी नूपुर कलरव कूजत बाल मराल (१६७३)।

साड़ी को करधनी या पटके से बाँधने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके लिए वैदिककालीन (शतपथ ब्राह्मण १।३।१।१५) शब्द 'रसना' था। कालिदास ने भी यह शब्द प्रयुक्त किया है।[२] माला के डोरे के अर्थ में सूरसागर में अवश्य 'रसना' शब्द आया है—'तुम्हरेह गुन ग्रंथित करि माला रसना-कर सौं टार (१२ ५)। छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई मेखला क्षुद्रघंटिका कहलाती थी। मुगलकाल में यह काफी प्रचलित थी। किन्तु उससे पहले की मूर्तिकला में भी इसका चित्रण हुआ है। मथुरा की गंगा तथा यमुना से मिली यक्षीमूर्ति की कमर में यही आभरण है।[३] आजकल करधनी प्रायः जंजीरों से बनाते हैं जो बीच-बीच में चौकोर डब्बों से जुड़ी होती है। यह सोने तथा चाँदी दोनों की बनती है। इसके लिए 'कटि मांडनी' तथा 'काञ्चिवेश' शब्द प्रचलित हैं किन्तु अधिक बोले जाने वाले शब्द 'करधनी' तथा 'तगड़ी'[४] ही हैं। जायसी ने भी क्षुद्रावलि या क्षुद्रघंटि' का उल्लेख किया है।[५]

६७—राधा तथा गोपियाँ पैरों में भी बजने वाले नूपुर (१ ६७) [सं नूपुर] या घुंघुरू (१४८) पहनती थीं। नूपुर सोने के मणिमय होते थे—

'चरन महावर नूपुर मनिमय बाजत भाँति भली (१२१७)।

अथवा—'मनिमय नूपुर क्वणित किंकिनी कल कंकन झनकारनी' (१४६)

तथा 'डाकिनि की सोने को नूपुर पहनी अमर बड़ायी (परि ८)

नूपुर एक शृंखला में पोह कर पैरों में पहने जाते थे—'चाल गज शृंखला नूपुर नीकि नवरचि डाम (१ ६७)। बजने वाली गोलसी गोली का घुंघुरू कहते हैं—'घुंघुरू बंट घुमाइ, आलि मदमाती हों' (१४८)। नूपुर की उपमा कामदेव के तूर्य[६] से दी गयी है—

१—आरसी से संबंधित मुहावरा 'हाथ कंगन को आरसी क्या' बहुत प्रसिद्ध है।

२—कालिदास, कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक १ ,

'अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम्।'

३—प्रा भा वे

४—ह श्री , प्र ११, अध्याय ५ 'प्लाट के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति तागरिका सं प्रा तागड़िया है।'

५—प प द्मा २६६, 'कटि क्षुद्रावलि अभरनपूरा'

२६६।७ 'क्षुद्रघंटिका कटि कंचन तागा'

६—मानस, बालकाण्ड, २३ , 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि—

कहत लखन सन राम हृदय गुनि'

मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही'

'कामिनि मानुहिं आनि रहुंगी काम-कटक तै कुच ऋंगा धर।
चरन बनित नूपुर रन-तूरा सुनत श्रवन बसिहिंगे बरबर ॥' (१ ७१)

पैरों के अन्य प्रमुख आभरण जेहरि (१२२८) तथा पैंजनि (१६७६) [सं पाद शिंजनी] थे। पैंजनि भी घुंघरूदार प्रायः चांदी की बनती है। रास-नृत्य प्रसंग में विशेष रूप से शरीर के बजने वाले सभी आभरणों का उल्लेख है—

'चरन बनित नूपुर, कटि किंकिनि कंकन करताल (१७५४)।
अथवा—'नृत्यत अंग अभूषन बाजत
... .
'कंकन चुरी किंकिनी नुपुर पैजनि बिछिया सोहति' (१६७६)।

अथवा—'नूपुर किंकिनि कंकन चुरो। उपजत मिश्रित ध्वनि माधुरी' (१०६८)

सूरसागर में जेहरि प्रायः जड़ाऊ ही बताई गई है—'सुभग अंग जेहरि जराव की' (१११८) जेहरि कड़ियों की पट्टी से बनाते हैं। सूरसागर में भी इसकी शृंखलाओं की ओर संकेत है—'पग जेहरि जंजीरनि जकरयो यह उपमा कछु भावै' (२ ५७)

जेहरि को 'पायल' 'पायजेब' या 'रैशमपट्टी' भी कहते हैं। आजकल अलीगढ़ क्षेत्र में कहीं-कहीं इसी को रमझौल कहते हैं। अनूपशहर में इसे 'गूजरी' तथा तहसील सादाबाद में जेहरि कहते हैं[१]। पैरों के अन्य प्रचलित आभरण लच्छा छागल पाजेब आदि तथा कड़े हैं। जायसी ने पायल [सं पादपाल-पायवाल-पायाल-पायल] तथा 'चूरा' का उल्लेख किया है[२]।

६८—विवाहिता हिन्दू स्त्रियाँ पैरों की उँगलियों में बिछिये (१६३६ २०७४) तथा अंगूठे में अनवट [अंगुष्ठ-अंगुट्ठ-अंगवट्ठ-अनवट] पहनती हैं। पहले बिछियें बड़े व घुंघरूदार होते थे जो चलते समय बजते थे। निम्नलिखित पंक्ति के 'झमकनि' शब्द से यह संकेत है—'पग जेहरि बिछियनि की झमकनि' चलत परस्पर बाजति' (२०७४)। बिछिये प्रायः चांदी के ही पहने जाते हैं। चांदी के छल्ले के ऊपर फूल मछली, मंदिर आदि विभिन्न प्रकार के आकार बनाये जाते हैं। कमर तथा पैरों के आभरण अधिकतर चांदी के ही पहने जाते हैं। सूरसागर में अनवट के भी विशेष उल्लेख नहीं मिलते हैं किन्तु पद्मावत में बराबर हैं[१]। आजकल अनवट पहनने की प्रथा बहुत कम हो गई है। विवाह के अवसर पर ये अवश्य वधू को पहनाये जाते हैं।

कृष्ण के राधिका या गोपिका रूप धारण प्रसंग में भी कई पदों में अनेक आभरणों के नाम दिये गए हैं—'प्रिया-अभूषन मांगत पुनि पुनि अपने अंग बनावत है' (२७५५) अथवा—'स्याम-तनु प्रिया भूषन बिराजैं' (२७६६)।

मुरली ध्वनि से 'अंग की सुधि बिसरी' (१८०) तथा जाकी मन जहँ अँटकै जाइ। ता बिनु ताकौ कछु न सुहाइ। (१०६८) आदि कारणों के फलस्वरूप शरीर में उल्टे या अनुत अवयवों पर आभरण धारण करने से संबंधित भी कई पद हैं—

'हार लपेट्यौ चरन सौं।
अवननि पहिरे उलटे तार। तिरनी पर चौकी सृंगार (१०६८)
अथवा—'करहु सिंगार सवारि मुरली कहुत हंमन हरि बानी

१—ह जी प्र ११ अ ५
२—प० सं व्या २६६ ६ 'औ पायल पायन्ह अस चूरा'
१—प स व्या, २६६ 'चूरा पायल अनवट बिछिया'

अब देखे अंग उनके भूषन तब तरुनी मुसुकयानी' (१६६४)
तथा अंग आभरन सजनि साजे रही कछु न सम्हारि।' (१६२५)

६६—तुलसी ने भी प्राय: स्त्रियों के इन्हीं सब आभरणों के उल्लेख किये हैं। उन्होंने सूरदास जी के समान प्रचुर अनेक स्थलों में इतने विस्तार से बयान नहीं किया है।[1] सूरसागर में में वर्णित प्राय: सभी आभरण सोने मोती के रत्नजटित व बहुमूल्य हैं। इस प्रकार के आभरण ब्रज की ग्वाल-स्त्रियों द्वारा पहनना यों उतना स्वाभाविक नहीं है किन्तु कृष्ण की आराध्या राधा और गोपियों के रूप-सौंदर्य वर्णन में इसे उचित ही कहा जायगा।

सूरसागर में कुछ पद केवल आभूषणों की सूची मात्र हैं। काव्य-कला सौंदर्य की दृष्टि से उनमें से कुछ का पृथक कोई स्थान नहीं है। किन्तु इनसे ब्रज की ग्वालिनों का चित्र प्रचुर सामने आ जाता है। उनमें से कुछ पूरे पद नीचे दिये जा रहे हैं —

१—बनी ब्रज-नारि-सोभा भारि।
पगनि जेहरि लाल लँहगा अंग पँच रँग सारि॥
किंकिनी कटि, कनित कंकन कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठीं सुभग मोतिन हार॥
कंठश्री दुलरी बिराजति चिबुक स्यामल बिंद।
सुभग बेसरि ललित नासा रीझि रहे नँदनंद॥
स्रवन बर ताटंक की छबि गौर ललित कपोल।
सूर-प्रभु बस अति भए हैं निरखि लोचन लोल॥ (१६६१)

२—जुवती अग सिंगार सँवारति।
बेनी गूथि माग मोतिनि की सीसफूल सिर धारति॥
गोरे भाल बिंदु सेंदुर पर टीका धरयौ जराउ।
बदन चंद पर रवि तारा-गन मानौं उदित सुभाउ॥
सुभग स्रवन तरिवन मनि-भूषित इहिं उपमा नहिं पार।
मनहु काम बिबि फंद बनाए कारन नंदकुमार॥
नासा नथ मुकुता के भारहिं, रह्यौ अधर-तट आइ।
दाड़िम-कन सुक लेत बन्यौ नहिं, कनक फंद रह्यौ आइ॥
चमकत-दसन हसत अधरनि तर, चिबुक डिठौना भ्राजत।
दुलरी श्रम तिलरी अंग उरधर सुभग हमेल विराजत॥
कुच कंचुकी हार मोतिन के भुज बाजूबँद सोहत।
डारनि चुरी करनि फुँदना-बनं कंज पास अलि सोहत॥
छुद्रघंटिका कटि लँहगा रँग तन तनसुख की सारी।
सूर स्याम अति रीझि सैबन निकरीं पग नूपुर धुनि भारी॥ (२११६)

१—गु ग्र रामलला, नहछू, पृ ४
'काने कनक तरीवन, बेसरि सोहइ हो।
गजमुकुता कर हार कंठमनि मोहइ हो॥
कर कंकन कटि किंकिनि नूपुर बाजइ हो।
रानी के दीन्हीं सारी तौ अधिक बिराजइ हो॥'

३—एक हार मोहिं कहा दिखावति।
नख-सिख लौं अंग-अंग निहारहु ये सब कहाँहि दुरावति ॥
मोतिनि माल जराइ कौ टीकौ करनफूल नकबेसरि।
कंठसिरी दुलरी तिलरी उर, और हार इक नौसरि ॥
सुभग हमेल जराव की अँगिया मननि खचित की चौकी।
पहुँची कर-कंकन बाजूबंद एते पर है चौकी।
क्षुद्रघंटिका पग नूपुर जेहरि बिछिया सब मैली।
सहज-अंग-सोभा सब न्यारी कहत सूर ये देखी ॥ (२१६८)
४—सहज रूप की रासि राधिका भूषन अधिक बिराजै।
मुख सौरभ सम्मिलित सुधानिधि कनक लता पर भ्राजै ॥
चंदन-बिंदु बारि मिलि सोभित अम्मिल नीर प्रयाग।
मनहुँ-बाल-रबि रस्मिनि-संकित तिमिर छूट दुवै भाग ॥
मानिक मध्य पास जहँ मोती-पंगति झलक सिंदूर।
रह्यो मनु तम तट तारागन उमड घेर्यो सूर ॥
की मनमथ-रथ-चक्र कि दरिसन रवा रचित सहू-साज।
श्रवन-कूप की रेहट घंटिका राजत सुमग समाज ॥
नासा-नक-मुक्ता बिंबाधर प्रतिबिंबित अनभूप।
लीन्यो कनक-पास सुक सुंदर, करक-बीज नहिं चूप ॥
कहँ लगि कहौं भूषननि भूषित अंग-अंग के रूप।
सूर सकल सोभा श्रीपति की राधिका-नैन अनूप ॥ (२ ६१)

९—पुरुषों के आभरण

७०—कृष्ण के रूप-माधुर्य तथा शोभा संबंधी पदों में वस्त्रों के साथ उनके प्रिय आभूषणों का उल्लेख भी अनेक स्थलों में किया गया है। वस्त्रों के समान इसमें भी कुछ तो उनके परंपरा द्वारा निश्चित आभूषण हैं तथा कुछ सूर के समय में प्रचलित माने जा सकते हैं।

कृष्ण बड़े हो कर भी पहले के समान ही कानों में कुंडल (२४४१) [सं० कुंडल] पहनते थे जिसका आकार भी प्रायः पूर्ववत् मकर के समान ही था—'स्रुति मंडल कुंडल मकराकृत' (१२४४) अथवा 'चलित कुंडल गंड-मंडल झलक ललित कपोल (१२४५)। कोहनी से ऊपर पहनने के दो प्रमुख गहने थे—अंगद (१ ९६) [सं अंगद] तथा केयूर (१११) [सं केयूर, केयूर]। केयूर अत्यन्त प्राचीन आभूषण है। वाल्मीकि[1] रामायण तथा हर्षचरित[2] में इस शब्द का उल्लेख मिलता है। स्नान के समय यशोदा उनके सभी आभूषण उतार कर रख देती है—

'अंग अभूषनि जननि उतारत।

१—वाल्मीकिरामायण, किष्किंधा० 'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरेत्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।'

२—हर्ष सां० अ०, पृ० ४१, हर्ष की बाहों में जड़ाऊ केयूर था। उनके अन्य आभरणों में कुण्डल ('कुण्डलांशु टीकाकोटितालवीणा') एवं अवतंसपर्यस्तांश था।

दुलरी ग्रीव माल मोतिन की कै केयूर भुज स्याम सिहारति
छुद्रावली उतारति कटि तैं सैति मरति मनही मन बारति। (१११)
ग्रथवा 'कंबु-कंठ भुज नैन विसाला कर केयूर कंकन नग-माला। (११४१)

कोहुनी के ऊपर पहनने का यह आभरण सोने का मंडलाकार था जिसे बरा या ग्रनन्त भी कहते हैं। इसे स्त्री तथा पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे। कलाई के आभूषणों में पहुँची (१२५६) तथा कंकन (२८१७) के नाम लिये जा सकते हैं—'रत्नजटित पहुँची कर राजति अँगुरी सुंदर भारी' (१२५६) तथा कर कंकन छवि। मुद्रिका (१२४१)[सं]का प्रयोग कई पदों में हुआ है—'पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै (१२४१)। नवम स्कन्ध में हनुमान-सीता प्रसंग के कई पदों में राम की मुद्रिका के अतिरिक्त एक ग्रन्य शब्द मुँदरी [सं मुद्रिका] भी प्रयुक्त हुग्रा है—मुँदरी हूत भरी सी ग्रावै तब प्रतीति जिय ग्राई (५११)। आजकल ग्रधिक ग्रग्र के लोग कनिष्ठा तथा ग्रनामिका में जो मेंगूठी पहनते हैं उसे प्रायः मुँदरी कहते हैं। मुँदरी ग्रक्सर चाँदी के तार की बनती है तथा ग्रंगूठी सोने की। नवम स्कन्ध में ही मुद्रा (५१२)[सं] शब्द भी मिलता है—'कहाँ है राम कहाँ हैं लछिमन क्यों करि मुद्रा पायो' (५१२)। मुद्रा किसी नाम की छाप या सिक्के को भी कहते हैं। गोरखपंथी-साधु मुद्रा नामक आभूषण कान में पहनते हैं। यह प्रायः काँच या स्फटिक का होता है। सूर ने मुद्रा इस ग्रर्थ में भी प्रयुक्त किया है—'मुद्रा भस्म विषान त्वचा-मृग व्रज युवतिनि नहिं भाए' (४१२१) मुद्रिका का पर्याय ग्रँगूठी (५१) [सं अंगुष्टिका-ग्रंगुट्ठिग्रा-ग्रंगुट्ठी ग्रंगूठी] सूरसागर में मिलता है—'तब कर काढ़ि ग्रंगूठी दीन्ही जिहिं जिय उपज्यो धीर'[1] (५१)।

७१—गले के आभूषणों में मोती की माला का उल्लेख सबसे ग्रधिक है—'मुक्तामाल नंदनंदन उर' (१२५१) 'ग्रसनबसन मोतिन-हार ग्रीवा सोभा कहत न ग्रावै' (१०६१) तथा 'विवि-बाहन बच्चन की माला राजत उर पहिराये' (१ १५)। कृष्ण के गले में पड़ी मोती की बड़ी सी माला की शोभा ग्रवर्णनीय है। कवि ने इसका ग्रलंकार युक्त वर्णन ग्रनेक पदों में किया है—

'मोतिन-माल दुहूँवा मानौ, फेन लहरि रस-कूल।
या—'मुक्तामाल नंद-नंदन-उर ग्रर्ध सुधा-घट भ्राजति।
तनु श्रीखंड मेघ उज्ज्वल ग्रति देखि महाबलि लाजति। (१२५१)
ग्रथवा—'नैन-मीन मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्तामाल मिली मानौं, द्वै सुरसरि एकै संग॥'

मोती की माला दुलरी (१११०) [द्वि + लड़ — सं यष्टि] या दोलड़ी भी कहलाती थी—'दुलरी ग्रीव माल मोतिन की' (१११०) दुलरी सोने की भी बनाई गई है—'केहरि को लौरि, कुसुम की दाम ग्रभिराम, कनक-दुलरि कंठ पीताम्बर ओढ़ें' (२०१८)।

मोती के हार के साथ कुछ ग्रन्य प्रकार की मालायें भी पहनते थे। वे वन में गायें चराने वाले थे ग्रतः वहाँ फूलों तथा गुंजा या तुलसी की माला पहन लेना स्वाभाविक ही था—'गुंजा

१—क श्री , ग ११, ग्रध्याय ४
२—मा ग , पृ १४
३—(इंडिया एज नोन टु पाणिनि), पृ १३ । ग्रष्टाध्यायी में ग्रंगूठी का पर्याय 'ग्रांगुलीय' दिया गया है।

देह तट सुभग साट पट बनमाला उर फूल' (१२५५),'ललित उर बिमल सु बनु बनमाला' सोहै (१२८०)। बनमाला [सं० वनमाला] जंगली फूलों की माला को कहते हैं। यह कृष्ण का प्रिय अलंकरण होने के कारण उनका एक नाम 'बनमाली [सं० वनमालिन्] भी है। उसके अतिरिक्त गुंजाबनमाल (१०१७) [सं० गुंजावनमाला] मंदारहार (२० २) [सं] तथा तुलसीमाल (१ ४८) [सं०] का उल्लेख भी किया गया है—

'संध्या समय गोप गोधन संग बन तें बनि ब्रज आवत।
उर गुंजा बनमाल मुकुट सिर, बेनु रसाल बजावत ॥'

या—'केसर की खौर किये,गुंजा बनमाल हिये
उपमा न कहि आवै जेती लखियाँ। (२००१)

अथवा—'उर पर मंदार-हार' (२००२) तथा 'स्याम देह दुकूल दुति मिलि, लसति तुलसी माल'[२] (१२४८)।

गुंजा को घुँघची भी कहते हैं तथा इसकी झाड़ी होती है। इसका रंग आग के समान होता है। गुंजा एक रत्ती के बराबर होती है। अतएव सोना आदि तौलने में इसका उपयोग होता है। मंदार को अर्क या मदार कहते हैं। मंदार मूँगे का वृक्ष भी होता है। इन्द्र के नंदन-कानन के पाँच प्रसिद्ध वृक्षों में मंदार वृक्ष का स्थान है। तुलसी की_झाड़ीदार झाड़ी होती है तथा यह कभी-कभी दवा की तरह काम में आती है। कुछ लोग तुलसी की पूजा करते हैं।

७२—इन सभी प्रकार की फूलों की मालाओं के अतिरिक्त बैजंती-माल (१४५०) [सं वैजयन्ती] भी उल्लेखनीय है। वैजयन्तिका तो मोती के हार को कहते हैं किन्तु वैजयन्ती विष्णु की माला विशेष है। कुछ स्थलों में कृष्ण के हृदय पर शोभित कौस्तुममणि (१२४१) [सं० कौस्तुभः + मणि] का वर्णन भी किया गया है—'पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै। कौस्तुभ मनि हृदय स्थल भ्राजै। (१२४१)। यह समुद्र-मंथन में निकली थी तथा इसे भगवान विष्णु अपने वक्षस्थल पर धारण करते हैं। विष्णु के अवतार माने जाने के कारण इस प्रकार के दोनों उल्लेख स्वाभाविक हैं।

कृष्ण के आभूषणों के सिलसिले में प्रसिद्ध चंद्रकांत मणि का उल्लेख भी मिलता है—'कटि किंकिनी चंद्रमनि संजुत। चंद्रमनि (१२४३) [सं चंद्रकान्त + मणि] या चन्द्रकान्त मणि तथा सूर्यमणि का उल्लेख आईनेअकबरी में भी किया गया है। उसमें लिखा है कि यह सफेद चमकता पत्थर होता है जिस पर चंद्रमा की किरणें पड़ने से पानी टपकने लगता है।[१] हृदय पर पदिक भी पहना जाता था—'हृदय पदिक की पाँति दिपति दुति' (२८३७)।

७३—कमर के आभूषणों में सोने की या जड़ाऊ मेखला (१२५१ १२५१) [सं०] तथा किंकिनी (१२४३) [सं] और क्षुद्रावली (१११०) [सं क्षुद्रावलि] उल्लेखनीय है—'कनकमनि मेखला राजत (२००१) अथवा 'कनक मनि मेखला राजत सुभग स्यामल अंग' (१२८१)। किसी वस्तु के मध्य भाग को चारों ओर से घेरने वाली मंडलाकार चीज को मेखला कहते हैं। प्राचीनकाल से ही चौलों के ऊपर मेखला पहनने की प्रथा चली आ

१—कृ ची, भ १२ अध्या० ११, फूलों के हार में माला के विरुद्ध गुँथाई होती है। इसमें एक फूल की पंखड़ियाँ दूसरे से मिली रहती हैं।
२—मानस, बाल का० १४३, 'कु उर मनिकंठा कलित उरसि तुलसिका
१—आई० अक० पृ० ४८

रही है। वैदिक काल में इसके लिए 'रशना' शब्द प्रचलित था।[1] बाण ने हर्षचरित में हर्ष द्वारा अधोवस्त्र के ऊपर पटके के पास मेखला पहनने का वर्णन किया है।[2] मेखला के अतिरिक्त इसमें बांधे कमर के आभूषण किंकिणी और क्षुद्रावलि हैं। किंकिणी में छोटे-मोटे घुँघरू होते थे तथा क्षुद्रावलि में छोटी-मोटी घंटियाँ एक मेखला में लगी रहती थीं। क्षुद्रावलि गुप्त-युग की मूर्तिकला में भी मिलती है।[3] इनके संबंध में स्त्रियों के आभूषणों में भी बताया जा चुका है।

कृष्ण-संबंधी थोड़े से पदों में उनके पैरों के नूपुर का चित्रण भी है—

'सखी निरखि हरि-प्रति अंग।

कोउ निरखि नख इंदु भूली कोउ चरन-जुग-रंग।

कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु। (१२५१)

सोने के जड़ाऊ नूपुर भी बनते थे।— रतन जटित कंचन कल नूपुर।

मंद-मंद गति चलत मधुर सुर॥ (१९४१)

आजकल बालकों और तरुण पुरुषों ने मेखला तथा नूपुर पहनना छोड़ दिया है। स्त्रियाँ अवश्य पहनती हैं। किन्तु पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप उनमें भी यह प्रथा उठती जा रही है।

७४—पुरुषों की अन्य सजावटों में माथे पर केसर या चंदन का तिलक (१ ६४, १०७८) [सं० केसर चंदन + तिलक] प्रचलित था—'बन्यो तिलक, उर चंदन (१ ८४) 'पीत बसन, चंदन तिलक मोर मुकुट कुंडल अलक' (१ ७८)। वे मृग-मद का तिलक भी लगाते थे—'सोभित तिलक रुचिर मृगमद' (१४९१)। मुगलकाल में उत्तरभारत के प्रायः सभी ब्राह्मण माथे पर तिलक लगाया करते थे।[4] आजकल भी तिलक लगाने की प्रथा ब्राह्मण वर्ग में अधिक है। तिलक खड़ी या पड़ी रेखा से बनाते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं जैसे—छापा (अंगूठे की मुद्रा)-त्रिपुंड[5] (तीन पड़ी रेखायें) श्री (एक खड़ी पतली रेखा) तथा 'ऊर्ध्वपुंड्र' अंग्रेजी के 'यू' के बीच में सीधी लाइन। त्रिपुंड का प्रयोग सप्तम शती में ही होने लगा था।[6] सूर के समय में प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का अपना अलग तिलक होता था।

तिलक के अलावा वक्षस्थल तथा बाहु पर भी केसर या चंदन की रेखाएँ खींचने की प्रथा थी। खौर (१ ७८ १२५९) [सं क्षुर = रेखा खींचना] का अनेक स्थानों पर सुन्दर वर्णन है[8]—'नागर कटि काछे खौरि केसर की किये (१०७८) अथवा 'अंग स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खौरी (१२९०) तथा 'स्याम भुजन की सुंदरताई चंदन खौरि अनूपम राजति सो छबि कही न जाई। (१२५९)। खौरि पड़ी चौड़ी एक रेखा होती है।

१—भा भा वे, पृ २२ 'सत ब्रा १।३।१।१५.

२—हर्ष सां अ०, पृ ४९

३—भा भा वे, पृ ७१

४—अकबरनामा, भाग १, पृ २७५ २७७

५—मानस, बाल २१८ 'भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा'

६—हर्ष० सां अ०, पृ १२ 'सावित्री के माथे पर भस्म की त्रिपुंड रेखाएँ थीं।

७—हि० श्री, प्र १९, अध्याय १४

वल्लभिया तिलक—लाल रंग का अंग्रेजी का 'यू' U

निम्बार्क तिलक—सफेद 'यू'

रामानन्दी—सफेद 'यू' के बीच में लाल खड़ी रेखा

माध्यक—नाक के ऊपर छोटा 'यू' या ही

८—मानस, बालकाण्ड २१६, 'तन अनुहरत सुचंदन खौरी'

तिलक तथा खौरि लगाने का रिवाज आज ब्राह्मण वर्ग में अधिक है। अन्य वर्गों में यज्ञ आदि के अवसर पर अवश्य माथे पर तिलक लगाया जाता है।

७५—कृष्ण की परम्परागत वेश भूषा में मुकुट [सं॰ मुकुट] का विशेष स्थान है। मुकुट में भी उन्हें मोर-मुकुट अत्यन्त प्रिय था। सूरसागर में मोर-मुकुट (११११) [सं॰ मयूर] के लिये अनेक शब्द तथा तरह-तरह के अलंकार मिलते हैं। इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय शब्दावली यह है—मोर-पखौवा' (१७७२) [सं मयूर + पक्ष] बरही-मुकुट (१४२२, १२५६) [सं बर्हि] सिखी-सिखंड (१ ६४, ११६९) [सं॰ शिख-शिखंड] सिखी-चन्द्रिका (२८१७) [सं॰ शिखिन् + चंद्रिका] मयूर-चन्द्रिका (७७२) तथा किरीट मुकुट (६५८)। रूप सौंदर्य संबंधी प्रत्येक पद में पीत पट तथा वेणु और कुंडल के साथ मोरमुकुट का वर्णन अवश्य ही किया गया है—

> सुंदर स्याम कमल दल-लोचन दुरि दुलभर के भाई।
> मुख मुरली सिर मोर पखौवा बन-बन धेनु चराई। (१७७२)
> 'बरही-मुकुट इंद्र-धनु मानहुँ तड़ित दसन-छबि लाजति' (१२५६)
> 'मनिमय जटित मनोहर कुंडल सिखी चंद्रिका सीस रही फबि' (२८१७)
> 'सिखी-सिखंड सीस, मुख मुरली बन्यौ तिलक उर चंदन। (१०६४)
> 'सोभित सुमन मयूर चंद्रिका नील नलिन तनु स्याम' (७७२)

तथा 'मोर मुकुट सोभा बनी (सुभ) अंग बनी बनमाल (६५८)

मयूर-पंख के बीच के चमकीले भाग को चंद्रिका कहते हैं। आजकल राधा-कृष्ण के श्रृंगार में राधा को भी विशेष प्रकार का मुकुट पहनाते हैं उसे भी चंद्रिका कहते हैं[२]। सूरसागर में वर्णित सभी प्रकार के मुकुट मोर के परों के बने बताये गये हैं। किरीट मुकुट में एक आयताकार पट्टी के ऊपर पान के आकार की एक पंक्ति सी होती है जिसका बीच का पान बड़ा होता है। अर्जुन किरीट मुकुट पहनते थे।[३] मोरपंखी या चंदोई मुकुट में तीन मोर पंख कलंगी की तरह लगती है। आज भी मंदिरों में कृष्ण मूर्ति के श्रृंगार में जामा (ऊपर से नीचे तक के दोनों वस्त्र जो आपस में जुड़े हुए बनाये जाते हैं) पटका तथा मोर मुकुट पहनाते हैं। जड़ाऊ सोने के मुकुट का उल्लेख भी है—'भूषन मुकुट जराइ जरयौ' (१११८) व तथा 'कनक मनि मुकुट' (२०६६)।

मुकुट पहनने की प्रथा प्राचीन काल में थी। गुप्तकाल की मूर्तियों तथा सिक्कों में मुकुट का चित्रण मिलता है। अजंता के बोधिसत्व के चित्रों में भी सिर पर प्रायः मुकुट ही चित्रित है। मोर मुकुट से अवश्य कृष्ण की ओर ही ध्यान जाता है।

कुछ स्थानों में कुसुमपाग' का भी उल्लेख है—'ललित वर त्रिभंग-सुतनु बनमाला सोहै।

१—मानस बालकाण्ड, २११ 'मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के।'

२—ह बी॰ प्र १२ अध्या १४

३—महाभारत द्रोणपर्व जयद्रथ वध अध्या॰ ६, श्लोक २११६
किरीटमाली कौन्तेयो गोजालीव व्यराजत्।' किरीट की पंक्ति किरीटमाल' कहलाती है।
गीता अध्या ११ श्लो १७ में कृष्ण के विष्णु रूप में भी किरीट का उल्लेख है—'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्॥'
मानस गीता पृ ११, 'भाल तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई।

पनि सुरेस कुसुम-दाम उपमा को कोई ॥ (१२९)

७६—सूरसागर में कृष्ण का रसिनागर (दशम स्कन्ध) तथा नटवर (२८१७) रूप प्रमुख है। अलौकिक चरित से संबंधित थोड़े से पदों में ही उनकी अमित शक्ति तथा साहस का वर्णन किया गया है। शेष सभी पदों में वह 'राजीव लोचन' मदनमोहन 'रसिक सिरोमनि' 'मनमोहन' या 'नटवर' 'नटनागर' हैं। ब्रह्म के आनन्द-रूप को ही प्रधानता दी गई है जिसने राधा तथा गोपियों को सांसारिक बंधन तोड़ने पर विवश कर दिया था—

सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी' (१२९१)
नटवर भेष पितांबर काछे छैल भये तुम डोलत' (२२०४)
कटि काछनी कंचन कीरि, स्याम बरन सुंदर तन ऐसे नट-नागर के जैसे वारने'
(१६९६)

'रच्यो रास मिलि रसिकराइ सौं मुदित भईं गुन ग्रामिनि। (१६६६)

'छैल' (२२ ४) [सं० छवि + ऐल] या छैला आजकल कुत्सार्थक रूप में प्रयुक्त किया जाता है। छैल-चिकनिया बन ठने-ठने पुरुष को कहते हैं।

अष्टाध्यायी[1] में पुरुषों के लिए प्रयुक्त शक्ति-सूचक विशेषण पुरुष-व्याघ्र' हस्तिन तथा 'पुरुष-सिंह' सूरसागर में ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। इसका कारण ऊपर दिया गया है। ब्रह्म के आनन्द रूप के प्रतीक कृष्ण के लिए ऐसे विशेषण कैसे दिये जा सकते थे?

७७—तुलसीदास ने अपने सभी प्रमुख ग्रंथों में राम लक्ष्मण आदि के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है।[2] कृष्ण संबंधी वर्णनों में तो मोरमुकुट पीताम्बर तथा कुंडल के बिना चित्र पूरा हो ही नहीं सकता। जायसी ने भी रत्नसेन के आभूषणों में 'पहिरउ कुंडल कनक जराऊ' तथा 'मकरस केस मटुक सिर बेहूँ'[3] आदि उल्लेख किये हैं। रत्नसेन की सभा में 'मुकुट बंध बैठे सब राजा' का वर्णन किया गया है।[4]

परिशिष्ट

श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य तथा वस्त्राभूषण संबंधी दो संपूर्ण पद उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

स्याम-हृदय वर मोतिन माला। बिथकित भईं निरखि ब्रज-बाला ॥
सजल चले सुनि बचन रसाला। नैन चले दरसन नंदलाला ॥

१—इंडिया एज् नोन टु पाणिनि, पृ १२९
२—मानस, सुंदर १३, 'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर। चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी।'
मानस, बा ३२७, 'कसि किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर।'
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत आभूषन राजे ॥
पियर उपरना काखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना ॥'
३—प सं० व्या २०६।८, ९
४—प सं व्या २७।१

कम्बु-कंठ भुज नैन बिसाला । कर केयूर कंचन नग जाला ॥
पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै । कौस्तुभ मनि हृदयस्थल राजै ॥
रोमावलि बरनि नहिं जाई । नाभिस्थल की सुन्दरताई ॥
कटि किंकिनी चंद्रमनि-संजुत । पीताम्बर कटि-तट छबि अद्भुत ।
जुगल जंघ की पटतर को है । रम्भा-गन नीरज कों जो है ॥
जानि जानु की छबि न सम्हारै । नारि-निकर मन बुद्धि बिचारै ॥
रतन जटित कंचन कल नूपुर । मंद-मंद गति चलत मधुर धुर ॥
जुगल कमल-पद नख मनि-आभा । संतनि मन संतत यह लाभा ॥
जो सिधि संग सु तहाँ लुभानी । सूर स्याम छबि काहु न जानी ॥ (१२४१)

सजल-जलधर-तर मनमोहन ।
दच्छिन चरन चरन पर दीन्हे, तनु त्रिभंग कीन्हे मृदु जोहन ॥
मनिमय जटित मनोहर कुंडल सिखी चंद्रिका सीस रही फबि ॥
मृग-मद तिलक अलक घुँघरारी उर बनमाल कहौं जु भई छबि ॥
तनु घनस्याम पीतपट सोभित हृदय पदिक की पाँति दिपति दुति ॥
तन भ्रू-भाव बिबिध बिराजति, बंसी अधरनि धरे ललित गति ॥
करज मुद्रिका कर-कंकन छबि कटि किंकिनि पग नूपुर भ्राजत ॥
नख सिख कांति बिलोकि सखी री ससि अरु भानु मगन तनु लाजत ॥
नख सिख रूप अनूप बिलोकत नटवर भेष धरे जु ललित अति ॥
रूप-रासि जसुमति को ढोटा बरनि सकै नहिं सूर अलप-मति ॥ (२८१७)

१०—बच्चों के आभूषण

७८—छोटे बच्चों को भी कुछ आभूषण पहनाने का रिवाज था। गले के आभरणों में कठुला (७ २, ७११) [सं० कंठिका कंठ + ला ~ एकलड़ा हार] प्रमुख था—'कठुला कंठ बज्र केहरि-नख' (७ २) 'कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ' (७२४) या 'कंचन को कठुला मनि मोतिनि बिच बघनहँ रह्यो पोह (री)' (७११)। कठुला बच्चों की एकलड़ी माला होती थी। इसमें सोने अथवा चाँदी की चौकियाँ तारों में गूँथी जाती थी। बीच-बीच में बाघ के नख तावीज आदि भी गूँथ दिये जाते थे। उपर्युक्त पंक्तियों में सूर ने इसी प्रकार के कठुला का वर्णन किया है।

गले में पदिक[1] (७२४) [सं० पदक] भी पहनाया जाता था—'पदिक उर हरिनख' (७२४)। पदिक को धुकधुकी भी कहते हैं। बालक कृष्ण कभी-कभी गले में कमल की माला पहनते थे—'ललित-माल मृणाल पहिरे कहा कहौं बनाइ' (७८८) या 'कंठ कमल दल माल की' (७२१)।

मोती की माला (७८८) [सं० माला] का उल्लेख भी कुछ पदों में है—'स्वाति-सुत माला बिराजत स्याम तन इहि भाइ' (७२८)।

७९—शिशु के भाल के माथे की लटकन (७१७ ७२२) [सं० लटन—झूलना, हिन्दी

१—सू० पं०, सीता०, पृ २६२—
'घुँघरो बरनि, पदिक हरिनख उर, कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ'

मति सुरेश कुसुम-चाप उपमा की कोई ॥ (१२१)

७६—सूरसागर में कृष्ण का रसिनागर (दशम स्कन्ध) तथा नटवर (९८१... रूप प्रमुख है। अलौकिक चरित से संबंधित थोड़े से पदों में ही उनकी अमित शक्ति तथा साह... का वर्णन किया गया है। शेष सभी पदों में वह 'राजीव लोचन' मदनमोहन 'रसिक सिरोमनि' 'मनमोहन' या 'नटवर' 'नटनागर' है। ब्रह्म के मानव-रूप को ही प्रधानता दी गई है जिसने राधा तथा गोपियों को सांसारिक जीवन छोड़ने पर विवश कर दिया था—

सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातनि सुरत राधिका भोरी' (१२११)

'नटवर भेष किशोर काछे छैल भये सुभ लोचन' (२२ ४)

'कटि काछनी पीत पट बांधे स्याम बरन सुंदर तन ऐसे नट-नागर के पीछे लागे'

'रच्यो रास मिलि रसिकराइ सौं मुदित भईं गुन ग्रामिनि। (११६९)

छैल' (२२ ४) [सं० छवि + ऐल] या छैला आजकल कुत्सार्थक रूप में प्रयुक्त किया जाता है। छैल-छबीनियाँ खूब बने-ठने पुरुष को कहते हैं। (१११९)

अष्टाध्यायी[१] में पुरुषों के लिए प्रयुक्त शक्ति-सूचक विशेषण 'पुरुष-व्याघ्र' 'हस्तिन' तथा 'पुरुष-सिंह' सूरसागर में ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगे। इसका कारण ऊपर दिया गया है। ब्रह्म के मानव रूप के प्रतीक कृष्ण के लिए ऐसे विशेषण कैसे दिये जा सकते थे?

७७—तुलसीदास ने अपने सभी प्रमुख ग्रंथों में राम लक्ष्मण आदि के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है।[२] कृष्ण संबंधी वर्णनों में तो मोरमुकुट पीताम्बर तथा कुंडल के बिना चित्र पूरा हो ही नहीं सकता। जायसी ने भी रत्नसेन के आभूषणों में 'पहिरउ कुंडल कनक जराऊ' तथा 'माथे छत्र मटुक सिर देहूँ'[३] आदि उल्लेख किये हैं। रत्नसेन की सभा में मुकुट... बैठे सब राजा' का वर्णन किया गया है।[४]

पारिशिष्ट

श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य तथा वस्त्राभूषण संबंधी दो संपूर्ण पद उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

स्याम-हृदय वर मोतिन माला। बिथकित भईं निरखि ब्रज-बाला ॥
स्रवन थके सुनि बचन रसाला। नैन थके दरसन नंदलाला ॥

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ १२९
२—मानस, सुंदर ११ 'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर।
चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी।'
मानस, बा १२७ 'कटि किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर।
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत आभूषन राजे ॥
पियर उपरना काखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना ॥'
३—प सं व्या २०६।८, ६
४—प० सं व्या २७८।१

कंबु-कंठ मुक्त नैन बिसाला । कर केयूर कंचन मनि माला ॥
पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै । कौस्तुभ मनि हृदयस्थल राजै ॥
रोमावलि बरनि नहिं जाई । नाभिस्थल की सुंदरताई ॥
कटि किंकिनी चंद्रमनि-संयुत । पीताम्बर, कटि-तट छबि अद्भुत ।
जुगल जंघ की पटतर को है । कदली-खंभ नीरज को जो है ॥
जानि जानु की छबि न सम्हारै । नारि-निकर मन बुधि बिचारै ॥
रतन जटित कंचन कल नूपुर । मंद-मंद गति चलत मधुर सुर ॥
जुगल कमल-पद नख मनि-आभा । संतनि मन संतत यह लाभा ॥
जो जिहिं अंग सु तहां भुलानो । सूर स्याम गति काहु न जानी ॥ (१२४१)

सघन-कल्पतरु-तर मनमोहन ।
दच्छिन चरन चरन पर दीन्हें, तनु त्रिभंग कीन्हे मृदु जोहन ॥
मनिमय जटित मनोहर कुंडल सिखी चंद्रिका सीस रही फबि ॥
मृग-मद तिलक अलक घुंघरारी उर बनमाल कहां लु कहुं छबि ॥
तनु घनस्याम पीतपट सोभित हृदय पदिक की पांति दिपति दुति ॥
तन आभरन विविध विराजति, बंसी अधरनि धरे ललित गति ॥
करज मुद्रिका कर-कंकन छबि कटि किंकिनि पग नूपुर भ्राजत ॥
नख सिख कांति बिलोकि सखी री ससि अरु भानु मगन तनु लाजत ॥
नख सिख रूप अनूप बिलोकत नटवर भेष धरे जु ललित अति ॥
रूप रासि जसुमति को ढोटा बरनि सकै नहिं सूर अलप-मति ॥ (२८१७)

१०—बच्चों के आभूषण

७८—छोटे बच्चों को भी कुछ आभूषण पहनाने का रिवाज था। गले के आभरणों में कठुला (७ २, ७६६) [सं० कंठिका, कंठ+ला – एकलड़ा हार] प्रमुख था—'कठुला कंठ बज्र केहरि-नख' (७ २) 'कठुला कंठ मंजु गजमनियां' (७२४) या 'कंचन को कठुला मनि मोतिनि बिच बघनहँ रह्यौ पोह (री)' (७६६)। कठुला बच्चों की एकलड़ी माला होती थी। इसमें सोने अथवा चाँदी की चौकियां तारों में गूँथी जाती थीं। बीच-बीच में बाघ के नख तावीज आदि भी गूँथ दिये जाते थे। उपर्युक्त पंक्तियों में सूर ने इसी प्रकार के कठुला का वर्णन किया है।

गले में पदिक[1] (७२४) [सं पदक] भी पहनाया जाता था—'पदिक उर हरिनख' (७२४)। पदिक को धुकधुकी भी कहते हैं। बालक कृष्ण कभी-कभी गले में कमल की माला पहनते थे—'कमल-माल गुपाल पहिरे कहा कहौं बनाइ' (७८५) या कंठ कमल दल माल की (७२३)।

मोती की माला (७८५) [सं माला] का उल्लेख भी कुछ पदों में है—'स्वाति-सुत माला विराजत स्याम तन इहि भाइ' (७२८)।

७९—कवि ने गोपाल के माथे की लटकन (७१७ ७१२) [सं लटन—झूलना, हिन्दी

१—सू० पं , पीता , पृ २६२—
'पहुँची करनि, पदिक हरिनख उर, कठुला कंठ मंजु गजमनियां'

लटकना से] का विशेष रूप से अनेक पदों में वर्णन किया है—'लटकन लटकत ललित भाल पर' अथवा (७१७) 'भाल विशाल ललित लटकन मनि बाल दसा के चिकुर सुहाये'(७२२)। अनेक मणियों से जड़े लटकन की चर्चा भी की गई है—'सीस सेत घर पीत लाल मनि लटकन भाल रुलाई। सनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।' (७२१)। किसी भी आभूषण में लटकते भाग को लटकन कहते हैं। सिरपेंच या कलंगी की भी लटकन होती है। सूर ने संभवतः इसी अर्थ में 'लटकन' शब्द प्रयुक्त किया है। कुछ पदों में 'चंद्रिका' (७१५) [सं] नामक आभूषण भी वर्णित है—'कटि किंकिनी चंद्रिका मानिक' (७१५)। यह माथे पर पहनने का अर्धचंद्राकार आभरण है। इसके बीच में नग तथा किनारे-किनारे मोती लटकते रहते हैं। ऊपर की पंक्ति में माणिक्य जटित चंद्रिका का वर्णन किया गया है।

कुछ स्थलों में कान के आभूषण कुंडल (७४२) [सं कुंडल] का जिक्र है। बड़े होकर भी कृष्ण कुंडल पहनते थे। घुँघराली लम्बी अलकों के साथ कुंडल की शोभा अद्वितीय थी—'कुंडल लोल कपोल विराजत लटकति ललित लटूरियां भ्रू पर' (७४२)। कृष्ण के कुंडल प्रायः मकराकृत ही थे—'कुंडल कुटिल मकर कुंडल भ्रुव नैन बिलोकनि बंक' (७२२)। मंडलाकार कुंडल पहनने की प्रथा प्राचीन भारत में थी। अजन्ता के भित्ति चित्रों में कुंडल मिलता है। बुद्ध के चित्रों में भी प्रायः कान में मंडलाकृत कुंडल चित्रित मिलता है। मुगलकाल में राजपूत कानों में आभूषण पहनते थे। आजकल राजस्थान के कुछ भाग में अवश्य पुरुषों द्वारा कान में आभूषण पहनने की प्रथा चल रही है।

कर्णछेदन शीर्षक पदों में कान के अन्य आभूषणों ढेंडुर (७६८) [प्रा ढुरं = मोती] तथा मुरकी (७६८) [प्रा मुरकना—मुड़ना] का भी उल्लेख है। 'कंचन के द्वै दुर मंगाइ लिये कही कहा छेदनि आतुर की। लोचन भरि-भरि दोऊ माता कनछेदन देखत जिय मुरकी (७६८)।

आजकल भी सोने की 'दुर' या 'मुरकी' कनछेदन में पहनते हैं। ढेंडुर झाँकरे की तरह लटकने वाली बाली होती है।[१] सोने के तार को तीन बार चक्करदार लपेट कर बाली के समान मुरकी नामक आभूषण बनता है। दुर, कुंडल तथा मुरकी मिलते-जुलते आभूषण हैं। कुंडल की गुडी दुर से बड़ी और पोली होती है।

नाक के गहनों में एक पद में नथनी (७२१) [सं नस्त-नस्य नाक का छेद, पशुओं की नाक का छेद जिसमें रस्सी बांधते हैं] का निर्देश भी है—'हीं बलि जाऊँ छबीले लाल की। मौतिन सहित नासिका नथुनी'[२] (७२१)। पठान काल में पहली 'नथ' नामक आभूषण का उल्लेख भारतीय साहित्य अथवा कला में नहीं मिलता है[३]। परि पद ११ में बुलाक [तुर्की बुलाक] का उल्लेख भी है 'नाक बुलाक हलै री'। मुसलमान स्त्रियाँ ही बुलाक अधिक पहनती हैं। सोने की जौ के आकार का यह आभूषण नाक के बीच के छेद में पहना जाता है। यशोदा शिशु कृष्ण के पैरों व हाथों में चूरा (७ ४) [सं चूड़ा] भी पहना देती थीं—'कर अंगुरी सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुँ कर पाइ' (७ ७)। इस

१—क वी , प्रक ११, अध्या ४
२—सु० सं मीता० पृ २६२ 'ललित नासिका लसति नथुनियाँ' ११
३—प स क्या पृ १६, 'परी नाथ कोइ सुनइ न पारा' पदमावत ११।४
संभवतः जायसी का यह नाथ संबंधी उल्लेख इसके प्रकार के बुंक का ही है, क्योंकि नया होने के कारण यह शब्द आभरणों का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

वृत्ताकार आभूषण को 'कड़ा' भी कहते हैं। हाथों में एक अन्य आभूषण 'पहुँची' (७१५, ७१५ ७२१) [सं प्रकोष्ठ] का प्रायः इन सभी पदों में उल्लेख है—'कर पहुँची' (७१५) 'पंकज-पानि पहुँचिया राजै (७११)। रत्नजटित पहुँची का वर्णन भी मिलता है—'पहुँची रतन-जराइ' (७५१)। कुछ दिनों पहले तक स्त्रियाँ इस आभूषण को शौक से पहनती थीं किन्तु अब पहुँची का रिवाज उठ गया है। बच्चों के आभरणों में भी इसका स्थान नहीं रहा है।

८१—पहले बच्चों को कमर में बजने वाली घुँघुरूदार किंकिनी (७१२) [सं किंकिणी] अवश्य पहनाते थे।[1] सूर ने इसकी बनावट तथा ध्वनि का विशद वर्णन किया है—'कटि किंकिनि बनाइ (७२१) 'कटि किंकिनि कूजै (७५) तथा 'किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जटि' (७११) और 'कनक रतन-मनि-जटित-रचित कटि किंकिनि कुनित पीतपट तनियाँ' (७२४)। वर्तमान समय का प्रचलित शब्द करधनि भी 'तनक कटि पर कनक-करधनि (८ २) में प्रयुक्त हुआ है। ये सभी आभूषण सोने के तथा बहुमूल्य रत्नों से जड़े हुए बताए गये हैं। इनके द्वारा कृष्ण की शोभा तथा नंद के वैभव का चित्र खींचा गया है।

छोटे बच्चों के पैरों में भी घुँघुरूदार आभूषण पहनाने की प्रथा थी जिससे चलते समय सुन्दर ध्वनि होती थी—'पाइन में नूपुर' (७१५) अथवा 'नूपुर कलरव मनु हंसनि-सुत रचे नीड़ दै बांह बसाये (७२२)[2] तथा 'ज्यौं-ज्यौं मोहन नाचै त्यौं-त्यौं रई घमर की होइ (री)। दैखिये किंकिनि धुनि पग नूपुर सहज मिले सुर घोइ (री) (७११)। नूपुर (७१५) [सं नूपुर] घुँघुरू के अर्थ में आता है। दूसरा प्रमुख आभूषण 'पैंजनि' (पैंजनियाँ) (७१० ७२४) [सं० पादकिंकिणी] है—'कुनक स्याम की पैंजनियाँ जसुमति सुत को चलन सिखावति अंगुरी गहि गहि दोउ जनियाँ' (७५)। अथवा—'भजन चरन नख जोति जगमगति रुनझुन करति पाइ पैंजनियाँ (७२४)। ये पैर के आभूषण अधिकतर चाँदी के ही बनते हैं। पैरों में सोने के आभूषण पहनने की प्रथा आजकल भी कम है। पैजनी घुँघुरूदार जंजीर से बनाते हैं।

८२—बच्चों के संबंध में प्राचीन काल से ही कुछ अन्ध-विश्वास भी प्रचलित हैं। इनके पीछे कुछ वैज्ञानिक तथ्य भी हो सकते हैं। बच्चों के गले में केहरिनख (७१५) [सं] या बघना, बघनियाँ (७११ ७ १) [सं व्याघ्रनख] पहनाने की प्रथा इनमें से एक है। सूर इसका उल्लेख करना भी नहीं भूले हैं—'कठुला कंठ बघनहाँ नीके' (७१५)[3] 'रुचिर हार हिय सोहत बघना' (७११) तथा *घर घर हाथ दिखावति डोलति बांधति गरे बघनियाँ* (७ १)। बाघ के नाखून का सोने के तार और मणियों से मिला कर गुंथा हार [सं हार] बनाया जाता

1—मनूची, पृ १६, ४ मुगल काल में बच्चों को करधनी पहनाने की चर्चा मनूची ने की है।

2—कृ० पं गीता०, पृ २८७, 'नूपुर जनु मुनिवर कलहंसनि रचे नीड़, दै बांह बसाए' २१

3—कृ पं गीता, पृ २६, 'कटि किंकिनी, पग पैजनि बाजै। पंकज पानि पहुँचिया राजै।
कठुला कंठ बघनहाँ नीके। नयन-सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन लसत ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरी॥

। व्याघ्रनख में वज्र [सं वज्र = हीरा] तथा प्रवाल [सं] लगा कर भी माला बनाते थे—

परम सुदेस कंठ केहरिनख बिच-बिच वज्र-प्रवाल' (७१५) अथवा 'कठुला कंठ

रुचिर केहरिनख वज्रमाल बहु लाल अमोलनि' (७११) ।

हर्षचरित में बालक हर्ष को भी सोने म व्याघ्रनख[1] जड़ कर पहनाने का प्रसंग है। उसे मैं सुवर्ण मूँगे का टेढ़ा टुकड़ा 'मणिके था'[2]। आज भी व्याघ्रनख काले डोरे में बाँध कर कुछ लोग बच्चो को पहनाते है। बच्चे की अभिष्ट रक्षा के लिए जंत्रहार (७५१) [सं यंत्रहार] पहनाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है— राजत जंत्रहार' (७५१)। इसी प्रकार टोना टुटका करके आज भी माताएँ अपने बच्चों को तावीज पहना दिया करती है।

८३—शिशु कृष्ण के माथे पर गोरोचन-तिलक (७१७ ७१९) [स गोरोचना] अथवा मृगमद (७ २) [सं मृगमद] शोभायमान था— मसि बिन्दुका मृगमद भाल' (७ २) या बदन सरोज तिलक गोरोचन लट लटकनि मधुकर-गति डोलनि' (७१६) अथवा 'भाल कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये' (७१७)। गोरोचन गाय के पित्ताशय से निकला एक सुगन्धित पीले रंग का द्रव्य होता है तथा मृगमद किसी-किसी हिरन की नाभि से निकली कस्तूरी को कहते है। कस्तूरी की सुगन्धि तो प्रसिद्ध है ही।

उनकी आखो में काजल भी लगाना माता के लिए आवश्यक था[3]— अंजन रंजित नैन' (७११) [सं अंजन]। आज भी घरों में स्त्रियाँ दिये की बत्ती जला कर और उसके ऊपर किसी छोटे पात्र को रख कर उसकी कालिमा से काजल बना लेती है तथा उसमें कपूर आदि भी मिलाती है। उसके बाद कुदृष्टि से बचाने के लिए माता-यशोदा उनके माथे पर डिठौना (७१२) [सं दृष्टि-बंधन हि डीठ[4]] मसि बिंदा (७१५) [सं मसिबिंदु] काजर बिंदु (७११) [सं कज्जल बिंदु] या चखौड़ा (७१२) लगाना भी नही भूलतीं—

'काजर बिंदु भुव ऊपर दै' (७११)

'लट लटकनि सिर चारु चखौड़ा' (७१२)

'मुनि-मन हरत मंजु मसिबिंदा ललित बदन बल बालगुबिंदा' (७१५)[5]

'सिर चौतनी डिठौना दीन्हौ (७१२)

'भाल चखौड़ा पर कुंचित कच छबि मुक्ता ताहू मैं (७६५) आदि।

आज भी छोटे बच्चों को बुरी नजर से बचाने के लिए माथे पर काली रेखा या टीका लगाने की प्रथा दिखाई दे जाती है। चखौड़ा[6] ऐसी ही काली रेखा को कहते हैं।

८४—मुडन के पहले बच्चों के बाल घुंघरे रेशम के समान तथा घुंघराले होते है।

१—पेट में भोंकने के लिये बाघ के नाखून के आकार का एक छोटा सा हथियार 'व्याघ्रनख' नामक होता था।

२—हर्ष चा , च , पृ १८ 'हाटकबद्धविकटव्याघ्रनखपंक्तिमंडितग्रीवकै'

३—सु ग्रं , कवित्ता , पृ १२७, 'तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन [illegible] खंजन-जातक से'

४—ह भी प्र ११, अध्या ४

५—सु सं , गीता पृ २९१, 'मुनि मन हरत मञ्जु मसि-बुंदा, ललित बदन, बलि बालमुकिंदा।'

६—ह भी प्र ११, अध्या ४, आज तहसील में 'चखौड़ा' शब्द आज भी प्रचलित है।

सूर ने शिशु कृष्ण के इन बालों का सुन्दर वर्णन किया है—'कुटिल अलक बदन की छवि अवनि पर लोटै (७१६) या—'अनुप्यारे सीस केस हैं वर घुँघरवारे (७५२)।

ब्रज प्रदेश में इन बालों को लटूरियाँ (७१४ ७२१) [सं. लट्व = अलक बाल की लट] तथा झँडूले' (७६९) [हि. झंड + ऊल] भी कहते हैं—

'छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटूरियाँ' (७२१)
'लटकत ललित लटूरियाँ मसि बिंदु गोरोचन' (७१४)
'उर बघनहाँ कंठ कठुला झँडूले बार' (७६९)।

कुछ पदों में बालकृष्ण के लम्बे जटा जुटली (७८८) [सं० जटा + जूट] जैसे झँडूले बालों वाले रूप की तुलना शिव जी से की गई है—

सखि री नंदनंदन देखु। धूरि धूसर जटा जुटली हरि किये हर भेषु' (७८८)।

यशोदा कृष्ण तथा बलराम के इन लम्बे बालों की चुटिया (७८०) [सं. चूडा] या बेनी (७६९) [सं. वेणी] गूँथ देती थी—

'बेनी लटकत मसि-बुंदा मुनि-मन हरै' (७६९)
अथवा 'खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोउ भाई
अरस परस चुटिया गहैं बरजति है माई' (७८०)।

मुंडन के पहले बाल लम्बे हो जाने पर आजकल भी लड़कों के बाल बेणी रूप में बाँध दिये जाते हैं। बीच में मांग निकाल कर दोनों ओर बालों को पट्टे में काढ़ने को काकपच्छ (४६४) [सं. काकपक्ष] केश-विन्यास कहते हैं। यह देखने में कौए के परों के समान लगते हैं। हर्षचरित में बालक चंद्र का केश विन्यास काकपक्ष ही है। गुप्तकालीन कार्तिकेय की मूर्तियों में भी ऐसा ही मिलता है।[2] सूर ने नवम स्कन्ध के राम संबंधी पदों में काकपच्छ का उल्लेख किया है—'कटि-तट पीत पिछौरी बाँधे काकपच्छ धरे सीस (४६४)। कृष्ण के बाल काकपच्छ ढंग के नहीं बनाये गये हैं। राजा के पुत्र होने के कारण राम-लक्ष्मणादि के लिये ऐसा केश-विन्यास अधिक उपयुक्त था। राम के समान 'पनही' का उल्लेख भी कृष्ण की वेशभूषा में प्रायः नहीं किया गया है।

८६—तुलसी ने बालकों की वेश-भूषा में प्रायः इसी शब्दावली का प्रयोग किया है—किंकिनि पैंजनी कठुला पहुँची नथुनी, बघनखा तनियाँ झँगुली, कछौटी पनिया पनहीं तथा नागफनी (कान का आभूषण) आदि। शिशु राम का रूप-माधुर्य देख अयोध्यावासिनी स्त्रियाँ ठगी सी खड़ी रह गईं—

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा-झलकै पुलकैं नृप गोद लिये।
अरविंद सो आनन रूप मरंद, अनंदित लोचन भृंग पिये।[3]

घुँघराले कुंतल तथा कुंडल की छवि अवर्णनीय थी—'घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलनि की। निछावरि प्रान करैं तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की

१—ह० औ प्र० ११ अध्या० ४, आज कल कभी कभी 'झँडूले' शब्द के लिये 'झडूला' शब्द प्रयुक्त करते हैं— जट × अल्ल—जडउल्ल—जडूल × अ—जडूला, जड़ अर्थात् जमे के बाल
२—हर्ष० सां० अ०, पृ ६८
३—तु० ग्रं० कविता०, पृ० १९७ ११८

कौसल्या आँगन में राम को पैरों चलना सिखा रही है—

ललित सुतहिं लालति सचु पाये ।
कौसल्या कल कनक अजिर, महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए ।।
कटि किंकिनी पैंजनी पाँयनि बाजति रुनझुन मधुर रेंगाए ।
पहुँची करनि कंठ कठुला बन्यो केहरिनख-मनि-जरित जराए ।।
पीत पुनीत बिचित्र झँगुलिया सोहति स्याम सरीर सोहाए ।
दँतियाँ द्वै द्वै मनोहर मुख छवि अरुन अधर चित लेत चोराए ।।१।
चिबुक कपोल नासिका सुंदर भाल तिलक मसिबिंदु बनाए ।
राजत नयन मंजु अंजनजुत खंजन कंज मीन मद नाए ।
लटकन चारु भृकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए ।।२।।[1]

सूर तथा तुलसी के बालक कृष्ण तथा राम के चित्रण में कितनी समानता है यह देख कर आश्चर्य नहीं होता । उस समय के प्रचलित पहनावे के साथ दोनों ने परंपरागत पहनावे का भी चित्रण किया है । राम तथा कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने के कारण उनका परम्परागत पहनावा भी बहुत कुछ मिलता है । गीतावली के कुछ पदों का सूरसागर के कुछ पदों से आश्चर्यजनक साम्य है ।

८६—वर्तमान काल में बच्चों को आभूषण पहनाने की प्रथा उच्च वर्ग के नागरिकों में उठ-सी गई है । इस वर्ग ने पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत निकर कमीज पैंट, फ्रॉक अपना लिया है । किन्तु ग्रामीण जनता ने अपना पुराना पहनावा बच्चों के लिये भी नहीं छोड़ा है । गाँवों में हाथ-पैर कमर आदि में चाँदी के आभूषण कुर्ता कमीज झबला तथा टोपी आदि अभी भी चल रहे हैं । वहाँ कठुला व्याघ्रनख तथा डिठौना भी दिखाई देता है । कमर में अक्सर काले डोरे की करधनी पहना देते हैं । मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव स्वरूप पायजामा बंडिया कमीज और कुर्ता आदि भी चल रहे हैं । सभी के वस्त्रों में रूमाल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है ।

परिशिष्ट

बाल रूप संबंधी कुछ थोड़े से पदों द्वारा शिशु कृष्ण की मनमोहक शोभा तथा सज्जा का अनुमान लगाने में सरलता होगी । इनको पढ़ कर आँखों के सामने एक चित्र-सा खिंच जाता है—

(१) खेलत नँद-आँगन गोविन्द ।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावति बदन मनोहर चंदु ।
कटि किंकिनी चौकिका मानिक लटकन लटकत भाल ।
परम सुदेस कंठ केहरि-नख बिच-बिच बज्र प्रवाल ।।
कर पहुँची पाइन मैं नूपुर, तन राजत पटपीत ।
घुटुरनि चलत अजिर महँ बिहरत मुख मंडित नवनीत ।
सूर बिचित्र चरित्र स्याम के रसना कहत न आवैं ।
बाल दसा अवलोकि सकल मुनि जोग बिरति बिसरावैं ।। (७१५)

(२) चलत लाल पैजनि के चाइ ।
पुनि-पुनि होत नयी-नयी आनँद पुनि-पुनि निरखत पाइ ।
छोटी बदन छोटियै झिंगुली कटि किंकिनी बनाइ ।

१—गु र्ज कविता बीसा पृ १६१

राजत कंठ-मुक्ता केहरि-नख पहुँची रतन जराइ।
भाल तिलक पख स्याम चखौड़ा जननी लेति बलाइ।
तनक लाय नवनीत लिये कर सूरज बलि-बलि जाइ॥ (७८१)

(१) छोटी-छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी
नख-ज्योती मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं ठुमुकि-ठुमुकि डोलैं
झुनुक-झुनुक बाजै पैजनी मृदु मुखर॥
किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जरि,
मृदु कर-कमलनि पहुँची रुचिर बर,
पियरी पिछौरी झीनी और उपमा न भीनी
बालक दामिनी मानो ओढ़े बारी बारि-धर।
उर बघ-नहाँ कंठ कठुला झँडूले बार,
बेनी लटकन मसि-बुंदा मुनि-मनहर।
अंजन रंजित नैन चितवनि चित चोरै
मुख-सोभा पर वारौं अमित असम-सर।
चुटकी बजावत नचावति जसोदा रानी
बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हँसैं द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं
सूरदास मन बसैं तोतरे बचन बर[१]॥ (७९६)

११—स्त्रियों की शृङ्गार तथा प्रसाधन सामग्री

८७—सूरसागर दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध के कृष्ण-जन्मोत्सव राधलीला बालक्रीड़ा तथा राधा व गोपिका शृङ्गार-वर्णन हिंडोला बसन्तोत्सव और रासलीला आदि प्रमुख प्रसंगों से सूरकालीन प्रचलित प्रसाधन सामग्री पर प्रकाश पड़ता है। साहित्य में शृङ्गार के सोलह अंग कहे गए हैं—उबटन मज्जन मिस्सी स्नान सुवसन केश-विन्यास अंजन मांग में सेंदूर, महावर, मेंहदी ठोढ़ी पर तिल बनाना बिंदी अंगराग-लेपन आभूषण फूलों की माला तथा पान खाना। सूरसागर में भी नवसत (२४५) या षटदस (२११५) शृङ्गार बताये गये हैं—'नवसत सजे माधुरी अंग-अंग' (११२६) अथवा 'स्यामा नवसत सजि चलि है किधौं बरसाने तैं आवनी' (१४८) या 'सजे शृङ्गार नवसत जगमगि रहे अंग-भूषन' (१६७) तथा 'षट-दस सहित सिंगार करति हैं अंग-अंग निरखि सँवारति' (२११५) तुलसी तथा जायसी ने भी सोलह शृङ्गार का उल्लेख किया है।[२]

१—सू० पं०, लीला पृ० २८२ 'छोटी छोटी गोड़ियाँ—तोतरे बचन बर' उपयुक्त पद से बहुत अधिक मिलता है। ऐसा लगता है कि अन्तिम पंक्ति में 'सूरदास' तथा 'तुलसी' शब्दों ही केवल बदल गई हैं।

२—मानस, बालका० ३११, 'नवसप्त साजे सुंदरी'
प० स० व्या०, ३३६—'पुनि सोरह सिंगार जस चारिहुँ जोग कुलीन।'
१ ०।१ 'सब बारह सोरह बनि साजे।'

शरीर के सोलह अवयवों को सजाना भी अंग-प्रत्यंग अथवा नख-शिख-शृंगार कहलाता था जिसकी ओर सूरसागर मे भी संकेत है—'और त्रिया नख सिख सिंगार सजि तेरैं सहज न पूर्ैं'। (१ १२) अथवा 'वह सोभा निरखत अँग-अँग की रही निहारि निहारि चकित देखि नागरि मुख वाकी सुरत सिंगार बिसारि (१२२५) अथवा 'सकल सिंगार किये ब्रज बनिता नख-सिख लौं बन ठानि' (१४७३)। शरीर के ये सोलह अवयव इस प्रकार हैं—चार दीर्घ—केश उंगली नयन ग्रीवा चार लघु—दशन कुच ललाट नाभि चार भरे हुए—कपोल, नितम्ब जाँघ तथा कलाई तथा चार पतले—नाक कटि पेट तथा अधर[१]। सूर ने राधा रूप-वर्णन के अनेक पदों में (१२२८, १२२९ १ ६६ १ ६७ १ ६४ में) इन अंगों के सौंदर्य का वर्णन किया है। इनमें कुछ पद उल्लेखनीय हैं—जैसे—विराजति राधा रूप निधान (१ ६४) 'सखी गिरिवर तै आवति गंगा' (१ ७२) 'नव नागरि हो (सकल) गुन आगरि हो' (१२३१) अथवा सहज रूप की रासि राधिका भूषन अधिक विराजै (१ ६६)। पद्मावत में भी पद्मावती का रूप-वर्णन इसी आधार पर किया गया है।[२]

८८—उपर्युक्त सभी प्रकार की शृंगार-सज्जा का चित्रण सूरसागर में मिल जाता है। राधा तथा गोपियों द्वारा उबटन लगाने का वर्णन अनेक स्थलो में है—उबटि केसरि अंग' (१४४८) 'उब तोउ उबटि सखी अन्हवाए' रुचिर सिंगार सिंगारि बनाए' (१४४९)। मुरली-ध्वनि सुन कर बेसुध गोपियाँ बिना उबटन के ही शरीर-मर्दन करने लगीं—'अंग मरदन करिबे को लागीं उबटन तेल धरी' (१६१८)। उबटन (१६१८) [सं उद्वर्तनम्] का स्थान प्राचीन काल में भी स्त्रियों की प्रसाधन-सामग्री में था। पाणिनि मे उद्वर्तक' का उल्लेख किया है।[३] बाण ने हर्ष चरित में राज्यश्री के विवाह के सिलसिले में उबटन तैयार किये जाने का वर्णन किया है। स्त्रियाँ बलाराला ओषधि घी में पकाकर और उसमें पिसे हुए कुमकुम को मिला कर उबटन तथा मुख लेपन बना रही थीं।[४] आजकल भी विवाह के पहले इसी प्रकार की एक प्रथा 'हल्दी चढ़ाने' की है। विवाह के कई दिन पहले से ही वरवधू के उबटन लगाया जाता है। वर्तमान समय मे प्रायः हल्दी सरसों व तेल से उबटन बनाते हैं। कभी-कभी चिरौंजी केसर या संतरे के छिलके तथा दूध आदि से भी विशेष प्रकार का उबटन बनता है। हर्षचरित में जो का उबटन का उल्लेख है, किन्तु सूरसागर में भी आज के ही समान तेल के उबटन का संकेत कई स्थलों में है—है तेल उबटनौ सान (८ १) तथा 'तन उबटन तेल लगाए' (८ १) या तेल उबटनौ लै धार्ै धरि' आदि (८ ४)। तेल लगाने से उबटन सरलता से छूट जाता है। केसर के उबटन का भी उल्लेख सूरसागर में है—कुमकुम उबटि कनक तन गोरी। अंग-अंग सुगंध चढ़ाइ किसोरी' आइनेअकबरी में उबटन का अर्थ एक प्रकार का सुगंधित साबुन किया गया है। इसको पूप लोबान गुलाब अक्कलहार, मावन अगर, चंदन कस्तूरी तेल आदि अनेक पदार्थों के मिश्रण से बनाते थे।[५]

बालक कृष्ण संबंधी पदों में मज्जन तथा स्नान का उल्लेख उबटन के साथ ही है—

१—प सं ध्या, पृ २८८

२—प सं ध्या ४६७, 'प्रथम केस—पे सोरही सिंगार बरनि के करहिं देवता लाति।'

३—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि, अध्याय ३, पृ० १११

४—हर्ष सां अ पृ ७

५—आइनि अ पृ ६६, १६१

'तातो जल्ल आनि समोयो। अन्हवाइ लियो मुख धोयो।
अति सरस बसन तन पोंछि। है कर मल-कमल अँगोछे। (८०१)
अथवा—'उबटि कान्ह अन्हवाइ अमाम (७१२)
तथा—'जमुना तें जल भरि लै आऊँ तातिहु सुरत चढ़ाऊँ।
केसरि कौ उबटनो बनाऊँ रचि रचि मैल छुड़ाऊँ। (८०१)

राधा तथा कृष्ण के विवाह के सिलसिले में भी मज्जन (११६४) [सं० मज्जन] का उल्लेख है—'मज्जन मंजन तें अंजन भयो हूं दूरि। कृष्ण राधा तथा गोपियों की यमुना में जलक्रीड़ा से संबंधित अनेक पद हैं (१०७८, १०८७)—'जल क्रीड़ा-सुख अति उपजायो (१०८?) अथवा 'न्हात सुख करत अति बड़ो शोभी (१०७५)। इन पदों में पानी से भीगे पट सटो व शरीर के अंगप्रत्यंग में जल से चिपटने का भी सुन्दर वर्णन है 'भींजि पट लपटयो सुभग तन रही केसरि-बसन (१०७६) लटकि रह्यो लट मोसों' (१०७८) अथवा 'स्याम अंग चंदन की आभा नागरि केसरि अंग। मलयज पंक कुंकुमा मिलिकै जल जमुना इक रंग' (१०७८)। होली खेलने के बाद भी इसी प्रकार कुछ पद स्नान-सम्बन्धी हैं (१५२६, १५११) 'अनुपति जल आहूत युवतिसंग। मृगमद मलयज केसरि कपूर, कुमकुमा कलित कृत अपार पूर' (१५१)। तुलसी तथा जायसी ने स्नान व मज्जन का वर्णन अनेक स्थानों में किया है।[1] जायसी ने प्रायः उबटन के अर्थ में मज्जन का उल्लेख किया है।[2]

८९—राधा तथा गोपियों के सुन्दर लम्बे और काले केशों का वर्णन अनेक पदों में है। रूप-शोभा को बढ़ाने में केशों का महत्त्वपूर्ण स्थान है अतः इनका वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। राधा के एड़ी-चुम्बी केश आकर्षक लगते हैं—'बड़े-बड़े बार जु एड़िनि परसत स्यामा अपने आनन में निरखै (१ १५)। उनके चिकुर (११७३ १४७५) [सं] केस (१०७१) [सं केश] अथवा बार (१२१५) मृदु तथा चिकने [सं चिक्कण] बताये गये हैं—

'अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित गूँथे सुमन रसालहिं' (११७१)

अथवा—'चिक्कन चिकुर छूटे बेनी है मिले बदन मैं सोमैं' (१४७०)। अनेक स्थलों में उनके कुंचित [सं] केश या अलक [सं०] का वर्णन भी है—'कुंचित कुटिल अलक' (१२८१, कचुक कुंचित केस भाई (१०७६) अथवा 'राजति आगे अलक भली (२१२१)। सामने के घुंघराले बालों को अलक कहते हैं।[3] पहले कुंकुम तथा कपूरादि के चूर्ण से टेढ़ी लट या बंक लट बनाते थे इसीलिए अमरकोश में अलक का अर्थ 'चूर्ण कुंतल' दिया गया है।[4] कुछ पदों में अलकों को सुलझा कर बेनी गूंथने का चित्रण है—'भली अलक सुरझावति' (२६४२)। कहीं कहीं उनके मुख पर बिखरे बाल भी ध्यान आकर्षित करते हैं—'बिथुरी अलक सुधारे आनन पर' (२६२८) 'लटैं उघरारी रहीं छुटि छुटि आनन पै मोमी है कुमेलनि सों' (२६१८)। लट (२६२८) [सं लट्व] शब्द भी अलक का समानार्थक है। फारसी में इसको 'जुल्फ' कहते हैं जो फारसी-उर्दू काव्य का एक प्रिय विषय रहा है।

१—तु० पं०, गीता १०, 'कुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन-आँजि
प० स० व्या०, १६५।१ 'प्रथमहिं मंजन होइ सरीर'
१६७।२ 'पुनि मंजन तब कियउ अन्हानू'
२—प० सं० व्या०, पृ० २८६ (२)
३—प० अ० व्या० ६६, 'घुँघुरवारि अलकैं बिखराती'
४—अ० को०, प्र० ११ अध्याय ३

९ —बाल सुलझाने के बाद उनको दो भागों में कर लिया जाता है। बालों के बीच की रेखा को माँग कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—सीधी तथा टेढ़ी। सूर ने केश के बीच में सीधी माँग का उल्लेख किया है—'रची माँग वाम-भाग राम-सिधि' (२८०२)। मंग (१०६७) या मांग (१६६ १३२६) [सं मध्य —प्रा मंग-माँग] निकालने के लिए सूर सागर में 'पारना' शब्द प्रयुक्त किया गया है—'बेनी गूँथि माँग सिर पारी' (१४९७) अथवा 'किहि कच गुथि माँग सिर पारी' (१३१६)। माँग को मोती से अलंकृत करने के संबंध में भी कई पदों में बताया गया है जिसके लिए 'माँग भरना' आया है—'मोतिनि माँग भरी' (१६७२) अथवा मुक्ता माँग (२१२१)। 'गज मोतिन सुन्दर सहत मंग' (१४६७) में गज मौक्तिक का उल्लेख है। 'माँग पाटी सुमन' में माँग को फूलों से सजाने का निर्देश है। केश में 'फुलेल' [सं पुष्प + तैल—फुल्लएल—फुलेल] या सुगंध लगाने का भी वर्णन है—'भीजी है फुलेलनि सों' (२६२८) या 'साइ सुगंध बनाइ अभूषन' (४२८१) तथा 'वे कच कनक कटोरा भरि भरि मेलत तेल फुलेल' (४४११) और कृष्ण-वियोग में 'तैल-विहीन उनके केश ऐसे हो गए थे—'अलक जु हुती भुवंगम हू सी लट लट मनहुँ भई। (४ २२)। वैदिक तथा लौकिक संस्कृति में माँग के लिए 'सीमन्त' शब्द प्रयुक्त होता था।[१] संस्कृत में 'मद्गम' एक प्रकार के रंजन द्रव्य को कहते थे। धीरे-धीरे सीमन्त में मंद्गम लगाने के कारण सीमन्त को ही माँग कहने लगे।[३] सूरसागर में दो एक स्थलों में सीमन्त शब्द भी मिलता है—'सिर सीमन्त सँवारि' (२७१६)। पश्चात्‌ में प्राय 'माँग' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।[४]

११—सूरसागर में कई प्रकार के केश-विन्यास का निर्देश है। उनमें से सबसे अधिक बेनी (१२१ १६११ १२१०) [सं वेणी] गूथने गूँधने या गुहने (१२१८, १९४६ १११६) [सं ग्रथ् या ग्रन्थ] के उल्लेख हैं। बालिका राधा को भी वेणी ही प्रिय थी— बेनी पीठि रुलति झकझोरी १२१)। कृष्ण-जन्मोत्सव रास हिंडोला होली आदि सभी प्रसंगों में ब्रज की स्त्रियों की केश-रचना पीठ पर पड़ी हुई वेणी ही है—'एक परस्पर बेनी गूथति' व 'बेनी डोलति दुहूँ नितंबनि' (२०५७) वेणी ढीली बनाने व कई प्रकार की गुहने का वर्णन भी है—'बैनी सिथिल गुही (१४२) विविध बेनी रची' (११)। वेणी में फूल गुहने की प्रथा भी थी— बेनी सुमन नितंबनि डोलति (११७२['किहि सिर केस कुसुम भरि गूँदे कैसे मस्म चढ़ाई (४११) तथा 'गूँथे सुमन रसालहि' (१६७१)। कृष्ण द्वारा राधा की वेणी गूँथने का भी कुछ पदों में विवरण है— मोहन मोहिनि। अंग सिंगारत बेनी ललित ललित कर गूँथत सुंदर माँग सँवारत' (१९४६) अथवा – बेनी सुमन गुही अपने कर बरननि जावक दीन्हों' (४२११)। 'सुमन' अथवा ललित विशेषण कलात्मक ढंग से वेणी गूँथने के लिए आये हैं। साहित्य[५] में केश या वेणी की उपमा सर्पिणी या अहिकुल से दी जाती रही है, अत सूरसागर की यह उपमा नयी नहीं है—

१—प सं व्या , २७६, 'धौरघु बटा फुल्लएल लेहू'
२– मेघदूत, उत्तरमेघ, 'सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्‌।'
हर्ष ता प पृ २४ 'ललाटलासक सीमन्तचुम्बी चतुरत्र तिलकमलिट'
३—ह० की प्र ११, अध्या १
४ प० सं व्या , १ ।१ 'बरनी मोम सोव अपराहीं'
५—प० सं व्या , ६६।६ 'लहुरनि लरें सुअंग बिसहुरें' ११६।२ 'बैनी नाग बहा बनु कारी।' १०२।५ 'बैनी वासुकि धरा पसारा।'

'धम्मिल सिर' (२१११) मनु बेनी भुवंगिनि परसत अमर सुधा की धार' (१२२८) अथवा बेनी गूंथन फूल सुगंध भरे डोलत हरि बोलत न सकुच हिंयें। कुसुमी सारी, मसक मकरंद मनो मल्लिका बंदन सीं पूजा किये' (१२३६) तथा— 'सहि मयूर कबरी' (५ ७)। प्राय बालों के तीन भाग करके बेणी गुही जाती है। प्राचीन काल में प्रोषितपतिका वियोगिनी अथवा विधवा स्त्रियाँ ही संभवत एक बेणी बनाती थीं।[१] उस समय जूड़ा बांधने की प्रथा अधिक थी। हर्षचरित में मालती के केश-विन्यास में छोटे जूड़े का ही उल्लेख है।[२] अजन्ता के स्त्री-चित्रों में भी कई प्रकार के जूड़ों [सं० जूटक] का चित्रण है। गांधार तथा मथुरा की मूर्तिकला में अधिकतर छोटे से बंधी चोटी मिलती है—जैसे प्रसिद्ध यक्षिणी चंदा की मूर्ति में। एक अन्य यक्षिणी के केश भी चोटी से बांधे गये हैं तथा मौलिश्री के फूलों से अलंकृत हैं। गांधारकला में सुन्दर केश-विन्यास स्त्रियों के सिर खुले रहने के कारण दिखाई देता है। उनको सेहरे से भी सजाया गया है।[३] मनूची ने भी स्त्रियों के केश-विन्यास के सिलसिले में जूड़े का उल्लेख किया है।[४] मुगल चित्रकला में हिन्दू स्त्रियों के बाल प्राय जूड़े में बांधे हुए हैं तथा मुसलमान स्त्रियों के खुले लटकते हुए।[५]

६९—सूरसागर में जूड़े का उल्लेख नहीं है। एक दो जगह धम्मिल्ल (१ ६१) शब्द की ओर अवश्य ध्यान जाता है—'धम्मिल नीर मनाव (१ ६१)। तामिल देश के संस्कृत में 'द्रमिड' या 'द्रविड' सिंहली में 'दमिल' तथा यूनानी में 'दमरिके' आदि प्राचीन नाम हैं। इन्हीं शब्दों से 'धम्मिल' की व्युत्पत्ति का अनुमान होता है। यह केश-विन्यास सम्भवत गुप्तकाल में दक्षिणी प्रभाव के फलस्वरूप उत्तरी भारत में प्रचलित हुआ। सिर के ऊपर का इस प्रकार का भारी जूड़ा अजन्ता के भित्ति चित्रों में भी अंकित है (१७वीं गुफा का प्रेयसी-चित्र)। मध्यकालीन मूर्तिकला में इसका अंकन नहीं है। हर्षचरित में यशोवती की बेला नामक प्रतिहारी की केश-रचना धम्मिल ही है।[६] पद्मावत में इसी का समानार्थ शब्द खोपा [ता० कोप्पु] शब्द प्रयुक्त हुआ है। आज कलपूर्वी जनपदी बोली में माथे के बाल गोसाईं में कसने को भी 'खोंपा बांधना' कहते हैं।[७]

चोटी से पदों में चोटी या चुटिया (७८० ७८१) [सं चूड़ा] शब्द मिलता है— 'बरस बरस चटिया नई (७८) अथवा 'कान्ह कुंवर मही कृपाकरि चोटी' (७८१)। सिर के पीछे पड़ी बालों की लट या पुरुषों की शिखा को भी चोटी कहते हैं। सूरसागर में इस अर्थ में भी यह शब्द बालक कृष्ण संबंधी पदों में प्रयुक्त हुआ है। विवाह के अवसर पर बेढ़ियों से बने जूड़े को भी चोटी कह देते हैं।[८] यों आजकल प्राय चोटी या चुटिया बेणी का पर्यायवाची

१—वा रामायण, अयोध्याकाण्ड पूर्वार्द्ध १०।९ 'एक वेणी दृढं बद्ध्वा गतसत्वेव किन्नरी' अभिज्ञानशाकुन्तलम् (वियोगिनी शकुन्तला) 'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः' मेघदूतम्, उत्तरमेघ, २९ 'गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ २१

३—भ मा० वे०, पृ ९९, १०९

४—मनूची, पृ ६९, ४

५—कौमुदी, पृ ३९

६—हर्ष० सां० अ०, पृ ६६

७—प स० व्या० ६१।१ 'खोंपा छोरि केस मोकराई'

८—पा हा०, पृ० १५४

९—क कौ०, प्र ११, अध्याय ३

६

शब्द हो गया है और उससे अधिक बोला जाता है।

१३—दूसरी उल्लेखनीय केश-रचना पटिया पारना थी— मुखली पटिया पारी चाहू (४१६८)। इसमें माँग के दोनों ओर बालों को मोम से चिकना करते थे। इन्हीं पट्टियों को कुछ पत्तियों से अलंकृत भी करते थे जिसका उल्लेख जायसी ने भी किया है।[1] सिर के सब बालों के काट देने को 'सिर घोटना' या 'मूड़ना' कहते हैं। ऊपर की पंक्ति में इसी से बना शब्द 'मुँड़ली' आया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त सूरसागर में केश-विन्यास संबंधी एक अन्य महत्त्व पूर्ण उल्लेख कबरी (१६७१ १७५४) है। इस शब्द का प्रयोग अनेक पदों में है—

'कबरी अति कमनीय सुमन सिर राजति गौरी बालहिं' (१६७१)।

'गिरत कुसुम कबरी केसनि तैं (१७५४)।

तथा कबरी केस सुमन गहि राखे सो क्यों बटा बनावै (४२७४)। कबरी केश-विन्यास अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है। संभवतः इसमें बालों की लटें फूलों से गूँथी जाती थीं।[2] सूरसागर के उपयुक्त पदांशों में भी कबरी के साथ बराबर सुमन का निर्देश है।

आजकल कम उम्र की लड़कियों को प्रायः दो बेणी ही अधिक प्रिय है तथा स्त्रियाँ एक बेणी या जूड़ा बनाती हैं। दक्षिणी भारत में जूड़ा या बेणी को फूलों से अलंकृत करने की प्रथा बहुत अधिक है। बिना फूलों का केश-विन्यास वहाँ शायद ही कभी दिखाई दे। वहाँ की स्त्रियों ने केश-विन्यास को कला ही बना लिया है।

१४—शृंगार के प्रसाधनों में नेत्रों के लिये अंजन का उपयोग किया जाता रहा है। इस अर्थ में सूरसागर में दो शब्द आये हैं—काजर (६४२ २८ ७)[सं कज्जल] तथा अंजन (१ ९२) [सं अंजन]। राधा तथा गोपियाँ भी आँख में काजल लगाना नहीं भूलतीं—'काजर नैन दिये (६४२) 'दरपन मैं कजरहि सँवारत (२८ ७) अथवा 'आजु अंजन दियो राधिका नैन कों' (१ ९८) तथा भाल तिलक कजर चख (४४११)। प्राचीन समय में भी काजल लगाने की प्रथा थी। पाणिनि ने 'त्रिककुद' पर्वत से 'त्रैकाकुद' अंजन आने का उल्लेख किया है। यह पर्वत संभवतः सुलेमान पर्वत ही था वहाँ का अनुलेप सिन्ध तथा पंजाब में बिकता था। महाभारत (कर्ण पर्व ४४।१८) में भी एक पंजाबी गौरवर्णी स्त्री द्वारा त्रिककुद पर्वत का अंजन लगाने का उल्लेख है। पाणिनि ने एक अन्य अंजन कालकूट का भी उल्लेख किया है। यह संभवतः 'यामुन अंजन' अर्थात् यमुना के प्रदेश (देहरादून जिले) का था।[3] पद्मावती के शृङ्गार में भी अंजन का स्थान होना स्वाभाविक ही है।[4] आज भी स्त्रियाँ तथा बच्चों द्वारा काजल लगाने की प्रथा है। यह नेत्रों का सौंदर्य तो बढ़ाता ही है, साथ ही लाभदायक भी होता है।

१—प स व्या, ४७।१२ 'के पखावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र सँवारी।'

२६७।१, 'रचि पखावलि

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि अध्या ३ पृ ११२

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, अध्या ३, पृ ११३

४—प स व्या, २९८। 'आंछ नैन औ अंजन रेखा। खंजन जानहुँ सरद रितु देखा।'

२९६। 'पुनि अंजन दुहुँ नैन करेई'

५६ ।४ 'नैन कजल बसु रही न ओरे'

आजकल प्रायः घरों में दिये की कालिख घी और कपूर से साधारण काजल बना लेते हैं। इसी प्रकार की एक अन्य वस्तु सुरमा [अ० सुरम] भी है जो नीले रंग के एक प्रसिद्ध खनिज पदार्थ के चूर्ण से बनाते हैं। आजकल बरेली का सुरमा प्रसिद्ध है।

६५—सूरसागर में स्त्रियों की सज्जा में सेंदुर (६४२) [सं० सिन्दूर] का उल्लेख भी कई पदों में है—सेंदुर माँग चुही (६४२)। विवाहिता हिन्दू स्त्रियों के लिए माँग में सिन्दूर लगाना आवश्यक है। इसको माँग भरना कहते हैं। विवाह-संस्कार में पति द्वारा 'सिन्दूर-दान' की प्रथा आज भी चल रही है जिसका उल्लेख तुलसी तथा जायसी ने भी किया है।[1] यह एक प्रकार का लाल चूर्ण होता है। सिन्दूर के समान ही लाल वर्ण का ईंगुर (६५८) [सं० हिंगुल ईंगुल-इंगुर-इगुर-ईंगुर—रस सिन्दूर] भी होता है। सूरसागर के पालना-वर्णन सम्बन्धी पद में इसका उल्लेख है—रँगि इंगुर ढार सुढार (६५८)। अभ्रक, पारद तथा गन्धक को घोंटकर लाल रंग का ईंगुर या रस-सिन्दूर बनाते हैं। यह कृत्रिम हिंगुल है, किन्तु खनिज पदार्थ हिंगुल में भी पारद तथा गन्धक का मिश्रण होता है।[2] पद्मावत में कृत्रिम हिंगुल बनाने की विधि की ओर संकेत है।[3] प्राचीन काल में भी सिन्दूर उपयोग में आता था। हर्षचरित में पुत्रजन्मोत्सव के सिलसिले में 'सिन्दूरपांशवः'[4] का उल्लेख है। सूरसागर में महावर के लिए दो शब्द आये हैं—जावक (१५७४) [सं० यावक] तथा महावर (१२८१, ११९८)। पैरों में लगे हुए लाल महावर या जावक की शोभा का वर्णन इस शृंगार सम्बन्धी अनेक पदों में है—'नखनि रंग जावक की शोभा' (१५७२) तथा 'मानहुँ मीन महावर बोरे' (१२८१)। आज भी घरेलू उत्सवों तथा संस्कारों में विशेष रूप से स्त्रियाँ महावर लगाती हैं। सूर ने कृष्ण जन्मोत्सव वर्णन में इस प्रथा पर प्रकाश डाला है—'नाइन बोलहु नवरंगी (हो) ल्याउ महावर बेग' (६५८)। विवाह के समय वधू के पैरों में मेंहदी तथा महावर लगाने की प्रथा आज भी चल रही है। कहीं-कहीं वर के पैरों में भी महावर लगाते हैं।[5]

बंगाल की स्त्रियों में महावर अधिक प्रचलित है। महावर को आलता [सं० अलक्तक] भी कहते हैं जिसका उल्लेख बाणभट्ट हर्षचरित में भी है[6]। कालिदास ने 'लाक्षाराग' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है[7]। वर्तमान समय में मेंहदी तथा महावर का स्थान एक प्रकार से नाखूनों पर लगाने के रंग 'नेल पेंट' ने ले लिया है।

६१—सूरसागर में शृङ्गार के अन्य अंगों ठोड़ी पर तिल बनाने तथा फूल मालाओं का निर्देश भी स्थान-स्थान पर है—'चिबुक स्यामल बिंदु' (१६६१) अथवा 'चिबुक चारु तिल [illegible] बनायो' (१२२६)। बिंदु के समान काले प्राकृतिक चिह्नों को 'तिल' कहते हैं। मुख क

१—तुलसी, मानस, बालकाण्ड, ३२५, 'राम सीय सिर सेंदुर देहीं'
प० स० व्या० ११।११ 'सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं'
४७१। 'कनक माँग जो सेंदुर रेखा, जनु बसन्त राता जग देखा।'
३५६।२ 'मांगि माँग पुनि सेंदुर सारा'
२—प० स० व्या०, २५६।७
३— ,, ,, , २६७।७
४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६६।
५—मानस बाल० ३२७। 'जावक जुत पद कमल सुहाए'
६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२ 'विनयस्तालक्त-[illegible]'
७—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० ११, 'लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं'

और बर्ण पर काले बोठ तिल से विरोध के कारण सौन्दर्य की वृद्धि होती है। सूरसागर में इसका भी उल्लेख है—'चिबुक बिंदु चित दियौ बिधाता रूप सींव निरवारि' (२७१६)। प्राकृतिक चिह्नों की अनुकृति पर स्त्रियां काजल से अथवा सुवने से गुदवाकर तिल बना लेती थीं। जायसी भी इन दोनों प्रकार के तिलों का वर्णन करना नहीं भूले हैं।[1] आजकल भी कभी कभी स्त्रियां ऐसा करती हैं किन्तु इसकी प्रथा बहुत ही कम हो गयी है। अब शहरों में गुदना गुदने की प्रथा नहीं रही है।

शृङ्गार का दूसरा प्रसाधन गले में फूलों का हार था। कृष्ण की प्रिय मालाओं का उल्लेख किया जा चुका है। राधा तथा गोपियों द्वारा माला पहनने का निर्देश भी हुआ है—तिलक ललाट सोभित हार हिये' (१४२) सुमन सुरंग माल पहिराए (२४४६) कहीं-कहीं फूलों से ही शृङ्गार करने के वर्णन भी हैं—'फूलनि मल सिख सिंगार' (१५१५) अथवा करि सिंगार सब फूलनि ही कौ' (१५१)। पाणिनि के समय तक में गले में माला पहनी जाती थी। ऐसे व्यक्तियों के लिए अष्टाध्यायी में मालाहारिणी' या मालाभारी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शिक्षा की समाप्ति पर लौटने वाले स्नातकों का विशेषण 'स्रग्वी' (माला पहनने वाला) था क्योंकि ब्रह्मचारी के लिये माला पहनना निषिद्ध था।[2] हर्षचरित से भी यशोवती तथा राज्यमाभूमि की स्त्री के गले में पड़ी पैरों तक लटकती लम्बी मालाओं का परिचय मिलता है।[3] हर्षकाल में सिर पर भी फूल-मालाएँ पहनी जाती थीं जैसा कि हर्ष-चरित से ज्ञात होता है।[4] इस प्रकार फूल मालाएँ पहनने की प्रथा अब नहीं रही है किन्तु उत्सव संस्कारों आदि के अवसर पर फूल मालाएँ भेंट करना आतिथ्य-सत्कार का सूचक है।

६७—इन पदों में माथे पर तिलक (१४२) [सं] बिंदु (१६७१ १६६४) [सं० बिन्दु] या टीकौ (२१२) [सं तिलक] कई प्रकार की चीजों से सजाने के उल्लेख हैं। इनमें से रोरी (१४२) [सं रोचना], चंदन (१६७१) [सं चन्दन] चंदन (१४२) केसरि (२१२) मृगमद (१६७१) तथा सेंदुर (१६६४) आदि उल्लेखनीय हैं—'मुख मंडित रोरी रंग' (१४२) 'चंदन-बिन्दु निरखि हरि रीझे' (१६७१) चंदन तिलक ललाट' (१२२८) 'गोरै ललाट सोहै सेंदुर को बिंद' (१६६४) 'सिर केसरि की टीकौ' (२१२) तथा ससिमुख तिलक दियौ मृगमद' (१६७१)। रोल बिंदी के साथ केसर या मृगमद की आड़ी रेखायें भी लगाई जाती थीं—'केसरि-आड़ ललाट (हौ) बिच सेंदुर को बिन्दु' (१२११) अथवा माल लाल सिंदूर-बिंदु पर मृगमद दियौ सुधारि' (२७१६) या 'कुमकुम आड़ बनत सम-सम मिलि' (२१२१) तथा 'ता बिच बनी आड़ केसर की' (२७१२)। कृष्ण-जन्मोत्सव संबंधी पद में ब्राह्मणों का तिलक इसी प्रकार के अनेक सुगन्धित पदार्थों के मिश्रण से लगाये जाने का उल्लेख है— मलि चन्दन चारु मैंगाइ, विप्रनि तिलक करै। मलि मृगमद मलय कपूर माथे तिलक किये (१४२)। तिलक के चारों ओर चूनी (चुन्नी) या लाल के छोटे-छोटे कण चिपकाने की ओर भी सूरदास ने संकेत किया है—'तरंक तिलक सुदेश सकझक खचित चूनी लाल' (१४६)। कपोल पर या तिलक के चारों ओर इस प्रकार चुन्नी चिपकाने की प्रथा समकालीन जैन स्त्री

१—प सं व्या , १ ६१३ 'सेहि कपोल बाएँ तिल परा'
४६६।६ 'भौंहे धनुक तिल काजर ठोड़ी'
२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्या ३, पृ १११
३—हर्ष सां अ , पृ ६७,६१ 'परस्थितसुमनोभिः कंठकुसु ममालाभिः'
४— ,, ,, पृ ४६, ६७

स्त्रियों में देखी जा सकती है। जायसी ने भी इसका उल्लेख किया है।[1] आज भी विवाह के अवसर पर कहीं-कहीं वधू को इस प्रकार सजाने का रिवाज है।

चाँद के समान गोल बिंदुली या बिंदी का भी वर्णन अनेक पदों में है—'भाल बेंदी बिंदु इंदु लाजै' (११६) अथवा 'भाल बेंदी-बिन्दु महा छाजै'। मथुरा कला में छठी शताब्दी का एक स्त्री मस्तक इस प्रकार की गोल टिकुली से युक्त मिला है।[2] हर्षचरित में भी सामना भूमि की स्त्री के मस्तक पर पद्मरागमणि के आभामंडल के समान बड़ी गोल टिकुली का उल्लेख है।[3] पदमावत के शृङ्गार संबंधी पदों में भी तिलक की शोभा का वर्णन किया गया है।[4] आजकल भी भारतीय स्त्रियों को रोली या सिंदूर का टीका अथवा चमकदार टिकुली अत्यधिक प्रिय है। इसे सौभाग्यसूचक भी मानते हैं। गोल बिंदु के अतिरिक्त खड़ी और आड़ी रेखा या अन्य प्रकार के तिलक भी कभी-कभी लगाये जाते हैं केसर, चंदन तथा मृगमद आदि से तिलक लगाने की प्रथा अवश्य अब विशेष नहीं रही है। माथे पर टीका लगाने की प्रथा भारतीय है और विदेशों की स्त्रियाँ अनेक बार इसकी ओर आकर्षित हो जाती हैं।

९८—स्नानोपरान्त शरीर पर सुगंधित द्रव्यों के लेपन की प्रथा प्राचीन भारत में बहुत थी। इसका एक कारण सम्भवतः यहाँ की ग्रीष्म ऋतु है, जिसमें सुगंध-युक्त शीतल द्रव्य सुखप्रद लगते हैं। अतएव स्वाभाविक है कि सूरसागर में भी शृङ्गार संबंधी अनेक पदों में इसका उल्लेख हो। इनमें चोवा चंदन अरगजा केसर कपूर मृगमद तथा अगर आदि पदार्थ प्रमुख हैं—'चन्दन अरगजा सूर केसरि घरि लेउँ, अँखियनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ' (१६६१) तथा 'चन्दन अगर कुमकुमा मिश्रित' (११२६)। भ्रमरगीत प्रसंग में ब्रज की स्त्रियाँ अंगराग के स्थान पर भस्म लगाने की बात समझ नहीं पातीं—'चंदन छाँड़ि विभूति बतावत' (४११६) अथवा 'चोवा चंदन और अरगजा या मुख में हम राखीं' (४२१९) अथवा 'मृगमद मलय कपूर कुमकुमा केसर मलिये गात' (४५५५)। जलक्रीड़ा तथा होली शीर्षक पदों में भी अंगराग का उल्लेख आया है। विनय संबंधी पदों में भी कहीं कहीं निर्देश है—'बार कौं कहा अरगजा लेपन' (११२)। इन सभी सुगंधित पदार्थों की व्याख्या रंग संबंधी अंश में की गई है।

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में कई प्रकार की गन्धों तथा उनके बेचने वालों का उल्लेख किया है। गन्धों में केसर, सलालु, नलद, तगर, गुग्गुल तथा उशीर थे तथा उन्हीं के अनुसार बेचने वालों के नाम भी थे जैसे सलालुकी या शालालुकी। प्राचीन समय में गन्ध सिन्धु सौवीर तथा उज्जैन से मिस्र देश तक भेजा जाता था। अष्टाध्यायी में इसके अतिरिक्त स्नापक (नाई) उत्सादक परिरोधक प्रलेपिका अनुलेपिका तथा विलेपिका नाम भी मिलते हैं जिनसे अंगराग-लेपन की प्रथा का ज्ञान होता है। अर्थशास्त्र में भी राजा के इन सेवकों का उल्लेख किया गया है।[5] हर्षचरित के अनेक स्थलों में चंदनादि विलेपन अथवा अंगराग के उल्लेख हैं[6]। कपूर, कक्कोल तथा लवंग भी उस समय की प्रचलित सुगंधों के आवश्यक अंग माने जाते

१—प सं व्या , ४७२।४ 'तिलक सँवारि जो चूनी रची'
२—हर्ष सां अ , पृ ६
३— ,, , पृ ६
४—प सं व्या १ १।५ 'तेहि ललाट पर तिलक बईठा'
५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय ३ पृ १११, ११२
६—हर्ष सां अ , पृ २६, ११६, ७ , ६

थे।[१] आईने अकबरी में (आईने ३१) सुगंधालय विभाग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सुगन्धों के नाम और उनको तैयार करने की विधियाँ दी गई हैं। सम्राट् इनका अत्यन्त प्रेमी था। इनमें से कुछ उनके द्वारा आविष्कृत थीं तथा कुछ प्राचीन थीं। फूलों के कुछ तेल भी बनते थे जो बालों तथा शरीर पर लगाने के काम आते थे।[२] जायसी ने भी सूर के समान ही इनका अनेक स्थलों में उल्लेख किया है।[३]आजकल धूप अगर गुग्गुल चंदन आदि सुगन्धों की बत्तियाँ या चूर्ण बनाने की प्रथा अधिक है। शरीर पर लगाने के लिए इनके तथा फूलों के तेल या इत्र का उपयोग होता है जो ऋतुओं के अनुसार चुने जाते हैं।

६६—शृंगार का अन्तिम प्रसाधन तमोर (१२११) [सं॰ ताम्बूल] या बीरी (१२७६) [सं॰ वीटिका] था—'सुंदर सुघर कपोल हो रहे तमोर भरिपूर' (१२११ अथवा बीरी मुख भरि' (१२७६) या 'लै बीरी अपने कर प्यारी (३४४६)। पान की पीक का भी वर्णन है—'पीक कपोलनि तरिवन कैं छिव झलमलाति मोतिनि छवि छोप' (११८१)। चेहरे पर पीक की लालिमा की झलक और वर्ण तथा सुन्दर त्वचा की सूचक थी अतएव साहित्य में इसका उल्लेख प्रायः मिल जाता है। जायसी ने पद्मावती के रूप वर्णन में पान से लाल होठों तथा पीक का वर्णन भी किया है।[४] पान की छोटी बीटिका मे मिस्सी रख कर बनाते थे और उसको 'बीरी' कहते थे। सूरसागर में बीरी के उल्लेख तो हैं, किन्तु जायसी के समान मिस्सी लगे हुए दाँतों का पृथक् वर्णन नहीं है।[५] मुगलकाल में स्त्रियों में मिस्सी लगाने का रिवाज बहुत था। पान को लपेट कर बनाने पर उसे बीड़ा या बीरा कहते थे। आजकल इसी को गिलौरी भी कहते हैं। आईने-अकबरी में बीड़ा बनाने का ढंग भी दिया गया है। एक पान में सुपारी तथा कत्था दूसरे में चूना लगा कर अलग-अलग लपेटने के बाद उसे रेशम से बाँध लेते थे। कभी-कभी उसमें कपूर कस्तूरी आदि डालते थे।[६] जायसी ने पान की बीरों के बारे में भी बताया है।[७] आजकल एक ही पान में चूना कत्था सुपारी इलायची पिपरमिंट और मसाला आदि डाल कर लौंग से बीड़ा बनाते हैं। गाव में पान खाने तथा आतिथ्य-सत्कार में पान देने की प्रथा बहुत है, किन्तु नगरों में आधुनिक शृ गार के प्रसाधनों ने पान का स्थान ओष्ठरंजन (लिपस्टिक) ने ले लिया है। इस प्रकार मिस्सी लगाने की प्रथा भी नहीं रही है। पान खाने की प्रथा भारत की विशेषता है।

१— „ „ पृ॰ ३३

२—आइने अ॰ पृ॰ १५८-१७५

३—प॰ सं॰ व्या॰, २६।३ ७ 'काहु हाथ चंदन के खोरी—
—भाँतिन्ह भाँति लाग तस मेंघू'

४—प॰ स॰ व्या॰, १११। 'पुंहुत पीक लीक सब देखा'
१ ६।४ 'भए मँजीठ पानन्ह रँग लागे
कुसुम रँग थिर रहा न आगे'
२६६।४ 'पुनि राता मुख खाइ तमोला'

५—प॰ सं॰ व्या॰ १ ७।१ 'दसन चौक बठे जनु हीरा'
औ बिच बिच रँग स्याम गभीरा।'

६—आईने अ॰ पृ॰ १५५

७—प॰ सं॰ व्या॰ ३३६।४ 'अधर तँबोर कपूर भिमसेना'
३०८। 'पान सुपारी खैर' २६। 'कोई बीरा कोइ लीन्हें बीरी।'

१ —सूरसागर में राधा तथा गोपियों के इन शृंगार संबंधी पदों के अतिरिक्त मुरली तथा कृष्ण के बहुनायकत्व संबंधी पदों में उनके शृंगार का वर्णन है—'करत शृंगार जुवती मुनाही—नैन अंजन अधर आँजहीं हरप सौं सघन ताटंक उमटे सँवारें' (११६८) 'ललाट महावर' (१११८) अथवा 'कहुँ अंजन कहुँ बंदन की छबि' (१ ११) आदि। शृंगार के अन्य अंग वस्त्राभूषण की व्याख्या प्रथम अध्यायों में की जा चुकी है।

शृंगार की सहायक वस्तुओं में मुकुर (२८ १ २८१) [सं] या दरपन (२८ ८) [सं दर्पण] का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना पूर्ण शृंगार करना संभव नहीं है। अतएव सूरसागर में भी दर्पण में मुख देख कर शृंगार करने का निर्देश है—'कर तें मुकुर दूर नहिं डारति' (२८ ६) अथवा 'चंद सखी मुख पेखि री दपन' (२६१६)। नेत्रों में अंजन तथा माथे पर तिलक लगाने के समय तो दपण की सहायता अवश्य ही लेनी पड़ती है—'दपन लै कजराहि सँवारत' (२८ ७) अथवा 'कबहुँ केसरि आड़ रचति दपन हेरि' (२८ ८)। शृंगार के उपरान्त राधा तथा गोपियाँ अपने ही प्रतिबिंब पर स्वयं मुग्ध हो उठती हैं—'मुकुर छाँह निरखि देह की दसा गँवाई' (२८१) तथा अपनी छवि पर आपनी तन-मन-धन वारै।

पाणिनि ने भी शृंगार संबंधी वस्तुओं में दर्शन आदर्शकादि या कालिका शब्द दिये हैं। उनके समय में दर्पण दो प्रकार के होते थे—अधामुखीन (flat) या संमुखीन (Convex)।[1] आजकल इसे शीशा या आईना (ऐना) ही अधिकतर कहते हैं। शीशे के अतिरिक्त केश-विन्यास के लिये दूसरी आवश्यक वस्तु कंघे के संबंध में सूरसागर में नहीं बताया गया है। बाल काढ़ने का अवश्य निर्देश है—'काढ़त गुहत न्हवावत जैहै नागिनि सी भुई लोटी' (७६१)।

परिशिष्ट

सूरसागर के कुछ पद नीचे दिए जा रहे हैं। इनसे शृंगार करने की विधि का अनुमान सरलता से किया जा सकता है—

(१)
प्यारी अंग सिंगार कियौ।
बेनी रची सुभग कर अपनै टीका भाल दियौ॥
मोतिनि माँग सँवारि प्रथम ही केसरि-आड़ सवारि।
लोचन आँजि स्रवन तरिवन छबि को कबि कहै निबारि॥
नासा नथ अतिहीं छबि राजति, अधरनि बीरा-रंग।
नवसत साजि चीर चोली बनि सूर मिलन हरि संग॥ (२६७४)

(२)
मोहन मोहिनि-अंग सिंगारत।
बेनी ललित ललित कर गूँथत सुंदर माँग सँवारत॥
सीसफूल धरि, पाटी पोंछत गूँथनि अलक निहारत।
बंदन-बिंदु लगाइ की बेंदी तापर बनी सुधारत॥
तरिवन स्रवन नैन दोउ अंजन नासा बेसरि साजत।
बीरी मुख भरि चिबुक डिठौना निरखि कपोलनि लाजति॥
नख-सिख सकल सिंगार साज सौं जावक चरननि सोहत।
सूर-स्याम तिय-अंग सँवारत निरखि आपु मन मोहत॥ (१२७६)

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, अध्याय ३, पृ १३१

कुछ शृंगार संबंधी पदों में अलंकारों की ही भरमार है। एक दो पदों में शिव तथा गोपिका की तुलना की गई है—

(३) सिव न अनम सुंदरी बनी बिन।
मुक्ता माँग अनंग गंग नहिं नवमत साजे अर्ध स्याम घन॥
भालतिलक उडुपति न होइ यहु, कबरि ग्रंथिन अहिपति न सहसफन।
नहिं बिभूति दधि-सुत न कंठ बसु यह मृगमद चंदन चर्चित तन।
नहिं गजचर्म सु असित कंचुकी देखि बिचारि कहाँ नंदी मन।
सूर सु हरि मन कृपा करि करवस समर करत हठ हम सन॥ (२७३४)

कहीं-कहीं पूरे पदों में उत्प्रेक्षायें दी गई हैं जिनमें प्रचलित प्रिय उपमानों का अनुमान हो जाता है—

(४) प्रिय मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की सोभा रही बिचारि बिचारि॥
छीरोदक घूँघट हाती करि सम्मुख दियौ उघारि।
मनौ सुधाकर दुग्ध-सिंधु तैं कढ़यौ कलंक पखारि॥
मुक्ता-माँग सीस पर सोभित राजति इहिं आकारि।
मानौ उडुगन जानि नवल ससि आए करन जुहारि॥
भाल लाल सिंदूर-बिंदु पर मृगमद दियौ सुधारि।
मनौ बंधूक-कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौ पंख पसारि॥
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत जुग खंजन अनुहारि।
मनौ परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि॥
बेसरि के मुक्ता मैं झाँई, बरन बिराजति चारि।
मानौ सुरगुरु सुक भौम सनि चमकत चंद मँझारि॥
अधर बिंब बिच दसन बिराजत दुति दामिनि चमकारि।
चिबुक बिंदु बिच दियौ बिधाता रूप सीव निरुवारि॥
तरिवन स्रवन रतन मनि-भूषित सिर सीमंत सँवारि।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए, मयौ तिमिर तम हारि॥
स्याम माल कुच बीच बिराजति सखियनि गुही सिंगारि।
मनहुँ दुहूँ गिरि सुभग शृंग पर उग बैठे त्रिपुरारि॥
सम्मुख दृष्टि परे मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि।
सीसहिं धुँमनि पठाइ अंक भरि, सूरदास बलिहारि॥ (२७१६)

खंड २

खाद्य तथा पेय पदार्थ

१ भोजन सम्बंधी साधारण शब्द

१०१—सूरसागर के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में कवि के आराध्य कृष्ण का कलेवा तथा ज्योनार वर्णन अनेक पदों में है। कुछ पद तो केवल खाद्य-पदार्थों की सूची मात्र हैं। काव्य कला की दृष्टि से इनका महत्त्व न होते हुए भी सूरकालीन भोजन सामग्री पर इससे यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से इस शब्दावली का विशेष महत्त्व है। इतने प्रकार का भोजन धनीवर्ग अथवा राजाओं के ही योग्य है। यह नंद-यशोदा की स्थिति के अनुकूल न होते हुए भी ब्रज के मंदिरों की भोग प्रणाली का स्मरण कराता है। आज भी वहाँ इसी प्रकार विस्तृत भोग लगाने की प्रथा चल रही है। जिन पदों में कृष्ण का चित्रण एक ग्वाल बालक के रूप में है वहाँ उनका वहीं प्रातः उठकर मक्खन रोटी के लिये मचलना, माँ का चुमकार-चुमकारकर तरह तरह के प्रलोभन देकर दूध पिलाना आदि परिवारों के नित्य प्रति के अनेक अत्यन्त स्वाभाविक एवं सुंदर चित्र हैं। ऐसे पद सूरसागर में कम नहीं हैं तथा यही उसके प्राण हैं।

सूरसागर में चार समय के खानों का वर्णन है—

(१) प्रातःकालीन कलेवा अथवा कलेऊ (८२६ ८१) अथवा मुखारी (२५८१) [सं. मुखारिका मुख = आरंभ]—'दतवनि लै दुहूँ करी मुखारी' (१ २५) 'कमल-नैन हरि करो कलेवा (८१) तथा 'उठिए स्याम कलेऊ कीजै' (८२६)। ये शब्द सुबह के नाश्ते के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अब प्रायः नाश्ता शब्द ही अधिक बोला जाता है अथवा उच्च वर्ग के नागरिकों में चाय। चाय शब्द साथ में खाने की अन्य वस्तुओं का भी बोधक समझा जाता है। सूरसागर में कलेवे के अन्तर्गत फल मेवा मिठाई, दधि तथा दूध है। प्रातःकाल मक्खन-रोटी खाने का वर्णन भी कई पदों में है। आजकल नगरों में चाय अथवा दूध के साथ सुबह डबल रोटी-मक्खन खाने के विदेशी प्रभाव की तुलना सूरसागर में वर्णित रोटी-मक्खन से की जा सकती है। गाँवों में आज भी कलेवे में प्रायः दूध दही मट्ठा और रोटी खाने की प्रथा चल रही है।

१०२—(२) दोपहर का भोजन—इसके लिये सूरसागर में भोजन (८ १,८११, १ १४,१८११) [सं. भोजन] तथा ज्योनार (१८१[1]) [सं. जेमनम्-भोजन करना भोज्य पदार्थ या जेमनकार] शब्द आये हैं। भोजन शब्द खाद्य पदार्थों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा दिन के पूरे खाने के अर्थ में भी। गोवर्धन पूजा के प्रसंग में भोजन शब्द पहले अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—'भोजन सब कोई मुँह माँगे (१५१७)।[1] दिन के ज्योनार

१—मानस, बाल , १९९—'चार भाँति भोजन विधि गाई।
एक एक विधि बरनि न जाई।' चर्व्य, चोष्य लेह्य तथा पेय, चार प्रकार के खाद्य पदार्थ माने गए हैं।

२ सं. व्या , ५११—'न पाव भोजन घने उपास'

इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ. ११९ 'भोज्यम् भक्ष्यम्' (VII ३ ६९)। कात्यायन ने भोज्य में खाद्य एवं पेय, दोनों पदार्थ माने हैं तथा भक्ष्य में केवल खाद्य पदार्थ (Solid), अन्य नहीं। पतञ्जलि ने पाणिनि का अनुसरण किया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में भक्ष्य शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है।

के अर्थ में भोजन में खाद्य तथा पेय पदार्थों की लम्बी सूची दी गई है—'भोजन बेगि स्याउ कछु मैया भूख लगी मोहि भारी माधु सबारै कछु नहिं खायौ सुनत हँसत महतारी। (१८११) विनय पदों में भी यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'ब्याल्नि के संग भोजन कीन्हौ कुल की लाज नसाई। तथा कुब्जा प्रसंग में—'भोजन साथ सूद्र बाम्हन को तैसी उनकी छाप' (१७७)। लोक में छप्पन अथवा बावन प्रकार के भोजन की ख्याति है[१] किन्तु उनकी सूची का अभी तक पता नहीं चला है। छप्पन भोग का उत्सव अन्नकूट उत्सव के बाद प्रतिवर्ष होता है। वर्ष में संभवतः प्रधान छप्पन उत्सव होते हैं। उनकी सामग्री एक ही दिन समर्पित करने के कारण यह नाम पड़ गया है। इस उत्सव में कई सौ प्रकार के पकवान होते हैं।[२] सूरसागर में एक जगह सत्रह सौ प्रकार का भोजन बताया गया है—'सत्रह सौ भोजन तहँ आए' (१ १४)। गोवर्धन पूजा के प्रसंग में भी अनेक प्रकार का भोजन था—'परसत भोजन प्रातहि तैं सब। रवि माथे तें बरकि गयौ तब। (१५२६) अकबर के भोजन में सौ प्रकार का भोजन सदा रहता था। अकबरनामा से विदित होता है कि हेरात में हुमायूँ के प्रातःकालीन नाश्ते में तीन सौ तथा दोपहर के खाने में बारह सौ प्रकार की तश्तरी परोसी गई थी[३]। भोजन की क़िस्मों के लिये परकार[४] (२ १) शब्द आता है। इन मिठाइयों के अतिरिक्त भोजन की अन्य विशेषता थी—पटरस परकार (८ ११ १४) [सं]—'पटरस परकार मँगाए जे बरनि जसोदा गाए' (८०१) अथवा 'नंद भवन मैं कान्ह अरोगैं। जसुदा ल्यावै पटरस भोगै (१ १४)। भोजन अथवा खाद्य पदार्थों के छः स्वाद[५] माने गए हैं—मधुर, कटु अम्ल तिक्त कषाय तथा लवण। सूरसागर में इनमें से कुछ प्रधान स्वादों का निर्देश भी हुआ है—'खारे खट्टे मीठे है निमि' (१८११) 'खाटी कढ़ी विचित्र बनाई (१८११) 'मधुर महेरी बोयनि प्यारी' (१८११) सोई मधुर माठे रस वारूनी (१८११) 'मीठे चरपरे' (१ १४) अथवा तीछन लागो नैन भरि आए' (८४२)। आजकल चरपरा[६] शब्द ज्यादा बोला जाता है। इन्हीं छः रसों के मिश्रण से और अनेक स्वाद होते हैं जैसे खट्टा और मीठामिलाकर—खट्टमिट्ठा—खटमिठे सिथारे (१५१ परि०)। रस के लिए स्वाद [सं स्वाद] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'तिन धौ सबै स्वाद हरि लीन्हें' (१८११)। आईने अकबरी (आईन २१) में रसोत्पत्ति के कारण बताए गए हैं। उष्णता शीतलता माध्यमिक ताप आदि कारणों से ये भेद होते हैं जैसे उष्णता सूक्ष्म पदार्थ को तीक्ष्ण स्थूल को कड़वा तथा मध्यम प्रकृति को खारी बनाती है

कौटिल्य ने भी इसी प्रकार दोनों अर्थ लिए हैं—मांस सुरा-भक्ष्य-भोजन (अर्थशास्त्र पृ २१४) तथा 'भक्ष्येषु सक्तादि' (पृ १११) १—२८५४४ 'पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे न कबहूँ खाए।'

१—प० सं व्या, १६१२।१ 'कोउ परसहिं बावन परकारा'

२—प सं व्या, १६९, (५)

३—प सं व्या, ११ —पृ ११६ (८)

४—सं सं व्या, ५६११।१, 'सब परकार फिरा हर फेरे'

५—मानस, बाल का, ३७२ 'षटरस रुचिर विजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती।'

६—प सं व्या, २४७।४ 'ऊपर तेहिं तेंह चरपट राखा'

तथा शीतलता क्रमशः खट्टा मुंह में लगने वाला तथा कसैला बनाती है। इसी प्रकार माध्यमिक ताप चिकना मधुर तथा स्वादरहित करता है[1]।

१ ३—खाना खाने के लिये प्राय जेंवन, जेंवत (१८११ १५२१) [सं जेमनम्] शब्द का प्रयोग हुआ है—'जेंवत रुचि अधिकी अधिकैया' (१८११)। गोवर्धन लीला प्रसंग में भी बार-बार जेंवत शब्द ही आया है—'सब जेंवत रस बातनि पाये। कहत स्याम गिरि जेंवन लागें' (१५२६)। आजकल ग्रामीण बोली में जीमना' शब्द भी बोला जाता है। तुलसी[2] तथा जायसी[3] द्वारा व्यवहृत शब्दावली में भी सूर के समान ही जेंवन शब्द मिलता है। इसी शब्द से बना शब्द 'ज्योंनार सूरसागर मे प्राय पूरे भोजन के अर्थ में आया है— यह ज्योंनार सुनै जो गावै (१८११) अथवा 'तुरत करहु जेंवनार (१ ११)। आजकल कभी-कभी विवाह आदि के अवसरों पर बिरादरी के बहुत से लोगों के पंक्ति में बैठकर भोजन करने या दावत को भी ज्योंनार कह देते है। मानस[4] में शिव तथा राम के विवाह पर तथा पद्मावत[5] म 'रत्नसेन विवाह' व बादशाह भोज खंड मे ज्योंनार का विस्तृत वर्णन मिलता है।

खाने के अर्थ में रसोई (२४४) [सं रसवती] शब्द सूरसागर में भी मिल जाता है— षटरस व्यंजन छाँडि रसोई साग बिदुर-घर खाए अथवा 'बहु व्यंजन बहु भाँति रसोई षटरस के परकार।[6] (१ ११)। आज भी लोग 'खाना तैयार है' के अर्थ में 'रसोई यार है कहते हुए मिलेंगे यों अब रसोई खाना बनाने वाले स्थान को कहते है।

१ ४—छाक (१ ७४ १ ७७ १ ७६ १ ८२-८५ १ ८६) संबंधी अनेक पद गो चारण प्रसग मे है। दोपहर या तीसरे पहर के समय ग्वालों या किसानों के लिए बाहर भेजा जाने वाला खाना छाक कहलाता है—'जाति-पाँति सबकी ही जानों बाहर छाक मँगाई' (२४४) 'सूरदास प्रभु सुनि हरषित भये घर तैं छाक मँगाई'। छाक में अधिकतर सदमाखन मधु, मेवा पकवान कलेवा आदि ही कलेवा के समान होते थे—'सद माखन साजो दधि मीठो मधु मेवा पकवान (१ ७४) अथवा— मननी दधि मिष्टान्न औरि कै अनुमति मेरै हाथ पठाई' (१ ८) छाक खाने में ग्वाल-बाल सहित कृष्ण बलराम इतने मग्न हो गए कि गायों का ध्यान भी न रहा—'जेंवत छाक गाइ बिसराई

सखा श्रीदामा कहत सबनि सों आजहि मैं तुम रहे भुलाई।
धेनु नहीं देखियत कहूँ नियरैं भोजन ही मै साँझ कराई ॥ (१ ८६)।

प्रातःकाल ग्वालों की आवाज सुन बालक कृष्ण-बलराम मथुरा कलेवा करके भाग गए थे अतः माता यशोदा का चिन्तित हो शीघ्र छाक भेजना स्वाभाविक ही है—

आजु कलेऊ करत बन्यौ नहिं मैया सँग उठि धाए।
तुम कारन बन छाक जसोदा मेरैं हाथ पठाए। (१ ७६)

१—आहार प , पृ १४२ १२८
२—मानस, बाल , 'भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए'
३—प स व्या , २६३।६ 'सो जेंवन नहि जाकर भूखा'
४—मानस, बाल , ३२८ 'पुनि जेंवनार भई बहु भाँती'
९९ 'भाँति अनेक भई जेंवनारा'
५—प॰ सं व्या , ९८३ 'पाँति पाँति बैठे भाँति भाँति जेंवनार'
अथवा—'होइ लाग जेंवनार सुआरा'
६—प सं॰ व्या , पृ ४४९ 'सौंधि रसोई नरउ बिहानु

अथवा—'प्रेम सहित मैं नली छाक लइ, कहँ हौ मूखे दोउ भाई।' (१ ७५)

अथवा —'आजनि मोहि सियो अपसेंवत, उठि दौरे दोउ भैया।

तबही तैं मैं भोजन कीन्हौ चाहति दियौ पठाइ।

मूखे भये आजु दोउ भैया आपुहि मोहि मँगाइ।' (१ ७४)।

कृष्ण बलराम का अन्य बालकों के साथ वन में पलाश के दोनों में ही छीन झपट कर छाक खाने की प्रसन्नता का चित्रण बालकों की सहज प्रकृति का परिचायक है— 'ढॅकउइ माधव हैं सारँग की तान कान्ह, सखनि के मध्य छाक लेत कर छीने' (१ ८५)

अथवा— कमल-पात दोना पलास के सब आगैं धरि परसत जात।

'ग्वाल-मंडली मध्य स्याम-घन सब मिलि भोजन रुचि करि खात' (१ ८१)।

अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक बोली में छाक शब्द प्रत्येक समय के साधारण भोजन के अर्थ में भी आता है तथा दोपहर में बाहर भेजी जाने वाली रोटी के अर्थ में भी। यहाँ आज भी कलेऊ तथा ब्यारू ब्यालू (बियारी) शब्द सुनने को मिल जाते हैं। दोपहर के भोजन को 'रोटी' भी कहते हैं।[1] पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कहीं कहीं पक्के खाने पूरी को भी खाना कह देते हैं—(अर्थात् खाना ले आओ = पूरी ले आओ)।

१०५—बियारी (८४१ ८४६ १ १५) [सं विकाल विकालिक—विकाल-ब्याल् + इक—ब्यालु] संध्या अथवा रात्रिकालीन भोजन होता है—'सूरस्याम कछु करी बियारी पुनि राखौं पौढ़ाइ' (८४४)। नींद से झुकी जाती हुई पलकों वाले एवं अलसाते हुए बच्चों का माँ के अनुरोध पर थोड़ा बहुत खाने का सुन्दर व स्वाभाविक चित्रण अनेक पदों में है— 'आलस सौं कर कौर उठावत नैननि नींद झमकि रही भारी' (८४६) 'मा' बार-बार जमुहात सूर प्रभु' (८४६)। बियारी में दिन के भोजन के समान खाने के अनेक नामों की लम्बी सूची सभी पदों में प्राय नहीं दी गई है। मिष्टान्न सुपुई बरा तथा अचार की चर्चा ही विशेष रूप से की गई है। प्रातःकाल के समान ही बियारी के बाद दूध पिलाने का वर्णन भी अनेक पदों मे किया गया है— 'आधौ दूध औटि धौरी को लै आई रोहिनि महतारी' (८४५) अथवा 'फूँकि फूँकि जननी पय प्यावति' (८४७) अथवा 'कछु कछु खाइ मैंवरी तब जमुहात जननी जाने। उठहु लाल कहि मुख पखरावौ तुमको लै पौढ़ाऊँ' (८४८)।

१ ६—पूजा के पकवान को भोग (१५१२ १५१८) तथा नेवज[2] (१५१ ११) [सं नैवेद्य] कहते हैं। गोवर्धन पूजा प्रसंग में विशेष रूप से इन शब्दों का अनेक बार उल्लेख हुआ है— 'महरि सबै नेवज लै संतति' (१५११)

अथवा—'यह कहि-कहि देवता मनावति। भोग-सामग्री धरति उठावति' (१५१२)

तथा—'ता देवहि तुम भोग लगावहु' (१५१६)।

अनाज अथवा नाज से बने व्यंजन[3] अन्न [सं] कहलाते हैं—'भोग अन्न बहु भार लगायो अपनैं कुल सब महरि बुलायी' (१५१८) अथवा 'रोहिनि करति अन्न भोजन-छक'

१—कृ की, प्र ११, अध्याय ६

२—कृ की प्र ११, प ६, आजकल ग्रामीण कृष्णपक्ष में सोमवार या शुक्र को माता की पूजा के पकवान को विशेष रूप से नेवज कहते हैं।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ६६—अष्टाध्यायी III, २ ६८ में भोजन को अन्न व खाना खाने वाले को 'अन्नाद' कहा गया है।

(१५१)। नाश्ता (१८११) शब्द भी एक दो स्थलों में मिलता है—'मन रुचि होइ नाश्ता कीजै' (१८२१)।

खाने योग्य तथा न खाने योग्य पदार्थों के लिए खाद अखाद (१८६) [सं० खाद्य अखाद्य] का उल्लेख भी है—'खाद-अखाद न छाँड़ै अब लौं'। खाने के एक ग्रास को सूरसागर में कौर (१८११ ८४२) [सं० कवल-कवर-कउर-कोर] ही कहा गया है—'मठ कौर मेलत मुख भीतर' (८४२) या 'पहिले पकवानी परसायो। तब आपुन कर कौर उठायौ' (१८११)। कौर को प्रतीपक्ष बेच में 'ग्रास [सं ग्रास] भी कहते हैं। पद्मावत[1] का 'कवर' तथा मानस[2] का 'कवल' शब्द भी इसी शब्द के अन्य रूप हैं।

१ ७—खाने की समाप्ति पर खाने के पात्रों में अवशिष्ट पदार्थ जूठो, जूठनि (१८१२ १८११) कहलाते हैं। आराध्य की जूठन भक्तों को सौभाग्य से ही प्राप्त होती है—

सूर जूठनि भक्त पाई देव लोक भुलाइ' (१५१२)

अथवा—'कौलि दई हँसि जूठनि पारी' (१८११)। खाते खाते समय कृष्ण सबका जूठा कौर स्वयं खाकर उनका जीवन सार्थक कर देते हैं—

'ग्वालनि कर तैं कौर छुड़ावत

जूठो लेत सबनि के मुख की अपने मुख लै नावत' (१०८६)

अथवा—'ब्रजबासी पटतर कोउ नाहिं।

ब्रह्म सनक शिव ध्यान न पावैं इनकी जूठनि लै-लै खाहिं। (१ ८७)

भारतीय स्त्रियों में पति की जूठी थाली में भोजन करने की प्रथा रही है। यह प्रथा पति के प्रति उनके अगाध स्नेह की सूचक थी। मंदिरों में प्रभु को भोग लगाने के बाद शेष पकवान प्रसाद के रूप में भक्तों को बाँटा जाता है।

आजकल शहरों में कलेवा शब्द का स्थान नाश्ते तथा 'जलपान' ने ले लिया है। चाय अथवा काफी का प्रचार भारत में अकबर के बाद हुआ था। अब तो धीरे-धीरे इन्होंने दूध का स्थान ले लिया है। 'ब्यौनार तथा बियारी' के स्थान पर 'खाना' अथवा 'भोजन' शब्द ही अधिकतर बोले जाते हैं।

२—अनाज और तेल

१ ८—दालें—सूरसागर के दशम स्कन्ध में खाने के सिलसिले में दालों के उल्लेख के अतिरिक्त कुछ नाम स्फुट प्रसंगों में भी मिलते हैं। दाल के लिए दारि दारी, (१५१ १०१४) शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'बेसन दारि चनक करि कीन्हो' (१५१०)। पद१०१४ में रोटी और चावल के साथ कई दालों के नाम एक साथ दिये गये हैं—'मूँग मसूर, उरद चन दारी। कनक फटक धरि फटकि पछारी। पकाने के पहले अनाज भी दालें सूप या चलनी से 'फटक' 'पछोर' कर साफ कर ली जाती हैं। चन चनक अथवा चना (१०१४ १५१) [सं० चणक] तीन प्रकार से खाये थे—चने के साग या हरे चने की तरकारी ('मीठे तेल चना की भाजी') दाल बनाकर तथा दाल के आटे अथवा बेसन से अनेक प्रकार के व्यंजन तथा रोटी बनाकर।

उरद मसूर [सं० मसुर मसूर—मसुरा—मसूरा] तथा मूँग [सं० मुद्ग] नाम

१—प० सं० व्या २८४ 'सहस सवाद सो पावै एक कवर जो खाइ'

२—मानस, बाल० ३२९ 'पंच कवल करि जेंवन लागे'

की पाकशाला के लिए प्रायः बहराइच से सुखदास, ग्वालियर से देवजीरा तथा रावौरी और मीमजा से विभिन्न चावल मंगवाकर संग्रह किये जाते थे।[1] आज भी पूर्वी भारत के चावलों का विशिष्ट स्थान है। बस्ती का काला नमक, देहरादून का चावल तथा हंसराज आदि चावल प्रसिद्ध हैं। चावल पतला, लम्बा, सफेद रंग का तथा सुगन्धित ही अच्छा माना जाता है।

११२—मोटे नाजों में सूरदास ने ज्वारि (४१४७) का उल्लेख किया है—सूरदास मुक्ताहल भोगी हंस ज्वारि क्यों चुनिहैं। इसको 'जोन्हरी' भी कहते हैं। दोआब के निर्धन वर्ग में अक्सर ज्वार, बाजरा, मक्का तथा जौ के आटे की रोटी या इनको भूनकर खाते हैं। सूरसागर में जौ की चर्चा नहीं है। आईने अकबरी से उस समय प्रचलित सभी अनाज किस्मों के नाम तथा उनके भाव का ज्ञान होता है।[2]

भाड़ में भुने हुए अनाज को चबैना (१ ८५) [सं चर्वण] कहते हैं। इनमें चना, चावल, मक्का, ज्वार, तथा बाजरा प्रमुख हैं। सूरसागर के गोचारण-शीर्षक पदों में कृष्ण तथा ग्वाल बालकों का चबेना खाने का वर्णन है—

'ग्वाल मंडली मैं बैठे मोहन बट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने। एक एक कृस एक ज्यारि चबेना लेत निज-निज कामरी के आसननि कीने। (१ ८५)।

पद्मावत में जौ के चबेने के लिए 'बहुरि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस पंक्ति में भाड़ तथा बालू में भूनने का संकेत भी है।[3] चबेना खाने की क्रिया को 'चबाना' भी कहते हैं।[4] आज भी गरीब लोग कभी-कभी चबेना खाकर ही पेट भर लेते हैं। चावल को भूनने पर 'लइया' 'परमल' अथवा 'खील' कहा जाता है। यह भाड़ में भड़भूजा भूनता है।[5]

हरे धान को कूटकर तथा भूनकर बनाए हुए चिपटे दाने को चिउरा (८२१) [सं० चिपुटः चिपिटक] कहते हैं। कलेवे के खाद्य पदार्थों में चिउरा भी था—'सफरी चिउरा

१—आईने अ , पृ ११७

२—आईने अक , पृ १२८, १२९—आईने अकबरी की रबी तथा खरीफ की जिंसों की सूची में आजकल के प्रायः सभी नाम, जैसे गेहूँ, कई तरह के चावल (शालि, सुखदास, दुनाप्रसाद, साम्बीरा, बका आदि) दालें, जौ, बाजरा, जुआरी, अलसी, सरसों, लोबिया, तथा कंगु आदि का विवरण मिल जाता है। अकबर के बाद मक्का, मोठ, मूँगफली, तम्बाकू तथा चाय एवं काफी का भारत में प्रचार हुआ था। अकबरकालीन सावाँ, कैना, माल, मीस आदि जिंसें अब नष्ट सी हो गई हैं।

३—प सं व्या , १२४।३ 'लावहिं भरे भरे जस भाड़। बहुरि जो भूजहि लखौं न भाड़।'

४—तुलसी, कवित्ता० ६६ 'माँगके चना चबाइ हाथ नाइयत है'

५—हि श्री० प , प्र ११, अध्याय ९, अमरकोश २।९।३०' यवोवेष्मवरीषं भ्राष्ट (भ्राष्ट = भाड़) प्राकृत कोष में भाड' शब्द देशी लिखा है। जौ लगे भुने बने 'धनौरी' कहलाते हैं। यजुर्वेद (अ १९ मंत्र २२) में भुने जौ को 'धान' कहा गया है। संस्कृत साहित्य में भी कहीं कहीं मिलता है। 'धाना भ्रष्टयवे स्त्रियः' (अमरकोश २।९।४७) मनु १०।२१, धानानां, धन हुतानं पतिवासस्य गोधूमः।

अरुन सुखानो। मानस में भी दधि तथा चिउरा जनक द्वारा उपहार में भेजने की चर्चा[1] है। आजकल इसे 'चिउरा' या 'चूरा' भी कहते हैं तथा दूध में भिगोकर अथवा घी में भूनकर नमकीन खाते हैं।

१११—आटा—सूरसागर में गेहूँ [सं० गोधूम] या उसके साधारण आटे का उल्लेख नहीं मिलता है। पद्मावत में गोहूँ को धोने-पीसने तथा छानकर आटा तैयार करने के विस्तार हैं।[2] सूरसागर में गेहूँ के महीन आटे मैदा (८५६, १५१) [फ़ा॰ मैद] का निर्देश कई स्थलों में है। गोवर्धन-पूजा के निमित्त नैवेद्य के लिए भी मैदा छानी गई थी—'मैदा उज्ज्वल करि कै छान्यौ' (१५१)। गेहूँ की खेती का अनुमान ईसा पूर्व ३० तक में है क्योंकि मोहनजोदड़ो में यह पाया गया है। वैदिक काल में 'गोधूम' तथा 'यव' प्रधान नाजों में से थे। 'धान्य' प्रारम्भिक वैदिक काल में 'भुने यव' के अर्थ में आया है तथा 'व्रीहि' भी चावल के अर्थ में बाद के वैदिक काल में प्रचलित हुआ। ऋग्वेद में इनका उल्लेख नहीं है।[3] पाणिनि के समय में कुछ व्यंजन गेहूँ के आटे से बनाए जाते थे।[4] हर्षचरित में भी स्थाण्वीश्वर के खेतों के वर्णन में राजमाष मूंग धान तथा गेहूँ आदि अनाजों के नाम मिलते हैं।[5] आईने-अकबरी में भी गेहूँ के बारीक आटे अथवा मैदे का उल्लेख ही अधिक है। दरबार के भोजन के लिए एक मन गेहूँ से आधा मन मैदा दो सेर दलिया तथा शेष भूसी निकलती थी। दलिया तथा भूसी घटाकर साधारण मैदा बनाई जाती थी। गेहूँ के सारे आटे को 'खुश्का' कहा गया है।[6] अतः अनुमान होता है कि सूर के समय में गेहूँ के अच्छे आटे को मैदा ही कहा जाता था।

जैसा कि दालों के सिलसिले में बताया जा चुका है मैदा के अतिरिक्त चने का आटा भी बनता था जिसे उस समय भी बेसन (८५६ ८५६ १५१) कहते थे। इससे भी रोटी, पूरी तथा अन्य अनेक व्यंजन बनाए जाते थे। मैदा तथा बेसन को मिलाकर भी पूरी बनाते थे—'बेसन मिलै सरस मैदा सौं अति कोमल पूरी है भारी (८५६) अथवा 'रोटी रुचिर कनक बेसन करि (१८११)। आजकल रोटी तथा पूरी दोनों ही गेहूँ के साधारण आटे से बनाते हैं। खास-खास अवसरों पर, विशेषकर विवाह के पक्वान्न में मैदे की पूरी भी बनाने की प्रथा है। अन्य बहुत से नमकीन या मीठे पक्वान्न भी मैदे से बनते हैं। निम्न श्रेणी के लोग चना मक्का बाजरा ज्वार तथा जौ आदि के आटे की रोटी भी खाते हैं क्योंकि यह गेहूँ से ज्यादा सस्ता होता है।

१—मानस, बाल , ३ ३—'दधि चिउरा उपहार अपारा'

२—प सं व्या , ५४३।१,२ 'पीसत गोहूँ कर हिया काढ़ा। आने तहाँ होय चहुँ आटा तब पीसे अब पछिलेहिं धोए। कापर छानि मांड भल चोए॥ १८०।५ 'मड़ गोहूँ' कर हिय बेहराना।

३—स्टोरीज़ ऑफ़ इंडिया, पृ ६७

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १ १

५—हर्ष सां अ , पृ ५५

६—आईने अ , पृ १२१। आईने-अकबरी में (पृ० १२६) खुश्का (गेहूँ का आटा) प्रतिमन १५ दाम मैदा २२ दाम, चने तथा जौ का आटा क्रमशः २२ दाम तथा ११ दाम दिया है। मोटे नाजों में लहदरा (बाजरा) ८ दाम तथा जुआरी १ दाम प्रतिमन बिकती थी। मटर तथा चने का आटा बराबर मूल्य में मिलता था।

सूरसागर (परि० १५१) में सूजी की चर्चा भी है—'मिगुया लोन तेल तर सुबी।' गेहूँ से ही सूजी बनाते हैं। उपर्युक्त उल्लेख के सूजी से बने व्यंजन का अब रिवाज उतना नहीं है जितना कि सूजी के हलवे अथवा खीर का। सूजी को आजकल रवा भी कहते हैं।

११४—तिल और तेल—सूरसागर नवम स्कन्ध में दशरथ-अन्त्येष्टि-क्रिया प्रसंग में तिलांजलि देने की प्रथा की ओर संकेत किया गया है— भस्म अंत तिल-अंजलि दीन्ही देव विमान चढ़ायौ' (४१४)। इस प्रकार अंजलि में तिल-तथा जल देने की प्रथा आज भी चल रही है। इसी से तिलांजलि' शब्द निकला है जिसका अर्थ 'छोड़ देना' है। सूरसागर में तिल के तेल अथवा तिल-तेल (२५४२) [सं० तिल-तैल] का उल्लेख कई स्थलों में है— तिल-तेल सवादी स्वाद कहा जाने घृत ही दैं' (२५४२)। घी से तेल को नीची कोटि में सदैव रखा गया है।[१] धनिक वर्ग घी का अधिक उपयोग करता है तथा निर्धन वर्ग तेल का किन्तु कुछ तरकारियाँ तथा व्यंजन तेल के बने हुए भी स्वादिष्ट होते हैं। अतः सूरसागर में भी तेल में तर कारी छौंकने' का वर्णन किया गया है—'छौंकि तेले (१०१४) अथवा 'तेल तर सुबी' (परि० १५१)। तिल के तेल को 'मीठा तेल' भी कहते हैं—'मीठै तेल चना की भाजी' (१०१४)। सरसों के तेल को 'कड़वा' तेल कहते हैं। पद्मावत में इसका उल्लेख है।[२] आजकल तिल के तेल के स्थान में उत्तरप्रदेश में सरसों का तेल ही अधिक प्रचलित है। बंगाल तथा दक्षिण में नारियल के तेल में ही अधिकतर खाद्य पदार्थ बनाये जाते हैं। तेल किसी वस्तु के अर्क के साधारण अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। कुछ लोग तिल तथा सरसों के तेल बाल तथा शरीर में भी लगाते हैं। अन्य कई प्रकार का भी तेल बाल मे लगाया जाता है तथा फूलों के तेल से इत्र भी बनाते हैं।

पाणिनि ने खाद्य की सूची में तिल को भी स्थान दिया है।[३] काशिका के अनुसार गुड़ तिल तथा घृत मिश्र वस्तुओं के उदाहरण हैं। इनको उचित मात्रा में मिलाकर प्रधान भाक्ष्य' पदार्थ का स्वाद अच्छा किया जाता था।[४] आईने अकबरी में भी सफेद तथा काले दोनों ही तिल खरीफ की जिंसों में हैं।[५]

३—मसाले

११५—दशम स्कन्ध के अन्तर्गत दधि-दान शीर्षक चर्चा में से पद २१४६ तथा २१४७ में मसालों के व्यापारी का रूपक दिया गया है। पद २१४६ तो मसालों के नामों की सूची मात्र है। इसमें निम्नलिखित मसालों के नाम आए हैं। कुछ नाम अन्य प्रसंगों में भी मिल जाते हैं—

१—लौंग (२१४६) [सं० लवंग]

२—सुपारी (२१४६) सं० पुरंजन— सुपारी का वृक्ष]

३—हींग (२१४६, २१४७ १०१४) [सं० हिंगु]

१—आईने अकबरी में घी प्रतिमन १० १ दाम तथा तेल ८० दाम दिया है।

२—प० स० व्या० ५४६, करुए तेल कीन्ह बसिवारू'

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—पृ० १०४

४— ,, ,, ,, पृ० ११

५—आईने अ०, पृ० ११६। सफेद तिल प्रतिमन ९० दाम काला तिल प्रतिमन ११ दाम।

४—मिरिच, मिरच, मिरचं (२१४६ २१४७ १०१४, १८३१ ८०१) [सं० मरीच—काली मिर्च][१]

५—पीपरि (२१४६) [सं पिप्पल—पीपल का फल]

६—अजवाइन (२१४६) [सं यवानी]

७—कूट (२१४६)

८—कायफर (२१४६)

९—सोंठि सोंठ (२१४६ ८ १) [सं० शुंठी शुंठि शुंठ्य]

१०—चिरइता (२१४६)

११—करजीरा (२१४६) [सं काल + जीर जीरक जीरक]

१२—जास (२१४६)

१३—नारियर (२१४६) [सं नारिकेल]

१४—मजीठ (२१४६) [सं० मंजिष्ठा]

१५—बाइबिडंग (२१४६ १५२८)

१६—बहेरा (२१४६) [सं बिभीत बिभीत बिभीतक बिभीता]

१७—हर्रे (२१४६) [सं हरीतकी]

११६—इन नामों के अतिरिक्त खाद्य पदार्थ तथा तरकारियाँ बनाने की विधि के सिलसिले में भी कुछ मसालों का उल्लेख हुआ है। बैंगन के भरते में खटाई (१८३१) [सं० खट्ट—खट्टापन] डाली गई थी—'भरता भँटा खटाई दीनो। प्राय: खटाई कच्चे आम की फाँकें सुखाकर बनाई जाती है यों किसी भी खट्टी वस्तु की खटाई हो सकती है जैसे नीबू करौंदा या इमली की खटाई। एक स्थल में इमली की खटाई डालने का प्रसंग भी है—भरहिं इमली दई खटाई' (१८३१)। पद्मावत में खटाई के लिए 'चुक्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[३] आज कल 'चट्टाचूक'[४] बहुत अधिक खट्टे को कहते हैं। हींग तथा राई (१८३१) [सं० राजिका] का दधि में डालने का वर्णन है—'हींग लगाइ राइ दधि सान्यो (१८३१)। राई से भी खट्टापन आता है। हरद या हरदी (१८३१) [सं हरिद्रा] का उल्लेख कई पदों में हुआ है—किनिक भाँति केरा करि लौने, है करौंदा हरदि रँग कीने (१८३१) हलदी पवित्र भी मानी जाती है। पूजा की सामग्री में दूब चावल तथा रोली के साथ हल्दी अवश्य रक्खी जाती है। नवम स्कन्ध में भी राम के प्रत्यागमन के समय आरती के थाल का इसी प्रकार का विवरण है—दधि-दूब

१—अजारहु, भाग १, पृ २ २—मुगलकाल में मिर्च तथा अदरक आदि कुछ मसाले गुजरात के कुछ भाग में खूब पैदा होते थे।

२—इंडिया एन्ड नोन टु पाणिनि, पृ ११५, मैरेय नामक मद्य बनाने के ढंग में मैराय भी छाल व गुड़ के साथ ही मरिच, पिप्पली तथा त्रिफला का उल्लेख भी है। मरिच काली मिर्च के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा पिप्पली लम्बी मिर्च के अर्थ में। आजकल दोनों को ही मिर्च कहते हैं तथा काली या गोल मिर्च कहकर भेद किया जाता है।

'मैराय् शीतधुवत्वामाविर्भूती गुडसंगीतायः पिप्पली-मरिच सम्भारात्त्रिफलायुक्तो वा मैरेयः।'

३—प स ग्या , २८८, 'चुरक लाइ के राँधे भाँटा'

४—क श्री , प्र ११, सं० १—चूक (सं चुक्र) अमरकोश ३।६।३६

हरद फल-फूल पान। कर कनक-भार-हिय करत मान। (६१)। हल्दी तथा चूना मिलने पर एक ही रंग लाल में परिवर्तित हो जाते हैं अतएव प्रायः प्रेम की एकात्मकता का रूपक इससे दिया जाता है। गोपियों का अपने आराध्य कृष्ण के प्रति इसी प्रकार का प्रेम था—

'मानति नहीं लोक मरजादा हरि के रंग मजी।
सूर स्याम को मिलि चूनी हरदी ज्यों रंग रंजी॥ (२२४६)

११७—नमक के लिये लौन (१८११) अथवा लोन (विनय) [सं० लवण का नमक] शब्दों का प्रयोग हुआ है—'असे बनाइ करेला कीने लोन लगाइ तुरत तरि लीने। सेंधा नमक को सेंधौ (१८११) [सं० सैंधव—सैन्धवं] कहा गया है— अजवाइन सेंधौ मिलाइ धरि (१८११)। नमक प्रमुख तीन प्रकार का होता है—सेंधा सांभर तथा काला। खाने में प्रायः सेंधा या सांभर नमक डाला जाता है। नमक का अलग अस्तित्व नहीं है, वह खाने के पदार्थों में नमकीन स्वाद करने के लिए डाला जाता है। षटरस में इसका भी स्थान है।[1] ग्रामीण बोली मे आज भी लोन अथवा नोन ही कहते हैं। पद्मावत में भी सेंधा नमक का जिक्र आया है।[2]

बेसन की रोटी मे नमक तथा अजवाइन डाली गई थी—'रोटी रुचिर कनक बेसन करि। अजवाइनि सेंधौ मिलाइ धरि। (१८११)। सरसों मेथी आदि साग हींग हल्दी तथा मिर्च डाल कर छौंके गये थे तथा साथ ही उनमें अदरख (१ १४ १८११) [सं० आर्द्रक या अदरख] और आंवरे (१ १४) [सं० आमलक] डाले गये थे—'हींग हरद मिर्च छौंकि तेले। अदरख[3] और आंवरे मेले। जायसी ने अदरक को आदि' कहा है।[4] पद १६१ में प्रयुक्त कचौरियाँ भी उल्लेखनीय है—'राइ करौंदा पंच कचौरी। प्यौसर बनाने की विधि में 'सोंठ' तथा मिरिच का उल्लेख भी है—'अति प्यौसर सरस बनाई। तिहिं सोंठ मिरिच रुचि नाई (८ १)।

११८—इन मसालों के अतिरिक्त कपूर (१ १४ १८११) [सं० कर्पूर] से तरकारियाँ तथा जल सुगंधित किया जाता था—'साजन सकल कपूर सुबासत' (१ ४) अथवा सीतल जल कपूर रस रचयौ (१८११)। सोहिलो शीर्षक पद (६५८) में चंदन तथा कपूर पीने का वर्णन है—'आठ मास चंदन पियौ (हो) नवएँ पियौ कपूर' (६५८)। घनसार (४६८६) [सं०] कपूर का समानार्थी शब्द है। शीतलता प्रदान करने वाली वस्तुओं में कपूर का स्थान भी है—'पवन पान घनसार 'सजीवन दधि-सुत किरनि भानु भई भुँजै। (४६८६)। तरकारियों में लहसुन तथा प्याज डालने के उल्लेख नहीं हैं। सात्विक भोजन में इनका स्थान होता भी नहीं। कुब्जा तथा कृष्ण के प्रति गोपियाँ यह व्यंग्य अवश्य करती हैं— जैसे काग हंस

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—पृ० १ ९—कात्यायन ने लवण को केवल षट्रस में ही स्थान दिया है तथा खाद्य पदार्थ का गुण माना है। किन्तु पाणिनि ने लवण को गुण अथवा इसके अतिरिक्त अन्य वस्तु (material commodity) भी माना है। उन्होंने लवण के व्यापारी को 'लवणिक' कहा है।

२—प० सं० व्या०, ४४३।४ 'सेंधा लोन परा सब हाँडी।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—पृ० ११ —कुछ खाद्य पदार्थों में अदरक तथा मूली भी मिलाई जाती थी। इनको 'उपदंश' कहा गया है।

४—प० सं० व्या० ४४६ 'एकहि आदि मिरिच सिरं मीठे'

की संपति, लहसुन सम कपूर' (१७७)। कपूर से सुवासित भोजन में लहसुन (१७७) की गन्ध न होने का कारण भी इससे समझ में आ सकता है। तुलसी ने भी लहसुन का उल्लेख निषिद्ध वस्तुओं में ही किया है।[1] प्याज की जन्मभूमि अफ्रीका है तथा लहसुन की सर्व प्रथम उत्पत्ति सिसली दक्षिणी फ्रांस तथा एशिया के मध्य भाग में मानी गई है। एक प्रमुख मसाले धनिया (२२८) [सं० धान्य] का उल्लेख भ्रमरगीत शीर्षक पदों म एक स्थान पर किया गया है—'सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हारे। (४२२२)। आजकल तो हल्दी धनिया तथा मिर्च का ही मसालों में प्रमुख स्थान है।

सुपारी का पर्यायवाची शब्द पूंगीफल (४६६) [सं पूंगफल] नवम स्कन्ध के कल्याण-मोचन शीर्षक पद में है—'पूंगीफल-जुत जल निरमल धरि आनी भरि कुंडी जो कनक की' (४६६)। हल्दी के समान सुपारी की गिनती भी शुभ वस्तुओं में है। विवाह की लग्न में प्राय नारियल के साथ छिलके सहित सुपारियाँ भी होती है। उपर्युक्त पंक्ति मे भी सुपारी पड़े जल का संकल्प के समय लाया जाना इसी की पुष्टि करता है।

आईने अकबरी में भी मसालों की लम्बी सूची है। इनसे उनके प्रचलित मूल्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। सूरसागर में उल्लिखित नामों के अतिरिक्त इलायची जीरा सौंफ तथा दालचीनी आदि मसाले और है। खटाइयों की सूची अलग है तथा लहसुन और प्याज तरकारियों में है। नमक आजकल से मँहगा था। एक मन नमक सोलह दाम में मिलता था।[2]

जायसी ने भी पद्मावत में बहुत से मसालों के नाम दिये है। बादशाह के भोज में मांस मछली तथा तरकारियाँ आदि बनाने के वर्णन में यह नाम विशेष रूप से दिये गए है। कुछ नाम जिनका अभाव सूरसागर में खटकता है पद्मावत में मिल जाते है, जैसे—इलायची सौंठ मेथी जायफल तथा जीरा।[3] सिंहलद्वीप-वाटिका-वर्णन में फलों के वृक्षों के साथ कुछ मसालों के वृक्ष भी गिनाए गए है।[4]

आजकल भी प्राय यह सभी मसाले उपयोग में आते है। कुछ के डालने का ढंग अवश्य बदल गया है जैसे कपूर प्राय तरकारियों में नहीं डाला जाता है, मीठे दही में अवश्य कभी-कभी डाला जाता है। इसी प्रकार आंवले का उपयोग भी इस रूप में कम ही होता है। उसका अचार या मुरब्बा अधिक प्रचलित है। कुछ मसाले इतने वर्षों बाद भी आश्चर्यजनक रूप से सूरसागर में वर्णित ढंग से ही डालते है जैसे बैंगन में खटाई, सागों में हींग और मिर्च तथा केमी में हल्दी।

१—तुलसी, दोहा १३५ 'तुलसी अपनो आचरन भलो न लागत कासु।
तेहि न बसात जो खात नित लहसुन हू को बासु॥'

२—आईने अ पृ ११८

३—प सं० व्या० ५४७।२ 'मेथी कर तेहि दीन्ह बघार'
५४८।४ 'जीर सु धारि जने सब बारे'
५४६।३ ' सौंठ मरिच औ जीरा लाका
५४३।५ 'लौंग लाइची सिर बधि धरा'
५४६।५ 'जैफर लौंग सुपारी हाथ। मिरिच होइ जो सहै न माथ।'
५४५।२ 'सोवा सौंफ उतारे घना। तेहि ते अधिक आव बासना।'
५४७।७ 'कु हुरु पर्य कपूर बसाई। लौंग मिरिच तेहि ऊपर लाई।'

४—प० व० व्या०, २८७।४ 'कोइ जैफर कोइ लौंग सुपारी'

गरम मसाला दक्षिणी भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह में ही अधिकतर होता है। लौंग काली इलायची, काली मिर्च दालचीनी तथा तेजपात को ही आजकल गरम मसाला कहते हैं।

४—फल, मेवा, तरकारी

१२ —फलों का उल्लेख विशेष रूप से कलेवा तथा बियारी शीर्षक पदों (८२१-८१) में है। भोजन (१ १४ १८११) में भी अन्य विविध प्रकार के व्यंजनों के साथ कुछ फल भी थे। प्रातःकाल यशोदा शिशु कृष्ण को खाद्य पदार्थों के नाम बताकर शीघ्र उठकर कलेवा करने का आग्रह करती है— *उठिए स्याम कलेऊ कीजै। मनमोहन मुख निरखत जीजै॥*

खारिक दाख खोपरा खीरा।
केरा आम ऊख रस सीरा॥
श्रीफल मधुर चिरौंजी आनी।
सफरी चिउरा अरुन सुबानी॥ (८२१)

अथवा— खारिक दाख चिरौंजी किसमिस उज्वल गरी बदाम।
सफरी सेब छुहारे पिस्ता जे तरबूजा नाम॥ (८१ ।

भारतवर्ष के फलों में आम का विशिष्ट स्थान है। यह उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त को छोड़ कर सारे भारत में पैदा होता है और गर्मी तथा वर्षा के प्रारंभ में होता है। आम के दो प्रधान भेद हैं—तुखमी तथा क़लमी। पहली क़िस्म जंगली अवस्था में भी पाई जाती है किन्तु दूसरी क़िस्म में क़लम लगाते हैं। क़लमी आम भी अनेक प्रकार का होता है। इसमें लखनऊ का दसहरी व सफ़ेदा तथा बम्बइया लँगड़ा तोतापरी फ़ज़ली आदि अनेक प्रसिद्ध क़िस्में हैं। सूरसागर में सिर्फ़ आँब[1] अंब, आम्र (१ १४८२६) [सं आम्र] ही कहा गया है। संभवतः उस समय तक क़लमी आम नहीं चल पाया था। आईने अकबरी में भी इसका ज़िक्र नहीं किया गया है। उस समय पंजाब में भी आम कम होता था। सम्राट् ने ही लाहौर में राजधानी बनाने पर वहाँ आम के पेड़ लगाना प्रारंभ किया था।[2] बर्नियर तथा मनूची[3] ने भी भारत के फलों में आम की बहुत तारीफ़ की है। बर्नियर ने लिखा है[4] कि ये गर्मी में सस्ते व अधिक मिलते थे एवं बंगाल गोलकुंडा तथा गोआ के श्रेष्ठ होते थे। भारत के प्राचीन काल के फलों में आम का स्थान है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में फलों के अन्तर्गत 'आम्र' तथा 'जम्बू' (जामुन) का ही उल्लेख किया है।[5] आम का फूल 'बौर' शब्दों द्वारा बजाने वाली मुरली 'पपैया' तथा पेड़ों का समूह 'अमराई' (आम्रराजि) कहलाता है।

सूरसागर में पके आम के अतिरिक्त कच्चे आम के अचार तथा खटाई के संबंध में भी बताया गया है—'निबुआ सूरन आम अथानौ' (८४१) तथा 'आँब आदि है सबै सँधाने (१ १४) कच्चे आम का यह उपयोग आज भी होता है।

१२१—ऊख अथवा ऊख-रस (एक १ ८२१) [सं इक्षु + रस] भी भुने के बारे में पीने की प्रथा थी। ईख की खेती भारत में प्राचीन समय में भी होती थी। पाणिनि[6] ने दूर दूर तक फैले ईख के खेतों को 'इक्षु-वन' कहा है। इक्षु-रस से मद्य बनाने की प्रथा भी

१—प० सं व्या , २८। 'करी आँब प्रति सघन सुहाए'
२—आईने अ , पृ १२१
३—मनूची, भाग १
४—बर्नियर, पृ २८१
५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ११
६— „ , „ पृ १ ६, ११७

थी। बाण[1] ने भी इक्षु-वन का वर्णन हर्षचरित में किया है। पुराणों में ऊख की उत्पत्ति त्रिशंकु के लिये विश्वामित्र द्वारा निर्मित स्वर्ग में बताई गई है। आईने अकबरी में भी ऊख लगाने तथा उसके विभिन्न उपयोगों के अनेक विस्तार मिलते हैं। ईख कोमल तथा कठोर दो प्रकार की होती है। कठोर से ही गुड़ शक्कर कंद और मिश्री बनाते थे।[2] ईख के इन विभिन्न उपयोगों के कारण ही इसका अत्यधिक महत्व है। फारसी में ईख को 'नैशकर' कहते हैं। जायसी ने मीठे रस से भरी ईख को ईश्वरीय देन माना है।[3] आज भी भारत में ईख की खेती बड़े पैमाने पर की जाती है। ईख का जो रस पीने के लिये पेरते हैं उसे पूर्वी ग्रामीण बोली में 'पेरुआ' रस कहते हैं।[4]

नागरिक भाषा में 'गन्ना' [सं काण्ड—एक गाँठ से दूसरी गाँठ तक का भाग] शब्द ही प्रचलित है। ग्रामीण बोली में 'ऊख' अथि 'ऊँख' उक्खड़ 'उखुड़' आदि कहते हैं। गन्ने के गोल काटे गए टुकड़ों को 'गड़ेरी' कहते हैं। सूरदास ने गाँड़े (४२२२) [सं गंड—गाँठ अथवा जोड़-गन्ने में गाँठें सी होती हैं और वहीं से प्राय टुकड़े करते हैं] शब्द प्रयुक्त किया है। इसको 'पौंडा' भी कहते हैं। साथ ही इस पंक्ति से हाथी को गन्ना प्रिय होने की बात भी बताई गई है—'कहु पदपद कैसे बेगनु है हाथिनि के सँग गाँड़े (४२२२)।

१२२—तरकारियों में कच्चे केले की तरकारी बनाने के साथ ही फलों में भी पके केले खाये जाने की चर्चा है। कदली (विनय) केला (१८११, तथा केरा (८२१ १ १४) [सं कदली] शब्द मिलते हैं छोलि धरे खरबुजा केरा। सीतल बास करत अति घेरा' (१ १४)। आईने अकबरी में भी केले के पेड़ तथा फल का विस्तृत वर्णन है।[5] भारत के अतिरिक्त अन्य कम देशों बर्मा अफ्रीका दक्षिणी अमेरिका मलाया द्वीप तथा चीन आदि में भी केला होता है। एक पेड़ में एक बहर आती है जिसमें सत्तर-अस्सी केले होते हैं। उसके बाद वह पेड़ गिरा दिया जाता है। आजकल 'चीनिया' तथा 'बम्बइया' दो प्रधान किस्में होती हैं। पद्मावत में 'केरा की घौरी' (१८७१७) तथा 'मोनइ एही केरन्ह की घउरी' (१४१४) में 'घौरा' 'घौरी' 'घउरी' आदि शब्द 'बहर' के लिए मिलते हैं। उपर्युक्त पद्यांश में खरबूजा (१ १४) [फा खर्पज खरबूज] भी छील कर रखने का उल्लेख है। आईने अकबरी से पता चलता है कि अकबर के राज्य में खरबूजे खूब बिकते थे। भारत में वे चैत से ज्येष्ठ तक होते थे। ये मीठे मुलायम तथा खुशबूदार होते थे। क्वार के प्रारंभ में काश्मीर से आने लगते थे फिर काबुल से तथा पूस में बदख्शाँ से मँगवाये जाते थे। इस प्रकार माघ तक सिलसिला नहीं टूटता था[6]। बर्नियर तथा मनूची ने भी यही लिखा है कि काबुल बलख बुखारा समरकन्द तथा ईरान से अनेक प्रकार के फल खरबूजे तरबूज सेब नाशपाती अनार तथा अंगूर आदि लेकर काफिले आते थे। ये फल दिल्ली में मँहगे दामों पर बिकते थे। इनके बदले उन देशों को सोना-चाँदी नहीं जाता था किन्तु यहाँ के अन्य दूसरे सामान ही बाहर जाते थे। दिल्ली में फल का बाजार अलग ही था। अमीरों का प्रधान व्यय फल तथा मेवा पर ही होता था। खरबूजे का बीज

१—हर्ष० सां० अ०, पृ १८३
२—आईने अकबरी, पृ० १४
३—प सं व्या०, ४१ 'कोन्हेसि ऊखि मीठि रस भरी'
४—ग्रा म , पृ० ४६, ११६
५—आईने अ , पृ १४२
६—आईने अ०, पृ ११२

ईरान से भारत में आया था किन्तु यहाँ की ज़मीन उसके लिए उतनी अच्छी न होने के कारण फल की किस्म साधारण ही रही।[1] आज कल लखनऊ का खरबूजा प्रसिद्ध है जो छोटा किन्तु मीठा मुलायम तथा रसीला होता है।

१२३—खरबूजा (८१) [फ़ा खरबूज़] तथा सुवानी [फ़ा सूबानी] भी विदेश से लाये गए फल थे। खरबूजा भी दिल्ली में प्राय साल भर अधिकता से मिलता था। दिल्ली के खरबूजों को बर्नियर ने मुलायम और मीठा बताया है[2]। विदेश से आने वाला खरबूजा अधिक मँहगा मिलता था। एक खरबूजे का मूल्य क़रीब डेढ़ रुपया होता था[3]। जायसी ने खरबूजे को 'हिंदुवाना' कहा है।[4] आजकल फर्रुखाबाद का खरबूजा प्रसिद्ध है। सूबानी का रंग 'अरुण' बताया गया है। रंग के कारण ही अकबर के समय में इसे 'ज़र आलू' भी कहते थे। आजकल कुमायूँ आदि पहाड़ी प्रदेश में यह अधिक होती है।

नारियर (२१४१) [सं॰ नारिकेल] का उल्लेख मसालों तथा मेवा के व्यापारी से संबंधित पद में आया है किन्तु कहीं-कहीं उदाहरण भी दिया गया है—'ज्यों मरकट कर होत नारियर तैसे हरी प्रभावी' (१६२५)। इसके अतिरिक्त गरी (१ १४) तथा खोपरा (८२६ [सं खर्पर] शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। नारियल के अन्दर के मुलायम गूदे को आज भी गरी कहते हैं। सूखे नारियल की गिनती मेवा में भी होती है। महाभारत तथा सुश्रुत में नारिकेल का उल्लेख है। बाण ने भी विन्ध्याटवी के फलों के वृक्षों में नारिकेलों का उल्लेख किया है।[5] आईने अकबरी में इसका दूसरा नाम 'जौज़े-हिन्दी' बताया गया है। उसके विभिन्न उपयोगों का विवरण भी है, जैसे कच्चे नारियल का पानी पीते थे पकने पर गरी खाई जाती थी। उसके छिलके से चम्मच प्याले व तूंबे बनाए जाते थे तथा छाल से रस्सी बनती थी। एकाक्ष नारियल को दो आँखों वाले से बेहतर मानते थे।[6] आज भी नारियल इन सब कामों में आता है। यह समुद्र तट के निकट अधिक होता है। इसका तेल भी निकाला जाता है। सूरसागर से केवल नारियल की गरी के बारे में ही पता चलता है।

१२४—अंगूर के लिए सूरसागर में दाख (८२१ ८१) [सं द्राक्षा] शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ मुनक्का तथा किशमिश भी होता है। इस अर्थ में भी यहाँ यह शब्द लिया जा सकता है। पद ८१० में 'दाख' तथा किसमिस' दोनों का उल्लेख साथ किया गया है। अतएव यहाँ अंगूर का अर्थ ही अधिक उपयुक्त होगा अंगूर को ही सुखाकर किशमिश व मुनक्का बनाते हैं। अकबर के समय में आषाढ़ से सावन-भादों तक अनेक प्रकार का अंगूर होता था। काश्मीर से भी अंगूर आता था जो एक दाम में आठ सेर मिलता था।[7] विदेश से आने वाला अंगूर काला तथा सफ़ेद दो प्रकार का होता था। आजकल भी अंगूर काश्मीर तथा काबुल आदि स्थानों से मँगाया जाता है तथा बरसात में अधिक मिलता है।

अंगूर के समान ही अंगूरी फलों में सेव (८१) का स्थान है। मुग़ल राज्य में कई

१—बर्नियर, पृ २ ३; जमूची, भाग १
२— ,, ,, २२
३— ,, ,, २ ३
४—प त व्या , ३४६।१, 'औ हिंदुवाना बाससी खीरा'
५—हर्ष सां अ , पृ॰ १५८
६—आईने अ , पृ ६८१
७— ,, ,, पृ ६६३

प्रकार का सेब विदेशों से आता था। आजकल कुमायूँ प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर का सेब प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त फलों की सूची में अनार जैसे प्रमुख फल का अभाव खटकता है किन्तु ऐसा नहीं है कि सूरदास जी अनार से अनभिज्ञ हों। रूप-वर्णन संबंधी अनेक पदों में मोती के समान दाँतों की शोभा की तुलना दाड़िम[१] (५०७) [सं] के दानों से की गई है—'दाड़िम दसन सरी' (५ ७)। आजकल हमारे यहाँ दो प्रकार का अनार—कन्धारी' तथा 'बेदाना' बिकता है। बोलचाल की हिन्दी में अंगूर तथा अनार शब्द ही प्रचलित हैं।

१२५—अन्य प्रमुख फलों में श्रीफल (८२६) [सं०] तथा सफरी (८२१) [फा सफरी = अमरूद] हैं। श्रीफल भारत का प्राचीन फल है। श्रीफल (१४४६) भी प्राय उपमान रूप में आया है। इसको आजकल बेल कहते हैं। सफरी के स्थान पर अब 'अमरूद' अथवा बिही' शब्द ही बोले जाते हैं। अलीगढ़ ज की कृषक बोली में सफरी भी कहते हैं। आईने अकबरी में तूरान आदि देशों से आने वाले फलों में अमरूद तथा बिही का स्थान भी है।[२] इलाहाबाद के अमरूद आजकल अपना विशेष स्थान रखते हैं।

अन्य साधारण मौसमी फलों में ककरी (१८११) [सं कर्कटि] तथा खीरा[३] (१८११) के नाम लिये जा सकते हैं। ये आजकल क्रमश गरमी तथा बरसात में होते हैं। लखनऊ की ककड़ी मशहूर है। सूरदास जी ने इनको तरकारियों की सूची में रखा है। ककड़ी को तरकारी तो अब भी बनती है तथा खीरे का रायता। अत ये फल तथा तरकारी दोनों में ही रखे जा सकते हैं। आगे तरकारी की सूची में भी इनका उल्लेख किया गया है।

सिंघारे (परि १५३) 'खटमिठे सिंघारे' का बखान किया गया है। इसका फल तिकोना और कटिदार होता है जो तालाब की बेल में बरसात समाप्त होने पर फलता है। आजकल इसे कच्चा तथा तरकारी की तरह छौंककर नमकीन भी खाते हैं। व्रतों में सिंघारे के आटे का हलुआ तथा पूरी खाने की प्रथा भी है। आईने अकबरी में भी कच्चा व भूनकर खाये जाने की चर्चा है।[४]

नवम स्कन्ध के 'हनुमान-अशोक-वाटिका' प्रसंग में फलों की विशेषता इस प्रकार बताई गई है— अगनित तरुफल सुगंध मृदुल मिष्ट खाट।[५]

१२६—वर्तमान समय में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख फलों की कमी की ओर ध्यान

१—हर्ष सा म , पृ० ५५ 'द्राक्षा' तथा 'दाड़िम' शब्दों का उल्लेख है।
प० सं व्या , १४१४ दारिव दाख बैठि मन राखा।
श्रीहर्ष, नैषध, १।८१ 'फलानि पुमस्य मवालबोसुखाद् स दाड़िमेदोहदपूर्तिमि द्रुमे'

२—आईने अ , पृ० ११४, बिही १ १ तक १ ८ की तथा अमरूद १०-१ तक १ ० से १ रुपयों तक में मिलते थ। इस सूची में अमरूद तथा बिही दोनों अलग अलग नाम हैं, किन्तु आजकल ये शब्द प्राय एक ही अर्थ में बोले जाते हैं और अमरूद शब्द अधिक प्रचलित है।

३—प सं व्या०, २४६।१ बालवाँ खीरा' अथवा 'बालम खीरा' जो खीरे की एक कोमल जाति है।

४—आईने अ , पृ १२२

५—मानस, अरण्य०, १४ 'कंद मूल फल सुरस अति दीन्हे राम कहुँ आनि।

जाता है, जैसे संतरा नासपाती सीधी बादाम अनन्नास अमरूद शरीफा बेर, खजूर तथा जंबीर। पद्मावत में सूरसागर के नामों के अतिरिक्त ऊपर दिए हुए प्रायः सभी नाम मिल जाते हैं जैसे जंभीरा 'सदाफर (शरीफा) सुरंग' (चकोतरा) 'नारंग 'तूत' (शहतूत) 'बैरि' (बेर) व निउँजी' (नौजा) छोहारा आदि। इन फलों के वृक्षों का वर्णन सिंहल द्वीप की वाटिकाओं के वर्णन में है।[१] पद्मावती तथा सखियों का वाटिका में क्रीड़ा करने के प्रसंग में भी अनेक फलों के वृक्षों की सूची है। इनमें ऊपर बताए गये फलों के अतिरिक्त 'जांबु' तथा 'महुव' नाम भी मिलते हैं।[२] 'नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड (४३१ ४३६) में अनेक फूल व फलों की चर्चा है तथा बादशाह-भोज[३] खंड में भी मांस भर कर बनाये गए कुछ फलों का वर्णन है। इस प्रकार सूरसागर में छूटे हुए प्रायः सभी प्रधान फल पद्मावत में मिल जाने से यह स्पष्ट है कि उस समय आज के प्रायः सभी फल होते थे।

आईने अकबरी की फलों की सूची भी इसी बात का अनुमोदन करती है। विदेशी तथा हिंदुस्तानी फलों की अलग-अलग सूची है तथा मूल्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। इनमें देशी फलों में अनन्नास कमला (मीठी नारंगी) बेर अमृतफल (नासपाती) जंबीर तूत सदाफल खिरनी महुआ तथा खजूर और विदेशी फलों में आलूबुखारा जंबीर छुहारा तरबूज (आड़ू) आलूचा आदि फल सूरसागर में वर्णित फलों के अतिरिक्त मिलते हैं।[४]

हर्षचरित में उल्लिखित फलों से भारत के प्राचीन फलों का अनुमान होता है। इनमें द्राक्षा दाड़िम खजूर आड़ू[५] नारिकेल केला[६] बादाम तथा सदाफल (शरीफा) आदि नाम प्रमुख हैं। मुगल राज्यकाल में तरबूजा खरबूजा सेब अमरूद तथा नासपाती आदि जैसे वर्तमान काल के प्रमुख फलों का यहाँ प्रचार हुआ। बाबर कुछ श्रेष्ठ खरबूजे के बीज काबुल से लाया था जो उसने अपने आगरे के बाग में लगाये थे। जोधपुर के अनार उस समय प्रसिद्ध थे।

१—प स व्या, ३४
२—प स व्या, १४७
३—प स व्या ५४५
४—आईने अ, पृ १३४, १३२ १३७
  हिन्दुस्तानी मीठे फल—(१३५) आम—१ —४ दाम—वर्षा
  ऊख—२—१ दाम—जाड़ा
  केला—२—१ दाम—वर्षा
  अनार—प्रतिमन—८ १ दाम—वर्षा
  सदाफल—१—१ दाम—सदा
  खरबूजा—प्रतिमन—४ दाम—ग्रीष्म
  तरबूजा—१ २—१० दाम—वर्षा का अंत
  नारियल—१४ दाम—शरद
५—हर्ष सां अ, पृ ३५
६—हर्ष सां अ, पृ ७१
७—हर्ष सां अ, पृ० १८६
८—अकबरनामा, भाग १, पृ १ ०

खट्टे फल

११७—कुछ खट्टे फलों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। प्राय तरकारियाँ बनाने की विधि में ही इनका उपयोग बताया गया है। मछली या कुम्हड़ा में इमली (१८११) [सं अम्लफल] की खटाई डाली गई थी—मछरिहि इमली दई खटाई'। केले की तरकारी में करवँदा करौंदनि (१८११) 'दै करवँदा हरदि रँग मीनें' (८५६) से खट्टापन लाया गया था। 'राइ करौंदा' (परि १५३) का वर्णन भी है। बिमारी के भोजन में भी आम नीबू, करौंदे आदि के अचार की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है— निबुआ सूरन आम अचानो करौंदनि की रुचि न्यारी' (८५१)। इनमें सबसे अधिक महत्व निबुआ (१८११) का है— अदरख अब निबुअनि ठौर रुचि (१८११)। निबुआ निबुआनि' (८५६ परि १५१) (१ १४) [सं आमलक] भी डालने की प्रथा थी— अदरख और आँवले मेलें' (१ १४)।[१]

अकबर के समय में इन सभी फलों का खूब प्रचार था। इनके अलावा कमरख का नाम आईनेअकबरी में और मिलता है। नीबू कागजी तथा एक प्रकार का वर्ष भर फलने वाला भी बताया गया है।[२] पद्मावत में भी इन सभी के साथ कमरख का नाम भी मिलता है। 'जंभीरा 'गलगल' तथा 'तुरंज' 'बिजौर' आदि नीबू की किस्मों का उल्लेख भी है तथा करौंदे की उपर्युक्त किस्म 'राय-करौंदा' की चर्चा भी है।[४] इमली के लिए जायसी ने 'इँबिली' या 'चीँबिली' शब्द प्रयुक्त किए हैं।[५]

आजकल भी ये सभी खट्टे फल पाए जाते हैं। इनमें नीबू के अनेक उपयोग प्रचलित हैं। तरकारी शरबत आदि में काम में आने के साथ ही इसका अचार भी लोगों को अत्यधिक प्रिय है। यह कागजी कठा तथा बिजौरी तीन प्रकार का होता है, जैसा कि आईने-अकबरी में बताया गया है कि आज भी नीबू की एक किस्म ऐसी होती है जिसके पेड़ पर साल भर फल लगते रहते

१—हर्ष सां म, पृ १८६, विन्ध्याचल के वृक्षों में जंभीरी नीबू 'जंबीर' के पेड़ का उल्लेख भी है।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ११७ मैरेय में बिजौरा डालते थे जिसमें मादकता स्वभावतः होता ही है।

३—आईने अ पृ ११९—हिन्दुस्तानी खट्टे फल—नीबू—ग्रीष्म ४—१ दाम आँवला—ग्रीष्म—प्रतिसेर—२ दाम। खट्टे मीठे फल—इमली—ग्रीष्म—प्रति सेर—२ दाम कमरख—शरद—४—१ दाम। करौंदा—वर्षा—प्रतिसेर १ दाम

४—प स व्या, १४। २ १,१ 'नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा। औ बादाम बट अंजीरा।

'गलगल तुरँज सदाफर फरे, नारँग अति राते रस भरे।'

'फरे तूत कमरख औ निरँजी, राय करौंदा बेरि चिरौंजी।'

१८७। 'चौरि बिजौरि'

५—प स० व्या, २८ 'अस्त चाल अनि इँबली।

१८७ 'कोइ चीँबिलि कोइ महुअ खजूरी।'

'कोइ अँवरा कोइ बर करौंदा'

है। आँवले[1] तथा करौंदे का अचार व मुरब्बा ही अधिक बनता है। करौंदा लाल तथा हरे दो रंगों का होता है तथा इसका स्वाद खट्टा-सा होता है। पकी इमली का उपयोग प्रायः खटाई के रूप में ही किया जाता है। इमली का वृक्ष खूब घना और बड़ा होता है।

मेवा

१२८—सूरकालीन प्रचलित मेवाओं का ज्ञान भी उपर्युक्त पदों (८२६, ८३) से हो जाता है। फलों की सूचक शब्दावली के साथ ही मेवाओं के नाम भी दिये गये हैं। मेवा (८३) [फ़ा. मेव] शब्द ही सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है—'मेवा मेवा बहु भाँति भाँति है षट्रस के मिष्ठान।'[2] विदेशी उद्गम होने के कारण स्पष्ट ही है कि सूखे फल खाने भी प्रथा विदेशी सम्पर्क का प्रभाव थी। सूरसागर में प्रायः सभी प्रधान मेवाओं के नाम मिलते हैं—

किसमिस (८३) [फ़ा. किशमिश]

बदाम, पिंडबदाम (८३, १.१४) [फ़ा. बादाम]

पिस्ता (८३) [फ़ा. पिस्त:]

चिरौंजी (८२६)

चिरारी (१.१४)

गरी (१.१४, ८३०)

खारिक (८२६, ८३)

छुहारे[3] (८३)

पकवानों में भी मेवा और कपूर डालते थे— बोम्ह पूँये गाल मसूरी मेवा मिली कपूरनि पूरी।[4] कुछ प्रमुख मेवाओं की कमी की ओर अवश्य ध्यान जाता है जैसे—अखरोट [सं. अक्षोट] पिसगोवा [फ़ा. पिसगोज] मखाना (भुना हुआ कमलगट्टा) तथा काजू [फ़ा. कजी = कच्चा टेढ़ापन]। आईनेअकबरी की हिन्दुस्तानी सूखे फलों की सूची में नारियल, पिंडखजूर, अखरोट, चिरौंजी तथा मखाना आदि नामों के उल्लेख से भारत में पैदा होने वाली इन मेवाओं का पता चलता है। ईरान आदि देशों के फलों की सूची में छुहारा, किशमिश, आबजोश (मुनक्का), अंजीर, बादाम, पिस्ता और पिसगोवा आदि प्रधान मेवाएँ दी गई हैं।[5] वास्तव में फलों के साथ बाहर से ये भी मँगवाई जाती थी।

१२६—पद्मावत में फलों के वृक्षों में खजूरि, 'बादाम, अंजीरा, 'किसमिस', चिर चौंजी' 'छोहारा', चिरौंजी[6] का उल्लेख है।[7] बादशाह के लिये बनाए गए विविध प्रकार के

१—कृ. ली., प्र. १२, प्र. १६ कातुन सुदी एकादशी के दिन स्त्रियाँ आँवले के वृक्ष को देवता रूप में पूजती हैं तथा बेर, सिंघाड़ी व बथ चढ़ाती हैं। कार्तिक शुक्ला नवमी के दिन भी इसकी बहुत रूप में पूजा होती है।

२—मानस, बाल. ३११ 'विविध भाँति मेवा पकवाना'

३—आईने अ., पृ. १२२, छुहारे के लिए पिंडखजूर प्रयुक्त हुआ है।

४—आईने अ., पृ. ११६, ११७ विदेश से आने वाली प्रमुख मेवाओं के मूल्य इस प्रकार थे—बादाम—प्रतिसेर—११ दाम। पिस्ता—प्रतिसेर—९ दाम। पिसगोवा—प्रति सेर—८ दाम। छुहारा—प्रतिसेर—१ दाम। किसमिस—प्रति सेर—६ दाम।

५—प० सं. क्या, २८। 'सौ बन तार खजूरि'

६— „ „ , १४१, १४७।

व्यंजनों में भी कई तरह की मेवा डालने का वर्णन मिलता है,[१] किन्तु सूरसागर के समान ही अखरोट चिलगोजा आदि कुछ वर्तमान मेवाओं का अभाव पद्मावत में भी है। वर्तमान समय की सबसे अधिक प्रिय मेवा काजू का उल्लेख तो आईने अकबरी में भी नहीं है। इससे यही अनुमान होता है कि काजू का प्रचार बाद में हुआ है।

आजकल भाड़ में मेवा खाई जाती है किन्तु मंहगी होने के कारण धनी वर्ग के खाद्य पदार्थों में ही इनको स्थान मिल पाता है। पहले के समान आज भी बहुत-सी मेवाएँ काबुल आदि स्थानों से आती हैं। भारत में अखरोट के पेड़ पहाड़ी जगहों जैसे कुमायूं गढ़वाल हिमाचल प्रदेश में अधिकता से होते हैं तथा काजू दक्षिण भारत में होता है। काश्मीर भी फल तथा मेवाओं के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

तरकारी

११०—सूरसागर में तरकारी के पर्यायवाची कई शब्द मिलते हैं। इन शब्दों के अर्थों में थोड़ा-सा भेद अवश्य किया जाता है। तरकारी (१४१) [फा० तर+कारी] उन पौधे को कह सकते हैं जिसके जड़ डंठल पत्तियाँ फूल अथवा फल पका कर खाये जाते हैं। गोवर्धन-लीला प्रसंग में यशोदा नैवेद्य के लिये विविध प्रकार के व्यंजनों के साथ तरकारियाँ भी बनाती हैं— मधुरि करति अमर तरकारी। कोरति सब विधि न्यारी-न्यारी' (१४१) प्रायः पकी हुई तरकारी को सालन (१ १४ १८३१) [सं सलवण—पकी मसालेदार तरकारी] अथवा भाजी (१ १४ १८३१) [हि० भाजना भूनना] कहते हैं। कृष्ण-ज्यौनार के सिलसिले में इन दो शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है— सालन सकल कपूर सुवासत। स्वाद लेत सुन्दर हरि हासत' (१ १४) या 'चार कटोरा भरित रतन के। भरि सब सालन विविध जतन के' (१८३१) अथवा बेसन सालन अधिकौ भावत (१८३१)। इसी प्रकार 'भाजी शब्द का भी कई बार उल्लेख हुआ है—'सोठे तेल चना की भाजी' (१ १४) अथवा 'भाजी भली भाँति दस कीन्ही (१८३१) द्वारा दस तरकारियों के बनाने का वर्णन है। आजकल दावतों आदि में कभी कभी दसों तरकारियाँ बनती हैं यों प्रायः दो तीन तरकारियाँ बनाने का रिवाज है। तेल आदि में भुनी तरकारी के लिए भाजी से ही मिलता-जुलता शब्द 'भुजिया' बोला जाता है।

पत्ते वाली तरकारी प्रायः साग (१८३१) [सं शाक] कहलाती है। सूरसागर में भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है— साग चना मस्सा चौराई (१८३१)। प्रथम स्कन्ध के विदुर प्रसंग में साग-पत्र अथवा साग (११ २४४) [सं० शाक+पत्र] तरकारी के साधारण अर्थ में भी लिए जा सकते हैं—'कौरव-काज चले रिषि सापन साक-पत्र सु अघाए' (११) 'षटरस व्यंजन छाड़ि रसोई साग विदुर घर खाए' (२४४)। यहाँ पर 'साग' अथवा 'साक-पत्र' साधारण अथवा निरामिष भोजन की ओर भी संकेत करता है। आजकल का 'साग-पात' भी इसी भाव को व्यक्त करता है। साग के ये दो अर्थ प्राचीन समय में भी थे। अष्टाध्यायी में 'भक्ष्य' पदार्थों की सूची में 'सूप' (पकी हुई दालों जैसे मुद्ग तथा माष का रस) 'मांस' (मांस) तथा शाक (तरकारी) बताये गये हैं।[२] अन्य स्थल पर मुख्य भोजन के साथ खाये जाने

१—प स० व्या०, ५५ ।१ 'लहुरी नारिक सीमि औ गरी। परी चिरौंजी औ सुरहुरी।'
५४६।४ 'नारियर दाख खजूर छोहारे'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०

वाले मग्न पदार्थों में शाक (पत्तेदार तरकारी) 'भाजी' (पकी हुई तरकारी) तथा 'सूप' का उल्लेख हुआ है।[१]

जायसी ने 'तरकारी' तथा साग का प्रयोग किया है[२] तथा तुलसी की शब्दावली में भी सागु शब्द मिलता है।[३] यहाँ भी साग संभवतः पत्तेदार तरकारी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वर्तमान समय में प्रायः तरकारी तथा साग शब्द अधिक प्रचलित है। तरकारी कच्ची तथा पकी दोनों प्रकार की तरकारियों को कहा जाता है तथा साग प्रायः पत्तेदार को। एक अन्य शब्द 'सब्जी' [फ़ा = हरी तरकारी] भी सुनने में आता है।

तरकारियों के नाम

१११—भोजन तथा ज्योनार से संबंधित पदों (१ १४ १८११) में ही विशेष रूप से तरकारियों के बहुत से नाम एक साथ दिये गए हैं। कहीं-कहीं इनके पकाने की विधि तथा अन्य विशेषतायें बताने का भी प्रयत्न किया गया है। यह नाम इस प्रकार है—

(१) घनकोरा (१ १४)। यह नाम स्पष्ट नहीं है। आईने अकबरी की तरकारियों की सूची में वर्णित यह 'ककोरा' या 'बलकरेला' नामक तरकारी हो सकती है।[४] ककोरा शब्द भी मिलता है। यह संभवतः कटीला परवल या खेकसा नामक तरकारी है। झाँसी क्षेत्र (१८११)। मे ककोरा' आज भी इसी अर्थ मे बोला जाता है।

(२) पिंडोफ (१ १४)। इस तरकारी का आजकल नाम सुनने में नहीं आता है।

(३) चिचिंडी चिचींडा (१ १४ १८११)। इसकी बेल होती है तथा फल धारीदार, लम्बा एवं पतला होता है। गांव में कभी-कभी लोग इसकी कलियों को दीपक दिखाते हैं जिससे वह जल्दी से बढ़ जाये।[५] आईने अकबरी में 'चचेंडा' नाम दिया है तथा वह एक सेर दो दाम का बिकता था। आजकल भी इसे चचेंडा' अथवा चचेंडा कहते हैं। यह वर्षा ऋतु मे होता है।

(४) सीप (१ १४)। आजकल की प्रचलित तरकारियों में इसका स्थान नहीं है।

(५) पिंडारू (१ १४)। आईने-अकबरी में पिंडारू नाम मिलता है। उसमें लिखा है कि इसकी बेल ऊपर चढ़ा दी जाती है, पत्ते पान के आकार के होते हैं तथा जड़ खोद कर पकाई जाती है।

(६) कोमल भिंडी (१११४)। यह आजकल की प्रिय तरकारियों मे है। यह प्रायः ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में होती है। भिंडी मुलायम ही अच्छी होती है जैसा कि सूरसागर में भी स्पष्ट कर दिया गया है। भिंडी सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही जंगली अवस्था में उगती हुई पाई गई थी। भिंडी को 'रामतरोई' भी कहा जाता है—'खीरा रामतरोई ठामें। प्रतिविंब रुचि अंकुर छिन जामें। कुछ स्थानों में रामतरोई शब्द तोरी के अर्थ में बोला जाता है।

(७) सूरन (८५६,१८१४) [सं सूरण] उल्लेख किया गया था—'सूरन करि तरि। इसका दूसरा नाम 'जमीकंद' है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह जमीन के अंदर होता है

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ११

२—प स व्या , २४८।१ 'भाँति भाँति सीम्झी तरकारी'
५४८।७ 'भाँति साग पुनि सोंधि उतारा।'

३—मानस, बाल ७४। 'संवत सहस मूलफल खाये। सागु खाइ सत बरस गँवाए।'

४—आईने अ , पृ ११७, कम खानी सभी तरकारियाँ पकाकर खाने जाने वाले फलों के नाम से दी गई हैं।

५—कु॰ वी , प्र १२, अध्याय ११

तथा इसका आकार बड़े से मिलता-जुलता है। यह चरपरा सा होता है इसलिए इसकी खांड डालकर पकाते हैं। कहीं-कहीं दिवाली के दिन जमींकंद खाने की प्रथा है। हर्षचरित में उल्लिखित तरकारियों में सूरणकंद की चर्चा है।[१] आईनेअकबरी में अचारों की सूची में 'जिमींकंद' दिया गया है।

(८) तोरई (सरस) (१८३१) की बेल होती है। यह भी प्रायः गर्मी व बरसात में अधिक होती है। इसकी तरकारी हल्की मानी जाती है और लौकी के समान ही बीमारी के बाद पथ्य में दी जाती है। आईनेअकबरी में एक सेर तुरई का मूल्य डेढ़ दाम बताया गया है[२] तथा इसके अचार डालने का भी उल्लेख है। जायसी ने तुरई तथा चचेंडा को जीरा देकर छौंकने का उल्लेख किया है।[३] आज भी तुरई, चचेंड़ा तथा लौकी को जीरा डालकर छौंकने की प्रथा चल रही है।

(९) सेम (१८३१) [सं० शिबा शिम्बिका] की लता होती है तथा सफ़ेद व हरी दो प्रकार की फलियाँ होती हैं। जाड़े की तरकारियों में सेम का विशिष्ट स्थान है। आईनेअकबरी में 'सेंब' प्रतिसेर डेढ़ दाम की बताई गई है तथा इसके वर्षा में होने का उल्लेख भी है। पद्मावत में भी सेंब शब्द ही मिलता है।[४]

(१०) सींगरी (१८३१) मूली की फली को कहते हैं। सेम तथा सींगरी पकाने का वर्णन इस प्रकार है—'सेम सींगरी छौंकि झोरई'। 'झोरई' संभवतः 'झोल' (तरकारी के गाढ़े रसा या शोरबा) के अर्थ में आया है। आजकल सेम तथा सींगरी प्रायः सूखी ही बनाई जाती है।

(११) भंटा (१८३१) [सं० बंग] का भरता [देश] खटाई डालकर बनाया गया था—'भरता भँटा खटाई बोरी'। आग में भून कर बैंगन का भरता आज भी बनाया जाता है तथा खटाई भी डालने का रिवाज चल रहा है, इस प्रकार आलू का भी भरता या चोखा बनाते हैं। 'भंटा' के लिए अधिक प्रचलित शब्द बैंगन है। जिससे इसी रंग का नाम 'बैंगनी' या 'बैंजनी' पड़ा है। ग्रामीण बोली में 'भाँटा' भी कहा जाता है। यह प्रायः साल भर ही होता है। आईनेअकबरी में भी 'बैंगन' प्रतिसेर डेढ़ दाम दिया गया है।[५] यह प्राचीन काल की तरकारियों में से है क्योंकि हर्षचरित में 'वंगक' की चर्चा है।[६] इसकी उत्पत्ति भारत में ही हुई थी। पद्मावत में भी बैंगन बनाने का ढंग सूरसागर से मिलता हुआ है।[७]

(१२) परवर (१८३१) भी लता पर ही होता है तथा गरमी व बरसात में फलता है। आईनेअकबरी की सूची में सबसे अधिक मँहगी तरकारी 'परवल' ही है—एक सेर बारह दाम का। आजकल भी मँहगी तरकारियों में ही इसकी गिनती है। बीमारी के बाद परवल भी दिया जाता है।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३
२—आईने अकबरी, पृ० ११६, १२६
३—प० सं० व्या०, ५४८।४ 'तोरई चिचिंडा डिंडसी तरे। जीर धुंगारि झार सब बरे॥'
४—प० सं० व्या०, ५४८।७ 'रींधे ठाढ़ सेंब के फारा।'
५—आईने अकबरी, पृ० ११६
६—हर्ष सां० अ०, पृ० १८३
७—प० सं० व्या०, ५४८।३ 'भूजि समारि धरे रींधे भाँटा।'

(१३) फाँगफरी (१८११) मोनिका फांगी (१ १४) 'रुचिर लवासु खोनिका फांगी (१०१४)। आज की प्रचलित प्रचलित तरकारियों में इसका स्थान नहीं है।

(१४) टेंटी[1] (१८११) करील के झाड़ पर लगने वाले गोल छोटे फल को 'टेंटी कहते हैं। ब्रज प्रदेश में पकी टेंटी 'पेंचूं' का अचार आज भी पड़ता है। अन्यत्र इसके खाने का रिवाज नहीं है। यह वहाँ की स्थानीय तरकारी ज्ञात होती है। करीलफल (१६८) 'जिहि मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यों करील फल भावै (१६८) शब्द भी टेंटी का सूचक है।

(१५) ढेंड़स (१८११) का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'पोइ परवर फाँग फरी चुनि॥ टेंटी ढेंड़स छोलि निम्यौ पुनि। वर्तमान समय में प्रचलित 'टिंडे' को ब्रज भाषा भी ढेंड़स कहते हैं।

(१६) कुन्दरु (१८११) [सं कुन्दुरु] परवल के आकार की एक तरकारी है। पकने पर इसका फल लाल हो जाता है। इसकी बेल के पत्ते तुरई के पत्तों से मिलते हैं। बरसात में इस पर फल आते हैं। इसको संस्कृत में 'बिम्ब' या 'बिम्बक' भी कहते हैं। साहित्य में लाल बिम्ब-फल होठों का प्रसिद्ध उपमान है। हेमचंद्र ने बिम्बफल के लिए 'कुंदीर' शब्द भी प्रयुक्त किया है।[2] आईनेअकबरी में 'कंदूरी' शब्द दिया गया है तथा मूल्य प्रति सेर डेढ़ दाम बताया गया है।[3] पद्मावत में भी छाँकि परवल व कुंदरु भूनने का वर्णन मिलता है।[4] आजकल कुंदरु की तरकारी कम ही घरों में बनाई जाती है।

(१७) ककरी (१८२१)। 'ककरी चाव चिचींडा और' या ककरी ककरी अब कचना रूमी'। इसकी बेल ककड़ी की तरह की होती है अब ककरी की तरकारी भी लुप्त-सी हो गई है।

(१८) करेला (१८११) की भी बेल होती है। इसका फल कडुवाहट लिये हुए होता है, अतः कटाई आदि काम कर इसे भूनते हैं और बड़ी उम्र के लोग ही प्रायः रुचिपूर्वक खाते हैं यह ग्रीष्म तथा वर्षा में अधिक होता है। आईनेअकबरी में करेले का भाव प्रतिसेर डेढ़ दाम दिया गया है।[5] सूरसागर के वर्णन 'भले बनाइ करेला कीने। लौन लगाइ तुरत तरि लीने' से पद्मावत का वर्णन 'करई काढि करेला काढे। मासी भेलि तरे किए बाढे' अधिक स्पष्ट व विस्तार से दिया गया है। उसमें मांस भरे हुए भांटे का उल्लेख भी है।[6]

(१९) करी अगस्त (१८११)। 'करी अगस्त करी अमृत सम' से इस फली के मीठे होने का अनुमान होता है। यह तरकारी भी अब प्रचलित तरकारियों में नहीं आती है।

(२०) अरुई (१८११) कटाई आदि कर बनाई गई थी—'अरुइहि इमली दई बटाई। बैंगन पटरस चाव सनाई। यह भी जमीन के अन्दर होती है। इसकी जड़ व पत्ते दोनों की तरकारी बनती है। पत्ते से 'पतौरा' नामक व्यंजन बनता है। पद्मावत में 'अरिहन' अथवा बेसन

१—क० वी, प्र १२, प्रथ्या ११ ब्रज प्रदेश में टेंटी संबंधी अनेक लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, जैसे 'काबुल में मेवा भई, ब्रज में टेंटी खाई।'

२—क वी, प्र १२, प्र ११ (दे ना मा २।१४६-हेमचंद्र)

३—आईने अ, पृ ११६

४—प सं व्या, २४८।२ 'परवर कुंदरु भू के ठाढे। अहुतें भिर्में कुरकुर के काढे।'

५—आईने अ, पृ ११७

६—प स व्या, २४८।६, २४६।२ 'औद भो मांसु अनूप सो भांटा।' भै पर पून आँव भी भांटा।'

डाल कर 'मुरमा बनाने का वर्णन है।[1] मुरमा आज भी इस प्रकार बनाई जाती है। आज 'मर्दई' शब्द से 'मुरमा' शब्द अधिक प्रचलित है।

(२१) पेठा (१८११) कई प्रकार का बनाया गया था—'पेठा बहुत प्रकारनि कीन्हे। तिन सों सबै स्वाद हरि लीन्हें। यह भी बेल पर फलता है तथा कुम्हड़े के आकार का सफेद रंग का होता है। यह जाड़े में होता है। अन्य कई तरकारियों से पेठे का भाव अकबर के समय में अधिक था।[2] आजकल पेठे की मिठाई बनाई जाती है और दर्द को घरों में भी इसके टुकड़े डाले जाते हैं। पेठे के पगे हुए टुकड़ों को ही संभवतः सूरसागर में 'पेठापाक' बताया गया है (१ १४)। पद १८११ में अनेक प्रकार का पेठा बनाने से भी यही तात्पर्य हो सकता है।

(२२) खीरा (१८११)। यह फल बरसात के दिनों में लता पर होता है। सूरसागर में इसकी गिनती तरकारियों में है। अतएव इस सूची में भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। आजकल यह प्राय फल की तरह कच्चा ही खाया जाता है तथा इसका रायता भी बनाते हैं। हर्षचरित में खीरे को 'त्रपुष' कहा गया है।[3] आईने अकबरी में खीरे व ककड़ी का प्रकार बताया गया है।[4] जायसी ने 'आसवा खीरा' मांस भर कर तैयार किया हुआ बताया है।[5]

(२३) रतालू (१८११) सुंदर अति रतालु राती। तरि करि लीन्हीं अवहीं ताती। इस विवरण से रतालू के रंग तथा तल कर बनाने पर प्रकाश पड़ता है। यह भी पता चलता है। कि रतालू गर्म व गुरेल का बना अधिक स्वादिष्ट होता है इसका पौधा आलू व शकरकन्द के समान होता है। यह जमीन के अन्दर से निकलता है।

(२४) ककरी (१८११) भी भी खीरे की तरह की बेल होती है। यह गरमी में खरबूजे के साथ ही बिकती है। प्राय गंगा या अन्य नदियों के रेतीले तट पर खरबूजा तरबूज व ककड़ी लगाई जाती है। आजकल पतली ककड़ी फल की तरह खाई जाती है। मोटी व बड़ी ककड़ी की तरकारी भी बनाते हैं। सूरसागर में तरकारियों के साथ ही ककड़ी का उल्लेख है। हर्षचरित में बटरी कुटुम्बियों के घरों में राजमाष त्रपुष ककड़ी लौकी तथा कुम्हड़े की बेलें चढ़ी होने का वर्णन है।[6] गांवों के घरों में तरकारियों की लताएँ इस प्रकार चढ़ी हुई आज भी दिखाई पड़ती है। सब ककरी करई' (१९१४) से कभी कभी कड़वी ककड़ी निकलने की ओर संकेत है।

(२५) केरा (१८११)। 'विविध भांति केरा करि लीने। दै करवेरा हरदि रंग भीने' वर्णन किया गया है। फलों के सिलसिले में केले का जिक्र किया जा चुका है। इसकी तरकारी आज भी कुछ इसी प्रकार से बनाते हैं।

११२—स्फुट प्रसंगों में कुछ अन्य तरकारियों के नामों का उल्लेख हुआ है—

(२६) मूली। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियां व्यंग्य करती हैं—'मूली कै पातनि के बदले को मुक्ताहल दैहैं। मूली जमीन के अन्दर से निकाली जाती है। यह कच्ची व पकी हुई दोनों तरह से खाई जाती है। मूली के पत्तों का साग भी बनाते हैं। आईने अकबरी की अचारों तथा

१—प० स ग्या १४८।३ 'मर्दई कहूं भल दारिद्र लीटा'
२—आईने अ , पृ ११७ पेठा प्रति सेर ८ दाम था।
३—हर्ष सां अ०, पृ १८३
४—आईने अ , पृ १२१
५—प स ० ग्या०, ३४६
६—हर्ष सां० अ०, पृ० १८४

शाक भाजी की सूचियों में मूली का नाम भी है।[१]

(२७) कुम्हड़े, कदुवा, कुष्मांड (१६ ४१६१ ४५२०) [सं कुष्मांड] गोवर्धन पूजा के निमित्त बनाई गई मिठाइयों में कुम्हड़े की मिठाई भी थी —'कदुवा करत मिठाई घृत पक' (१५१)। इसके अतिरिक्त भ्रमर-गीत के प्रसंग में कुछ कहावतों में उल्लेख हुआ है—'आए जोग सिखावन पांडे—सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धाम कुम्हाड़े' तथा उसी सन्दर्भ मे यह बात—'जोग मनि कुष्मांड जैसो प्रजामुख न समात । कुम्हड़े का फल भी पेठे या तरबूज की तरह बेल पर आता है जो कि पकने पर पीले रंग का हो जाता है। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में यह अधिक होता है। पका हुआ कुम्हड़ा काफी दिनों तक खराब नहीं होता है। आईने अकबरी में कद्दू प्रति सेर दो दाम का बताया गया है। जायसी ने भी कुम्हड़ा कई प्रकार से बना बताया है। आजकल इसके 'कद्दू', 'सीताफल' 'काशीफल' अथवा 'सीताफल' आदि अनेक नाम प्रचलित हैं। कुम्हड़े की गिनती सस्ती तरकारियों में होती है।

१३३—उपर्युक्त प्रचलित तरकारियों के अतिरिक्त कुछ फूलों या कलियों का 'सालन' भी बनाया गया था—

(२८) फूल सहिजना (१८११) [सं शोभांजन] 'फूले फूल सहिजना सौंकि । मन रुचि होइ साग के भौके । इयवरिन में ब्रज-ग्राम की बाड़ियों में भरी गुल्मों में सिंहजू (शोभांजन) का उल्लेख भी है।[२] सूरदास तुलसी बैंगन तथा एरंड आदि के समान 'सिहू' भी प्राचीन समय में प्रचलित था। आईने अकबरी में भी 'संहजन' का नाम अचारों की सूची में है।[३] आज सहजन की फलियों बनाने की अधिक प्रथा है, किन्तु यह तरकारी लोगों की अत्य प्रिय तरकारियों में नहीं आ पायेगी। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता है तथा फूल सफेद रंग का होता है।

(२९) फूल करील (१८३११) [सं करीर प्रा फुल्ल] । ब्रजप्रदेश में करील की भाड़ियाँ खूब दिखाई देती हैं। आस पास तहसील मांट तथा हाथरस (अलीगढ़ जिला) तक भी करील होता है। इसकी कांटेदार भाड़ी होती है तथा पत्ते भी नहीं होते। चैत में छोटे-छोटे गुलाबी रंग के फूल लगते हैं। इन्हीं फूलों की तरकारी बनाने का निर्देश है। यह तरकारी भी फल 'टेंटी' के समान ही ब्रजप्रदेश में प्रचलित है। कारण स्पष्ट ही है कि करील उसी क्षेत्र में होता है। सूरदासजी के समय में इन तरकारियों को खाने की प्रथा अधिक ज्ञात होती है, क्योंकि आइने अकबरी में भी करील के फलों व फूलों के अचार का उल्लेख है[४]।

(३) फली पाकर (१८११) [सं पर्कटी] । इसका वृक्ष खूब बड़ा होता है। आईने अकबरी के खट्टे मीठे फलों की सूची में 'पाकर' का नाम भी मिलता है।[५] अब पाकड़ की फली की तरकारी बनाने की प्रथा कम हो गई है।

(३१) कचनारची (१८११) [सं कांचनार] का वृक्ष फागुन चैत में बैंगनी-से रंग के फूलों से अत्यन्त चित्ताकर्षक ढंग से भर उठता है। इसकी कलियों की तरकारी बनाने

१—आईने अ , पृ १२६
२—प० स ब्या , ३४८।१ 'बहुत भांति कुम्हड़ा ले भारी'
३—हर्ष ता अ , पृ १५३
४—आईने अ , पृ १२६
५—आईने अ पृ १२६
६—आईने अ , पृ० ११०

की प्रथा आज तक चल रही है। आईने अकबरी में भी अचारों की सूची तथा शाक-भाजी में कचनार का उल्लेख है।

साग

११४—प्रायः सभी प्रमुख सागों (पत्तेदार तरकारी) के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं। साथ ही सूरकालीन प्रचलित साग बनाने के ढंग का अनुमान भी किया जा सकता है।

चौराई (१०१४ १८११)। यह साग बरसात में होता है जो चिकना व कटीला तथा लाल या हरे दो रंगों का होता है। इसका फूल कठोर होता है। इसको 'चौलाई' या 'चौरैया' भी कहते हैं।

लालहा (१०१४)। वर्तमान काल के अधिक प्रचलित सागों में इसका स्थान नहीं है। संभवतः इसको ही आजकल 'लाही' कहते हैं।

पोई (१ १४)। इन सागों को पकाने का ढंग इस प्रकार था—'चौराई लालहा अरु पोई। मध्य मेलि निबुआनि निचोई।' यह साग भी आज कम दिखाई देता है। कहीं-कहीं इसकी पकौड़ी भी बनाते हैं।

सरसों (१०१४ १८११)। जाड़े में यह साग होता है। इसका फूल पीले रंग का होता है। सरसों के बीज से 'कड़वा' तेल बनता है। सरसों के खेत फूलने पर अत्यधिक मनहर ज्ञात होते हैं।

मेथी (१०१४)। जाड़े में होने वाले प्रिय सागों में से है। इसके बीज का उपयोग मसाले की तरह भी होता है।

सोया (१०१४ १८११)। इसकी पत्तियाँ बारीक सी होती हैं और यह प्रायः मेथी के साथ भी मिला रहता है।

पालक (१०१४) [सं० पालक्य]। इसके पत्ते बड़े व चिकने से होते हैं तथा जाड़े में अधिक होता है। साग के अतिरिक्त पालक की पकौड़ी और रायता भी बनाते हैं।

बथुआ (१०१४ १८११) [सं० वास्तूक]। 'बथुआ रचि मिर्चा सु उदासक।' यह प्रायः जौ तथा गेहूँ के खेतों में उग आता है। साग के अतिरिक्त बथुए के पराँठे, रायता और रोटियाँ आजकल भी बनाये जाते हैं। पद १८३१ में दही में बथुआ मिलाने का वर्णन है—'बथुआ भली भाँति रचि राँध्यो। हींग समारि दही रचि साँध्यो।'

चना (१८११)। 'साग चना सकला चौराई। सोया अरु सरसों सरसाई।' चने का साग लोग बहुत रुचि से खाते हैं। यह साग मटर के साग की तरह कच्चा भी खाया जाता है।

ससरसा (१८११)। इस साग के पत्ते चौलाई से मिलते-जुलते किन्तु कुछ बड़े होते हैं।

ये सभी साग इस प्रकार छौंके गये थे—'सरसों, मेथी सोवा पालक। बथुआ रचि मिर्चो सु उदासक। हींग हरद मिरच छौंके तेले। अदरख और आँवरे मेले।' (१ १४) आज भी करीब करीब इसी प्रकार से साग बनाये जाते हैं। इनमें से पालक तथा मेथी के साग में अक्सर आलू भी डाला जाता है। सूरसागर की तरकारियों की सूची में आलुओं का विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है।

आईने अकबरी में 'शाक-भाजी' की सूची में सोया पालक पोदीना लौनू, पोई, चुक बथुआ तथा चौलाई साग दिये गये हैं[1]। व्यंजनों की सूची में एक साग नाम का व्यंजन भी है। यह पालक सोया तथा अन्य सागों से बनता था। इसमें घी, प्याज अदरक काली मिर्च, लौंग,

१—आईने अ०, पृ १९१

इलायची तथा मिसकाल विभिन्न मात्रा में डाल कर बनाते थे[१]। पद्मावत में साग छौंकने का उल्लेख है, किन्तु नामों के इतने विस्तार नहीं है[२]।

११५—उपर्युक्त तरकारियों के नामों में कटहल के प्रभाव की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। यह प्राचीन काल में भी प्रचलित था। हर्षचरित में वर्णित विन्ध्याटवी के वृक्षों में 'कटफल (कटहल) भी है।[३] आईने अकबरी[४] व पद्मावत[५] में भी चर्चा है। आज भी कटहल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कम होता है। ब्रजप्रदेश में कम होने के कारण ही सूरसागर में संभवतः इसका उल्लेख नहीं हुआ है। आईने अकबरी में गोभी (करमकल्ला) का नाम भी मिल जाता है जो मध्यकाल की प्रिय तरकारियों में से है। सूरसागर तथा पद्मावत दोनों में इसको स्थान नहीं मिला है। वर्तमान समय की अन्य अत्यन्त प्रमुख व प्रिय तरकारियाँ[६] फूलगोभी, पाँठगोभी आलू टमाटर गाजर शलजम तथा शकरकन्द आदि बाद में भारत में प्रचलित हुई। अतः सूरसागर में इनका उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है। आज तरकारियों में आलू का स्थान सबसे ऊँचा है। जाड़े की अन्य तरकारियों में हरी मटर की तरकारी का वर्णन भी सूरसागर में न होने से अनुमान होता है कि इस प्रकार मटर बनाने का ढंग उस समय नहीं चला था। 'लौकी' शब्द का भी अभाव है। पद्मावत में 'लौग्रा' परवती अर्थात् पहाड़ी लौकी की भाजी व रायता दोनों बनाने का उल्लेख है।[८] पश्चिमी उत्तर प्रदेश व राजस्थान आदि में अधिक होने वाली कमल की जड़ 'भसींडा' का भी जिक्र नहीं है। हर्षचरित में इसको 'शालूक[९]' तथा आईने अकबरी में। 'शालक'[१०] कहा गया है।

तरकारी पकाने के भाव को व्यक्त करने के लिए भी सूरदास ने कई शब्दों का प्रयोग किया है—छौंकि छौंकि (१ १४ १८११) सँधाने साँधौं (१ १४) तरि (१८११) रौंध्यो (१८११) कीन्हें (१८११) तथा भुँगारी (१८११) आदि। इन सभी शब्दों के

१—आईने अ , पृ ११
२—प० सं व्या , ५४८।७ 'छौंकि साग पुनि सौंधि उतारा'
३—हर्ष सां अ , पृ १८१
४—आईने अ पृ ११३ हिन्दुस्तानी मीठे फलों में उल्लेख है। जो कटहल एक दाम में बिकते थे।
५—प सं व्या , ३४६।४ 'कटहर बड़हर तेउ सँवारे'
६—श्री श्यामलाल जोर्ड—हिमालय नर्सरी, देहरादून (साप्ताहिक हिन्दुस्तान) फूलगोभी तथा बन्दगोभी पश्चिमी योरोप में ही सर्वप्रथम पाये गये थे और शलजम भी योरोप से ही आई थी। पाँठगोभी का जन्मस्थान जर्मनी है। गाजर पूर्वी योरोप तथा हिमालय के पश्चिमी भागों की देन है। आलू की उत्पत्ति के स्थान अमेरिका के पीरू व चिली नामक स्थान हैं। टमाटर व शकरकंद भी अमेरिका से आई है।
७—सन् १६१५ में भारतवर्षी द्वारा सर टॉमस रो को दिए गए भोज में आलू का सर्वप्रथम उल्लेख है—आईने अ , नोट, पृ ११२
८—प सं व्या , ५४८।२ 'भै जु औ लौग्रा परवती। रता कहूँ काटे कै रती।'
९—हर्ष सां अ , पृ १८४
१०—आईने अ , पृ० ११०

अर्थ में थोड़ा सा अन्तर है।[1] पद्मावत में भी प्रायः ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'भूंजी' 'भूंजे' 'सीझी' 'रीधे' 'तरे' 'बुंघारि' 'कढ़ी' 'कढ़ि' 'धीकि' आदि। इनमें से प्रायः सभी शब्द आज भी तरकारी बनाने के विभिन्न ढंगों को व्यक्त करते हैं जैसे तलना, भूनना, पकाना या रींधना तथा छौंकना।

'सौंधी'[2] (१८११) शब्द एक विशेष प्रकार के खाने के स्वाद व सुगन्ध का सूचक है। सौंधा शब्द अब भी बोला जाता है। 'चकाचौंधी' तथा 'छबीली (सौंध)' (१८११) विशेषण अवश्य सूरसागर के अपने हैं।

५—खाँड आदि तथा दूध और उनके अन्य रूप

१६६—सूरसागर को खाद्य पदार्थों की सूचक शब्दावली में सभी प्रमुख मीठी वस्तुओं के नाम मिल जाते हैं। कर्णछेदन शीर्षक पद में (७६८) गुर [सं गुड़] की चर्चा है—'हाथ सोहारी भेली गुर की।' गूँगौ गुर (१५१) का निर्देश अनेक विनय पदों में ईश्वर संबंधी ज्ञान अथवा परम अभिव्यक्ति के वर्णन की असमर्थता व्यक्त करने के लिए हुआ है। गन्ने के रस को पकाकर ही गुड़ बनाया जाता है। गुड़ पकाने की क्रिया का वर्णन भी प्रथम स्कन्ध के एक विनय पद में (६२) किया गया है— रे मन अजहूँ क्यों न सम्हारै रस लै-लै औटाइ करत गुर, डारि देत है खोई। फिर औटाए स्वाद जात है, गुर तै खाँड न होई। कर्णछेदन के समय बच्चे का ध्यान पीड़ा की ओर से हटाने के लिए मिठाई दे दी जाती है। गुड़ की भेली शुभ भी मानते हैं। गुड़ की बटी को भेली (७६८) कहते हैं। ढाई सेर की भेली 'अढ़ैया भेली' और पाँच सेर की 'पसेरी भेली' कहलाती है। दस सेर की बटी को 'भेला' भी कह देते हैं। मुट्ठी से बनाई गई छोटी भेली मुठिया या 'पिंडिया' कहलाती है। भेली का हीरा सबसे अधिक कड़ा या 'खरा' रक्खा जाता है।

खाँड (१ १४, १८११ ६१) [सं खाण्डव] का उपयोग शक्कर की तरह अधिक होता था— 'खीर खाँड घृत माखनि लाडू' (१ १४) और 'खाँड खीचरी सँवारी' (१८११) अथवा 'धोवा खाँड औटि है राखी' (१८११)। यह एक प्रकार की बिना साफ की हुई शक्कर होती है। ऊख-रस से ही खाँड भी बनती है।

शक्कर शब्द खाँड के समान अधिक से प्रयुक्त नहीं हुआ है किन्तु सक्करपारे (८ १) [सं० शर्करा-पा शक्कर-सक्कर, फा० शकर] में सक्कर शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऊख के पके हुए शीरे से राब बनाते हैं और उसी से शक्कर बनती है। प्राचीन साहित्य में राब को 'फाणित' कहते थे। दानेदार चीनी के लिये 'शर्करा' शब्द प्राचीन समय से ही प्रचलित है। अच्छे क़िस्म के गुड़ को अष्टाध्यायी में 'गुडे साधु' कहा गया है[3]।

१—प सं० व्या, २४८। ५४८ (४) कले [फा०] = तलना—स्टाइनगास फ़ारसी कोष पृ ८६४

२—पं सं० व्या०, २१०।१४ 'तितउन सौंधि' २४८।७ 'साग छौंकि पुनि सौंधि उतारा'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०३। हर्ष० सां अ०, पृ ६४, १८१

उस समय मिश्री मिसरी[1] (७०२ ८०१) अधिकतर दूध तथा दही में डाली जाती थी—'दधिहिं बिलोइ सदमाखन राख्यो मिश्री सानि चटावै नंदलाल' (७ २) अथवा 'तुमको माखन दूध-दधि मिश्री हौं ल्याई' (८३७)। फाग के प्रसंग में 'मेवा मिश्री बहुत रतन दई सबनि भरि भोल' (१५११) का वर्णन है। मिश्री के पाग से भी मिठाइयाँ तैयार की जाती थीं—'घृत मिष्टान्न सबै परिपूरन। मिश्री करत पाग को चूरन।' (१५१)। मिश्री दानेदार शक्कर की छोटी टिकियों के रूप में बनती है। यह बच्चों को सदैव से प्रिय रही है। अब खांड तथा मिश्री के उपर्युक्त उपयोगों का स्थान अधिकांश रूप से वर्तमान शक्कर या चीनी ने ले लिया है।

११७—अन्य प्रमुख मीठी वस्तुओं में सीरा (८ १ १ १४ १८११) [फ़ा शीर= दूध सं क्षीर=दूध फा शीरीं-मीठा शीरीनी=मिठाई] भी उल्लेखनीय है। व्यंजनों की सूची में सीरा' को स्थान मिला है—'है बर्यौ सिरावन सीरा' (८ १) या 'बेवर दधि राख्यो सीरा' (८ १) अथवा 'सीरा खाझो लेहु बनाय' (१ १४)। अलीगढ़ क्षेत्र की प्रचलित ग्रामीण बोली में पानी की तरह पतली लपसी 'सीरा' कहलाती[1] है। लोसीरा अथवा शीरा का अधिक प्रचलित अर्थ चाशनी है। यह गुड़ शक्कर अथवा खांड को पकाकर बनाया जाता है और कुछ मिठाइयाँ शीरे में डालकर बनाते हैं। इस प्रकार के रस का वर्णन सूरसागर में भी मिलता है—'घेवर अति घिरत चभोरे, लै खांड सरस रस बोरे' (८ १)। ईख का रस पहली कढ़ाई में पकाये जाने पर 'कचैला' दूसरी का 'पाका' तथा तीसरी का 'चासनी' [फ़ा चाशनी] कहलाता है। इससे ही शक्कर राब व गुड़ बनता है। सिवार के पत्तों पर राब को डाल देते हैं। उसमें से निकलने वाला द्रव पदार्थ भी सीरा' होता है।[2] सूरसागर में व्यंजनों की सूची में 'खाजौ सीरा' उल्लिखित होने के कारण ज्ञात होता है कि इन स्थलों में पतली लपसी के लिए ही आया है। चाशनी के अर्थ में पाग शब्द (१५१ १ १४) का प्रयोग अधिक हुआ है। पाग के और कई अर्थ भी प्रचलित हैं जैसे कड़ाह में एक बार में जितना रस आता है वह 'पाग' कहलाता है।[3] खांड की चाशनी में पकी मेवाएँ भी 'पाग' ही कहलाती हैं[4]।

ग्रामीण बोलियों में इन मीठी वस्तुओं को साधारणतया 'मिठाई' भी कह देते हैं। सूरसागर के एक दो स्थलों में मिठाई (८४७) यही अर्थ देता है—'माखे मोदकी मेलि मिठाई'।

११८—ईख के रस से बनी उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त मधु (८ १, ७ ७) [सं] का भी खूब प्रचार था— 'सद दधि माखन घी आनी। तापर मधु मिसिरी सानी।' (८ १)। दही व मक्खन के समान खीर में भी मधु डालने का उल्लेख अन्नप्राशन संस्कार में है— कनक-थार भरि खीर धरी लै तापर घृत-मधु नाइ (७००)। अन्नप्राशन की खीर में आज तक मधु डालने की प्रथा चल रही है। शहद की मक्खियों द्वारा एकत्रित किया गया फूलों का रस ही मधु[5] होता है। अतएव स्वास्थ्य के लिए लाभदायक इस नैसर्गिक रस की तुलना अन्य मीठी

१—ऋग्वेद, १ , ६१, १४ में मिश्री का उल्लेख हुआ है—'अर्मा महत्तीरमृतं घृतं पय कीलालं परिस्रुतम्।

२—क जी , भ ११, प १

३— ,, ,, , प्र० ६, सम्या २

४—ग्रा श , पृ १११

५—क० जी , भ ११, अध्याय १

६—प सं ध्या ५१ 'कीन्हेसि मधु लावइ लइ माखी'

वस्तुएँ नहीं कर पाती है। मिठास भी इसकी अतुलनीय है। अतः 'मधु' से ही 'मधुर' शब्द बना है। प्राचीन काल में भी लोग मधु का उपयोग करते थे। अष्टाध्यायी में साधारण शहद को 'क्षौद्र' बताया गया है।[1] हर्षचरित में भी 'मधु-चषक' अथवा 'मधु रस' के उल्लेख हैं। वर्षों तक रखा गया शहद बिगड़ता नहीं है—और वैद्यक शास्त्र में इसकी अत्यधिक महत्ता है। आजकल 'शहद' शब्द ने 'मधु' का स्थान ले लिया है।

अकबर के समय में ऊपर दी गयी सभी वस्तुएँ प्रचलित थीं। आईने अकबरी में मिश्री सफेद कंद, व शक्कर तथा लाल शक्कर के नाम प्रचलित मूल्यों के साथ मिलते हैं।[3] इनमें सफेद कंद ही सारे देश भर में अधिक काम में लाई जाती थी। शहद भी सब जगह जमा किया जाता था किन्तु साधारणतः उपयोग में कम आता था।[4]

आज गाँवों में तो अब तक गुड़ खांड तथा बूरा (बारीक पिसी शक्कर) का प्रचार अधिक है किन्तु नगरों में दानेदार सफेद शक्कर ने ही प्रमुख रूप से इन सबका स्थान ले लिया है। मिठाई आदि में पिसी शक्कर काम में आती है। 'शक्कर तथा चीनी दो शब्द अधिक बोले जाते हैं। शक्कर की बनी एक मीठी वस्तु बताशा भी बच्चों को खूब प्रिय है। परंतु उत्सवों आदि में बताशे बाँटने का चलन भी है। शहद अब नये तरीके से जमा किया जाने लगा है, किन्तु दूध दही आदि में डाल कर खाने का रिवाज उठ-सा गया है।

दूध और उसके अन्य रूप

११६—कृष्ण-कथा में दूध दही तथा मक्खन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्वालों के मुखिया 'व्रज-नरेश-सिरदार महर' (६४०) नंद के घर में पाल गए बालक कृष्ण का समय अन्य बालकों के साथ गायें चराने खेलने तथा दूध मक्खन व दही के लिये गोपियों को छेड़ने आदि में ही बीतता था। माखन-चोरी तथा दधि-दान से संबंधित अनेक पद सूरसागर के दशम स्कंध पद्य में से हैं। माखनचोरी द्वारा उस परम आत्मा की कृपा विशेष आत्माओं पर कृपा तथा दधि-दान लीला द्वारा इन आत्माओं का परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण एवं एकात्मता का रूपक बाँधा गया है। वृन्दावन तथा गोकुल की पृष्ठभूमि में आराध्य कृष्ण के बाल-सुलभ स्वाभाविक दैनिक क्रियाकलाप के चित्रण के विरोध में अनेक पदों में उनकी अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य का भी कवि बार-बार ध्यान दिलाता रहा है। दूध दही व मक्खन के लिए माँ से मचलना गोपियों के घरों से चुरा कर खाना आदि साधारण जीवन के स्वाभाविक चित्रों में भी सच्चिदानंद परब्रह्म के अवतार कृष्ण के आनंद-रूप का दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है।

बालक कृष्ण माता यशोदा की मथनी पकड़ कर मचलते हैं और दही नहीं मथने देते—

'जब दधि मथनी टेकि अरै'

आरि करत मटुकी गहि मोहन बासुकि संभु डरै'। (७१)

अथवा—'नंद जू के बारे कान्ह, छाँड़ि दै मथनियाँ

बार बार कहति मातु, जसुमति नंदरनियाँ

नैंकु रहौ माखन दऊँ मेरे प्रानधनियाँ।' (७११)

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ १०४

२—हर्ष० सां० अ०, पृ १६८

३—आईने अ०, पृ १२८

४—अगरवाल, पृ० २१२

फिर कभी दही के पात्र में चलती हुई मथानी की ध्वनि के साथ शिशु कृष्ण थिरकते व नृत्य भी करने लगते हैं।

(एरी) मार्तंड सौं दधि मथति जसोदा धमकि मथनियाँ घूमै।
निरखत नाच लसित मोहन मन धरत घटघटे भू मैं। (७६५)

कलेवे में अनेक प्रकार के व्यंजनों के होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम को माखन-रोटी ही प्रिय है—

'कीजत प्रात समय दोउ वीर।
माँखन माँगत बात न मानत भँवत जसोदा-जननी तीर। (७७९)

अथवा— गोपालराइ दधि माँगत अरु रोटी।
माखन सहित देहि मेरी मैया सुपक सुकोमल रोटी' (७८१)

अथवा—'हरि कर राजत माखन रोटी
मनु वारिज ससि बैर जानि जिय गह्यौ सुधा ससुधौटी। (७८२)

छोटे बच्चों को दूध भात भी बहुत अच्छा लगता है—'दूध भात बहु पवसन धासी' (परि १५१) ऐसा कौन था शिशु होगा जो बिना पूरे शरीर में लपेटे हुए खाना खा ले। माखन तनक आपनी कर लै तनक बदन में नावत (७६१)।

१४ —माँ के लिए बच्चों को दूध पिलाना सरल नहीं है। अनेक प्रलोभन देने के बाद किसी प्रकार वे दूध पीने को तैयार होते हैं— 'कजरी को पय पियहु लाल जासों तेरी बेनी बढ़ै। जैसें देखि और ब्रज बालक त्यौं बल-बैस चढ़ै। (७६२) या

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी। (७६३)

अथवा—'मैया मोहिं बड़ी करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा जो माँगौं सो दै री' (७६४)।

दिन तथा रात के खाने में भी दूध-दही तथा मक्खन का विशेष आकर्षण था। ताजे दही व मक्खन में मधु मिश्री मिलाकर खाने की प्रथा का निर्देश कई स्थानों में है —

'सद दधि माखन धरौं आनी। ता पर मधु मिसिरी सानी। (८ १)
या—'तुमको माखन-दूध-दधि मिसरी हौं ल्याई' (८२७)
या—'सद माखन, घृत दह्यौ सजायौ अरु मीठौ पय पीवै (८ ८)।

कजरी तथा धौरी गायों का दूध श्रेष्ठ समझा जाता था[1]—'धौरी को पय मोहिं अति भावै (१ १४) 'कजरी को पय पियहु लाल (७६२)। दूध अच्छी तरह औटा हुआ व मलाई पड़ा अधिक स्वादिष्ट होता है। कृष्ण को काचौ (७६१) दूध अप्रिय होना ठीक ही तो है— 'काचौ दूध पियावति पचि पचि देति न माखन रोटी' (७६१) या—'काचौ दूध—नीकैं औटि जसोदा ल्यौ' (१ १४)

या—मधु मवाऊ की दीजै। अरु दूध अधावट पीजै।
अब हरि परी है सांझी। मई ऊपर-ऊपर कांझी। (८ १)

१—महाभारत काल में गाय का ही दूध व घी प्रचलित था। भैंस के दूध का उल्लेख नहीं है। (महाभारत, वन-पर्व, अ ११० 'पुष्णाताप्यार्थमेवं गोषु नष्टासु पुरुषा।'

प्रायः रात होते ही बच्चों को नींद आने लगती है— माँ को जल्दी होती है कि बच्चा दूध पी ले ऐसा न हो कि सो जाय। साधारण जीवन के माता व बच्चों के ये सभी चित्र सूरसागर के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में भरे पड़े हैं। यशोदा नन्हें मोहन को जल्दी-जल्दी दूध और पिला कर शीघ्रता से गर्म दूध फूँक-फूँक कर पिलाने का उपक्रम करती है—'कनक कटोरा भरि लीजै यह पय पीजै अति सुखद कन्हैया। आछे औट्यो मेलि मिठाई रुचिकर अँचवत क्यों न कन्हैया।—फूँकि फूँकि जननी पय प्यावति सुख पावति जो उर न समैया। (८८७)

तथा—बल मोहन दोउ अलसाने।

कछु-कछु खाइ दूध अँचयौ तब जम्हात जननी जान्यौ। (८८८)

१४१—कृष्ण की लीलाओं में माखन-चोरी का महत्वपूर्ण स्थान है। माखन चोरी (८८२-९१९) शीर्षक अनेक सुन्दर पद हैं। भागवत की कृष्ण-कथा में यह प्रसंग नहीं है। बाद में कवियों ने यह प्रसंग जोड़ कर भाव तथा कला प्रदर्शन का क्षेत्र और अधिक बढ़ा लिया। माखन-चोरी प्रसंग बाल-विनोद होते हुए भी आगे की कृष्ण-गोपी प्रेम-लीला की नींव डालता है— प्रथम करी हरि माखनचोरी।

ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी।
मन मैं यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन सबकैं माखन खाउँ।
बाल-रूप जसुमति मोहिं जानै गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज-लोग। (८८९)।

यशोदा के पास उलाहने ले आने वाली गोपियों का हृदय मन-ही-मन उनकी इस कृपा के फलस्वरूप आनंदोल्लास से भरपूर हो उठता है—

'गोपालहिं माखन खान दै।
सुनि री सखी मौन ह्वै रहिये बदन दही लपटान दै।
गहि बहियाँ हौं लैकै जैहौं नैननि तपनि बुझान दै। (८१२)।

यशोदा के घर उलाहने लेकर जाना भी कृष्ण-दर्शन का बहाना मात्र ही है—

ग्वालिन उरहन कैं मिस आई।
'नँद-नँदन तन-मन हरि लीन्हौ बिनु देखैं छिन रह्यौ न जाई। (९२१)

मा—'अपनी गाइ खेड़ नँदरानी।
बड़े बाप की बेटी पूतहिं भली पढ़ावति बानी। (९४)

मा— महरि तैं बड़ी कृपन है माई।
दूध दही बहु बिधि को दीनौ सुत सौं धरति छपाई।
बालक बहुत नहीं री तेरे, एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तौ घरहीं घर डोलतु माखन खात चोराई। (९४१)

मा—'जसुदा कहँ लौं कीजै कानि।
दिन प्रति कैसै सही परति है, दूध-दही की हानि। (८९८)।

१४२—बाल-लालन उपालम्भों तथा वात्सल्य का चित्रण भी इन माखन चोरी सम्बन्धित पदों में इतना सरस है कि देखते ही बनता है—

'स्याम कहा चाहत से डोलत ?

मैं जान्यौ यहु मेरौ घर है ता धोखैं मैं आयौ ।
'देखत हौं गोरस मैं चींटी काढ़न कौं कर नायौ । (८९७)

अथवा—'आपु गए हरुएँ सूनैं घर ।
सखा सबै बाहिर ही छाँड़े देख्यौ दधि-माखन हरि भीतर ।
तुरत मथ्यौ दधि-माखन पायौ लै-लै खात धरत अधरनि पर ।

× × ×

भीतर भईं ग्वालि यह देखति मगन भई, अति उर आनन्द भरि ।
'सूर स्याम मुख निरखि चकित भई, कहत न बनै रही मन है हरि ॥ (९)

अथवा—सूरदास प्रभु मही परे कैंधे देखें न कान भावते की कैं ।
भरि गँडूष, छिरकि दै नैननि गिरिधर भाजि चले दै कौंकै । (९ ५)

तथा —'हरि सब भाजन फोरि पराने—रौकत पाए' (९४६) ।

यशोदा को गर्व से मोहन को देखकर गोपियों की बातों पर विश्वास नहीं होता । उनको क्या पता कि उनका छोटा सा शिशु गोपियों के रसिक-सिरोमनि प्रभु' (९११) है—

अब ये झूठहु बोलत लोग ।
'पाँच बरस अरु कछुक दिननि कौ कब भयौ चोरी जोग । (९१)

तथा— तब भये स्याम बरस द्वादस के रिझै लई जुवती या छबि पर । (९११) ।

वह उनको भोला-भाला समझ कर तरह-तरह से समझाती है—
अनत सुत गोरस को कत जात ?
घर सुरभी कारी धौरी को माखन माँगि न खात । (९४४) ।

इस प्रकार माखन-चोरी प्रसंग से ग्वालिनों के प्रेम का पूर्वाभास प्रारम्भ होता है—
'तन-मन की गति-मति बिसराई, सुख दीन्ही कछु माखन खाइ ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि तुम्हरी लीला को कहै गाइ । (९११)

अथवा—'देखो मेरे माम की सुम भरी (९२)

इस कथा से ही उलूखल-बंधन प्रसंग भी जुड़ा हुआ है । यमलार्जुन-उद्धार कथा कृष्ण के अलौकिक रूप का स्मरण कराती है । कृष्ण के तरह-तरह से यह समझाने—'मैया मैं नहिं माखन खायौ—ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ । (९९२) पर भी माता का क्रोध शान्त नहीं होता । फल यही होता है—'बाँधौं आजु कौन तोहि छोरै (९९२) । यहाँ तक कि ग्वालिनों का मन भी व्याकुल हो उठता है—देखो माई कान्ह हिलिकिनि रौवै । इतनक मुख माखन लपटाच्यो डरनि आँसुवनि धोवै । (९९५) अथवा कहा भयौ जो घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ (९७४) ।

१४१—आगे चल कर गो-दोहन (१ १८ १ २८) शीर्षक पदों में गाय का दूध दुहने का वर्णन है—'मैं दुहिहौं मोहि दुहन सिखावहु' (१ १९) । दूध को धार वर्णन में गिरने के उल्लेख भी है—'कैंसे धार दूध की बाजति' (१ १६) या 'धार अनतहीं देखि कैं ब्रजपति हँसि दीन्ही । (१ २७) ।

दान-लीला (२ ७७ १११) तथा वस्त्र-हरण-लीला प्रसंगों में इस प्रेम का चरम उत्कर्ष है । प्रेम में एकात्मता का भाव गोपियाँ बहुत देर में समझ पाती हैं—

'ऐसो दान माँगियै नहिं जौ हम पै दियौ न जाइ । (२०८)

अथवा—'कान्ह अब सँवराई हौं जानी ।

'मांगत श्याम यशोदा की भवनों अब कछु औरै ठानी। (२०९२)

या—'कान्ह कहत दधि-दान न देहौ ?

'लेहौं छीनि दूध दधि माखन देखति ही तुम रैहौ। (२१२६)

तथा—'अब दधि बेंचन जाहि मारग रोकि रहे (२१ ६)।

वे यशोदा के सामने फिर भी छोटे बालक ही रहते हैं—

'मन मैं तरल करहुगे भरहि मनमत हौं धौंका। ....

दस को है भी बीस की मैमनि देखी जाइ' (२१०९)।

जिन पदों में गोपियों को कृष्ण प्रेम का यथार्थ भाव स्पष्ट करते हैं वे दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें से कुछ पदों में स्पष्ट रूप से उनके अवतार लेने का हेतु और उनके आनंद-रूप का आख्यान किया गया है—

'को माता को पिता हमारैं' (२११८)

'भक्त-हेतु अवतार धरौं—जहाँ नाम तहँ है न टरौं' (२१४०)

दान देति को भ्रमरो करिहौ

प्रथमहि यह अंजान मिटावहु तब तुम हमहि निवरिहौ (२१६२)

'झूठी बात कहा मैं जानौं'

'जो जैसी जैसे हि भजै री ताकौं तैसैं हि मानौं (२१८१)

'कंस हेतु हरि जन्म लियौ (२२२२)

तथा— तुम कारन बैकुंठ तजत हौं जनम लेत ब्रज आइ।

वृन्दावन राधा-गोपी सँग यह नहिं बिसरयौ जाइ। (२२१२) आदि

कृष्ण (पर-ब्रह्म) व राधा और गोपियाँ (उनकी कृपा वृत्ति से आनंदित आत्माएँ अथवा उनकी आनंद प्रसारिणी शक्तियाँ) अलग-अलग नहीं हैं। उन्हें अलग समझना बुद्धि का भ्रम ही तो है—'सूर स्याम स्यामा दुग एकै कह हँसिहै संसार (२१७६)

'गोपी ग्वाल कान्ह है नाही ये कहुँ नेक न न्यारे (२२२१)।

ग्वालिनों की बुद्धि का विभ्रम दूर हो जाता है। वे दान देकर अपना जीवन धन्य समझती हैं—'कान्ह माखन खाहु हम सु देहैं।

'जब दधि दूध स्यानें प्रकटि धरहिं, ताहु तुम सकल करि गमन लेहैं' (२२१४)

अथवा— एक निमिष ब्रजबनिता को मन नहिं तिहुँ लोक बिचारी' (२२२४)

तथा— धन्य ब्रज ललनानि कर तैं ब्रह्म माखन खात (२२२१)।

१४४—उपर्युक्त प्रसंगों से संबंधित पदांशों में दूध के कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'दूध (८७५) [सं दुग्ध] पय, पयौ (८०८,९११,४९) [सं० पयस्] तथा गोरस (१२१) [सं गोरस]। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है मरमो अथवा औटी आदि उर्मों पर ताजा अच्छी तरह औटा व मिसरी आदि से मीठा किया हुआ दूध अच्छा समझा जाता था। ताजे के लिये सद्य मधु (८०१ ८ ८) [सं० मधुस्] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन साहित्य में दूध के लिये अधिक प्रचलित शब्द 'क्षीर' था। तुलसी ने दूध गोरस के साथ 'क्षीर' कहीं-कहीं इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है[1]। वर्तमान 'खीर' शब्द का उद्गम यही है। पथ्यप्यायी

१—तुलसी, श्रीकृष्ण गीता १. 'मेरे कहाँ थाकु गोरस'

तुलसी, गीता बाल १०४, 'सुरभा-सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिय मय कियो दही है'

'संस्कृत' अथवा प्राप्त होते ही तुरंत खाने योग्य पदार्थ 'दधि' 'उदस्वति (दूध का मक्खन) एवं क्षीर' बताये गए हैं। दूध व उसके अन्य पदार्थों को 'गव्य' अथवा 'पयस' भी कहते थे जैसे 'दधि-पयसी' दधि' आदि[1]।

सूरसागर म गाय के थन से निकली धार को मुँह लगाकर पी लेने को धैया (१०८१) कहा गया है—'धाई धार अधार मई है, मैसुक मैया पिएउ सवेरे' (१ ८१)।

दूध तथा दही पर जमी हुई मलाई (१८११) अथवा साढ़ी (८०१) [सं सारा] का वर्णन भी मिल जाता है—'सब हेरि बरो है साढ़ी' (८ १) 'साल्यो दही अधिक सुखदाई। ता ऊपर पुनि मधुर मलाई। (८ ८)। दही को साल्यौ या सलायौ' कहा गया है। ऐसे दही को आज 'चक्का' अथवा दवाब भी कहा जाता है। ग्रामीण बोली में मलाई हटा लेने पर 'कटुई दही कहलाता है। तुलसी[2] और जायसी[3] ने भी मलाई तथा साढ़ी शब्द प्रयुक्त किये हैं। शहरों मे मलाई' शब्द 'साढ़ी' से अधिक बोला जाता है।

१४५—दही के लिये दधि (८ १ ७१४) दह्यौ, दही, दहियौ (६ ७ ८ ८) [सं दधि] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दही जमाने का वर्णन इस प्रकार है—'धौरी धेनु दुहाइ छानि पय मधुर आंचि में औटि सिरायौ। नई दोहनी पोंछि पखारी धरि निरधूम खिरनि पै तायौ। तामै मिलि मिश्रित मिसिरी करि, दै कपूर-पुट जावन नायौ।'[4] शुभग ढकनियाँ ढांकि बाँधि पट जतन राखि छींके समुदायौ॥ (२२१८)। दूध दुहने या दही जमाने के पहले पात्र को थोड़े पानी से धोने को 'पखारना' या 'खँगारना' कहते हैं। दूध जमाने के लिये उसमें जो थोड़ा सा दही डाला जाता है वह आज भी जावन' कहलाता है। दही बिलोने से संबंधित अनेक पद हैं—'ठाढ़ी मथति जननि दधि आतुर, लौनी नंद-सुवन को' (७५५) या 'मानि मथानी दह्यौ बिलोवौं' (८४९) आदि में मथना [सं मन्थन] तथा 'बिलोना' [सं विलोडन] शब्द मिलते हैं। यही शब्द आज भी इस भाव को व्यक्त करने के लिए बोले जाते है। रई चलने की ध्वनि के लिए सूर ने 'घमरको शब्द प्रयुक्त किया है—'ज्यौं-ज्यौं मोहन नाइ ज्यौं-ज्यौं रई घमरकौ होइ (री)। (७११) ग्रामीण बोली में 'घुरक' 'घुरकन' अथवा 'घमरा' आज भी कहते हैं। दही बिलोकर माखन (८ ८,७१८) [सं मक्षण] निकाला जाता है। माखन से संबंधित प्रमुख प्रसंगों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। खाने के साथ तुलसी डाल कर गर्म किए मक्खन की चर्चा भी है— सद माखन तुलसी दै तायौ। घिरत सुवास कचौरा नायौ। (१५११)। दही मथने पर जो घी सा ऊपर तैर जाता है वही लौनी कहलाती है[5] (८ १ ८ ७ ७१५, ८९० २२१७) [सं नवनीत-नवनीय-नवनी-लवनी-लौनी-लौनी]—लवनी दधि माखन-पोरे

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ १ २, १ १

२—तुलसी गीता, सुन्दर०, १७

'बालसुख लख्यौ दूध-माखी ज्यौं आपु काढ़ि साढ़ी लई'

तुलसी कवितावली, उत्तर ७४, 'आली की लनात जैसे राम-नाम के प्रताप बात कुमसाल सौंचे दूध की मलाई है' ॥

३—प सं व्या , ११ १४ 'जामा दूध दहिउ सिर्ज साढ़ी'

४—प सं व्या , १६२।१, ४

'दधि एक बूंद जाम सब खीरु। कांजी बुंद बिनसि होई नीरु।

स्वाम दहेड़ि मन मँथनी माड़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ा।'

५—शतपथ ब्राह्मण (१।१।३।२) 'तस्मै नवनीतं तस्मै घृतं तस्मा अभिक्षा तस्मै वाजिनम्'

(८ १)। अष्टाध्यायी में नवनीत इसी अर्थ में प्रयुक्त[१] हुआ है। दूध के मक्खन के लिए प्राचीन शब्द 'मनाबास'[२] था। पद्मावत में भी 'नैनू' या लोनि का उल्लेख है।[३]

नवनीत निकले हुए पतले दही को मही,[४] महो (१५१ ८ ० २२१६) अथवा छाँछ (१८११) कहा गया है—'पाहुनी करि दै तनक मह्यो' (८ ०) दही मही के कारनें कतहि बढ़ावति रारि (२२१६) अथवा 'कोउ दूध कोउ दही मही लै चली सयानी (२२१६) चोरी खाते छाँछ' (२२१६)। द्वितीय स्कन्ध के एक विनय पद (१५१) में मही का अर्थ स्पष्ट रूप से बताया गया है—'जब तै रसना राम कह्यौ—प्रगट प्रताप ज्ञान-गुरु-गम तै दधि मथि घृत लै तज्यौ मह्यो। भोजन प्रसंग में भी 'धुँगारी' गई छाछ' का वर्णन है—'छाछ छबीली धरी धुँगारी। झर है उठति प्यार की प्यारी (१८११)। आजकल मही के लिये अधिक प्रचलित शब्द 'मट्ठा' है। ग्रामीण बोली में 'मठा' भी कहते हैं और जीरे मिर्च से मट्ठा छौंकने की प्रथा अब भी चल रही है।

खोवा, खूआ (८२६ ८ १ १ १४) दूध को पका कर बनाया जाता है। खोवा यों भी खाया जाता था खोवा खांड मीठि है राख्यौ (१८११) अथवा 'खोना मेलि धरे है खूआ' तथा उसकी मिठाइयाँ भी आज के समान ही बनती थीं—'खोवा-मय-मधुर मिठाई (८ १) अथवा 'घेवर फेनी और सुहारी खोवा सहित खाहु बलिहारी' (८२१)। पद्मावत में भी दूध औटाकर खोवा बनाने का चित्र आया है।[५]

१४६—घाम का अन्यतम अंग घिरत, घृत, घीव (१ १५ १ १४ १८११) [सं घृत] भी दूध का ही एक रूप है। मक्खन के सिलसिले में बताया ही गया है कि घी नवनीत गर्म करके बनाया जाता है। सूरसागर में घी गर्म करने के लिए 'ताई (१ १४) शब्द प्रयुक्त हुआ है। घी ताने पर उसमें मिला हुआ मट्ठा अलग हो जाता है। यह शब्द आज भी इसी अर्थ में सुनने में आता है। तुलसी की पत्तियाँ डाल कर घी को सुगंधित करने की प्रथा अब उतनी नहीं रही है। अक्सर पान का पत्ता डाल कर घी गर्म किया जाता है। भात तथा रोटी में घी लगाने की प्रथा उस समय भी थी—'भात पसाइ रोहिनी ल्याई। घृत सुगन्धि तुरतै है ताई (१ १४) तथा 'रोटी बाटी पोरी झारी। इक कोरी इक घीव चमोरी। और 'माँड़ि माँड़ि चुपरे चुपरे। बहु घृत पाइ आपही जबरे' (१८११)। रोटी में घी लगाने की क्रिया को 'चमोरी' अथवा 'चुपरे' कहा गया है और बिना घी की रोटी को कोरी। रोटी में घी 'चुपड़ना' अब भी कहते हैं। व्यंजनों के साथ एक कटोरी में आम का घी[६] रखने की प्रथा आज के समान ही थी—'आपी-घृत भरि धरी कटोरी। कछु खायो कछु केरे छोरी' (१ १४) अथवा घिरत सुबास कचोरा भायौ। (१८११) तथा 'दह, माखन घृत दही सजायौ' (८ ८)। पकवान घी के बनाने पर बल दिया गया है—'सेव सुहारी घेवर घी के' (१८११) अथवा 'पूनो

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १ ९
२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १०९
३—प सं व्या , ५४।१४ 'नैनू चाहि अधिक कोंवरो'
५५०।१ 'लहुरे चाहि लोनि भी गरी'
४—तुलसी गीता , बाल० १ ४, 'मथि माउन सियराम सँवारे। सकल भुवन छवि मनहुँ मही रो।'
५—प सं व्या , ५५ १४ 'दुध कर औटुइ मीठा खोवा'
६—तुलसी, मानस, बाल० ३२८ 'सूपोदन सुरभी सरपि।'

पक' या 'घृत परसि धरी घृत पूरी' तथा धुए भी 'तासे तुरत धमोरे घी के' (१ १४) होते थे। अष्टाध्यायी में भिन्न खाद्य पदार्थों (स्वाद उत्पन्न करने वाले) में घृत को रक्खा गया है।[1] अकबर की पाकशाला का घी प्राय: हिसार फ़िरोज़ा से आता था।[2] पद्मावत में भी 'घिरित' तथा 'घिउ' में बने पकवानों का कथन अनेक बार आया है।[3] मछलियों में पके हुए घी का कथन ध्यान आकर्षित करता है।[4]

सूरसागर में ताजे के अर्थ में सद्य, सद्य (८ ८) का ही प्राय: प्रयोग हुआ है। किन्तु पद्मावत में समानार्थक शब्द 'टाटक' आया है।[5] अवधी में घी के लिए अब भी यह शब्द चलता है।

६—पकवान—मिठाई तथा नमकीन

१४७—सूरसागर में पके हुए खाद्य-पदार्थों के सूचक दो शब्द मिलते हैं—पकवान (९१४ ८०८-८१) [सं पक्वान्न] तथा व्यंजन (१११८, १८११) [सं व्यंजन]। अन्न प्राशन-संस्कार गोवर्धन-पूजा तथा खाने के सिलसिले में अनेक प्रकार के पकवान तथा व्यंजन तैयार करने का वर्णन किया गया है—'कोउ ज्योनार करति कोउ घृत-पक षटरस के बहुभाँति बहुत प्रकार किये सब व्यंजन अमित वरन मिष्ठान' (७ ७) अथवा—'बहु-बहु भाँति करति पकवाने (१५ ६) या 'घृतपक बहुत भाँति पकवाना। व्यंजन बहु को करै बखाना। (१५१८)। भोजन में भी विविध भाँति के व्यंजन रहते थे— इतने व्यंजन कलेवा कीन्हे। तब मोहन बालक सब लीन्हें। (१८११)। व्यंजन का प्राचीन काल में प्रचलित अर्थ 'उपसेचन (स्वाद बेहतर करने के खाद्य-पदार्थ) था जैसा कि अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है। पतंजलि तथा काशिका ने 'दधि घृतम्' उदाहरणस्वरूप बताए हैं।[6] नाम से ही स्पष्ट है कि पकवान का अर्थ पके हुए अन्न से बनाये गये भोज्य पदार्थ लिया जा सकता है तथा व्यंजन में दूध दही आदि की वस्तुएँ और तरकारियाँ आदि भी आ सकती हैं। आजकल पकवान में प्राय: मिठाइयाँ तथा नमकीन सम्मिलित करते हैं तथा भोजन में परोसी जाने वाली विभिन्न सामग्रियों की गिनती व्यंजन में की जाती है—'बरी बरा बेसन बहु भाँतिनि व्यंजन विविध अगनियाँ' (८५६)। सूरसागर में भी इन दो शब्दों में इस प्रकार का अन्तर किया गया है (१५१८)। पकवान प्राय: 'घृतपक' बताया गया है तथा 'कलेवा' में 'पकवानों' का ही उल्लेख अधिक है।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ १

२—आइने अ , पृ ११७। पृ १२७, घी एक मन—१ ५ दाम, तेल—८ दाम, दूध—२५ दाम, तथा दही—१८ दाम में मिलता था। अकबर के समय में घी व तिलहन अन्न की अपेक्षा सस्ता था जब कि नमक व सफ़ेद शक्कर आज से अधिक मंहगी थी।

३—प सं व्या , ५५ ।९ 'घिरित मूँगि के पाका पेठा।' ५५ ।१ 'भा हलुवा घिउ करै मिठौरा ५४६।१ घिरित कराहन्हि बेहर धरा।'

४—प० सं व्या , ५४७ 'घिरित परेह रहा तस हाथ पहुँच लहि बूड़।
बूड़ जाइ तौ होइ नवजोबन तौ मिहुरी ले अड़।'

५—प सं व्या० ५४७।६ 'घिउ टाटक महँ सोंधि सेराया।'

६—इंडिया एज़ नो० । ५ । । १ २

मीठे पकवानों को मिष्टान (७ ७) [सं मिष्टान्न] तथा मिठाई (१५२६) [सं मिष्टान्न] कहा गया है—'षटरस की बहु भाँति मिठाई' अथवा 'षटरस के मिष्टान्न' या 'कटुवा करत मिठाई घृतपक' (१५१) आदि। इन उल्लेखों में मिठाई के साधारण अर्थ के अतिरिक्त सम्भवतः पकवान का अर्थ भी कहीं-कहीं है। मिठाई षटरस प्रकार की होने का यही तात्पर्य हो सकता है। पद्मावत में मिठाई शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है – मिठास व मिठाइयाँ।[1] महाभारत के आश्रमवासी-पर्व में तीन प्रकार के रसोइयों के सम्बन्ध में बताया गया है। 'राग खाण्डविक' मीठे पकवान सूपकार' शाक दाल आदि रांधते आदि व आरालिक मांस पकाते थे।[2] इस उल्लेख से खाने की सामग्रियों के विभाजन का अनुमान होता है।

अब 'पकवान' तथा मिठाई शब्द ही अधिकतर बोलने में आते हैं। पढ़े लिखे नागरिकों में तो व्यंजन का कुछ-कुछ समानार्थक अंग्रेजी शब्द डिशेज (dishes) हो गया है।

मिठाइयों के नाम

१४८—छप्पन भोग तथा भोजन में कृष्ण के लिये परोसी गई मिठाइयों से सूरकालीन प्रमुख मिठाइयों का अनुमान हो जाता है। साथ ही ब्रज के मन्दिरों में चढ़ाई जाने वाली भोग सामग्रियों का अन्दाज भी लगाया जा सकता है। इनमें से बहुत-सी मिठाइयाँ आज भी लोगों को उतनी ही प्रिय हैं कुछ अवश्य ही मथुरा अलीगढ़ आदि जनपद में अधिक दिखाई देती हैं। थोड़े से नाम बदलकर स्पष्ट नहीं होते। प्रमुख मिठाइयों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

पाग या पाक (१ १४ १८११) सूरसागर में कई प्रकार के बताए गये हैं—'पाक प्रभृत विविध पटविधि रुचि किये हित माइ' (१८१२)। पकी मेवायें 'पाक' कहलाती हैं। पेठा पाक[3] (१ १४) गोंद-पाक (१ १४ तथा इलाची पाक (१०१४) [सं एला एलीक इलायची] आदि भी इसी प्रकार तैयार किये गये थे। पेठे के टुकड़ों को चाशनी में पकाये जाने पर आजकल 'पेठा' कहते हैं। आगरे का पेठा प्रसिद्ध है। बबूल की गोंद भूनकर चाशनी में पकाने पर आज भी गोंद कहलाती है। यह विशेष रूप से स्त्रियों को सौर अथवा सूतिकागृह में दी जाती है। इलाची पाक सम्भवतः वर्तमान इलायची दाना है। पांडे-आगमन-प्रसंग में पाक (८६७) शब्द पके खाद्य पदार्थों के साधारण अर्थ में भी मिलता है—'करि करि पाक सबै अर्पत हैं उनहीं तन सबै आवे।' (८६७) अथवा सिद्ध पाक हरि आइ जुठायो (८६६)।

गेहूँ के आटे से बनी मिठाइयाँ

१४९—पूआ (१ १४) (सं पूप पूपालिका पूपाली पूपिका पूपक आदि)। यह तलकर किये हुए मीठे आटे से बना पकवान है। घी में बने मुलायम गर्म पुए का वर्णन किया गया है—'हाँसि होइ तो ल्याऊँ पूआ .. 'मीठे अति कोमल हैं नीके। ताते तुरत उतारे घी के। (१ १४) इसी प्रकार के पुए अच्छे माने जाते हैं।

मालपुवा (८ १) [देश मल्ल + पूपक]—मृदु मालपुआ मधु साने' (८ १) तथा 'मालपुवा माखन मधि कीन्हें चाहु प्रसित रवि सम रैन भीन्हें (१८११) आदि वर्णनों में

१—प सं व्या २८७। 'धूप छाँह का कहौं मिठाई'
५८३।—'कहो न जाइ मिठाई'
५५ ।१ 'मैं जो मिठाई कहो न जाई। मुखत मेलत बिनु जाइ बिलाई।'

२—महाभारत, आश्रमवासी पर्व, 'आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा, उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं पुरा।'

३—प० सं० व्या , ५५०।९ 'पिस्ति चूँ चि के पाका पेठा'

मालपुआ बनाने के ढंग की ओर संकेत है। यह पूआ से मिलता जुलता है। देशीनाममाला में (६।१४५) हेमचन्द्र ने पुए के अर्थ में 'मस्सय' शब्द लिखा है।[१] पूर्वी उत्तर प्रदेश में पुए को 'गुलगुला' कहते हैं और मीठी पूरी को 'पुआ' किन्तु पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मीठी पूरी को 'पिटउआ' कहते हैं। त्योहारों व पूजा आदि के पक्वान्नों में पुए का प्रमुख स्थान है।

हेसमि (८ १) अब हेसमि सरसि सँवारी। अति स्वाद परमसुखकारी। यह लम्बी आयताकार मीठी वस्तु है जो अलीगढ़ क्षेत्र में आज भी 'नाकसेव' या 'हेसमा' कहलाती है। यह उस क्षेत्र को स्थानीय मिठाइयों में ही गिनी जा सकती है।

सुहारी (८२६ १८२११) [सं +आहार] । घी या 'मोयन डाले गए आटे की खीरे में पड़ी पूरियों को सुहारी कहते हैं। यह साधारण पूरी से मोटी व बड़ी बनाई जाती है। यह भी मथुरा अलीगढ़ आदि में ही अधिक बनती है।

म्होरी (१ १४) मीठे गेहूँ के आटे से चीले की तरह का बना पकवान है। ब्रज तथा अलीगढ़ क्षेत्र में 'म्होरी' शब्द इसी अर्थ में आज भी सुनने में आता है।[२]

सुरमा (८ १) [फ़ा सुर्म] । मोयनदार आटे की बनी गोल टिकिया अथवा आयताकार टुकड़े जो खांड में पागे जाते हैं सुरमा कहलाते हैं— अब सुरमा सरस सँवारे। ते परसि धरे हैं न्यारे। (८०१)। आजकल नमकीन सुरमा भी बनाते हैं।

अमृत खांड (२०१४) [सं अमृत + खंड] । यह सम्भवतः वर्तमान शक्करपारे की तरह का कोई पकवान है। अवधी में शक्करपारे को खँडरा' [सं खण्डक] कहते हैं।[३]

सातू * (४ ६८) [सं सक्तु] । रुक्मिणी प्रसंग में इसका उल्लेख है—'भक्त के बस भक्त-वत्सल बिदुर सातु खाव आयो। प्राचीन भारत के प्रचलित खाद्य पदार्थों में सक्तु' (सत्तू) भी था। पाणिनि ने 'उदक-सक्तु तथा पतंजलि ने दधि-सक्तु का उल्लेख किया है।[४] आज भी सत्तू पानी या दूध के साथ खाया जाता है।

लपसी लापसी (८४५) (१८३१) [सं लप्सिका] घी में भुने आटे का मीठा व पतला मिष्टान्न है। हलुवा इसी प्रकार का मिलता जुलता पकवान है किन्तु इसे सूखा बनाते हैं। सूरसागर में वर्णित इन मीठे पक्वान्नों में हलुए का उल्लेख नहीं है। अलीगढ़ क्षेत्र में पतली लपसी को 'सीरा' भी कहते हैं (८ १)। पाणिनि के समय में घी का बनाया हुआ 'यवागु' अत्यधिक प्रिय था। यह लपसी से ही मिलता-जुलता है। उन्होंने 'उष्णिका यवागु' द्वारा उस प्रदेश में विशेष रूप से इसके अधिक व्यवहार का संकेत किया है। आज भी इस प्रदेश अर्थात् अम्बर से बीकानेर तक राजस्थान के इस भाग में 'लपसी (अमीरों द्वारा खाई जाने वाली पतली) तथा राबड़ी नमकीन व सूखी-सी) खाने की प्रथा खूब चल रही है। प्राचीन समय में भी 'यवागु' पेय तथा 'विलेपी' दो प्रकार का प्रचलित था।[५]

१—ह भी, प ११, अध्याय ६
२—ह भी, प्र ११, अध्याय ६
३—प सं व्या, २८७१५ 'खँडरा खडि खँडोर्ई खडी = खँडोई = खादमी, (चाटवाली) खँडि = काटना, खडी = पागना।
४—तुलसी, कवित्त, लंकाकांड ५ 'सीमित सो सानि सानि पूरा खात सतुआ से'
५—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि पृ १ ७, महाभारत में भी सत्तू की प्रशंसा की गई है।
६—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि पृ० १ २ १०६

मैदे की मिठाइयाँ

१५०—घेवर (८ १) [सं० घृतपूर-विवरक—घेवर] 'घेवर अति घिरत चभोरे। लै खांड उपर रस बोरे।' मैदा का बना गोल छत्ता सा होता है। इसको घी में सेंकने के बाद चाशनी में पाग लेते हैं। घेवर आज भी मथुरा तथा मथुरा आदि की तरफ ही अधिक बनता है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला (२।१ ८) में घेवर का उल्लेख किया है।

फेनी (१ १४ ८२१)। यह मैदे के सूतों से बनी पूरी सी होती है तथा पकी हुई न दूध में मिलाकर दोनों प्रकार से खाते हैं। सूरसागर में दूध में खाने का उल्लेख भी है—'फेनी धुरि मिश्रि मिली दूध सँग। मिलि मिश्रित भई एक रंग।' (१८११)। परिठ १५१ म पैरा-फेनी भी दिया गया है।

सकर पारे (८ १) [प्रा सक्करपार] । मैदे अथवा आटे के बने त्रिभुजाकार या आयताकार खंड जो शक्कर में पाग लिये जाते हैं। तुरन्त के पागे शक्करपारे अधिक स्वादिष्ट होते हैं—'सक्करपारे सद पागे।' आज कहीं कहीं लोग इसको 'सकलपारा' भी कहते हैं।

जलेबी (१८११ ८ १)। यह मैदे की गोल घुमावदार मिठाई है जिसे शीरे में डालकर मीठा करते हैं। इस रस को ही सूरसागर में जलेब भी कहा गया है—'बहुत जलेब जलेबी बोरी। मार्हिंन बटव सुधा से बोरी' (१८११) अथवा 'सुठि घरस जलेबी बोरी। जेहि जवत रुचि नहि थोरी' (८ १)। यह आजकल लोगों की प्रिय किन्तु सस्ती मिठाइयों में आती है।

खाजा (१०१४) [सं खाद्य—पा० खज्ज]। यह खांड म पगी मैदे की रोटी सी होती है। खाजा भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ही अधिक बनता है।

गाझमसूरी। यह एक मिश्रदार मिठाई है जो मैदा और बेसन मिला कर बनाई जाती है—'मद लेसिये गाझमसूरी जो खातहि मुख दुख दूरी।' इसका वर्णन सूरसागर म है। यह मिठाई भी ब्रजप्रदेश की ही मिठाइयों में आती है। उधर इसको आज भी मसूरी अथवा 'मैसूरी' कहते हैं[१]।

गूझा, गुझा, गोझा (१८११-८ १ १४) [सं गुह्यक, गुज्झय-गोझय-गूझा] इसका नाम 'गुह्यक' सार्थक ही है क्योंकि मैदे की पूरी के अन्दर खोया मेवा अथवा कसार भर कर बनाते हैं। 'गूझा बहु पूरन पूरे। भरि भरि कपूर रस चूरे।' (८ १)। पूरन शब्द संभवतः इसी अर्थ का सूचक है। सिकते समय फट न जाये इसीलिए गुझिया के किनारे 'गूंठ' या गूथ देते हैं—'गोझा[२] गँथे' (१८११)। आजकल इसको 'गुझिया' कहते हैं तथा होली तथा विवाह के पकवानों म अवश्य बनाई जाती है।

खवंग (८ १) गुझिया के समान ही मैदे की पूरी में खोया और मवा भर कर बनाते हैं, किन्तु इसका आकार चौकोर होता है। इसको लौंग से बन्द करके शीरे में भिगोया जाता है।

बेसन की बनी मिठाइयाँ

१५१—सुत पूरी(१ १४)। यह बेसन की बनी मीठी पूरी होती है। अब सुतपूरी बनाने की प्रथा कम हो गई है।

सेव (१ १४)। पतला और लम्बा लच्छेदार पकवान जो शीरे में पगा हुआ मीठा अथवा नमकीन दोनों प्रकार का बनता है।

१—ह औ०, प्र ११, अध्याय ६

२—प्र० सं प्या०, ११२१४ 'मिला कर ६रि कल का गोझा।'

लाडू (८ १) [सं लड्डू, लड्डुक] लड्डू भुने हुए बेसन की बूँदी या बुनदी के ज्यादातर बनाये जाते हैं। बुनदी के लड्डू को ही सम्भवत सेवलडू (८ १) मोती लाडू (८ १) [सं मौक्तिक] और लावनि लाडू (१ १४) कहा गया है। आज बारीक बुनदी के बने लाडू मोतीचूर के लड्डू कहलाते हैं। खिर-लाडू (८ १) [सं क्षीर + लड्डू] द्वारा शायद खोये के लड्डू से तात्पर्य है। इन सब का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

सेव लाडू खचिर सँवारे। जो मुख मेलत सुकुमार ।
सुठि मोती लाड मीठे । वै जात न कबहूँ उबीठे ।
खिर-लाडू सर्वमनि भाए । ते कीरे बहु जतन बनाए । (८ १)

तथा— लावन लाडू लागत नीके (१८११)

लड्डू बच्चों को विशेष रूप से प्रिय होता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'मोदक' विदूषक को प्रिय बताया गया है। लड्डू का समानार्थक शब्द मोदक भी सूरसागर के फाग-प्रसंग में मिलता है—'मोदक मांझ कपूर ल्यावति मदमाती हों' (१४८)। पद्मावत में दूध के फेनी या दही के रसगुल्ले के समान मिठाई 'मोरंडा' का उल्लेख है।[१] पश्चिम तथा पंजाब में भुने गेहूँ मक्का मुरमुरे या चने के गुड़ अथवा खांड में पगे लड्डू भी 'मोरंडा' कहलाते हैं। ठगों के प्रसंग में विष-लाडू (२२२ २१ १) तथा ठगमोदक (४ १५,२२ १) का उल्लेख भी सूर ने किया है।

पावल के आटे से बनी मिठाइयाँ

१५२—अमूरी (८ १) [सं० अनु अमूर्त अमूरो] 'अमूरी अति सरस अमूरी'। यह चावल के आटे की टिकिया सी होती है जो घी में सेंकी जाती है। अलीगढ़ क्षेत्र में 'अमूरिहरि' के त्योहार पर (नावमी के एक दिन पहले) बनाया गया पकवान भी 'अमूरा' कहलाता है।[२]

बाबर (८ १) 'बाबर बरने नहिं जाई। जिहिं देखत अति सुख पाई'—चावल के आटे की मालपुए की तरह की मिठाई है। अलीगढ़ क्षेत्र में बाबरा' या बाबरी' नामक यह मिष्टान्न अब भी बनता है[३] किन्तु और जगहों में बाबर दिखाई नहीं देता।

घेंवरसा (८ १)। घेंवरसे का वर्णन कई पदों में है—'सुन्दर अति सरस घेंवरसे। ते घृत-दधि-मधु मिलि सरसे' (८ १) अथवा 'ससि सम सुन्दर सरस घेंवरसे ऊपर अमी अमी जनु बरसे' (१८११) तथा 'सौंफ कपूर लाइ घृत भार। घेंवरसे कटमिठे सिधारे। (परि १५३)। यह चावल के आटे की मीठी गोल घी में सेंकी टिकिया सी होती है। ऊपर के वर्णन में इसमें दही, खांड या मधु, सौंफ तथा कपूर डालने की चर्चा की गई है।

अन्य चीजों से बनी मिठाइयाँ

१५३—अमिरती। यह उरद की दाल के आटे से बनी बड़ी जलेबी से मिलती जुलती मिठाई है। पद्मावत में इसका समानार्थक शब्द 'मुरकुरी' प्रयुक्त हुआ है[४] किन्तु खड़ीबोली

१—प स० व्या, २८८।६ 'दूध दही के मोरंडा बांधे'

२—कृ बी, प्र० ११, अध्याय ६

३— „ „ प्र ११, अध्याय ६

४—प स व्या, ५५ १० 'भाँति भाँति पाग कमों मुरकुरी। मांठ पेराक गुर कुरकुरी ।' अथवा म तुलसी (बतार पृ० ८६२)

हिंदी में इमरती शब्द आज तक चलता है।

घूघरा गुरवरा (१ १४)। कै दूध या घेने का घी में सिका बरा घूघरा होता है और 'गुरवरा' गुड़ के रस में भिगोकर बनाते होंगे— एक कोर एक मिले गुरवरा।[1]

पिराक (८२१) खोये की छोटी गुझिया ही 'पिड़की' या 'पिराकी' कहलाती है।

गिंदौरी। (१ १४) खांड की गोल बड़ी टिकिया को ही गिंदौरी कहते हैं। पश्चिम में विशेष रूप से विवाह के अवसर पर तेल के दिन भात में यह बांटी जाती है।[2] मिठाइयों की इस सूची में आजकल की प्रमुख प्रिय मिठाइयाँ—बरफी पेड़ा गुलाबजामुन बालूशाही कलाकंद तथा घर की बनी कचौरियों तथा हलवे की कमी खटकती है। आज मथुरा के पेड़े और खुरचन बहुत मशहूर है। बंगाली मिठाइयाँ जैसे रसगुल्ला चमचम रसमलाई तथा संदेश आदि सम्भवतः बाद में चली हैं। किन्तु हलवे का उल्लेख पद्मावत तथा आईने अकबरी दोनों में ही है।[3] आईने अकबरी में मैदे से बना हलुआ बताया गया है जब कि आजकल प्रायः सूजी से बनाते हैं।[4]

नमकीन पकवान

१५४—नमकीन पकवानों की सूचक शब्दावली इस प्रकार है—

फुलौरी पदकौरी, पकौरी (१०१४ ८ १) [सं० फुल्ल+वटी पक्व+वटी]—दो बार प्रयुक्त पक्कौरे (८ १)। पकौरी बेसन तथा मूँग या उड़द की दाल की बनती है। आजकल 'पकौड़ी' शब्द अधिक सुनने में आता है, किन्तु फुलौरी' शब्द भी प्रचलित है। अलीगढ़ अंचल में पकौड़ी की कई किस्में व उनके नाम मिलते हैं—'मूंगकौरी' बरौरी[5] कुम्होरी, गुरवरो आदि[6] सूरसागर में मूँग की दाल की पकौड़ी का उल्लेख भी है—'मूँग पकौरा' (१ १४)।

पिठौरी (१०१४) [सं० पिष्टिका– पिट्ठिआ-पिट्टिअ-पिट्ठी पिठी] दाल पीसने के बाद 'पिट्ठी' कहलाती है। आटे के अन्दर पिट्ठी भर कर पिठौरी बनाते हैं। प्रायः उड़द चने या मूँग की दालों की पिट्ठी बनाई जाती है।

पतवरा (१ १४) 'मूँग पकौरा पनी पतवरा' [सं पत्र पत्ता+वरा]। यह सम्भवतः आजकल का 'पतौरा' है जो अरुआ के पत्ते व उड़द की पिट्ठी या बेसन लपेट कर उबालने के बाद टुकड़े काट कर तला जाता है। यह सूखा व रसेदार दोनों प्रकार का बनता है। बथुए के साग तथा मूँग की दाल तथा अन्य कुछ सागों तथा बेसन आदि के भी पतौरे बनाते हैं। उपर्युक्त उल्लेख में पतवरा बनाने की विधि स्पष्टतया से नहीं बताई गई है। पनी—शायद 'पना' के अर्थ में आया है। आम तथा जीरे आदि से बने नमकीन पानी को 'पना' कहते हैं। अवधी में पतौरे का समानार्थक शब्द 'रिकंवच' पद्मावत में भी मिल जाता है। बिहार में भी इसको

१—प सं व्या , ५४६—'कीन्ह सुंबीरा औ गुरवरो'

२—ह० की ,प्र० ११, अध्याय ६

३—प सं व्या ५६ ।१ 'भा हलुवा घिउ करै निचोवा'

४—आईने अ०, पृ० १२०, हलवे में मैदा, कन्द तथा घी दस-दस सेर डाला जाता था।

५—प० सं व्या , ५४६। 'घी खंडवानी लाइ बरौरी। खंडवानी बरौरी = खांड के पानी में पड़ी हुई उड़द की दाल की पकौड़ी

६—ह० की०, प्र ११, अध्याय ६

७—प० सं व्या, ५४६। 'पान लाइ क रिकवछ छौंके'। रिकवछ = अरुआ के पत्ते व उड़द की दाल के पतौरे।

'रिकवँछ' या 'घेंडा' कहते हैं।

कचरी (१ १४)। कचरी नामक फल के टुकड़े सुखाने के बाद घी में तल लिये जाते हैं। आजकल जो अधिक प्रचलित 'कचरी' चावल के नमकीन आटे से बनती है। यह चावल के आटे के नमकीन सेव से होते हैं।

कोरी (१८।११) संभवतः चावल के आटे से बनी कचरी है जो आज भी अलीगढ़ क्षेत्र में कई नामों से प्रसिद्ध है— मोहन पकौड़ी 'कचरिया' 'कुरैरी' आदि। हाथरस में इसी को 'भिरचौनी' कहते हैं।

कुमकौरी (१८।११)[1] खौलते हुए पानी में बनी पकौड़ी कुमकौरी कहलाती है। अब कुमकौरी बनाने का रिवाज कम हो गया है।

मटरी (१४२८) 'पिस्ता बादाम बदाम छुहारा चुरमा खाम्भ गूँझा मटरी'। मोयनदार आटे की नमकीन छोटी पूरी जो मोटी व खस्ता बनती है। पछाँह के घरों में मठरी अक्सर नाश्ते में बनाई जाती है। 'मठरी' शब्द आज भी बोला जाता है।

मठ[2] (परि १५१)। 'मठ मिरचानी' संभवतः वर्तमान 'माठ्य' नामक पकवान है। यह मठरी की तरह का किन्तु पूरी से भी बड़ा और मरे का बनता है। बीच में तरह-तरह से 'गूँठा' जाता है। विवाह के पकवानों में इसका खूब चलन है।

बरा (८४२ ८ ? ८२१)[सं वटक = गोल टिकिया]। यह मूँग या उर्द की टिकिया है जो कई प्रकार की बनती है—मीठी (गुरबरा) या नमकीन दही में पड़ी हुई अथवा खटाई में पड़ी हुई— खारे खट्टे मीठे हैं मिनि (१८।११) बरी बरा बेसन बहु भाँतिनि[3] व्यंजन विविध अनगिनी (८२१)। एक पूरा पद (८४२) बरे से ही संबंधित है—

बरा और बेसन मुख भीतर, मिरिच बढ़ाए टकटौरे।

तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे।

दधि-बाटी (८४४) भी शायद दही-बरा के अर्थ में लिखा गया है। 'दहीबरा' आज कल के प्रिय व्यंजनों में गिना जाता है। दूध के बरे का भी उल्लेख हुआ है—'दधि दूध बरा दहिरौरी' (८ ८)। दहिरौरी भी शायद दही बरा का ही सूचक है [दही + बरा]।

सूमी (परि १५१)। उस समय तेल में तली व खट्टी सुखी बनाने की प्रथा थी—'निबुआ लोन तेल तर सूखी राइ करौंदा मंद कचौरी'। अब नमकीन सूमी के स्थान पर सूजी का मीठा हलुआ ही अधिक प्रचलित है।

आजकल की नमकीन वस्तुओं में दालमोठ खस्ता समोसे तथा विभिन्न प्रकार की चाट के नाम इस सूची में बढ़ाए जा सकते हैं। समोसा उस समय प्रचलित था क्योंकि जायसी ने मांस से भरे समोसा का वर्णन किया है।[4] पश्चिमी सभ्यता की देन बिस्किट व डबलरोटी ने नगरों में चाय कॉफ़ी के साथ भारतीय नाश्ते में विशिष्ट जगह बना ली है।

१—प सं व्या, १४६।७ 'पकी सेंवारि घी कुमकौरी'

२— ,, ,, ११ में 'मांठ' शब्द का जिक्र है।

३—प सं व्या १४६।१ भाँति भाँति पापर्हि बरा। 'अबका' एकहि भाँति मिरिच सिर्ध पीठे। और जो दूध पाँठ सो मीठे।'

४—प स व्या, १४६।१६ 'मुखि समोसा सिप मंह पखे। लौंग मिरिच तिन्ह मंह सब राखे।'

)

७—भोजन की अन्य सामग्रियां अथवा व्यंजन

१५५—भोजन-सामग्री की दृष्टि से १ १४ तथा १८११ पदों का बहुत महत्त्व है। इन्हें पढ़ कर समझ आता है कि आयरे के पूरे खाने में परोसे जाने वाले व्यंजनों में इन कई सौ वर्षों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है। निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—

रोटी (७७७ १ १४) सूरसागर में बेसन की रोटी का निर्देश है—रोटी रुचिर कनक बेसन करि। अजवाइन सैंधो मिलाइ करि (१८११)। मकुनी (१ १४)—एक मकुनी है मोहि भावी—मीं[1] एक प्रकार की बेसन की रोटी को कहते थे। अन्यत्र भी से अमोरी या चुपड़ी रोटी का कवि ने वर्णन किया है—'इक कोरी इक घीव चमोरी (१ १४)। कलेवा-प्रसंग में कृष्ण को माखन रोटी प्रिय बतायी गयी है—'जननी पै मांगत जग-जीवन दै माखन रोटी उठि प्रात' (७७७) अथवा 'माखन रोटी बहुत प्रियो' तथा 'बोड भैया मैया पै मांगत दैरी मैया माखन रोटी' (७८१)। एक स्थल में रोटी का विशेषण 'सुपक सुकोमल (७८१) आया है। रोटी मुलायम व अच्छी तरह सिकी ही अच्छी होती है।

आईने अकबरी में कई प्रकार की रोटियों का विवरण है—(१) बुजुर्ग-तनूरी (बड़ी तन्दूरी रोटी) तथा तुनके-तावकी (इसकी तवे पर सिकी)। इसी की एक किस्म चपाती है। यह एक सेर आटे में पंद्रह या कुछ अधिक ही बन जाती थी।[2]

तुलसी ने भी 'रोटी' का उल्लेख किया है।[3] आजकल लोग व पतली रोटी को कभी कभी 'फुलका' भी कहते हैं तथा मुसलमानों में विशेष रूप से 'चपाती' बनाने का रिवाज है। पंजाब में अधिकतर तंदूर' पर बनी तंदूरी तथा 'नान' नाम भी बनती है।

मांडे (१८११ ४२२२) [सं मण्डक]। मैदे की रोटी-विशेष मांडे कहलाती है मांडे मांडि धुनेरे चुपरे। बहु घृत पाइ आपुही उबरे। अब मांडे बनाने का रिवाज नहीं रहा है। पद्मावत में भी घी से पोए हुए उज्ज्वल मांड का वर्णन है।[4]

बाटी (१ १४) [सं वटी]। गेहूं के आटे की लोई हाथ से चिपटी करके कंडे की राख

१—हिन्दी शब्द सागर के अनुसार मकुनी (देश) के कई अर्थ हैं १—आटे के भीतर बेसन अथवा चने की पिट्ठी भरकर बनाई गई कचौरी, बेसनी रोटी २—मटर के आटे की रोटी, ३—बेसन तथा गेहूं के आटे को मिलाकर उसमें नमक, मिर्च, मंगरैला मिलाकर बनाई रोटी।

२—आईने अ , भाईन २६

३—तुलसी, कवित्त , उत्तरकांड ९९ 'रावरो कहावौं, गुन गावौं राम रावरोइ, रोटी द्वै पावौं, राम रावरी ही कानि हौं।

श्रीकृष्ण गीता , २, छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै दै री मैया।'

४—प सं व्या , २८३ (२) मानसोल्लास के अनुसार गेहूं के आटे में घी नमक दूध और पानी डाल कर माड़ने के बाद उसकी लोई की रोटी हाथ से बनाकर मिट्टी के तवे पर सेक ली जाती है। चित्रावली (२२३।१) में दूध व खांड़ के मांड़ का उल्लेख है ('मोंडू प्रथम दूध औ पोये। और खांड मिलि मांडा पोए।')

प स • व्या , १०४।२ 'आगर मांड पान पिय पोए। अगर दैखि पात बए पोए।'

१४३।२ 'कापर छानि मांड भल पोए।'

को धीमी-धीमी आंच में सेंक लेते हैं। 'रोटी बाटी पोरी झोरी' (१ १४) नाम एक साथ दिये गये हैं। दधि बाटी (८४५)। यह शायद दही म डाल कर बनाते होंगे।

अंगाकरि (१८११) अबही अंगाकरि तुरत बनाई। घे भजि भजि ल्यावति संग खाई। वर्णन में तुरंत का बना 'अंगाकरि' अधिक स्वादिष्ट बताया गया है। बड़ी बाटी को ही 'अंगाकरि' कहते हैं। यह शब्द पश्चिमी हिन्दी में आज भी चल रहा है। घरों में साधारणतया बाटी या मांडे बनाने की प्रथा अब नहीं रही है।

लुचुई (८६१ १ १४) [सं रुचि या प्रा लोच]। मैदे की पतली मुलायम व बड़ी पूरी ही लुचुई कहलाती है। जायसी ने भी पूरी तथा सोहारी के साथ नर्म और कोमल लुचुई का उल्लेख किया है।[१] दो लोइयों के बीच में घी लगाकर पतली बेली हुई पूरी भी जो तवे पर सेकी जाती है लुचुई या 'लोइसी' कहलाती है। अवध में अनंत चतुर्दशी के दिन लुचुई खाने की प्रथा है।[२] यह प्राय· खांड के साथ खाई जाती है।[३] अब तो मैदे की पूरियाँ प्राय· विवाह आदि के पकवानों में ही बनाने की प्रथा रह गई है। पूरी पुरी पुरि पेरी (८ १ १८३१,८४६, ८११ १ १४) [सं पूरिका[४]]। लगता है पूरी बच्चों को हमेशा से ही अच्छी लगती है— सब परसि धरी पूत-पूरी। जब पूरी सुनि हरि हरष्यौ। तब भोजन पर मन करष्यौ।' (८०१) यशोदा में भी मैवा तथा अन्य विविध पकवानों के सामने बालक कृष्ण का ध्यान पूरी व अचार ही आकर्षित करते हैं—'तुमकौं भावत पुरी सँधानी। (८२६)। बियारी-प्रसंग में मैदा और बेसन मिलाकर बनाई गई मुलायम तथा भारी पूरी का वर्णन है— अति कोमल पूरी हैं भारी। बेहूँ स्याम मोहिं सुख सौनी। तातैं करी तुम्हें ये प्यारी (८११)। रोटी अंगाकरि बाटी आदि तो प्राय· दिन के भोजन में ही बनती थीं किन्तु पूरी हर समय के खाने में आ सकती थी। बेसन पुरी सुख पुरी लौनी (१ १४) द्वारा उस समय बेसन की पूरी बनने की प्रथा का भी पता चलता है। अब तो गेहूँ के आटे की पूरी अधिक लोकप्रिय है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पूरी शब्द ही प्राय· बोला जाता है, यों 'पूरी' 'पूड़ी' शब्द भी सुनने में आते हैं। अवध में चने की दाल भरी हुई 'पूरी' कहलाती है जो और जगहों की 'कचौड़ी' हुई। साधारण पूरी को वहाँ 'सोहारी' कहते हैं। पूरी से बड़ी सोहारी व उससे बड़ी लुचुई बनती है।[५] ब्रज की ओर मीठी पूरी को सोहारी कहते हैं। पद्मावत में भी पूरी के रंग, कोमलता एवं सहज स्वाद का विस्तृत वर्णन मिलता है।[६]

१—प सं व्या, २८४ लुचुई पूरि सोहारी भरी। एक तासी भी सुठि कोंवरी।

२—प स व्या, २८४१ (१)

३—प सं व्या, २४१।६ 'लुचुई पोइ पोइ घी मेई। पाछें छहीं खांड सो जेई।'

४—नृ की, अ ११, अध्याय ६ मोनियर विलियम्स कोश में 'पोलिका' शब्द मिलता है। पाइअसद्दमहण्णवो कोश में भी संस्कृत 'पोलिका' ही है। पोलिका-पोलिआ-पोली-पूली-पूरी विकासक्रम संभव हो सकता है।

५—प सं व्या, २८४१ (१)

६—प सं० व्या २४३।१ 'करिल चढ़े तहं पाकहिं पूरी। मुठहिं मांह रहहिं सोंपूरी।
आगहु सेत पोत उजरी। लेनु ताहि अधिक कोंवरी।
मुख मेलत खिन जाइ बिलाई। सहस सवाद सोव जो खाई।'
५४३।७ 'पूरि सोहारी करी घिउ चुवा। छुवत बिलाहिं डरन्ह को छुवा।'

कचौरी (१८३१) [कच—बाल—तामिल] यह दाल की पिट्ठी भर कर बनाई गई नमकीन पूरी सी होती है किन्तु छोटी और मोयनदार आटे की कुछ अधिक मोटी बनती है। डा सुनीत कुमार चैटर्जी के मतानुसार 'कच' तामिल शब्द है जिसका अर्थ दाल है। कचपूरिका-कचउरिया कचौरी—यह विकासक्रम संम्भव हो सकता है।[1] कचौरी प्राय उरद की पिट्ठी की बनती है। इसी का बड़ा रूप 'बेड़ई' है जो अमोघ क्षेत्र में अधिक प्रचलित है।[2] आजकल आलू मटर आदि की भी कचौड़ी बनाने की प्रथा शहरों मे चल गयी है।

कौरी (१८३१)। आजकल सादाबाद तहसील में पराठे को 'परता' 'टिकर' अथवा 'करौरा' कहते है।[3] संभवत 'करौरा' को ही कौरी कहा गया है— पूरी पूरि कचौरी कौरी। सघल सकल सु सुघर सौरी (१८३१)। पराठा प्राय त्रिभुजाकार होता है और घी लगाकर तवे पर सेंकते है। पछांह म पराठे को 'परामठ' भी कहते है।

१५६—संदुख (४८४) ओदनि ओदन (१ ८ १ १) भात (१ १४) तथा कूरा (१ १४—मोठे कर-कर कूरा) शब्द पके हुए चावल के अर्थ म प्रयुक्त हुए है। इन शब्दों की व्याख्या की जा चुकी है। कुछ लोग चावल पकते समय कुछ पानी निकाल देते है जिसे 'मांड' कहते है। ऐसा करने से चावल बिखर हुए से बनते है। इस क्रिया को 'पसाना' कहते है—भात पसाइ रोहिनी ल्याई (१ १४)। पूर्वी उत्तर प्रदेश बिहार बंगाल तथा दक्षिण में लोगों का मुख्य आहार चावल ही है। पतंजलि ने 'शाल्योदनम्' ओदन का उल्लेख कई बार किया है। इन प्रान्तों में आज भी इस ढंग से चावल खाने का दृश्य देखने को मिल जाता है।[4] खीचरी[5] (१८३१) [सं कृसर.] दाल और चावल मिलाकर (खिचड़ी) पकाते है। आईने अकबरी की व्यञ्जन-सूची में भी खिचड़ी बनाने का ढंग दिया गया है। सम्राट् की पाकशाला में खिचड़ी बनाने के लिए पांच पांच सेर चावल मूंग की दाल तथा घी की आवश्यकता होती थी। सूरसागर में खिचड़ी किस दाल से बनाई गई थी यह नहीं बताया गया है। आईने अकबरी के उल्लेख से अनुमान होता है कि मूंग की खिचड़ी अधिक प्रचलित थी। आज भी उरद दाल मसूर चने आदि की खिचड़ी बनने पर भी लोगों को मूंग की खिचड़ी ही अधिक प्रिय है। विशेषरूप से बीमारी के बाद तो यही दी जाती है। दाल चावल तथा घी के अनुपात में अवश्य परिवर्तन आ गया है।

सूरसागर में इसके अलावा और किसी ढंग से चावल बनाने के उल्लेख नहीं मिलते है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उस समय आज की प्रिय 'तहरी' या चावल का 'जरदा' न बनाया जाता हो क्योंकि पद्मावत तथा आईने अकबरी में इनका जिक्र हुआ है। आईने अकबरी में उल्लिखित चावल की अन्य तरकारियों में 'जुर बिरंज' 'शुल्ला' तथा 'बाग़िरा' आदि नाम लिए

1—डा वासुदेवशरण अग्रवाल—'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति
2—हृ० बी, प्र ११ अध्याय ६
3—हृ० बी, प्र ११, प ६
4—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—'पृ १०५' महाभाष्य व्यास के अनुसार एक भिक्षु का भोजन सूप और यव सत्तू (barley) ही था। पतंजलि के अनुसार किसी भी ब्राह्मण को भोजन कराने के लिए 'ओदन' अवश्य होना था।
5—बर्नियर, पृ १२१, बर्नियर ने सैनिकों के खिचड़ी खाने का उल्लेख किया है। खिचड़ी बनाने में चावल व तरकारी साथ-साथ उबालने के बाद ऊपर से घी डालने का वर्णन है।

जा सकते हैं।[१] पद्मावत में केसरिया 'सोनखरद' तथा 'लहुरी' भी व्यंजनों में थे।[२]

१५७—कढ़ी (१८११)—'खाटी कढ़ी विविध बनाई। बहुत बार जेंवत रुचि धाई।' लोगों के प्रिय व्यंजनों में आज भी कढ़ी का स्थान है। बेसन की पकौड़ी को बेसन के पतले रसे में पकाकर बनाते हैं और दही डाल कर इसमें खट्टापन लाते हैं। निमोना, निमोननि (१०१४ १८११) पिसी दाल को भून कर उसमें बड़ी मसाला हरी मटर आदि डालकर निमोना बनाया जाता है। चने की दाल का ही निमोना अधिक बनता है। सूरसागर में दाल-विशेष या बनाने की विधि का संकेत नहीं है। चटपटा होने का अवश्य उल्लेख है— बहुत मिरिच दै किए निमोना (१०१४) तथा 'सरस निमोननि स्वाद संवारयौ' (१८११)।

बेसन सालन। सूरसागर में बेसन से विविध प्रकार के व्यंजन बनाने की चर्चा कई बार की गई है। इनमें से एक बेसन की तरकारी भी थी—'बेसन सालन अधिकी नावर' (१८११) तथा 'बेसन के दस बीसक दोना' (१०१४)। आजकल भी बेसन का नमकीन हलवा सा बनाकर फिर उसके कतरे काट कर सूखी और रसेदार तरकारी बनाते हैं जो 'बेसन कतलाठी' है। अवध में इसको बकरा भी कहते हैं।[३]

बरी (८३६ १०१४-१८११) [सं० वटी]। उड़द की दाल की छोटी-छोटी पकौड़ियों को सुखाने के बाद उसकी रसेदार तरकारी बनाते हैं। यह आजकल खूब बनाई जाती है। कूर-बरी (१०१४) का उल्लेख भी है [कूरी = धरहर की फली]।

मुँगछी (१८११) मूंग की दाल को बनी कोई नमकीन वस्तु ज्ञात होती है। बरी की तरह ही बनाई मुँगौरी (मूंग की दाल की) भी हो सकती है। पद्मावत में भी 'मुँगौछी' का उल्लेख है।[४]

हरहरी (१८११) 'मूंग हरहरी हींग मसाई' से कोई नमकीन वस्तु ज्ञात होती है। पद्मावत में 'बुस हरहरी' का उल्लेख है। यहाँ हरी मटर या चने को बुँदिया के लड्डू का अर्थ भी लगाया जा सकता है।[५]

मिथौरि (१०१४) उड़द की दाल या पेठे की बरी जिसमें मेथी आदि मसाला डाला जाता है इसको कुम्हरौरी भी कहते हैं। मिथौरी शब्द अब साधारणतया सुनने में नहीं आता है। पद्मावत में सिरका यही मिथौरी का निर्देश है।[६] दहिऔरी (८ १) भी मूंग और दही

१—प्राचीन भ , पृ० १११

२—प० स० व्या०, ५२।६ 'लीइ सोनखरद बेरै केसरि'

" , ५५ ।१ 'लहुरी पाकि लौनि भी परी। परी चिरौंजी भी फुलहरी।'

३—प० सं० व्या० ५८८ (५) शब्दसागर के अनुसार कंडरा बेसन का चौकोर बरा होता है जो सूखा और गीला दोनों प्रकार का बनता है। कुँवर सुरेश सिंह के अनुसार मूंग चना, उरद तथा अरहर आदि दालें मिलाकर पीस कर उसके 'कंडरे' काटकर बनाते हैं। ये 'मुंगौरी' की तरह बनाये जाते हैं।

४—प० सं० व्या०, ५४२।३ 'भई मुगौछी मिरिचैं परीं। कीन्ह मुँगौरा भी गुरबरी' ५४२।३ (मुलायमूंग-मुगपख्या-मुँगौछी) अवधी बोली में यह शब्द नहीं मिला है।

५—प० सं० व्या०, ५५।

६—प० सं० व्या० ५४२।४ 'भई मैथौरी सिरका परा।'

कि यह भी एक प्रकार की बड़ी होती थी (बंसिबोर वाटिका)।

१५८—रायता (१८३१) [सं० राजिकाक्त]। आजकल दही के व्यंजनों में रायता सबसे अधिक बनाया जाता है। यह लौकी, खीरे, ककड़ी, बथुए, आलू, बूँदी आदि विभिन्न प्रकार की चीजों से बनता है किन्तु लौकी का रायता सबसे अधिक प्रचलित है। रायते में कभी-कभी राई भी डालते हैं। सूरसागर में रायते के विस्तार नहीं हैं किन्तु पद्मावत में 'लौका' का ही 'रैता' बताया गया है।[१]

खीर, अमरखीर (८६६ ७१२ १८११) [सं० क्षीर]। खीर का उल्लेख कई स्थानों में हुआ है—'खीर खाँड़ घृत आवनि आनू (१ १४) खीर खाँड़ खीचरी सँवारी (१८२११)। महराने के पाँडे आगमन प्रसंग में भी खीर का उल्लेख है—'नेतु दुहाइ दूध लै आई पाँडे रचि करि खीर बनायी (८६६)। पूरे भारत में दूध की मीठी तरकारी में खीर का प्रमुख स्थान आज भी है। चावल की खीर ही अधिक प्रचलित है। पर आजकल मखाने, लौकी, सूजी आदि अनेक चीजों की खीर बनती है। खीर में मेवा और केसर डालते हैं तथा ऊपर से सोने या चाँदी का वर्क भी लगाते हैं। *सूरसागर के प्रसंगों में प्रायः खीर के साथ खाँड़ शब्द आया है।* आईने अकबरी में खीर को शीरबिरंज नाम दिया गया है तथा दस सेर दूध एक सेर चावल एक सेर खाँड तथा एक दाम नमक से बनाने का विवरण है। पद्मावत में चावल व दूध की खीर को 'पाउरि' कहा गया है।[२] पद्मावत में दोनों ज्योनार के अन्त में खँडवानी (शरबत) घुमाए जाने का निर्देश हुआ है।[३] आईने अकबरी में भी शरबत का पता चलता है किन्तु सूरसागर से इस प्रथा पर प्रकाश नहीं पड़ता है। आजकल अंग्रेजी ढंग के खाने में खाने से पहले ही शरबत अथवा फलों का रस (appetizer) देने की प्रथा है। खाने के बाद 'कॉफी' आती है।

सिखरन (१८११)—'बासौंधी सिखरन अति सोंधी। मिले मिरिच मेटत कफसौंधी।' दही के मट्ठे में गुड़ या खाँड़ डाल कर सिखरन बनाई जाती है। बासौंधी या बासी होने से खटास बढ़ जाती है। जायसी ने 'सोंधि सिखरन' के साथ दूध का वर्णन किया है।[४] अलीगढ़ क्षेत्र में बासी मैदा 'बसोड़' कहलाता है।[५]

काँजी (४५७५) [सं० काञ्जिक]। खट्टे मट्ठे में राई व नमक डाल कर काँजी बनायी जाती है। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियाँ कहती हैं—

'बिरचि मन बहुरि राच्यो आइ।

टूटी जुरै बहुत जतननि करि, तऊ दाग नहिं जाइ।

दूध फाटि जैसे है काँजी कौन स्वाद करि खाइ। (४५७५) काँजी तथा सिखरन आदि दही के व्यंजन अब कम ही बनाये जाते हैं विशेषकर नगरों में।

१—प० सं० ग्रा०, ५४८।१ 'ले शु की लौका बरजाती। रैता कहँ काटे के राती।'

२—प० सं० ग्रा०, ५४८।७ 'पाउरि पहियाउरि आई।' (७) अवधी की उपभाषा बैसवाड़ी में ज्योनार के अन्त में परोसी जाने वाली मीठी तरकारी को 'पहियाउरि' कहते हैं।

५५०। पैसाउरि पहियाउरि, सीमा ज्योनार। (६) बुंदेलखण्ड में शिष्ट वर्ग के बच में 'पहियाउरि' का प्रचार है। वहाँ ज्योनार के अन्त में चावल तथा दाल का शरबत, औंटे या मोरस में गुड़ मिलाकर परसने की प्रथा है।

३—५४८।१४, 'भै ज्योनार फिरा खँडवानी' ५५२।१ 'भै ज्योनार फिरा खँडवानी।'

४—प० सं० ग्रा० ५५०।४ 'सिखरन सोंधि धराई आई।'

५—क० बी०, प्र० ११, भाग० ६

महेरा (१८३१) [सं मही से]— मधुर महेरी गोपनि प्यारी । महेरी मट्ठे में गुड़ व चावल को पकाकर बनाते हैं । कभी-कभी मक्के या बाजरे का दलिया भी डाल देते हैं । इस शब्द के मूल म 'मही' (मट्ठा) ही है ।[1] इसी प्रकार गन्ने के रस में पकी खीर रसखीर रसावर या रसियाई [रस + चावल] कहलाती है । महेरी तथा रसखीर ग्रामीण भोजन में ही अधिकतर होती है । पद्मावत म वर्णित जेवनार में महिउ का उल्लेख हुआ है ।[2]

प्योसर (८ १) । यह संभवत 'पेवसी' अथवा 'पेवस' है जिसकी उत्पत्ति हिन्दी शब्द सागर में संस्कृत 'पेयूष' से मानी गई है । हाल की ब्याई गाय अथवा भैंस के दूध को 'पेवसी' कहते हैं । यह म हा/ तथा पीले रंग का होता है और इसे पीने में हानिकारक मानते हैं । सूरसागर में 'अति प्योसर सरस बनाई । मिर्हि साठ मिरिच रुचि नाई ।' वर्णित है ।

१४९—पापर (१८३१)। डा सुनीतिकुमार चैटर्जी के अनुसार पापड़ शब्द के मूल में तामिल शब्द 'पर्पु' (दाल) है । सं पर्पट प्रा पप्पड-पापड़—यह विकासक्रम हो सकता है ।[3] प्राय अन्य पापड़ कई प्रकार की पीठी से बनाए जाते हैं— उर्द या मूँग की दाल आलू चावल तथा साबूदाना । खाने में पापड़ का अपना विशिष्ट स्थान है और कुछ जगहों में तो खाना पापड़ ही से शुरू किया जाता है । जायसी ने भी अनेक प्रकार के पापड़ भूनने का उल्लेख किया है ।[4]

सँधानो (८२९) सँधार (१८३१) तथा अथानो (८४९) [सं सन्धान = टिकाऊ] ये तीन शब्द अचार के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं— पापर बरी सँधार परम सुचि (१८३१) सुनको बाबत पुरी सँधानी तथा 'निबुआ सूरन आम अथानो और करौंदनि की रुचि न्यारी' (८४९) । अकबर के समय में अनेक प्रकार के फल और तरकारियों के अचार डाले जाते थे या अब अधिक प्रचलित नहीं हैं जैसे केव निंबू व्याज बैंगन कचनार आदि, करील के फूल किसमिस अदरक तुरई, मूली आदि । अकबर के पचासों में भी सूरन के अचार का निर्देश करौंदा नींबू आम बाबर सेम शलजम तथा बांस के अचार आज भी खूब खाये जाते इनके अतिरिक्त मिर्च लौकी और कटहल के अचार भी लोगों को प्रिय हैं । अचार के अ मुरब्बे तथा चटनी भी बनाई जाती है । अवधी में सँधान शब्द अब भी चलता है और पद्माव में भी यही प्रयुक्त हुआ है ।[5]

१५०—सूरसागर के इस पद (८ १ १ २४ १८३१) में उल्लिखित अन्य कुछ व्यंजनों के नामों की ओर भी ध्यान जाता है । इनके अर्थ स्पष्ट नहीं हैं । संभवत अब ये व्यंजन अधिक प्रचलित नहीं हैं । प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं— 'लिलवरी' मूरा (१ १४) 'बरिहा' 'पनोरा' इंदहर सधी (१८३१) ठपूरे (८४५) पेठा कौरी 'मुरकुनी' 'खोंझी तथा मुरुठि (पदि (४३)।

1—सू० सा, प्र १', अध्या० ६

2—प सं व्या, २४३।६ 'मीठ महिउ घी कौरा लाडा । मौरि बरी अनु लेनू बाला ।'

3—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति'

4—प सं० व्या०, ५५ । 'औ पापर भूँजै, बहु अनेक परकार ।'

5—आईने अ म्र ११८

6—प स व्या ६८४।६ 'कनि सधान आए बहु ताये ।'

८—पेय पदार्थ

१६१—खाने के साथ जल (१ १४) [सं] अथवा नीर (१०=३१) [सं] का होना अति आवश्यक है। सूरसागर में भोज्य सामग्रियों के साथ झारी में सीतल [शीतल सं] जमुना-जल रखने का निर्देश हुआ है। 'जमुना जल राख्यो भारी भरि कापर कडुयी ही माधु भवानी। अब मीकौं सीतल जल आनी।' (१ १४) अथवा 'नंदनंदन नीर सीतल अँचवे उठे अघाइ' (१८१२)। पीने के पानी को कपूर से सुगंधित करने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है— सीतल जल कपूर रस रच्यो।[1] सो मोहन अति रुचि करि अच्यो। (१८११) आज भी विशेष अवसरों पर केवड़ा व गुलाब जल डालकर जल सुवासित किया जाता है। पीने के लिए पानी अँचे अँचयौ' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अब पानी [प्रा. पानीय] शब्द जल तथा नीर के स्थान पर अधिक बोला जाता है। पद्मावत में भी पानि अथवा 'पानी' शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है।[2] पीने का जल झारी, कुरु अथवा करिका (१ १४ १८११) में रक्खा जाता था पद्मावत में कचोरा में पीने (५६४।१) का उल्लेख है। आज-कल नगरों में पानी ग्लास में पीने का रिवाज है किन्तु गाँवों में प्रायः लोग लोटे से पानी पी लेते हैं। वृन्दावन जमुना के किनारे बसा होने के कारण जमुना जल पीने के काम में आना स्वाभाविक ही था। इन प्रसंगों में बर्फ से पानी ठंडा करने का उल्लेख कहीं नहीं है। वास्तव में अकबर के समय में ही बर्फ का इस रूप मे उपयोग आरंभ हुआ था।[3] अब तो बर्फ कृत्रिम ढंग से बनाई जाने लगी है। सब जलों में हिन्दुओं के लिए 'गंगाजल' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

नशीले पेय पदार्थ

१६२—कुछ स्फुट प्रसंगों में सुरा (२६ ४१५) [स] अथवा बारुना (४=११ ४८२ १५२७) [सं वारुणी] के उल्लेख भी है। दशम स्कन्ध परीक्षित-कथा में निंद्य वस्तुओं में सुरा का उल्लेख हुआ है— जहाँ हरि विमुख तहँ बेस्या बहाँ। सुरापान तहँ कलि गृह तहाँ। 'जूआ खेलत जहाँ जुआरी। ये पाँचो है ठौर तुम्हारी (२६) अष्टम-स्कन्ध के धन्वन्तरि-अवतार से समुद्र-मंथन द्वारा सुरा तथा अमृत की प्राप्ति का वर्णन है—'बहुरि धन्वंतरि आयो समुद ही निकसि सुरा अरु अमृत लिय संग लायो। (४१५) फिर मोहिनी रूप धारण

१—प सं व्या, २६४।२ 'पाना बीरि कपूर के बासा। पिय न पानी बरत पियासा।'

२—प सं व्या, ५६४।१ 'पानि लिहे दासी चहुँ ओरा। अमृत पानी भरे कचोरा।'

प ६ व्या, १२०।७ 'पान सुगंधित सीतल नास'

३—आईने अ (आबदारखाना) सम्राट् पानी को अमृत कहता था। वह घर व यात्राओं में गंगाजल पीता था, किन्तु जब आगरे तथा फतेहपुर में रहता था तो सोरों से पानी आता था तथा पंजाब में हरिद्वार से। पाकशाला में यमुना तथा चनाब या वर्षा का जल उपयोग में लाया जाता था। सर्वप्रथम सम्राट् ने शोरे से पानी ठंडा करने का ढंग निकाला, फिर सन् ९ इलाही (१५८६ ई) में जब सम्राट् लाहौर में था तब हिम या बर्फ का रिवाज शुरू हुआ। पठानकोट के पास की उत्तरी पहाड़ों से बर्फ कहारों व बहुलों पर आती थी। रुपये की दो तीन सेर मिलने के कारण साधारण वर्ग के लोग केवल गर्मियों में लाभ उठा पाते थे।

कर विष्णु ने सुरा असुरों को विनाश का उपक्रम किया व अमृत देवताओं को— मोहिनी रूप द्वारा सुरा असुरनि दई सुरनि को अमृत दीन्हीं पियाई (४३६)। इस प्रसंग में सुरा असुरों के भोग्य वस्तु है इस तथ्य पर ही बल है। मिठाकर सहित मधुपान (५१६) [सं०] करते थे— 'नाना रूप मिठाकर मधुमत सदा करत मधपान।' दशमस्कन्ध—उत्तरार्ध में बलराम के वन आगमन के समय उनके वारुणी-पान का उल्लेख हुआ है—'वारुनि बल भूमिति बीचन वन बिहरत मन मधु पान (४८१६) अथवा 'वारुनी बलराम पियारी (४८२०)। यहाँ पर ही वारुनी पीने के बाद की अवस्था का सुन्दर वर्णन है— मनी मत्त गजराज बिराजत कटिनि सुप सैन साए। मुकलित नैन सुदेस देखियत नील बसन लपटान। मदि अपने कर कनक कटोरा पीवत प्रियहि चखाए। हँसत रिझात बुलावत बरजत टरकत औंह चढ़ाए। उदित मुदित उठि चलत हलमसत मधुर सुरति मिल पाए। (४८१६)। मद करने वाली वस्तुओं को सदैव श्रम तथा कमठ के सुलाबों में भोग वारुनी आदि मद करते बाड़ी मिठाई पान। के स्थान मिलता रहा है—कोटि कमल मदि वारुनी हब बदै बधुन-बस स्नान (१५२७)। ताका मानो रस रही कटोरी है पीने का वर्णन है—

प्रमरगीत प्रसंग में मदिरा (४१८१) कटोरी कृष्ण (४१८१)
माई मेरे नैननि मैद ढिवी
कैधे कनक कटोरी मदिरा मारतवंत पिया
अथवा – पहु रे मधुकर मधु मतवारे ... उन ने (४१२२)।

बारंबार सरक मदिरा की अपरस रहन ...

१६६—पौराणिक पेय पदार्थ—समुद्र मंथन द्वारा प्राप्त चौदह रत्नों में तीन पेय पदार्थ भी थे—हलाहल१ [सं० हलाहल हालाहल] अमृत-अभिप्रेत (४३५ विमय) [सं० अमृत] तथा सुरा। विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर अमृत देवताओं को बाँट दिया जिसे पीकर उनको अमरत्व मिल गया। (४१५) इसी प्रसंग में मूर्ख-रूपि से राहु के ऊर का कारण भी बताया गया है। शिव ने जगत की रक्षा के लिए विष अपने कंठ में रख लिया इसीलिए उनका नाम नीलकंठ भी है। सूरसागर में अमृत के अन्य पर्यायवाची शब्द सुधा (१... [सं०] तथा पियूष (२१६५) [सं० पीयूष] भी प्रयुक्त हुए हैं।

९—ताम्बूल अथवा पान

१६४—शृंगार के प्रसंगों में पान का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु वर्णन के लिए में भी इसका उल्लेख आवश्यक है क्योंकि खाना खाने के बाद पान खाने की प्रथा सूर के समय में भी थी। श्रृंगार संबंधी सभी प्रसंगों में (८ ११ १४ १८३१) इसका बराबर उल्लेख है। दो समानार्थक शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है— तमोल तंबोल (५१८... पान (६८ १८११) [सं० पर्ण-पत्र पान] तथा तमार तमोल तंबोल (१४८) शब्द भी १५८४ १५८६) [सं० ताम्बूल प्रा० तम्बोल]। एक दो स्थलों में नागबेलि (१४८) तंबोलिन... प्रयुक्त हुआ है। बर्णवान हमोली (पानवाला) संस्कृत ताम्बूलिक [ताम्बूलिक-रा... (पालक ...

१—ईडिया एक कोन इ पारिलिक—पृ २११ अरबी शब्द हुलहिल ... है ही बाद में संस्कृत शब्द 'हलाहल' अथवा 'हालाहल' माने ... कलि... 'हुलिहिल' शब्द का उल्लेख किया है।

तंबोली तमोली] से ही आया है। प्राचीन समय में पान का बीड़ा उठाकर प्रतिज्ञा करने की प्रथा थी। इसी प्रथा पर बीड़ा उठाना मुहावरा आधारित है। नवमस्कन्ध सुन्दरकाण्ड में हनुमान भी सीता को खोजने की प्रतिज्ञा ताम्बूल उठाकर ही करते हैं—'पवन-पुत्र बलवंत बल तनु कापै हनुमो जाइ। लियो बुलाइ मुद्रिका दिन ह्वै के अनुमो तंबोलहि सेहु।—'लियो तंबोल माथ धरि हनुमत कियो चतुरगुन गात। (५१८) सकटासुर वध में भी उल्लेख है—'तुरतहि बीरा दीन्हो (६७९)। देव-पूजन के सोलह अंगों में पान का स्थान भी है।[1] पूजा या आरती के थाल में दूब दधि रोचना तथा चावल आदि के साथ पान भी रखना शुभ माना जाता है। गिरिधर-धारण प्रसंग में इस प्रथा पर प्रकाश पड़ता है—'थार तमोर दूब दधि रोचन हरषि जसोदा ल्याई। करि सिर तिलक बदन अवलोकति मनहुँ रंकनिधि निधि पाई' या कंचन थार दूब दधि रोचन छबि तमोर ले धाई। (१५८४)। नवमस्कन्ध में बनवास की अवधि-समाप्त होने पर राम के अयोध्या-आगमन के समय पुर-वधुएँ आरती सजाती हैं—

दधि दूब-हरद फल-फूल-पान। कर कनक-थार तिय करति गान। (९१०)।[2]

भारतीय प्रथा के अनुसार आतिथ्य-सत्कार में भी पान का महत्वपूर्ण स्थान बहुत दिनों से है।[3] चूना कत्था सुपारी व मसाला आदि रख कर लिपटा हुआ पान ही बीरा (१८११) [सं० बीटक] कहलाता है—'मनमोहन इलबर बीरा' (८ १ १८११)। मिस्सी वाले बीड़े को बीरी (१) कहते थे—'नव बीरी तमक मुख नायो। अति भाल अधर हूँ थायो। (८०१) बीरें उज्जवल तथा पुराने पान के पत्त श्रेष्ठ माने जाते थे—'गोरे पान पुराने बीरा खात भई दुति दाँतनि हीरा (१८११) या—उज्ज्वल पान कपूर कस्तूरी आरोगत मुख की छबि न्यारी। (१ १४)। इस पद्यांश से बीड़े में कपूर तथा कस्तूरी डालने की प्रथा का भी अनुमान हो जाता है। पान का पत्ता ताजा हो अभी लाने की इच्छा होगी—ताजे पान धरे सिंहि तोरा। दिव्य सुगंध सहित बहु बीरा (परि १५१)।

बीड़ा बनाने के लिए पान के पत्ते के अतिरिक्त सुपारी कत्था तथा चूना अत्यावश्यक है। सूरसागर में पान के साथ इनका उल्लेख नहीं है किन्तु अन्य प्रसंगों में सुपारी (२१४६) [सं० सुप्रिय] तथा चूनो (२२४९) का उल्लेख अवश्य हुआ है। व्यापारी के रूपक में मसालों की सूची में सुपारी की चर्चा है—'लौंग नारियर दाख सुपारी कछु लादे हम धाई। (२१४६)। चूना तथा हल्दी मिलकर एक ही रंग लाल हो जाता है इसी प्रकार गोपियों का अपने आराध्य कृष्ण के प्रति अस्तित्वहीन प्रेम था—'मानति नाहिं लोक-मरजादा हरि के रंग मजी। सूर स्याम कौं मिलि चूनो हरदी ज्यौं रंग रंजी। (२२४६)।

आईने अकबरी में ताम्बूल का शाक या अन्न में गिना गया है। उस समय प्रचलित पान की प्रमुख जातियों का भी पता चलता है। दो सौ पानों की गड्डी 'ढोली' कहलाती थी। दो बीड़े अलग अलग लगाकर (एक में कत्था आदि व दूसरे में चूना) तथा रेशम से बाँध कर

१—देवपूजन के सोलह अंग ये हैं—आसन वास, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, वन्दन परिक्रमा।

२—मानस, बाल, ११९६। 'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला।

३— ,, ,, १४१। 'बैठ पान पुरे अनक दसरथ सहित समाज।'

स्तुत किये जाने की प्रथा थी।[१]

पद्मावत में भी एक स्थल पर पानों की अनेक जातियों के नाम दिये गए हैं। इनमें बेहों (पुराने पीले का पान) सुगरांध (लता के मध्य भाग का पका हुआ सफ़ेद या पीला उत्तम पान) तथा बड़ीला (बड़हरदी) नाम उल्लेखनीय हैं। सूरसागर में उल्लिखित 'बीरे' उत्पन्न तथा पुराने पानों की यही किस्म होती जो उत्तम श्रेणी में माने थे। उसमें भी क्योंसार के बाद पान सुखाए जाने का जिक्र है।[२] करने की टिकिया या खिरौरी [सं० खदिर वटिका—कथर बड़िया—कटरोरिया प्रखरिया-खिरोरी खिरोरी] कपूर डाल कर बनाई गई थी— बहुत कपूर खिरौरी बाँधी। (३६।८)

पान की लता को संस्कृत में 'नागवल्ली' भी कहते हैं।[३] आजकल बोरा जिले के मेंहूरे तथा महोबे का पान प्रसिद्ध है। कपूर (बिल्वप्रदेश) 'बंगला' 'बोलना' तथा मगही या 'बनारसी' नामक देशी 'नागर' मराठी आदि जातियाँ अधिक प्रचलित हैं। आतिथ्य सत्कार में अधिक सम्मान प्रदर्शन के लिए दो पान के बीड़े या बीड़ा-जोड़ी देने की प्रथा है। अब रेशम के स्थान पर पान लौंग से बन्द किया जाता है तथा सोने चाँदी के वर्क लपेट कर तश्तरी अथवा खासदान में प्रस्तुत किया जाता है। मसाले में पिपरमिण्ट मरी सौंफ तथा इलायची ने कपूर व कस्तूरी का स्थान ले लिया है।

पान के संबंध में एक मनोरंजक पहेली अवधी क्षेत्र में मशहूर है—'पाँच कबूतर पाँचों रंग अटरिया में बैठे तो एकई रंग।[४]

१०—भोजन करने का ढंग

१६६—खाने के सिलसिले में मुगलकालीन प्रचलित खाद्य-सामग्रियों के अतिरिक्त खाना खाने के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता है। आसन पर बैठने के बाद चौकी सामने रख दी जाती थी— आसन दै चौकी आगे धरि। फिर थाल में हाथ धुलाए जाते थे— कनक-थार में हाथ धुलाए। तबहू ली भोजन तहूँ धाए। (१ १४)। भोजन को भवन लिपायौ (८६६ २०१४)—से जमीन लीपकर खाने बैठने की प्रथा का निर्देश है। खाने की समाप्ति पर तो हाथ धुलाए ही जाते थे—'अँचवन दे तब बीरा कर मुख' अथवा 'भोजन अन्त आचमन कीन्हों' (वरि ... 'हँसि बनी मुख मटाए। तब कपू कपू मुख धमराए। (८ १) तथा 'अँचवन दै कर मुख (१ १४) आदि।[६]

१—आईने अ, पृ० १५१—पान की ये प्रमुख जातियाँ थीं—छिरहटी—सफ़ेद व कलकीला, करोर—कड़े व चिकीदार, कपूरी—पीला बंगला—बड़ा पत्ता तथा बेलबार कपूरकांत आदि।

२—ब सं ध्या, १०६। १६।१ बाल सपूरन करे तैयारे'

३—प० सं ध्या, २८५।२ फिरे बाल बहुरा सब कीन्हे

४—हि श्री प्र १३, अध्याय २, 'ताम्बूल वल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यादि' अमर कोष—२।४।१२ । हिं सा प्र, पृ० में भी इसका उल्लेख है।

५—हि श्री, प्र १३, अध्याय २ —पान सुपारी कत्था चूना तथा लौंग मिल कर लाल रंग।

६—मानस, बाल, ३२८ 'आरत' सहित आचमनु दीन्हा।

हाथ मुँह धोने के बाद पान खाने की प्रथा की चर्चा की जा चुकी है। पान के अतिरिक्त चंदन तथा अरगजा लगाने की प्रथा भी थी— चंदन और अरगजा लाल्यौ। अपनैं कर सब कैं अंग लाल्यौ। ता पाछै आपुन हूँ लायौ। बचर्‍यो बहुत सखनि पुनि पायौ। (१८११) तथा— चंदन अंग कै भरयौ (१ १४)। इन सभी पर्वों में भक्तों को पनवारो (८२१ १८११) व जूठनि (१८१२ १८११) मिलने पर उनका अपने सौभाग्य पर हर्षित होने का वर्णन है—'सूरदास पनवारी पायौ (८१९) सूर जूठनि भक्त पाई देव-लोक भुलाइ (१८१२) या— 'बोलि लई हँसि जूठनि वारी (१८११) अथवा 'हरि लनक लनक कछु खायौ जूठनि सब भक्तनि पायौ। (८ १)। जायसी[1] तथा तुलसी[2] ने भी पत्तल के लिए 'पनवारा' शब्द ही प्रयुक्त किया है। अवधी तथा बुंदेलखण्डी मे यह शब्द चल रहा है। खाने के बाद की बची सामग्री आज भी 'जूठनि' कहलाती है। सदैव आराध्य की 'जूठनि' खाकर अगाध प्रेम प्रकट किया जाता रहा है, यहाँ तक कि भारतीय स्त्रियाँ भी इसी भावना से पति के जूठे बर्तनों में खाना खाया करती थीं।

दावत आदि म बहुत से लोगों के खाने का ढंग कुछ भिन्न होता है। सब लोग पंक्तिबद्ध होकर आसनों पर बैठ जाते हैं और सामने पत्तलों पर खाना परसा जाता है।[3] खाने का यह पंगति [सं पंक्ति] का ढंग सूर के समय में भी प्रचलित था—'संग सहित पंगत बैठारी' (परि १५१)। कृष्ण के अन्नप्राशन के उत्सव मे भी खाने का यही ढंग था— महर गोप सबहीं मिलि बैठे पनवारे परसाए। भोजन करत अधिक रुचि उपजी जो जाके मन भाए। ७ ७)।

१९७—मनूची ने यहाँ के प्रचलित ढंगों से खाना खाने का विस्तृत वर्णन किया है।[4] बादशाह दस्तरखान पर बैठकर खाते थे। सामने सोने चाँदी के पात्रों में भोजन परोसा जाता था। अबुलफज़ल ने लिखा है कि भोजन प्राय दही-दूध से प्रारंभ किया जाता था। खाने के पहले फ़कीरों का भाग निकाल देते थे और अन्त ईश-विनय से होता था।[5] मनूची ने साधु सन्यासियों के संबंध में लिखा है कि वे चटाई पर पालथी लगाकर बैठते थे। फ़र्श गोबर से लीपा जाता था। भोजन बड़े-बड़े पत्तलों पर परसा जाता था जो नमक और मक्खन से चिकने कर लिये जाते थे। उनके भोजन में चावल तरकारी तथा दही-मट्ठा ही अधिकतर रहता था।

सूरसागर में वर्णित सोने-चाँदी के बर्तनों में खाने का ढंग अभी कम आता है। खाने के इन सभी बर्तनों के संबंध में आगे बताया जायगा।

आजकल प्रधानतया लकड़ी के पीढ़े आसन अथवा चटाई पर बैठकर खाने की प्रथा है। खाना प्राय बर्तनों में ही खाया जाता है। दक्षिण तथा गुजरात आदि कुछ जगहों में सामने चौकी पर खाने के पात्र रख कर खाना खाते हैं। नगरों के अंग्रेजी पढ़े लिखे धनी वर्ग मेज कुर्सी पर बैठ कर प्लेटों आदि मे खाने का ढंग पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। इस क्रम में चम्मच छुरी तथा काँटे से खाने का ढंग भी विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप ही आया है।

१—प० स० व्या , २८३। 'कनक पत्र तर पोती कनक पत्र पनवारा'

२—मानस , बाल ३२८। 'तावर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे।'

३—प सं व्या , ९८३।८ 'पाँति पाँति सब बैठे, भाँति भाँति जेवनार।'

४—मनूची, भाग ३, पृ ४२

५—आईने अ० पृ० ११८

खण्ड २

स्थानवाचक शब्द तथा काल-विभाजन

१—कृष्णकथा से संबंधित शब्दावली

१९८—सूरदास का कवि-हृदय ग्राम्य जीवन में ही अधिक रमा। अतएव इष्टदेव की ब्रजलीला के अन्तर्गत वृन्दावन तथा गोकुल ही उनका ध्यान अधिक आकर्षित कर पाए। यमुना का रेतीला किनारा करील कुंज तथा ब्रज के बनों म ही उनका चित्त रमण कर रह गया। कवि ने पूर्ण मनोयोग से तथा भाव विह्वल होकर इन सब का ही चित्रण करके तृप्ति पा ली। कृष्ण तथा राम कथा के सिलसिले में भारत के तीन प्रमुख प्राचीन नगरों—मथुरा द्वारकापुरी तथा अयोध्या की वैभव-सम्पन्नता का वर्णन करना तो आवश्यक ही था। यह उन्होंने किया अवश्य किन्तु, जैसे केवल कर्तव्यपालन के लिए।

सूरसागर की स्थानसूचक शब्दावली के तीन भाग किए जा सकते हैं—(१) कृष्णकथा से संबंधित शब्दावली (२) रामकथा से संबंधित शब्दावली तथा (३) अन्य स्फुट प्रसंगों में उल्लिखित शब्दावली। सूरसागर का विषय ही ऐसा है कि ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक स्थान-प्रदर्शन के लिए अधिक स्थान नहीं है। इससे अधिक अवसर जायसी को पद्मावत में मिला है।

नगर ग्राम आदि

१९९—सूरसागर में ब्रज[1] के गोपों (१२१२ १७१४) से गोकुल तथा वृन्दावन के ग्रामों से ही तात्पर्य है। मथुरा नगरी उसमें प्राय नहीं आती है। कवि के आराध्य की ब्रजलीला का प्रथम अध्याय गोकुल (६४२) से प्रारम्भ होता है— ब्रज भयो महरि कै पूत जब यह बात सुनी। सुनि आनन्दे सब लोग गोकुल नगर सुनी। अथवा अति आनंद होत गोकुल में रतनभूमि सब आई। (६१६) तथा आनंद-मगन नर गोकुल सहर के। (६४७)। गोकुल के हाट-बाजार म उत्सव जैसे बिखरा पड़ता था—'गोकुल हाट-बाजार करत जु भुगतान रे (६४६)। फिर कवि गोकुल को 'अमर नगर' कह कर जैसे उसके अतुल सौभाग्य की घोषणा करता है— अमर नगर उतसाह अप्सरा गावन रे।

ब्रह्म लियो अवतार दुष्ट के दावन रे। (६४६)

अथवा— सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे मथुरा गर्व प्रहारी। [६२२]

आराध्य कृष्ण का शैशवकाल गोकुल[2] में ही बीता। जन्म-मंगल—नाम नारदेवन

१—डा धीरेन्द्र वर्मा (ब्रजभाषा व्याकरण, पृ ६) के अनुसार 'व्रज' शब्द सर्व प्रथम ऋग्वेद संहिता में प्रयुक्त हुआ है किन्तु वहां ढोरों के चरागाह अथवा पशुसमूह के अर्थों में आया है। फिर हरिवंश आदि पौराणिक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकट गोप के ग्राम या गोष्ठ विशेष के अर्थ में हुआ। हिन्दी साहित्य में आकर तो मथुरा के आसपास का प्रदेश ब्रज या ब्रजमंडल के नाम से विख्यात हो गया।

ग्राउज, पृ ८०-८१, इसमें बारह वन, चौबीस उपवन सम्मिलित किये जाने लगे और परिधि अनुमानतः चौरासी कोस की मानी गई।

२—ग्राउज पृ ८०-८१। ब्रज के चौबीस उपवन—गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नंदगांव, संकेत परमानंद अरींग, शेषशायी, माट, ऊँचागांव, खेलवन श्रीकुण्ड, गंधर्ववन परासौली, बिलछू, बछवन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पिसायोवन, कोकिलावन, दधिवन, कोटवन, रावल हैं।

…ी द्वारा बनाया सोहिलो पालना मालकरक्ष अन्नप्राशन वर्षगांठ, कनछेदन आदि—विविध संस्कारों एवं गृह कर्मों के अतिरिक्त बाल-सुलभ-लीलाओं तथा चपलतापूर्ण दैनिक क्रिया-कलापों जैसे—घुटनों तथा पैर पैर चलना चन्द्र-प्रस्ताव कलेवा मिट्टी-खाना माखन-चोरी उलूखल बन्धन आदि विविध प्रसंगों से संबंधित अनेक पद (१०८-१ १६) गोकुल की पृष्ठभूमि में ही लिखे गए हैं। जीवन के इस स्वाभाविक पक्ष के साथ साथ विष्णु के अवतार कृष्ण द्वारा संपन्न कुछ अलौकिक घटनाएँ भी वर्णित हैं, जैसे—पाँचे प्रसन मुख में अखिल ब्रह्मांड-दर्शन शालिग्राम प्रसंग पलना भीतर कागासुर शकटासुर तथा तृणावर्त वध और यमलार्जुन उद्धार।

गोकुल मथुरा के पूर्व-दक्षिण में एक गाँव है। मथुरा से गोकुल तक की दूरी केवल पाँच या छः मील है। श्री वल्लभाचार्य ने श्री गोकुल को अपनाया था तथा यह वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। आज भी यहाँ के कुछ प्रमुख मंदिर इसका स्मरण कराते हैं। इनमें प्राचीनतम इमारतें गोकुलनाथ मदनमोहन तथा विट्ठलनाथ की हैं (१५११ ई०)। नवनीतप्रिया के मंदिर तथा द्वारकानाथ (१५४६ ई०) का माहात्म्य अधिक माना जाता है।[1]

१० —गोकुल म असुरों के इन उपद्रवों से ही खिन्न होकर नंद तथा यशोदा ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उन्होंने 'वृन्दावन' (१०२) में रहने का निश्चय किया—

'महर महरि के मन यह आई।
गोकुल होत उपद्रव दिन प्रति बसिए वृन्दावन में जाई।
सब गोपिनि मिलि सकटा साजे सबहिनि के मन में यह आई।
सूर यमुन-तट डेरा दीन्हे पाँच बरस के कुँवर कन्हाई। (१ २)

फिर पाँच वर्ष की आयु से लेकर मथुरा जाने तक की समस्त लीलाओं का संबंध वृन्दावन से ही है। एक प्रकार से अब शैशव के बाहर पदार्पण करके बालक कृष्ण का घर तथा ग्राम के बाहर का जीवन यहीं आते ही प्रारंभ होता है। यहीं ही गोचारण तथा मुरली-वादन के साथ राधा तथा गोपियों के प्रेम की चरम अभिव्यक्ति हुई। संयोग-प्रेम के पदों में रूप-वर्णन चीर-हरण रासलीला मानलीला वसंत तथा होली और कृष्ण के बहुनाय कदम आदि सब की पृष्ठभूमि वृन्दावन के निकट बहती यमुना तथा उसके तट के करील-कुंज एवं कर्म-निकुंज ही तो है—'नये कुंज अति पुंज नए, द्रुमन यमुन जल पवन छिलौटी। (११ १) से सब ओर करम बढ़ि कहे (१४ १) अति विस्तार नीप तट तार्ते (१४ २) 'विहरत कुंजनि कुंजबिहारी (१८ ५) श्यामा स्याम सुभग यमुना जल निर्भय करत बिहार।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में गोकुल का समानार्थक महावन ही है। महावन में कृष्ण के शैशव की अलौकिक घटनाओं के स्मारक आज भी बने हैं। ब्रज स्थित कृष्ण के रहने के चारों स्थानों—महावन, नंदगाँव, गोवर्द्धन तथा मथुरा के समान राधा के भी चार स्थान वृन्दावन, रावल, राधाकुण्ड तथा बरसाना माने गए हैं।

१—ग्राउज मथुरा ४, पृ ४०

२—ग्राउज मथुरा० ४ (कन्या = गुल्मी) ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृपा नामक व्यक्ति की कथा है। पहले यहाँ एक मयूर भी था जिसका सब तो कोई सन्तोष नहीं है। अकबर लगभग एक बार यहाँ आए थे।

(१७७७) भादु निसि सोभित सरद सुहाइ। शीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई। जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मंडली बनाई (१७५६)। तथा—'एक बौस कदंब नि मैं आई। नाना कुसुम मेइ अपनैं कर दिए मोहि सो सुरत न जाई। (४ ५)। अतएव आराध्य के मथुरा-गमन के बाद यमुना आदि तथा कुंज और लता-वृक्ष आदि भी विरह-व्यथा से मुक्त न रह सके— मोहन जा दिन बनहिं न जात। ता दिन पसु-पंछी द्रुम बेली बिनु देखे अकुलात। (१८२) अथवा 'कालिन्दी अब कमल कुसुम सब दरसन ही दुखदाई। (१८१६)। उनके अलौकिक चरित्र की सूचक घटनाएँ भी घटित होती रहती हैं जिनमें ब्रह्मा-वत्स-हरण अघासुर, बकासुर, शंखचूड़ तथा प्रलंब आदि असुरों के वध कालीय दमन दावानल-पान गोवर्द्धनधारण वस्त्र से नन्द को मुक्ति तथा सुदर्शन-विद्याधर-शाप-मोचन आदि प्रमुख प्रसंग हैं। यशोदा की पुत्र के लिए विह्वलता गोपी-विरह तथा उद्धव का कृष्ण-संदेश लेकर वृन्दावन आना और भ्रमरगीत वाले पद सूरसागर के उत्कृष्टतम पदों में से हैं।

मथुरा से छः मील की दूरी पर वृन्दावन नामक गाँव बसा हुआ है। इसके तीन ओर यमुना बहती है।[1] मुस्लिम राज्य में कई बार प्रयत्न किया गया था कि मथुरा का नाम इस्लामपुर और वृन्दावन का नाम मुमीनाबाद हो जाए पर उनको इस कार्य में सफलता न मिल सकी। कचहरी में अवश्य इस्लामपुर कभी कभी सुनने में आता है। वल्लभ संप्रदाय से संबंधित अनेक मंदिर मथुरा वृन्दावन तथा गोवर्द्धन में हैं। गोकुल मथुरा तथा वृन्दावन में कृष्ण की जन्मुक्त लीलाओं से संबंधित स्थान आज भी स्मारक रूप में इन्हीं नामों से जाने जाते हैं तथा तीर्थस्थानों के समान पूजे जाते हैं। दूर-दूर से यात्री आकर इनके दर्शन करते हैं। इनमें पाँच पहाड़ियाँ ग्यारह शिलाएँ चार सरोवर, चौरासी तालाब बारह कुएँ, बारह बन तथा चौबीस उपवनों के क्रमानुसार दर्शन 'बन-यात्रा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर ने द्वादश बन का उल्लेख किया है (१४०२) तथा वृन्दा बिपिन भी कहा है (१४५८ १४०१)।

१७१—मथुरा[2] (६२२ १७१६) [संस्कृत मथुरा मधुरा] ही कृष्ण की जन्मभूमि थी। मोक्षदा सप्त-पुरियों में इसका स्थान है। मथुरा-गमन से कृष्ण का दूसरा हो

१—ग्राउज, मथ्रा ४ पुराणों व प्रसेतिहासिक विश्वास के अनुसार इस प्रकार यमुना के बहने के संबंध में एक कथा मिलती है। बलराम ने यमुना से रुष्ट होकर एक खाई बना दी और यमुना उसमें गिर गई। बलराम के क्रोधित होने के कारण दोनों कथाओं में भिन्न हैं। मुसलमानों को राज्य समाप्ति पर गोवर्द्धन तथा कोसी भी प्रशस्त-प्रबल परगने हो गए थे।

२—ग्राउज, पृ १, पुराणों के अनुसार राम के राज्य में मधु नामक एक राक्षस यमुना के त पर रहता था। उसी के नाम पर मधु बन 'मधुवन' कहलाया। शत्रुघ्न ने उसको मार कर और वह जंगल कटवाकर उसी स्थान पर मथुरा नगर बसाया। यदुवंश का कई पीढ़ियों तक यहाँ राज्य रहा। उनमें उग्रसेन अन्तिम राजा थे। महाभारत युद्ध का अनुमानित समय एक हजार ई पू है। बुद्धकाल में मथुरा धर्म तथा कला का प्रमुख केन्द्र था। फाहियान की यात्रा में मथुरा उल्लिखित है। वह सर्वप्रथम मध्य देश में जमुना पर बसी मथुरा ही आया था (४ ई)। उस समय यहाँ बीस मठ थे। वह एक महीने यहाँ रहा था। फाहियान के दो सौ वर्ष बाद ह्वेनसांग (६२६-६४५ ई) भी यहाँ आया था। इसके बाद धीरे-धीरे इसका उतना महत्व नहीं रहा। फिर इन्हीं

...आरंभ होता है और साथ ही वृन्दावनवासियों की अनन्य पीड़ा— मथुरा नगरी ...ने व्याकुल ब्रजबाला। सूर मधुपुरी आँखें ये भरे अभिलाषी। (३०१२)। ऐसा लगता है कि कथा का सिलसिला न टूटे इसलिए मथुरा जाने के बाद की सभी घटनाएँ कवि बताता तो गया है किन्तु कैसे उनसे उसका मन दूर भागता है। उसको तो अपने इष्टदेव का गोकुल तथा वृन्दावन वाला ही व्यक्तित्व भाया है। इसीलिए इन दो स्थानों में सर्वाधिक पदों में ही सूरसागर के प्राप्त हैं।

कुछ पदों में कवि ने मथुरा नगरी के भाग्य की प्रशंसा अवश्य की है तथा उनका वैभव-संपन्नता एवं वास्तुकला की दृष्टि से सौंदर्य-वर्णन भी किया है— मथुरा दिन दिन अधिक बिराजै। तेज प्रताप राय केसो के तीनि लोक पर गाजै। (३०१४) अथवा [illegible] मथुरा मुक्तापुरी। बड़ सुदरन अपार रत्नोत केसव जू की प्यारी। (३०१५) तथा हाटक कोट कंगूरा राजत हीरा रतन जरे। मणिमय भवन उतुंग अटार मनसा खचित भरे। (३०१५)

किन्तु वृन्दावनवासियों का रोष तो पूरे मथुरा पर है— 'सखी री मथुरा में है हंस। ये अक्रूर और ये ऊधो जानत नीके गंस। (४२०५)।

मथुरा जाते ही कृष्ण रंक-बन्ध विषम कुबरी पर कृपा कुवलय मल्ल तथा कंस का वध आदि—प्रमुख घटनाओं में उलझ जाते हैं। उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी यहीं होता है। कामों में संलग्न होते हुए भी वे वृन्दावनवासियों का विस्मरण नहीं कर पाते। फलतः बहु प्रेम का संदेश लेकर भेजे जाते हैं।

मथुरा के अन्य पर्यायवाची शब्द मधुपुरी मधुपुरि (३२२ ३८१० ३०६६) [सं० मधुपुर, मधुपुरी] तथा मधुवन (३०१४ ४२ ६ ४१ ६ ३६६२) [सं० मधुवन] भी प्रयुक्त हुए हैं— कालिन्दी के कूल बसत इक मधुपुरी नगर रसाला। कालनेमि अरु उग्रसेन कुल उपज्यो कंस भुआला। (३२२)। मानहु कृष्ण का मथुरा से माधव ही मधुपुरी जाना माधो अपने साथ ब्रजबासियों का सब सुख-शांति ले गया— अब वे मधुपुरि हैं माधो। जिनकी बदन बिलोकत रैनदिन सुख होती अपना थी (३८१०)। कभी वे अपनी असह्य पीड़ा

से ध्वंस कर दिया। महमूद गजनवी ने अपने नवें हमले में मथुरा पर भी हमला किया था। मुसलमानों के राज्यकाल में मथुरा का इतिहास में महत्त्व नहीं है। लोदियों बनजारी के अन्तिम भाग में अकबर के समय में मथुरा का भाग्य फिर चमका तथा [illegible] अर्से के कारण फिर महत्त्व हुआ। १८ १ में मथुरा को अंग्रेजों ने सैनिक कैम्प (military station) बना दिया।

१—पावन्, पृष्ठ १, अकबर के राज्यकाल में आगरा सरकार के अन्तर्गत द्वितीय महाल व परगने थे। इनमें से ही थे मथुरा, महोली, मंगोटला, महावन तथा सहार थे। संस्कृत साहित्य में उल्लिखित मधुपुरी अब महोली नाम से विख्यात है तथा मथुरा से लगभग चार मील दूर है। वर्तमान मथुरा ज़िले का अधिकांश भाग (कोसी तथा छाता परगने से इलिया में अलिग तक) अकबर के समय में सहार सरकार के सात परगनों में से सहार परगने के अन्तर्गत माना था। पावन्, पृ ४७, मथुरा के निकट मधुवन में ही ध्रुव के तपस्या करने की कथा है। ध्रुव नाम की छोटी पहाड़ी पर एक मंदिर भी ध्रुव जी की स्मृति में बना हुआ (१८२४ ई०) है। मधुवन महोली गांव में स्थित है जो वर्तमान मथुरा से चार पाँच मील है।

का बोझ जैसे कुब्जा पर उतार देना चाहती है — कुबिजा नहिं तुम देखी है। दधि बेचन जब जाति मधुपुरी, मैं नीकैं करि पेखी है। (१७६५)। माता की व्यथा का भी कोई अन्त नहीं—

सूर नंद फिरि जाहु मधुपुरी ल्यावहु सुत करि कोटि जतन मन। (१७५७)।

मधुबन भी अनेक स्थलों में मथुरा का ही द्योतक है—

'तुमहिं छाँड़ि मधुबन मेरे मोहन कहा जाइ अब रैहौ।
कैहौं कहा जाइ जसुमति सौं जब सन्मुख उठि ऐहै॥ (१७१४)

अथवा— सब खोटे मधुबन के लोग।
जिनके संग स्यामसुन्दर सखि सीखे हैं अपजोग। (४२ १)

अथवा—'मधुबन लोगनि को पतियाइ
मुख औरै अंतरगति औरै पतियाँ लिखि पठवत जु बनाइ। (४२ ९)

तथा— चितवत ही मधुबन दिन जात (१८९१)

और—'देखि-देखि मधुबन की बाटहिं धूँधरे भए मेरे नैन' (१८१७)।

इन प्रसंगों के साथ ही कहीं-कहीं मधुबन ब्रज के एक विशेष वन का सूचक भी है[1]—
'मधुबन तुम क्यों रहत हरे। (१२२८)।

इस प्रकार विरह-वियोग के पदों में विशेष रूप से मथुरा मधुपुरी अथवा मधुबन का बार-बार उल्लेख है। ठीक भी है—व्याकुल वृन्दावनवासियों के साथ कवि का हृदय भी तो बार-बार उधर ही खिंचा जाता है—'देखि सखी उत है वह गाउँ।

जहाँ बसत नँदलाल हमारे, मोहन मथुरा नाउँ।
कालिंदी के कूल रहत हैं परम मनोहर ठाउँ।
जौ तन पंख होइ सुनि सजनी अबहिं उहाँ उड़ि जाउँ।
(१८७१)।

१७२—कृष्ण के वृन्दावन जीवन के सिलसिले में अन्य दो गाँवों का उल्लेख भी हुआ है—महरने (८९६) तथा बरसानो (१५११)। महराना में यशोदा का मायका था। वहाँ से एक पाँडे के आने का प्रसंग है— महराने तैं पाँड़े आयौ। ब्रज घर-घर बूझत नँद राउर पुत्र भयौ सुनि कै उठि धायौ। (८९६)। साक्षात् ब्रह्म को कृष्ण रूप में समझने पर उसके आनंद की सीमा नहीं थी—बारंबार नंद कैं आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ (८९८)। राधा के गाँव का ही नाम बरसाना था, अतः राधा-कृष्ण प्रेम-कथा में अनेक बार उसका उल्लेख हुआ है— तै मैं नाउँ गाउँ बरसानो (१५१४)। राधा के पिता वृषभानु पर इसका नाम वृषभानु-पुरा (२७८२) भी था—'इनकौं ब्रजहीं क्यों न बुलावहु। कै वृषभानुपुरा कै गोकुल निकटहिं आनि बसावहु। (२७८२)।

१—ग्राउस के अनुसार मधुबन ब्रज प्रदेश के बारह प्रसिद्ध वनों में से एक है। अन्य कुछ प्रमुख नाम काम-बन, खादिर-बन, वृन्दावन तथा भीरबन हैं। कुछ विद्वान् मधुपुरी या मधुबन को मथुरा का ही समानार्थक मानते हैं। मथुरा तो प्रारंभ से ही यमुना के तट पर है, जब कि महोली दक्षिण पश्चिम की ओर चार पाँच मील दूर स्थित है। प्राचीन संस्कृत साहित्य तक में इन दो नामों के बीच भेद पड़ता है। हरिवंश में शत्रुघ्न द्वारा मथुरा बसाने का उल्लेख है 'मधुपुरी' नहीं।

ब्रज के चौबीस उपवनों में बरसाना का स्थान भी है।¹ मथुरा पर जरासंध द्वारा सत्रह हमलों के बाद—'बार सतरह जरासंध मथुरा चढ़ि आयो (४०८१) अन्त में कृष्ण यदु नगर छोड़कर गुजरात चले गये। वहाँ सिंधु तट पर उन्होंने अपनी नई राजधानी द्वारकापुरी बसाई—चले द्वारिका स्याम राम जब भूतल जायो (४०८१) का सूरदास द्वारिकानिवासी प्राणनाथ प्रभु पायौ। (४०८१)। सूर के पदों में द्वारकापुरी की शोभा का वर्णन भी है (४०८१ ४०८४)। इसके कई नाम प्रयुक्त हुए हैं—द्वारिका (४०८१) द्वारिकापुरी (२६८) तथा द्वारावति द्वारावती (८१ ८४) [संस्कृत द्वारका द्वारिका द्वारवती]। कृष्ण का अन्तिम जीवन यहीं बीता।² रुक्मिणी हरण व विवाह प्रद्युम्न-जन्म जाम्बवती सत्यभामा विवाह शतधन्वा भौमासुर वध पंचपटरानी विवाह प्रद्युम्न अनिरुद्ध विवाह नृग उद्धार पौंड्रक सुदक्षिण वध नाग विवाह, जरासंध वध शिशुपाल शाल्व दंतवक्र भस्मासुर वध। सुदामा चरित भृगु परीक्षा आदि यहीं पर घटित होने वाली प्रमुख लौकिक और अलौकिक घटनाएँ हैं। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध के ४०५२ पद के बाद के सभी पद इन्हीं घटनाओं पर आधारित हैं। कवि ने द्वारकनगरी की वास्तुकला एवं शोभा का वर्णन भी किया है— द्वारावती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान (४०८४) जित द्वारावति देखन आवत... फिर फटिक पची कंचन खचि मनिमय मन्दिर बने बनावत। अपनी अमल न आवत। (४०८१)। द्वारका का एक नाम हरिपुर (७८६) [सं. हरि + पुर] भी दो बार स्वयं प्रयुक्त हुआ है— यदु बहु पाय हरिपुर गए। द्वारकापुरी का धाम भी महत्त्व है। कृष्ण जैसे अधिपति को पाकर वहाँ के निवासी स्वर्ग की चाह से— सूरदास द्वारिकानिवासी प्राणनाथ प्रभु पायो। (४०८१)।

१०१—कुरुखेत कुरुक्षेत्र (४ ११ ४८११) [सं. कुरुक्षेत्र] दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध में कृष्ण का द्वारका से रवि-ग्रहण-पर्व पर यहाँ आने का प्रसंग है। वे वृन्दावन भी संदेश भेजते हैं—कुरुक्षेत्र में आइ दियौ इक दूत पठाई। नंद जसोमति गोपि ग्वाल सब सूर बुलाई। (४८११) हरि दर्शन के लिए अत्यन्त काल से आतुर व्रजवासी संदेश मिलते ही तत्क्षण रथ सजा कर चल पड़े।

इतनी लम्बी अवधि के उपरान्त कृष्ण तथा व्रज के लोगों के मिलन का चित्रण अत्यन्त मार्मिक है— इतनेक दिनी मांझ हरि को मधुर स्वप्न के धीरों (४८) 'सेंति कीरत मूरि

१—पाठक के अनुसार बरसाना मथुरा की सीमा पर बसा बड़ा गाँव एवं पहाड़ी पर स्थित है और मथुरा परगने में पड़ता है। 'लाड़ली जी' अर्थात् राधा को यहाँ दिखाने— के लिए यहाँ अनेक छोटे-छोटे मन्दिर अब भी हैं। एक मंदिर राधा की सखियों ललिता, विशाखा चंद्रावलि आदि की स्मृति में बनाया गया है तथा एक वृषभानु तथा एक कीरत का है। इस पहाड़ी की समानान्तर पहाड़ी पर गाँव मील दूर ही नंदगाँव बसा है।

२—पाठक, पृ. ९। महाभारत की कृष्ण कथा में उनका व्यक्तित्व द्वारिका के राजा तथा एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं योद्धा का ही चित्रित है। कृष्ण का रसिक-शिरोमणि तथा कन्हैया वाला व्यक्तित्व बाद में जोड़ा गया है। द्वारकापुरी की पूर्व कथा हरिवंश में मिलती है। अन्य पुराणों में भी यह कथा मिलती है किन्तु राधा का अस्तित्व इनमें भी नहीं है। भागवत पुराण इस कृष्ण चरित दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मिलहि किन माई। महाराज जदुनाथ द्वारावत तबहि हुते सिसु कुँवर कन्हाई। (४६ १) अथवा 'हरि जू इते दिन कहाँ लगाए' (४१ ६)। रुक्मिणी और राधा सगी बहिनों की तरह मिलती हैं (४६ १)। राधा तथा माधव के प्रेम के एकात्म्य का सुन्दर वर्णन है—'राधा माधव भेंट भई। राधा माधव, माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।... बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई। (४६१)।

नवम स्कन्ध की पुरुरवा-उर्वशी कथा से भी कुरुक्षेत्र का सम्बन्ध है। राजा पुरुरवा विरह व्याकुल होकर कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ उनकी अवस्था देख द्रवित होकर उर्वशी ने उनको दर्शन दिये (४४१)। एक स्थल पर 'क्यौं कुरुखेत बड़े को छोमी' (४०५६) उल्लेख भी हुआ है।

कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध महाभारत युद्ध के लिए विशेष रूप से विख्यात है—'या रथ बैठि बधु को गर्वहि पुरबै को कुरुखेत (२१)। आज भी दिल्ली और अम्बाला के बीच में कुरुक्षेत्र का प्रसिद्ध मैदान पड़ता है और वहाँ मेला भी लगता है। वहाँ ज्योतीश्वर के पास एक बरगद का वृक्ष है। कहा जाता है कि यहीं पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जगतविख्यात गीता का संदेश दिया था।

१७४—हस्तिनापुर (४८१६) [सं० हस्तिनपुरं हस्तिनापुर] राजा हस्तिन द्वारा बसाया गया अत्यन्त प्राचीन नगर का नाम था। यह मेरठ जिले में दिल्ली से पचास मील उत्तर पूर्व के कोने में गंगा के तट पर बसा था। पाण्डु यहीं का राजा था। पाण्डवों तथा कौरवों से संबंधित कृष्ण-कथा में इसका उल्लेख हुआ है— हस्तिनापुर गये हुते हरि पांडु गृह तहाँ ते चले यह बात जानी। हस्तिनापुर कुरु जनपद की राजधानी थी। इसका पाणिनि ने उल्लेख किया है।[1]

कुंडिनपुर (४७८४) [सं० कुंडिन] यह विदर्भों की राजधानी थी। यहाँ के राजा भीष्मराज की पुत्री रुक्मिणी से ही कृष्ण का विवाह हुआ था। रुक्मिणी-हरण कथा में इस नगर का वर्णन किया गया है— द्विज कहियो जदुपति सों बात।[1] बेद विरुद्ध होत कुंडिनपुर, हंस के अंस काग नियरात। (४७८६)

चन्देरी[2] (४७८५)। शिशुपाल चंदेरी का राजा था और रुक्मिणी के भाई ने उसको रुक्मिणी से पाणिग्रहण करने के लिए बुलाया था— रुक्म चंदेरी विप्र पठायौ। ब्याह काज सिसुपाल बुलायौ। (४७८५)।

वाराणसी (४८ १)[सं० वाराणसी]। रुक्मिणी कथा में ही कृष्ण के विरुद्ध वाराणसी के राजा दंतवक्र के युद्ध करने का प्रसंग भी है—'साल्व दंतवक्र वाराणसी को नृप चढ़े दल साजि सबी धाय धाए। (४८ १) प्रथम और द्वितीय स्कन्धों के विनय पदों (१४ १४६) में

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० ७१, ४४ अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख है। थानेश्वर, हिसार तथा हस्तिनापुर के बीच का त्रिकोण प्रदेश कुरु राष्ट्र (गंगा यमुना के बीच में स्थित जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी), कुरु जांगल (रोहतक, हांसी, हिसार) तथा कुरुक्षेत्र (उत्तर में जिसका केन्द्र थानेश्वर कैथल और करनाल था) इन तीन विभिन्न नामों से जाना जाता था।

२—प० सं० टी०, ११७७ 'चढ़िहै विरह चंदेरी आवै', दण्डकारण्य के साथ ही जायसी ने इन दो स्थानों का संकेत मात्र किया है। ४६१।१ 'का चितउर केहि काज चंदेरी', ४ ।१ 'कंथा मौंगे सेत चंदेरी। आदि स्थानों में भी चंदेरी का उल्लेख जायसी ने किया है। गोरखपुर का किला चंदेरी में भी था।

की प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों में बनारस या वाराणसी का उल्लेख हुआ है— मत्स्यमेध वसुं की कीर्ति गया बनारस मथ केदार। रामनाम हरि ठकुर पूजे जो तन मारी बाद हिवार। (१४१) अथवा—'बन वाराणसि मुक्ति क्षेत्र है चलि तीको सिकारऊँ (१४)। वाराणसी एक प्रमुख तीर्थ स्थान माना गया है और यहाँ मृत्यु होने पर स्वर्ग मिलन का विश्वास आज भी अनेक हिन्दुओं में प्रचलित है। इसीलिए काशी में करवत लेन की प्रथा थी।[१] बहुत से लोग बूढ़ा अवस्था में बनारस जाकर रहने लगते हैं। प्राचीन समय में भी यह भारत के प्रसिद्ध नगरों में था। उस समय विद्या एवं साहित्य के क्षेत्र में इसका ऊँचा स्थान था। पाणिनि ने भी उस समय के नगरों में वाराणसी का नाम लिया है। बनारस का एक अन्य प्राचीन नाम काशी भी है क्योंकि काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी।[२]—

'मधु निरगुन के सिमिटि सुनावहु जो मुक्तिदा बसै काशी। (४८८१)
अथवा निर्गुन तब पायी काशी (४ ६४)। आजकल बनारस नाम ही प्रचलित है किन्तु कुछ समय पहले सरकार ने फिर बदल कर वाराणसी नाम रख दिया है।

सारंग (४८ १)। रुक्मिणी-कथा में कृष्ण-शिशुपाल युद्ध के सिलसिले में उल्लेख है, फिर यहाँ के राजा का वध श्री कृष्ण ने किया— सुभट सारंग करि कोप हरिपुर पायो (४८१२)। मध्ययुगीन में उल्लिखित जनपदों में सारंग का स्थान है।[३]

नदियाँ

१ ५—कृष्ण की ब्रज लीलाओं में यमुना नदी का भी महत्त्व है। यमुना के निकट ही वृन्दावन बसा होने के कारण गोचारण, मुरलीवादन, चीर-हरण, रासलीला, दानलीला, यमुना स्नान आदि सभी प्रमुख प्रसंगों से यमुना नदी का संबंध है— यमुना तीर्थ बहुत स्थिति (१५११)। कुछ अलौकिक चरित्र से संबंधित घटनाएँ भी यमुना तट पर हुई थी जिनका उल्लेख किया जा चुका है। वियोग प्रेम के पदों में ब्रजवासियों के साथ प्रकृति के व्याकुल होने का चित्रण है फिर कृष्ण की प्रिया यमुना का भी दुखी होना स्वाभाविक ही था— देखियत कालिंदी अति कारी ... कर बालाजी— फिर करवत तन करती

१—प ह टी, ११४१० 'भामी ... बहुत लोगों ने ... मार।
प० सं टी, १ ३।६ 'आइ बनारसि कासि कथा।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ३०, ७२ पूर्वी भारत के जनपदों में काशी भी था— कोसल, काशी मगध, कलिंग और सुम्ह। वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यहाँ के लोग 'वाराणसीय' कहलाते थे।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ ५५, ५६ साल्व तथा मत्स्य नामक जनपदों का साथ-साथ उल्लेख ब्राह्मण और महाभारत में भी है। मत्स्य की राजधानी विराट् (जयपुर में बराट) थी और साल्व भी उसके निकट ही होना चाहिए। संभवतः अलवर से उत्तरी बीकानेर तक यह जनपद था। अनुमान होता है साल्व काफी दिन पहले पश्चिम से बलूचिस्तान के स्थि होते हुए आये थे और 'साल्व का गिरि' (वर्तमान हाला पर्वत) नाम से अपने सिंधु छोड़कर आए। ये लोग उत्तरी सौवीर से होते हुए सरस्वती के किनारे किनारे चल कर उत्तरी राजस्थान में बस गए। यमुना तक उनके आने की बात पर एक दूसरी वैदिक दृष्टि से प्रकाश पड़ता है—'योगन्धरिर्मे नो राजेति साल्वीरवादिषुः विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।'

अति कारी । अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं भई बिरह जुर जारी ॥[1]

गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि तरंग तरफ तन भारी ।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी ॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर पंक जु काजल सारी ।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति दिसि दिसि दीन दुखारी ॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी ।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी ॥ (१८०६)

कभी गोपियों का क्रोध यमुना पर भी उतरता है— जाको माई जमुना जम ह्वै री ।
कैसैं मिलौं स्यामसुन्दर कौं बैरिनि बीच बही ॥
कितिक बीच मथुरा अरु गोकुल आवत हरि जु नहीं । (१८१२)

सूरसागर में यमुना के कई नाम प्रयुक्त हुए हैं—जमुना (११५१) [सं यमुना—यम की बहन], रवितनया[2] [सं] तथा कालिंदी (१८०१) [सं कलिंद पर्वत से निकली नदी]।

कालीय-दमन की कथा (११६६ ११ ७) का संबंध भी यमुना नदी से है। उसके एक भाग में ही कालीय नाग का नाम रहता था। उस स्थान को कालीदह (११४१) [सं कालियः ह्रदः—प्रा] कहा गया है।

मथुरा के निकट यमुना एक मील के करीब चौड़ी है। कुछ वर्षों पहले तक इसका तट झाड़ियों और वृक्षों से ढका हुआ था। यही वन खंडी (जैसे कोकिलावन करंबखंडी आदि) आदि नामों से जाने जाते थे। बर्नियर ने यमुना स्नान के महत्त्व का उल्लेख किया है।[3]

सरस्वति (१८ २) [सं० सरस्वती] *सुदर्शन-विद्याधर-शाप-मोचन प्रसंग में* सरस्वती नदी का उल्लेख हुआ है। नंद गोपी-ग्वालों के साथ इसके ही तट पर गए थे जब उन्हें साँप ने काट लिया था—'नंद सब गोपी ग्वाल समेत।

गए सरस्वति तट इक दिन सिव अंबिका पूजा हेत। (१८०२)।

पाणिनि ने सरस्वती नदी का उल्लेख किया है।[4] यह एक प्राचीन नदी है। प्रयाग में गंगा यमुना तथा सरस्वती-तीनों नदियों के संगम (त्रिवेणी) होने का विश्वास चला आ रहा है किन्तु अब इसका वहाँ कोई अस्तित्व नहीं है।

१—प सं टी , ११४।६ भई कालिंदी बिरह जराई । बलि पयाय भारइत बिन खाई ।

२—मानस, अयोध्या०, ११४ पुनि सिय रामलखन कर जोरी । जमुनहि कीन्ह प्रनामु बहोरी ।
चले ससीय मुदित दोउ भाई । रवितनुजा कइ करत बड़ाई ।

३—बर्नियर, पृ० ३०२, बर्नियर ने लिखा है कि सूर्यग्रहण (१६६६ का ग्रहण) के समय हिन्दू यमुना में स्नान करते थे। उसके बाद ब्राह्मणों को दान देते थे। इसी प्रकार गंगा, सिन्धु तथा और दूसरी नदियों में भी स्नान की प्रथा थी। थानेश्वर के तालाब की महत्ता भी थी।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४९ अनेक नदियों के संबंध में सरस्वती नदी होने का संदेह किया जाता है। उत्तरापथ तथा प्राच्य भागों को बाँटने वाली नदी इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थी।

सिन्धु (४८६७) [सं]। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध म कृष्ण के द्वारका से कुरुक्षेत्र जाने का संकेत सुन कर व्रजवासी आनन्दित हो उठते है—'पथिक कहो व्रज जाइ, सुने हरि जात सिन्धु तट। सुनि सब अंग भए शिथिल गयो नहिं व्रज छिमी कटि। सिन्धु समुद्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है— गयो कूदि हनुमन्त जब सिन्धु पार (५२)। सिन्धु नदी के सम्बन्ध में प बताया गया है।

पर्वत

१०४—गोवर्द्धन (१४१८) [सं गोवर्द्धन] गोवर्धन पूजा और मारवा दीपक मनक पर (१४२६ १६२१) है। कृष्ण द्वारा गोवर्धन को सात दिन लगातार उंगली पर उठाने की कथा भी उनके अलौकिक चरित में ही आती है।

मथुरा से करीब तेरह मील दूर गोवर्द्धन की छोटी सी पहाड़ी और गांव अब भी है। इसी मार्ग पर मथुरा से तीन मील दूर शान्तनुकुंड है जो शान्तनु की पुत्र के लिए तपस्या तथा गंगा द्वारा पुत्र भीष्म की प्राप्ति का स्मरण कराता है।

अन्नकूट गोवर्धन कथा के कारण ही हिन्दुओं में इसका अत्यधिक महात्म्य है और गिरिराज के नाम से पूजा जाता है। व्रज के साहित्य में अन्नकूट नाम भी मिलता है। यह इतना पवित्र माना जाता है कि यहाँ से पत्थर लेने का निषेध है। यहाँ वल्लभाचार्य का बनवाया (१५२ ६०) श्रीनाथ जी का मन्दिर भी है। औरंगजेब के समय में इसकी मूर्ति नाथद्वार उदयपुर भेज दी गयी थी। अतः अब गिरिराज की चोटी पर इस मंदिर का खंडहर मात्र रह गया है। हर वर्ष अब भी यहां अन्नकूट का उत्सव होता है तथा गोवर्धन की पूजा की जाती है। कार्तिक के महीने में इसकी परिक्रमा का भी महत्त्व है। सूरदास जी श्रीनाथ जी के मंदिर में ही भजन-कीर्तन किया करते थे।

अन्य स्थान

वंशीवट वंशीवट (१५११ १ ५८)। यमुना के तट पर इन स्थानों में कृष्ण के विचरण करने का वर्णन अनेक पदों में है— यमुना कूल मूल वंशीवट नामक गोप कुमारि (१५११) तथा—फिरत वनवि वृन्दावन वंशीवट संकेत वट (१ ७८)। व्रज के प्रसिद्ध चौबीस उपवनों में से संकेत भी एक है। वंशीवट वृन्दावन यमुना तजि बैकुंठ न जावें (१४६) वंशीवट अति सुखद और इन पाठ भई है। सखा लिये तहँ गए, मधु बन करहि गई है (१०७५)—आदि स्थल हैं।

२—रामकथा से संबधित शब्दावली

१०५—सूरसागर का नवम स्कन्ध रामकथा पर ही आधारित है। अन्य कुछ पदों से स्फुट प्रसंग भी है। इन थोड़े से पदों में ही पूरी कथा कहा दी गयी है। रामकथा से संबंध रखने वाले प्रमुख नाम इस प्रकार है—

नगर आदि

अवध्या अयोध्या (४८८) (४६४) [सं अयोध्या] राम-जन्म पर अयोध्या वासियों के हर्ष का वर्णन है— अयोध्या बाजति आजु बधाई (४६१)।[1] इसके अन्य नाम या पूरी फिरत अयोध्यावासी अवध न त्यागत और (४६०)। अवधपुर, अवधपुरी (४०१) [सं अयोध्यापुरी] तथा कोसलपुर (५११) [सं कोशल पुर] भी है— अवधपुर आये दसरथ राइ (४०१) अथवा— महाराज दसरथ मन धारी।

१—पाठम्

अवधपुरी की राज राम है जोर्जे बन बनचारी। (४७४) तथा दशरथ-सुत कौशलपुर बासी' (५२१)। प्राचीन समय में कोशल जनपद था। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है।[१] अयोध्या सरयू नदी के तट पर बसी हुई थी और सूर्यवंशी राजा दशरथ की राजधानी थी[२]—हमारो जन्मभूमि यह गाउँ। सुनहुँ सखा सुग्रीव विभीषण अवनि अयोध्या नाउँ—अपनी प्रकृति लिये डोलत हौं सुरपुर मैं न रहाउँ (१०६)।

आज भी फ़ैज़ाबाद शहर से कुछ मील दूर सरयू के तट पर अयोध्या शहर है जो राम का जन्मस्थान होने के कारण पवित्र माना जाता है तथा वहाँ के अनेक मंदिर अब भी उनका स्मरण दिलाते हैं। यहाँ हर वर्ष रामनवमी का मेला होता है। अवध वर्तमान समय में एक भाग है। इसमें लखनऊ फ़ैज़ाबाद सीतापुर हरदोई आदि बारह ज़िले हैं। मुसलमानों के राज्य-काल में भी अवध तथा फ़ैज़ाबाद का महत्त्व था। अवध की संध्या (शामे अवध) अपने सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है।

मिथिलापुर (४८ १) [सं मैथिल] के राजा जनक की ही पुत्री सीता थी। यह विदेह देश की राजधानी थी।[३] राजा जनक के नाम पर ही इसका दूसरा नाम जनकपुर (४६८ ४०२) भी मिलता है। सीता के दो नाम मैथिली और जानकी इन्हीं नामों पर आधारित हैं।

पंचवटी (८१७) [सं० पंचवटी] वनवास काल में राम के यहाँ रहने का उल्लेख है। यहाँ शूर्पणखा-नासिकोच्छेदन तथा सीताहरण आदि घटनाएँ घटित हुई थीं—'जहँ तात के पंचवटी बन छाँड़ि चले रघुनाथी। तहाँ बसत सीता हरि लीन्ही रजनीचर अभिमानी।'[४] विष्णु के दोनों ही अवतार थे—राम और कृष्ण। यशोदा शिशु कृष्ण को राम की कहानी सुलाते समय सुनाती हैं। वे अपने पूर्व चरित्र का स्मरण कर वर्तमान स्थिति को भूल जाते हैं और कह उठते हैं—लछिमन धनुष देहु कहि उठे हरि अनुमति सुर डराभो। (८१७)।

पंचवटी दण्डकारण्य के अन्तर्गत था तथा वर्तमान नासिक के निकट गोदावरी के तट पर बसा हुआ था।

लंका लंक (६१ ५४९) [सं लंका]। रावण लंका का राजा था और सीताहरण के बाद उनको यहीं की अशोकवाटिका में रखा गया था। हनुमान द्वारा लंका जलाने का प्रसंग भी है—'लंका सकल जरी'[५] (५४२ ५४३ ५४४)। लंका की राजधानी के लिए लंका के अतिरिक्त कनकपुरी कनकपुर (५११) [सं], कंचनपुर (५३५) [सं] अथवा हाटकपुरी (६११) [सं] भी पाया है। इसका कारण यहाँ की वैभव-सम्पन्नता ही है।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ९ —पाली पुस्तकों में सोलह महाजनपदों में से एक कोशल भी है। इसके नगर श्रावस्ती का पाणिनि गणपाठ में उल्लेख हुआ है और 'इक्ष्वाकु' तथा 'सरयू' का निर्देश सूत्र ६, ४, १७४ में है। पतंजलि ने 'इक्ष्वाकु' जनपद बताया है जो कोशल का ही दूसरा नाम है।

२—मानस बाल १८८, 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ।

मानस, अरण्य, १९, 'नाम कोसलाधीस कुमारा।

३—मानस, बाल २१२, 'बिंधि बिदेह नगर नियराया।

४—मानस, अरण्य०, ११ 'पंचवटी बसि श्री रघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक।

५—मानस, सुंदर, २६ 'उलटि पलटि लंका सब जारी।

प्रयाग¹ (४१६) [सं प्रयाग] यह गंगा-यमुना के संगम पर स्थित एक पुण्य स्थान है। गौतम तथा अहिल्या की कथा में प्रयाग के माहात्म्य का अनुमान होता है—कब कराइ प्रयाग नहावी। तौहू पुरब तन नहिं पावी। (४१६)। इस नगर का प्राचीन नाम प्रयाग था किन्तु अब 'इलाहाबाद' नाम ही अधिक प्रचलित है। प्रयाग नाम भी चल रहा है।

बदरिका, बदरिकाश्रम (१८४ ४२१) यह हिमालय पर्वत में स्थित एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट किये हुए चार धामों—बद्रीनाथ द्वारिका पुरी तथा रामेश्वरम् में बद्रीनाथ भी एक है। बदरिकाश्रम में नारायण का अवतार रूप में यहाँ रहने की कथा पुराणादि में वर्णित है (४२१)। उत्तर-पश्चात्ताप प्रसंग में भी इसका उल्लेख है—'कछुक दक्षन बदरिका मांहि सुख वास विहार (१८८)।

केदार (१४६) हिमालय में स्थित बद्रीनाथ के निकट एक अन्य तीर्थ स्थान है। नाम-माहात्म्य के पदों में इसका भी उल्लेख है—गोविंद-भजन करो इहि बार। ... अश्वमेध यज्ञ जो कीजै गया बनारस अरु केदार। राम नाम सरि तऊ न पवै जो लगु कोटि बार हिवार। (१४६)। बद्रीनाथ व केदार नाम के मंदिरों के दर्शन करने मात्र भी सैंकड़ों लोग हर वर्ष जाते हैं। पहले इन स्थानों तक पहुँचना अत्यंत कठिन होता था किन्तु अब धीरे धीरे मार्गों की सुविधा होती जा रही है।

कन्नौज² (४१५) अजामिल ब्राह्मण की कथा नाम-माहात्म्य संबंधी पदों में दी गयी है। अजामिल कन्नौज का रहने वाला था—'अजामिल द्विज कन्नौज निवासी।' आज कन्नौज फर्रुखाबाद की एक छोटी-सी तहसील है और यहाँ का इत्र प्रसिद्ध है।

जालंधर (१४) ईश्वर-भक्ति संबंधी पद में जालंधर-पुत्री के पातिव्रत्य का उल्लेख किया गया है—पतिव्रता जालंधर—पुत्री सो पति व्रत ते टारी। यह पूर्वी पंजाब में स्थित एक नगर है।

नैमिषारण्य (१२४) जब समय नीलावती के बाबत प्रसिद्ध थे। ऐसा ज्ञात होता है—'नीलावती बौद्ध रिक-पुराण।'

नीमषार (२२८) भागवत कथा सुनाने के प्रसंग में प्रथम स्कंध में सूत का नीमषार से आने का वर्णन है—'सो मुनि नीमषार से आवी।'

नदियाँ

१८०—सिंधु (सिन्ध) [सं] पंजाब की एक प्रसिद्ध नदी है। विनय पत्र में इसका उल्लेख है। पाणिनि ने भी उत्तर-पश्चिमी नदियों की सूची में सिन्धु का नाम दिया है। इस नदी के नाम पर ही इसके पूर्व का प्रदेश सिन्ध कहलाता था (बदम न सिन्ध मानर सोपान)। इसका उद्गम-स्थल पश्चिमी कैलाश है जो तिब्बत में माना है। प्राचीन समय में नदी के उस ओर का प्रदेश 'पारे-सिन्धु' कहलाता था।¹

गंगा (४५९) भारत की सबसे अधिक प्रसिद्ध नदी गंगा है। हिन्दुओं में इसका ... वर्णन है।

१—रामकथा में चित्रकूट जाते समय राम का प्रयाग हरने का वर्णन है। भरद्वाज मुनि का आश्रम था—'मानस अयो १ म, 'भरद्वाज आश्रम सब प्रात प्रयाग नहाई'

२—प० सं टी, ४२१५ 'मरिष बहुदिर कनउज राजा'

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ४१

महत्ता प्रमुख तीर्थस्थानों से कुछ बढ़कर ही है। गंगा-स्नान से सब पाप नष्ट होने का विश्वास है। गंगा-जल भी पवित्र माना गया है। मृत्यु के समय सनातनी हिन्दुओं में गंगाजल पिलाने की प्रथा है। सूरसागर में गंगा के पृथ्वी पर आने तथा स्तुति से संबंधित अनेक पद हैं। नवम-स्कन्ध में गंगा-आगमन का विस्तृत वर्णन है (४६३)। सूर्यवंश के राजाओं से संबंध होने के कारण इस स्कन्ध में यह प्रसंग है। राजा भगीरथ के कठिन तप के फलस्वरूप शिव की जटाओं में स्थित गंगा के पृथ्वी पर आने की कथा पुराणों में भी मिलती है। भगीरथ के नाम से गंगा का नाम भागीरथी पड़ा। इसका एक अन्य नाम मंदाकिनी (५४८) [सं० मंदाकिनी] भी है। गंगोत्री से निकलने के बाद पर्वत में स्थित धारा भाग भी भागीरथी के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर काशी के निकट भागीरथी में मिल जाती है। चित्रकूट के निकट बहने वाली एक अन्य नदी का भी नाम मंदाकिनी है। गंगोत्री से निकली धारा भागीरथी में पर्वतीय प्रदेश में जहाँ अन्य नदियाँ मिलती हैं वहाँ एक प्रयाग माना गया है जैसे कर्ण-प्रयाग रुद्र-प्रयाग तथा देव-प्रयाग आदि। पुराणों के अनुसार यह स्वर्ग में बहनेवाली गंगा की धार है। ब्रह्म-वैवर्त पुराण के अनुसार यह एक अयुत योजना लम्बी है तथा हरिवंश के अनुसार द्वारिका के निकट की एक नदी का नाम भी मंदाकिनी था। सूरसागर में गंगा के अन्य दो नामों का उल्लेख भी है—माधव वेनी (४५५) [सं माधव वेणी] तथा सुरसरी (१ ७) [सं सुरसरित] 'नाग-नर-पसु सबनि चाह्यौ सुरसरी को बुंद (४२४) जय जय जय-जयं माधव बेनी जगहित प्रगट करी करुनामय' (४२१), अथवा 'गंग-तरंग बिलोकत नैन। अतिहि पुनीत बिष्नु पानोदक महिमा निगम पढ़त मुनि बैन। (४२६)। राम-कथा के अन्तर्गत सीता हनुमान-संवाद में भी उल्लेख हुआ है—'मंदाकिनि तट-फटिक सिला पर मुख-मुख चारि तिलक की करनी। (५४२)। यह सर्वप्रथम हरिद्वार में आती है इसीलिये हरिद्वार को भी पुण्य स्थान मानते हैं। वास्तव में गंगा से इतने लाभ हैं कि उसकी महत्ता ठीक ही है। गंगा जल पवित्र मानने का एक कारण औषधिक महत्व भी है। यह बहुत दिन रक्खा रहने पर भी खराब नहीं होता—'गंगाजल तजि पियत कूप जल' (२६१) अथवा 'तुम निर्मल गंगा-जलहु है (२६७८)। गंगा यमुना सरस्वती के रंगों[२] का उल्लेख भी है—

> 'चंदन खौरि ललाट स्याम कैं निरखत अति सुखदाई।
> मनौ एक संग गंग-जमुन नभ तिरछी धार बहाई।

अथवा 'अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाई।
> मनु सरसुति गंगा जमुना मिलि, आगम कीन्ही आई। (२४११)
> संगम के लिए त्रयधार का प्रयोग भी हुआ है।

वेना (१४६) [सं वेणी त्रिवेणी] प्रयाग गंगा यमुना के संगम पर ही अवस्थित है।[१]

१—मानस, बाल ११ 'रामकथा मंदाकिनी, १ १, 'जटा मुकुट सुरसरित सिर', २११, 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।'

२—प० सं टी, १ ०।१ बरनौं माँग सीस उपराहीं। ....जमुना माँझ सुरसती देखी.................तेहि पर पूरि धरे जौ मोती। जमुना माँझ माँग कै सोती।

१—मानस, अयोध्या, २०४ देखत स्यामल धवल हिलोरे, पुलकि सरीर भरत कर जोरे। सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ।

तीसरी नदी सरस्वती के मिलने के विख्यात होने के कारण 'त्रिवेणी' नाम है।[1] त्रिवेणी हिन्दुओं के लिये अत्यधिक पवित्र है— सहस बार जो बेनी परसी संगम कोउ ही बार' (१४९)।

त्रिवेणी के निकट अकबर द्वारा निर्मित किला भाव भी है तथा हर वर्ष माघ में एक बड़ा मेला लगता है। त्रिवेणी तथा गंगा की पूजा करने वाले सनातनी हिन्दू दूर-दूर से यहाँ स्नान करने आते हैं। एक बार त्रिवेणी स्नान से सब पाप नष्ट होने तथा स्वर्ग-प्राप्ति का उनको विश्वास है।

गोदावरी[2] (७२४) [सं गोदावरी] विन्ध्य पर्वत के ही दक्षिण में बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी है। विनय पदों में इसका उल्लेख हुआ है।

गंडकी[3] (४९) [सं गंडकी] रिपुदेव के पुत्र भद्रभरत की कथा में इस नदी का उल्लेख हुआ है। इसके तट पर ही हिरनी के शावक मिलने का संयोग हुआ था—'एक दिवस गंडकि-तट जाइ। करन लगे सुमिरन चित लाइ।' यह उत्तरी भारत की एक नदी है जो गंगा में मिलती है।

गोमती (४८२८) [सं] बलराम-स्कन्ध बलराम में तीर्थ-लीला से वर्जित होकर भारत के गोमती तट पर जाने का उल्लेख है—'मन यह करत बिचार गोमती तट जाए।' वर्तमान लखनऊ नगर गोमती तट पर बसा हुआ है।

पर्वत

१८१—हिमार (१४९) [सं हिमालय), हिमाचल अथवा हिमाद्रि] भारत की प्रसिद्ध उत्तरी पर्वत श्रेणी हिमालय नाम से विख्यात है। संसार की सबसे अधिक ऊँची चोटी एवरेस्ट हिमालय पर्वत में ही है। पहले संसार से विरक्त होकर लोगों के हिमालय में जाकर तप करने की प्रथा थी। युधिष्ठिर आदि ने भी हिमालय में जाकर ही शरीरांत किया था। द्वितीय-स्कंध के एक पद में तीर्थ-स्थानों के साथ इसका उल्लेख है— 'जौ तनु गारो जाइ हिमार।' (१४६)। पद्माकर में हिमंचल नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है।[4] पाणिनि ने भी 'हिमानी' नाम से उल्लेख किया है।[5]

धौलागिरि (१५१९) [सं धवलगिरि] हिमालय की हिम से ढकी चोटियों को ही धवलगिरि कहा जाता है। कमल-दीपक एक पद में प्रयुक्त कसौटी में इसका उल्लेख हुआ है— 'बहुत गई बलराम हवनि नहिं। धौलागिरि मनु बाढ़ु बली बढ़ि।' (१५१९) इस पर्वत से अनेक औषधिक जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती हैं।

मैनाक [सं मैनाक] यह हिमालय और मैना का पुत्र माना जाता है। कथा के अनुसार

१—प सं टी, १ ।१, बरनी नाम तीरथ जगतहीं। ....जमुना नाम सुरसती हेती। त्रिवेणि पर पुरि बरे जो मोती। जमुना नाम नाम के होती।

२—कालस , बल्लव०, ११— गोदावरी निकट प्रभु रहे परम गृह छाइ।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ ४४, गंडकी नामक नदी का स्थान अभिनीत वाइएड तथा आदि पर्व में वर्णित सात पवित्र नदियों में है जिसके एक ओर सरस्वती है और दूसरी ओर गंडकी नदी।

४—प सं टी १५ ।४—'बाम्हू देत हिमचल सूटी', १५४।२—'पूरब भरत हिमचल लागा।'

५—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ १६

पहले सभी पर्वतों के पंख थे और उड़ा करते थे। अब केवल मैनाक पर्वत के ही पंख शेष रह जाने का विश्वास प्रचलित है। इन्द्र ने वज्र से सबके पर काट दिये थे किन्तु यह छिपकर बच गया था।

मंदराचल (४१५) [सं] यह पुराणों में उल्लिखित वह प्रसिद्ध पर्वत है जिससे सुरों और असुरों ने समुद्र-मंथन किया था। सूरसागर में भी अष्टम-स्कन्ध के समुद्र-मंथन प्रसंग में इसका उल्लेख हुआ है—'मंदराचल मथन चले भाई' अथवा 'मंदराचल उपारत भयो श्रम बहुत (४१५)।

द्रोनागिरि (५६३ ५६४) नवम-स्कन्ध की राम-कथा में हनुमान द्वारा द्रोनागिरि पर्वत से संजीवनी बूटी लाने का निर्देश है—'द्रोनागिरि पर आहि संजीवनि बैद सुषेन बताई' (५६३)। बूटी न पहचानने पर हनुमान पूरा पर्वत ही उठा लाये— संजीवनि को भेद न पायौ तब सैल उठायौ' (५६४)। यह पर्वत उत्तर का ही कोई पर्वत होगा क्योंकि मार्ग में हनुमान का भरत से मिलने का प्रसंग है (५६४ ५६५)।

मलयगिरि (१५६ ५११) [सं मलय] यह दक्षिण भारत की एक पर्वत माला है जो चंदन के वृक्षों के लिये प्रसिद्ध है। सूरसागर में भी मलय-चंदन की शीतलता की ओर संकेत है—'मिलत मुद मलय चंदन कौ राख अंग लपटावै (१५६)। इस उद्धरण में हरि-विमुखों की मूर्खता का वर्णन है। नवम-स्कन्ध में रघुनाथ की मुद्रिका सीता को मलयगिरि के समान ही शीतलता प्रदान करती है— अति सुख पाइ उठाइ लई तब बार-बार उर भेंटे। ज्यौं मलयगिरि पाइ पाननी जरनि हृदय की मेटे (५११)।

सुमेरु (५८९) [सं सुमेरु] यह पुराणों में उल्लिखित एक कल्पित सोने का पर्वत है। यह सब पर्वतों का राजा माना गया है जिसके चारों ओर ग्रह घूमते हैं। सूरसागर के नवम स्कन्ध में सीता-त्रिजटा-संवाद में इसका उल्लेख हुआ है—'दूजै सुमेरु सेष सिर कंपै पच्छिम उदै करै बासर-पति। सुनि त्रिजटी तौहूँ नहिं छाड़ौं मधुर मूर्ति रघुनाथ-गात रति। पद्मावत में भी इसकी चर्चा है।[1] (५८९)।

द्वीप

१८२—जम्बू द्वीप (५५१) [सं] यह पुराणों में वर्णित सात द्वीपों में से एक है। यह मेरु पर्वत को घेरे हुए है। नवम-स्कन्ध में हनुमान अपनी शक्ति और सामर्थ्य के संबंध में कहते हैं— कहहिं जम्बू द्वीप यहाँ तैं लै लंका पहुँचाऊँ (५५१)।

हर्षचरित में अठारह द्वीपों वाली पृथ्वी बताई गई है।[2] द्वीपों की संख्या पुराणों में चार से सात हो गई थी किन्तु बाण के समय में अठारह तक पहुँच गई। इनमें भारत को कुमारी द्वीप व लंका को सिंहल द्वीप बताया गया है। कालिदास ने भी अठारह द्वीपों का ही उल्लेख किया है।[3] महाभारत आदि पर्व में राजा पुरूरवा को तेरह द्वीपों का राजा बताया गया है।[4] सूर के समकालीन जायसी तथा तुलसी ने सात द्वीप ही बताये हैं।[5]

१—प० सं टी०, २११६, 'जो सुमेरु सिरमूल विमाता, भा कंचनगिरि लाग अकासा।'—'वन बहार', ११।४—'मेरु विपिन तिन्हुँ उपराहीं'।

२—हर्ष सां० अ पृ ११६

३—'अष्टादशद्वीपनिखातयूप' —(रघुवंश ६।३८)

४—'त्रयोदशसमुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवा'

—प सं टी , ४६०।२—'सप्तदीप राजा सिर नावहिं'—मानस बाल०, ४, "सप्तदीप भुजबल बस कीन्हें'।

५

झील

मानसरोवर (१५६) [सं० मानस+सरोवर] यह हिमालय की पवत श्रेणियों में उत्तर में अवस्थित है। इस तथा मानस से आत्मा और ब्रह्म का रूपक साहित्य के लिये नया नहीं है। सूरसागर में भी इस भाव को लेकर कई सुन्दर पदों की रचना हुई है— चलि सखि तिहि सरोवर जाहि। जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहि। हंस उज्ज्वल—पंख निर्मल अंग मलि मलि न्हाहि। (३८८) अथवा— मानसरोवर छांड़ि हंस तट काग सरोवर न्हाहिं (१५६)।

पद्मावत में सिंहल द्वीप के एक सरोवर का नाम भी मानसरोवर बताया गया है और उसका विस्तृत वर्णन है।[१]

वन

अंबिका अंबा वन (४४६) [सं अंबा अंबिका] पुरूरवा कथा में इस वन का उल्लेख है। वैवस्वत मनु की पत्नी इला को वशिष्ठ ने उसकी प्रार्थना के अनुसार पुरुष रूप दिया। वह आखेट के लिए अंबा वन में गए। वहाँ ही पुन स्त्री रूप मिलने के बाद उनका बुध से विवाह हुआ और पत्र रूप में पुरूरवा प्राप्त हुए।

बदरीवन (२८१) [सं बदरी, बेर के वृक्षों का वन] तृतीय-स्कन्ध में उद्धव पश्चाताप का उल्लेख हुआ है। वह इस वन में जाकर पश्चाताप करने को तत्पर हुए।

स्थानवाचक शब्दों से बने शब्द

बंगाली (वरि १२१) [सं बंग]² मुरली में गायत बंगाली २ उल्लेख है।

कसमीरी³ (४४१३) [सं कश्मीर काश्मीरः] गोपियों द्वारा कसमीरी मुद्रा के प्रति विरक्ति भाव प्रदर्शित किया गया है—'बिन सबननि ताटक पुनी को कननिकस पुटनाई। बिन सबननि कसमीरी मुद्रा ले ले बिन मुनाई (४४१)।'

४—पौराणिक कल्पित स्थान

१८३—विनय पदों में ही प्रमुख रूप से कुछ कल्पित अथवा पौराणिक स्थानों के नामों की ओर भी ध्यान जाता है। विष्णु लोक को वैकुंठ लोक (१४६ ४८४ १०६७) [सं वैकुंठ] कहा गया है। भू वामन का महात्म्य वैकुंठ से भी अधिक बताया गया है— वैकुंठ भू वामन अनुपा तजि वै० न जाऊं (१४६)। राम-कीर्तन पदों में भी विष्णु-लोक वैकुंठ का नाम आया है—'रही एक वैकुंठ लोक वई त्रिभुवनपाधा। (१०६१)। विष्णु त्रिदेवों में से एक हैं तथा सृष्टि की रक्षा करना उनका ही कार्य है। उनकी पत्नी लक्ष्मी हैं तथा वाहन गरुड़। उनकी तथा सृष्टि की रक्षा करना उनका ही कार्य है। ऋग्वेद में विष्णु का सूर्य की शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है। पुराणों तक आते-आते यह वर्तमान रूप मिला।

इंद्रपुरी (१४१) यह देवताओं के राजा इन्द्र का लोक है। सुरपति इन्द्र तथा उनके

१—प सं टी ३१।१—'मानसरोदक देखिए काहा। भरा समुंद अस अति अगमाहा। ५६।१—'एक देवस कौनिउ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।

२—हर्ष० ता० प्र, ७ ७० वत्ती बंगाल का एक नाम 'पुंड्र' भी था। के समय में प्रचलित था।

३—प सं टी ५६।१२ और बंगाले पहा न कोड़—'बोचक कामना पटुआर (पश्चिमी बंगाल की राजधानी पंडुआ थी)।

४—प सं० टी ५६।१ 'कासमीर पटुआ सुरुवानु'।

लोक का उल्लेख गोवर्धन लीला में अनेक बार है। उनका लोक सुरपुर (१९ १) अथवा अमरलोक (१५१८) नाम से भी जाना जाता है। इन्द्र मेघों के राजा माने गए हैं तथा वैदिक देवता[1] विशेष भी हैं। इन्द्र की रानी शची एवं पुत्र जयंत वाहन ऐरावत मत्त गज राजधानी अमरावती सभा सुधर्मा तथा प्रिय उपवन नंदन माने गए हैं। नंदन उपवन में पारिजात वृक्ष का प्राधान्य है। नन्दन वन में ही कल्पवृक्ष भी कल्पित है। इन्द्र के घोड़े का नाम उच्चैःश्रवा (४७८४) तथा सारथी मातलि है। यह ज्येष्ठा नक्षत्र तथा पूर्व दिशा का स्वामी है।

ब्रह्मलोक (१११०) ब्रह्मा का निवास-स्थान है। इसका उल्लेख ब्रह्मा-वत्सहरण प्रसंग में हुआ है।

शिवलोक (४९९५) शिव का निवास-स्थान कैलाश माना गया है। कैलास (८८५५) का निर्देश भी है—यह कैलास जहाँ सुनियत हर। शिव का उल्लेख वेदों में नहीं है। 'रुद्र' ऋग्वेद में अग्नि का पर्याय है। धीरे धीरे वर्तमान शिव का विकास हुआ। यहाँ सब लोकों से अधिक परब्रह्म के अवतार कृष्ण के साहचर्य का माहात्म्य माना जाना उचित ही है—ब्रह्मलोक शिवलोक नाहिं सुख निगम जु नेति बखानै। सो एम गिरिवरधारी के संग मिलि खेल बखानै। (४९९५)।

जमपुर (विनय) यम की नगरी है। विश्वास के अनुसार यम के दूत ही मृत्यु के बाद आत्मा को ले जाते हैं। यम मृत्यु के देवता हैं और उनका वाहन भैंस है।

वरुन लोक (१९ २) का उल्लेख वरुण द्वारा नंद हरण प्रसंग में है। इसको पताल (१९ २१७) भी कहा गया है। वरुण के महलों तथा सिंहासन आदि का वर्णन भी है।

इस प्रकार सभी देवताओं के अपने अपने लोक माने गए हैं—शिव बिरंचि सुरपति यह मापत पूरन ब्रह्महि प्रगट मिले। पहुँचे जाइ जा मैं लोकनि अमर मारि अति हरष भरे। (१९)। साधारणतः तीन प्रधान लोक या—त्रैलोक (१९ ४) माने गए हैं—'जिनके सुत त्रैलोक गुसाईं। (१९ २) अथवा 'माया के बस तीन लोक हैं (१४)। यह स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल हैं। लोकों की संख्या चौदह भी मानी गई है—सात ऊर्ध्वलोक तथा सात अधःलोक (ऊर्ध्वलोक—भूः भुवः महः, जनः तपः सत्य तथा अधःलोक—अतल वितल सुतल रसातल तलातल महातल तथा पाताल हैं)। इनमें से भूतल (विनय) रसातल (विनय) पाताल (१७ १९ २) का तो उल्लेख है ही साथ ही सरग, स्वर्ग[2] (विनय) तथा नरक (१७२) [वि] लोकों की चर्चा विनय पदों में विशेष रूप से है। पुण्य कर्मों से आत्मा को स्वर्ग के अमित सुख प्राप्त होते हैं तथा पापों के फलस्वरूप नरक-वास। नरक अनेक माने गए हैं। यहाँ जीवितावस्था में अपने पापों के दंड भोगने का विश्वास प्रचलित है।

५—काल विभाजन तथा ग्रह नक्षत्रादि

१८४—द्वितीय स्कंध के नाम-माहात्म्य द्योतक पदों में एक स्थल १२ युगों की सूचना

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० ३५९, वैदिक देवताओं में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि भी थे।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ३८७, 'परलोक अथवा स्वर्ग की स्थिति में अधिकांश हिन्दुओं को विश्वास था। वेदों में स्वर्ग को 'नाक' कहा गया है (न-नहीं, अक=पीड़ा)। पाणिनि ने 'निःश्रेयस्' (उपनिषदों में इसका अर्थ पूर्ण सुख है) तथा 'निर्वाण' का उल्लेख भी किया है। काशिका ने 'निर्वाण' शब्द का संबंध बौद्ध-धर्म से बताया है (निर्वाणो भिक्षु।)

भी की गई है—'सतयुग सत त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारि। सूर भजन कलि केवल कीजै लज्जा-कानि निवारि (२४५)। अथवा है हरि नाम को आधार। और इहिं कलिकाल नाहीं रह्यौ बिधि-ब्यौहार। (२४७)।

सतयुग त्रेता द्वापर तथा कलियुग में क्रमश: संस्कृति का ह्रास होने का विश्वास था।

ग्रह १८५— ग्रहों में सुरगुरु (२०१६) [सं. बृहस्पति] सुक्र (२०१६) [सं. शुक्र-दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य] सनि (२०१६) [सं. शनि] तथा भौम (२०१६) [सं. भौम-मंगलग्रह] के नामों की चर्चा की है। कारावास पदों में बच्चों की उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत इनका प्रयोग हुआ है तथा रंगों की ओर भी संकेत है—

बेसरि के मुक्ता में झाँई, बरन बिराजति चारि
मानौ सुरगुरु सुक्र, भौम सनि चमकत चंद मँझारि (२०१६)

अथवा नील सेत अरु पीत लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि, गुरु—असुर, देवगुरु, मनु भौम सहित समुदाई। (७२६)

——

खण्ड ४—

व्यापार, व्यवसाय, कृषि, ग्राम-प्रबंध

तथा

नग, धातु, सिक्के

१—व्यापार और वाणिज्य

१८९—सूरसागर की कथाओं का विशेष सम्बन्ध तत्कालीन नागरिक जीवन के विभिन्न पक्षों से नहीं है। अतएव व्यापार व्यवसाय तथा राजनीति आदि विषयों को सूचक शब्दावली का अभाव होना स्वाभाविक ही है। प्रारंभिक स्कन्धों के विनय-पदों में (१४२ १४१ ११) ही व्यापार से संबंधित कुछ शब्द मिल जाते हैं। ये भी थोड़े से रूपकों में ही प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दशम स्कन्ध के दधिदान तथा भ्रमर-गीत प्रसंगों में भी कुछ मिले जुले पदों में वाणिज्य का रूपक है।

इस शब्दावली में अरबी तथा फ़ारसी प्रभाव स्पष्ट है। मुग़ल राज्य में नागरिक जीवन से संबंधित शब्दावली पर विदेशी प्रभाव होना आश्चर्य की बात नहीं है।

व्यापार के साधारण अर्थ के सूचक बनिज (२१४२) [सं वाणिज्य] और व्यापार (२१४९ १९५) शब्द आए हैं तथा व्यापार करने वाले व्यक्ति के लिए[1] व्यापारी (२१४९) [सं व्यापारी] तथा बनिज (२१४१ २१४१ २१४९ २१४७) [सं वणिज]। दधिदान प्रसंग में कृष्ण तथा गोपियों के संवाद में वाणिज्य की चर्चा है—'ऐसी कहो बनिज का पटकी अथवा 'सूर बनिज तुम करति हमारे' (२१४२) बनिज व्यापार की सामग्री[2] के अर्थ में अधिकतर प्रयुक्त हुआ है—हँसि वृषभानु-सुता तब बोली, कहा बनिज हम पास' (२१४१) अथवा

'कौन बनिज कहि मोहि सुनावति।
तुम्हपै गथ लाधो गथरु पर, हौंस मिरिच कहु नावति॥
अपनी बनिज दुरावति ही कत नार्डे लिये ते नाहीं।
कहा दुरावति हो मो आगे सब जानत तुम नाहीं॥ (२१४७)

बनिज के इस अर्थ में ही ऊपर गथ [सं ग्रथ] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। ग्रथ का अर्थ जमा किया होता है। सौंज (११०) [सं॰ सज्जा = सामग्री वस्तु] तथा माल (२१४४) [प] भी समानार्थक शब्द है—'करि हिसाब यह सौंज छाँडि कै हरि के पुर लै जाहि' अथवा 'जो जो माल तुम्हारे' (२१४४)। सौदा (११०) [फ़ा॰] भी बेची व खरीदी जाने वाली सामग्री ही होती है। सूरदास के अनुसार आराध्य श्याम में ही एकाग्रभाव मनुष्य का सबसे बड़ा सौदा है—'सूर श्याम को सौदा साँचो कह्यौ हमारो मानि। (११)। सामग्री रखने का

१—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि, पृ २१८, प्राचीन भारत में व्यापारी को 'वणिक' या 'वाणिज' कहते थे। व्यापार के स्थान पर "व्यवहार" शब्द प्रयुक्त होता था। यह विस्तृत क्षेत्र में क्रय-विक्रय का अर्थ देता था, जब कि 'पण्य' स्थानीय व्यापार के सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता था।

२—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि, पृ २३८, २३९, बिकने वाली सामग्री 'पण्य' अथवा 'परिक्रय्य' कहलाती थी तथा बिकी सामग्री 'क्रय' होती थी। (पृ २४०, २४१) पर्यों पर व्यापारियों द्वारा ले जाई जाने वाली वस्तुएं "आहृत" या 'द्रव्य' कहलाती थीं। "बाज़ार" में एकत्रित सामग्री को "संभारसंचय" कहते थे। कात्यायन ने इसी को 'समाचयन' कहा है।

...पान भंडारभूमि[1] (२७०) [सं० भांडारभूमि] कहलाता था। पांडवों के जुआ खेलने के प्रसंग में भी इसका निर्देश हुआ है—'हारि सकल भंडारभूमि (११)। प्रत्येक व्यापार में दो व्यक्तियों का प्रमुख भाग होता है। एक तो व्यापारी और दूसरा ग्राहक (११ ४२८१) [सं० ग्राहक]—होत मन राम नाम को ग्राहक (११)। कोई भी वस्तु लेने के लिये उसका मोल (२१४०) [सं० मूल्य] देना होता है या कुछ खरच (४१४२) [फा० खर्च] करना पड़ता है—बहुत मोल के बाल तुम्हारे कैसे हुरत दुराये। मुग्ध सूर प्रभु मोल लेहिंगे, अब इक दाम कराए। (२१४०) अथवा 'हमें नंदनंदन मोल लिये' (१७१)। इस क्रय-विक्रय का स्थान हाट[2] (११) [सं० हट्ट] अथवा पैठ (४२८१) [सं० पण्य स्थान] कहलाता है—मकरानि-हाट बैठि मतिचार हैं हरि नव जिनस लेहि (११) अथवा कहो तुम कब से पैठ करी' (४२८१)। हाट में सामग्री लेने के लिये धन की आवश्यकता होती है कभी-कभी समान भाव की वस्तुएं बद—ली जा सकती हैं[3] किन्तु यदि उसका मूल्य असमान हो तो कौन लेने की मूर्खता करेगा—'के पाहन के बदले को मुक्ताहल देहै अथवा 'हाथ आदि के कंदुक निमोही को अपने मुक्त देहै तथा 'कौन ठगोरी ब्रज न बिकैहै (४२८)। व्यवसाय में दलाली (११) [अ० दल्लाल] अथवा मध्यस्थ व्यक्ति की भी कभी-कभी आवश्यकता होती है—'काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू सकल दलाली देहि। (११)।

१८७—उस समय व्यापारी अपना सामान घोड़े या बैल आदि पर लादकर गाँव से दूर अथवा नगरों के हाट में ले जाते थे—'करि हिसाब जहँ सौंज लादि के हरि के पुर है जाहिं' (११) या व्यापार जहाँ तू लगावी टूटी बढ़ी गनती (४२४१) 'अथवा तुम्हारी सब वाणी'

1—पृ० स० टी०, २३१४, 'द्युत अपकार सब आहि को पूछी।' १४
"बहुभावति पर्व्व मन भँडारी।" (भंडारी—सं० भाण्डागारिक)। १८२'
"रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती।"

2—ईंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २४, अष्टाध्यायी में "मूल्य" का अर्थ समान कीमत की वस्तु है (मूल्येन समम्)। वैदिक साहित्य में "वस्न" शब्द क्रीत वस्तु तथा उसके मूल्य का बोधक है। पाणिनि ने वस्तु के मूल्य के अलावा "वस्न" व्यापारी के अपने मूलधन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है।

3—ईंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ २१८, अष्टाध्यायी में बाजार के लिये "आपण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। पद्मावत में सिंहल के हाट का वर्णन है—"पुनि देखिय सिंहल की हाटा" — प० सं० टी०, १७११ (१) मध्यकालीन नगरों के वर्णन में चौरासी हाट माने ... है जिनकी पृथ्वीचन्द्रचरित (पृ १२९) में मिल जाती है। कनक-हाट या ... हुई मुसलमानी प्रभाव में 'तर्कीं' कहलाने लगे और उनके तर्तीब '...' नाम से प्रसिद्ध हुए।

4—ईंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ २२६, 'प्राचीनकाल' में यह 'बंध' सिस्टम (patrar system) कहलाता था।

5—ईंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २४२ व्यापारी अपनी सामग्री कई प्रकार के 'पथ' से ले जाते थे—कान्तार पथ, जंगल पथ, स्थलपथ तथा वारिपथ। अजपथ तथा शंकु पथ पर्वतीय मार्ग थे।

मर्दह पर' (२१४७) तथा बैल गोन व्यापारी' (२१४६)। यह सामग्री गोन [सं गोणी] अथवा गाठरी (४२८१) निर्गुन निरमोल गाठरी' में भर कर लादी जाती थी। पटसन या काली ऊन के बने दोहरे बोरे को 'गौन' कहते हैं। यह प्राय माल भरने के काम आता है। जायसी ने 'पेटारे' का उल्लेख किया है (१८५।४) कभी कभी बाट [सं० वर्त्म—प्रा० वट्ट—बाट] में लूट का भी डर होता था— बाट-बाट कहूँ अटक होइ नहिं सब कोउ देहि निबाहि (११) का उल्लेख है[१]। पद्मावत में प्रयुक्त 'साहन शब्द से समुद्री व्यापार का पता चलता है।[२] पद २१४६ १४७ म व्यापार की अनेक सामग्रियों के नाम दिये गए हैं। इस दृष्टि से प्रथम पद का बहुत महत्त्व है। इसमे प्राय सभी मसालों के नाम आ गए हैं जैसे—'हींग मिरिच पीपरि, अजवाइन मैं सब बनिज कहावै (२१४६) अथवा तुम्हारी गथ लादी गर्दह पर हींग मिरिच कहू नाहति' (२१४७)। इसमें प्रमुख मसाले के अतिरिक्त 'नारियर' 'दाख' 'आम 'साख' तथा 'सेंदुर' आदि वस्तुयें भी थीं। आजकल प्राय ये सभी चीजें एक पसारी की दुकान से प्राप्त की जा सकती हैं। सूरसागर में दूध दही बेचने से संबंधित तो अनेक पद हैं ही—'हम अहीर माखन मदि बेचै (४२८१)। पद्मावत में सोने मोती आदि के व्यापार का उल्लेख भी है।[३] कोई भी व्यापार करने के लिये व्यापारी को कुछ धन लगाना पड़ता है जो असल (१४२) [अ] जमा (१४२ १४१) [अ० जमअ] मुसलिम (१४२) [अ मुजमल = एकत्रित] अथवा मूल[४] [सं मूल] (१४२) आदि नामों से जाना जाता है। व्यापार में इस मूलधन का घटना असफलता का चिह्न है और इसको हानि (११)[सं] घटवारो (२१४२) तथा घट्टा (१४१)[सं० वार्त] कहते हैं। क्रय-विक्रय में मूलधन की वृद्धि होना ही लाहा (११) [सं० लाभ] नफा (४२८१) (अ नफ़अ) कहलाता है—'यह तो परंपरा चलि आई सुख दुख लाभ अरु हानि। (११४१) नफा (४२८१) अ और बनिज न नाहीं लाहा होति मूल में हानि (११ अथवा होती नफा साधु की संगति मूल गांठि नहि टरतो। सूरदास बैकठ पैठ मे कोउ न फेंट पकरतो (११७) अथवा भ्रमरगीत प्रसंग में नायिकाएँ कहती हैं— तै आए ही नफा जानि कै (४२८१) अथवा यह ब्योपार तुम्हारी ऊधौ ऐसे ही धरयौ रैहै (४२५१)। पद्मावत में भी गथ साँठि [सं संस्था = पूँजी] नष्ट होने का उल्लेख है।[५]

१८८—रुपया उधार देना भी एक प्रकार का व्यवसाय है। इसको ब्याज[६] (११६) [सं व्याज] लेना कहा जाता है—'सबै सूर मौसीं ब्याज चाहत कहीं कहा तिन दीजै (११६)। अपनी

१—प सं टी, ११।१२ "ठाढ़हि ठाढ़हि बनपारा', ४५।३७ "मत एहि नगर होइ बटपारी' ४ ६।७ "ले लय मोर लहुँर ना बड़", १८३।४ "साथ चारि एक करे पेटारी।

२—प सं टी, ५१७,६ "साहन सौंह भँवर हुति सोवा" साहन = बेरी, पायस, समुद्री व्यापारी।

३—प सं टी ७४।२ 'राजा बनिज आव सिंघली", ७४।१, 'रतन मोति भरी सब सीपी। औरु वस्तु बहु सिंघल दीपी। ओहन एक सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा।"

४—प सं टी १३। पुनि बैस्रिन—मूर गवाइ।"

५—प० सं टी, १५।८ बेग्क लाइ हुईहि मन की लहि पथ है भेंट। साँठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट।'

६—ईंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ, २३८ 'ब्याज' शब्द प्राचीन भारत में भी प्रचलित था।

थाती (१६१) में से ही खर्च किया जाता है। थाती का अर्थ जमा पूँजी अथवा धरोहर होता है। खर्च देते समय प्राय अमानति (१६१ १८५) [प्र अमानत] भी की जाती है— धर्म अमानत मिलती न काहूँ (१८५)। यह एक प्रकार का धन लौटाने का उत्तरदायित्व है जो लिखकर अथवा रुपया जमा करके लिया जाता है। यहाँ (१६१) खर्च से शरीर एवं इन्द्रियों का रूपक बाँधा गया है —

'थाती प्रान तुम्हारी मोपै, जनमत ही जो दीन्ही।
सो मैं बाँटि दई पाँचनि को देह अमानति कीन्ही।

× × ×

मुकर जाइ कै दीन बचन सुनि बनपुर बाँधि पठाई।
लेखो करत लाख ही निकसत को गनि सकत अपार। (१६१)।

रुपया उधार देने के व्यवसाय में प्रमुख लाभ ब्याज (४ ४९) [सं ब्याज] से ही होता है। ब्याज सहित खर्च वापस करने पर ही उरिन' (४ ४९) [सं उऋण] हुआ जा सकता है—

कैसेहुँ करि उरिन कीजै गोपिकनि सौं मोहि।
रैनि दिन मम मनिस उनके कछू करत न प्रान ॥
और सरबस माँहि मरन्यो तऊनि तन-मन प्रान।
ब्याज में मे रतन दीन्हें तुम्हा बीस-कमारि ॥" (४ ४९)

इसी प्रकार देने वाले 'महाजन' (सं) कहलाते हैं। वह समाज के सदस्य भी होते हैं।[1] जायसी तथा तुलसी ने इन शब्दों का उल्लेख किया है।[2] इन लेन-देन पर ही मनुष्य का दैनिक जीवन टिका हुआ है। केवल एक ईश्वर का व्यवहार ही इस पर आधारित नहीं है— जिहि विधि चाहै सब कोऊ सुनि समरथ सदुराई। देव सकल व्यापार परस्पर ज्यौं पसु-सुन बराई तुम बिनु और न काउ कृपानिधि पावै पीर पराई (१६५)।

पदमावत में भी वणिज 'बैपार' बैवहरिया ब्यवहार बौहार (११११६) आदि के उल्लेख हैं[3]। बनजारा पद में (७४ ७१ ७६ ७७ ७९ २१८) भी विपत्त हानि बाँधि मूल बनज (१७ १८) के समान ही हाट 'रीति' बाढ़ी लाहा 'लाभ' सार्थवाह (प्राचीन समय में एक 'पूँजी' अनेक व्यापार सबधी शब्दों का उल्लेख है।[4] प्राचीन सार्थवाह गुरु टेलु एहा बीच बड़

1—मानस 'काल', २०१ "काल मिलहि करित मए कीर्ने। गुरु टेलु एहा बीच बड़ की के।"—"टिल बनि मए ब्याज मए बाढ़ा"। सैठ महाजन विपत्ति लगहि
2—प सं टी० १७१२, 'कनक हूट नव कु हुई है सौपी। सैठ महाजन सकल बोलाए। मागि लगहि पाटी।"—मानस, काल, २८३ "बहुरि महाजन सकल बोलाए। मयइ सँवारेहु चाहिउ पाता।" सहर जिर मसे। हूट-बाट मंदिर सुरकाला। बयउ कैरा, ७४१९ गिवल रीस बस।
3—प सं टी ७४१६ वे कुछि बनिज सई बनकारी।
बैपारा। ७४१२ "वो तुमि बला बसउ बसाती। सह लग गई होइ काढ़ी। अहुरि लहि कै न बोर बिढु बाती ७४१२ 'दिनि काहु कर सौजैहि काढ़ी। सहलमिहु कैर न बोर
4—प० सं टी०, ७४१० "लाज करोरेहि बस्तु बिकाई। बीनन सहाँ बोनाई, ७४१८ सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर। कैबहरिया कर बैवहारा" गैर का बाँधि माँठि सुठि बोर।" ७४१६ 'लोहि बैबहरिया कर बैवहारा" ७४११ "बनिज न मिला एा पछिताबा" ७४१२ "लाभ जानि आएउँ

साथ निकला व्यापारी समूह) शब्द को जायसी ने 'साथ' तथा व्यक्ति साथ को 'बनिजारा' [सं वाणिज्यकारक] कहा है।[1]

तुलसी के ग्रंथों में भी कहीं-कहीं थोड़े से शब्द मिल जाते हैं। इनमें 'बनिक' 'ब्यवहरिया' तथा 'रिनियाँ' का उल्लेख किया जा सकता है।[2]

२—व्यवसाय तथा शिल्प

१८९—सूरसागर में स्थान-स्थान पर तत्कालीन प्रचलित शिल्पकारों तथा व्यवसायों का भी उल्लेख हुआ है। इनसे उस समय के स्थानीय सामाजिक वातावरण का अनुमान हो सकता है।

व्रज-प्रदेश के ग्वाल वर्ग में कृष्ण का बाल्य-काल बीतने के कारण सर्वप्रथम इस व्यवसाय की ओर विशेष ध्यान जाता है। गाएँ पालने तथा दूध दही तथा घी पर जीविका चलाने वाले लोग आज भी अहीर, अहीरि, आभीर अथवा ग्वालिनि (११५८, ४११८, ४१८९ ४१५८) [सं आभीर, सं गोपाल प्रा गोवाल] कहलाते हैं—'एहि सुत नद अहीर के' (११८१) या 'और अहिर सब कहाँ तुम्हारे हरि सौं धेनु दुहाई (११५८) तथा 'अलप बयस अबला अहीरि सठ तिन्हहिं जोग कत सोहै। (४११८)। कृष्ण के मथुरा जाने के बाद काम व्यथितों की असह्य वेदना बढ़ाने में ही आनंदित होता है—बरन बाल बर्षत कर मैं बधत है आभीर। इधर से उद्धव योग लेकर आ पहुँचे—'सो गति होइ सबै ताकी जो ग्वारिनि जोग सिखावै।—सिखई कहत स्याम की बतियाँ तुमको नाहीं दोष। गोप गोपी (१५११) [सं] तथा ग्वाल और ग्वालिनि[1] आदि के उल्लेख भरे पड़े हैं—'फूली फिरति ग्वालि मन मैं री' (८८४) अथवा 'बनिठन चलीं ग्वालिनि सन हेरी (८८५) अथवा 'करी हरि ग्वाल संग बिचार (८८७) या 'अपनी समसरि और गोप पै तिनकौं साथ पठायें' (१२ १) तथा 'जा दिन तै सबरे गोपनि मैं ताही दिन तै करत लुँगरैयाँ। गोपियाँ वृन्दावन से अपना दूध-दही आदि लेकर मथुरा बेचने जाती थीं—'माखन दधि घृत साजति मटुकी मथुरा जान बिचारि' (२०१५) अथवा 'बेंचन चलीं दधि व्रजनारि (२११७) तथा 'प्रात ही तें जाति गोरस बेंचि आवति राति (२१२२)। ग्वालिनों का नित प्रति का यह मथुरा जाने का प्रसंग दधि-दान शीर्षक पदों में विशेष रूप से मिलता है।

एहि हाटीं, सूर बंजार चलेउँ तेहि बाटीं" ७५।१ ४" अपने चलत न कीन्ह कुवानों। लाभ न दीख मूर भौ हानी। का बोवा जहाँ मोहि नू जो। ओह, चलेउ जाहु क पू जो।"

१—७७।१ "बिजउर मह क एक बनिजारा" २१८।१ "हौं बनिजार तो बनिज बेसाहहु। जारि बेसार लेहु जो चाहहु।"

२—कवित्ता, उत्तर ९६, 'किसबी किसान—कुल, बनिक, भिखारी भाँट।' विनय ०, १ , 'ऐसे को न कबहुँ रिनियाँ हौं" मानस , बाल, २०६ 'अब आनिय ब्यवहरिया बोली।'

३—स० सं० टी० ११५।२ "दहिउ लेहु ग्वालिनि गोहराई ।

इस प्रकार गाँवों से नित्य प्रातःकाल ग्वालों का दूध लेकर निकट के नगरों में जाकर बेचने का ढंग उसी प्रकार चल रहा है। बोहनी (२८२) शब्द आज भी सुनने में आता है। पहली खरीद को बेचने वाले बोहनी करना कहते हैं और उसे दिन भर की बिक्री के लिये शुभ मान कर दूध सस्ता भी देने को तैयार हो जाते हैं— बिनु बोहनी तनक नहिं दैहौं ऐसेहि बीमि सेंतु बर सबरो। (२८२)।

११० नवम स्कन्ध के अन्तर्गत राम-वन-गमन के प्रसंग में उनका नदी पार करने का उल्लेख है। यहाँ नाव वालों के लिये दो शब्द केवट (४८४) [सं कैवर्त] धीवर (४८६) प्रयुक्त हुए हैं। केवट की निर्धनता तथा नाव पर ही आजीविका निर्भर होने का वर्णन भी है— मेरी सकल जीविका यामैं रघुपति मुक्त न कीजै (४८५) तथा मैं निरखत मित धन नहीं जो और बढ़ाऊँ। जो कुटुम्ब याही कमी ऐसी कहूँ पाऊँ ! मैं निर्धन कछु धन नहीं परि बार बसेरो (४८६)। नाव पर चढ़ने का पारिश्रमिक उतराई (४८०) कहलाता था—मैं भैया केवट उतराई और नाव बनावत' सेमल तथा ढाक की लकड़ी की ही अधिकार बताई वाली थी— सेमर डार्कहिं काटि कै बाँधो तुम बेरी (४८६)। अन्यत्र कनधार (२११८) [सं कर्णधार, कर्ण = पतवार] खेवट या खेवनहार (१८४) तथा मल्लाह (२११४) [प्र] शब्द भी मिलते हैं— राम-प्रताप सत्य सीता को यहै नाव कनधार (४११) प्र... खेवनहार न खेवट मेरे, अब मो नाव अरी' (१८४) और 'भव मैं डोल बिधि हानि ... बीचै बिनु मल्लाह धुंधरी एक नाव चढ़ई। बूड़त बेड़ यह नहिं बिरचत मिलाहु पति न रह... (२११४)। खिवइया खेवक[?] 'करिया (सं कर्णिक) नाविक तथा मांझी आज भी मल्लाह के ही पर्यायवाची शब्द है। इनमें से मल्लाह शब्द सबसे अधिक बोला जाता है।

सोने का काम करने वाला व्यक्ति सुनार, सुनारि[१] (९४८ ११२१) [सं० सुवर्णकार—सुवण्णआर—सुवआर—सुनार][२] कहलाता है। पालने के वर्णन में सुनार का उल्लेख है—'विश्वकर्मा सूतहार रच्यो काम है सुनार (११६)। राधा कृष्ण विवाह से संबंधित पद में जोसियों सुनह का सत्कार करने के निमित्त अनेक व्यवसायों को महत्व करने के लिए उद्यत है—"वृन्दावन बंद को मैं भूषण बनि लैहुँ। कै सुनारि आऊँ निरखि नैननि सुख देहुँ। (११ ११)। कोई भी वस्तु गढ़ने वाले को गढ़िया या गढ़नहार (१४४८ ११६) भी कछु दिन, जाता है— बन-बधु बहु बार-बार धन्य रे गढ़िया (११६)। सुनार सोने में जड़ाव का काम भी करता है। इस दृष्टि से उसे जरिया भी कहा जा सकता है—बहु बिधि करि करि बपउ स्याम रे जरिया' (११६) अपनी कला में कुशल 'चतुर सुनार' (११८) होता है—'स्याम चतुर सुनार (११८)। सोने की कसौटी [प्र कसई] का परिचय भी मिलता है—'मार्ग यद्यपि कनक कसई सी (१८४)। सोने चाँदी का पानी चढ़ाने का काम आजकल विशेष रूप से सुनार का है किन्तु बर्तनों पर किए गए राँगे के लेप का ही बोध कलई शब्द से होता

१—प १ दी १५ १७, "ठेवक मावें सुआ बरैठा
१ ११, सुन मोहुरी लेबक में लैहा। बनी उजागर लिखहु कर लैहा।"

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २१६, पाणिनि के समय में सुवर्णकार शब्द प्रयुक्त हुआ था। वह 'मार्कण्डेय' अर्थात् मानक पर सुवर्ण की परीक्षा लेने में कुशल होता था।
—हेमचन्द्र ने देशी नाममाला (३,२४,५११८) में "सुवण्णआर" तथा "सुवआर" को देशी माना है।

है, जो एक भिन्न व्यवसाय है। इसको 'मुलम्मा चढ़ाना' भी कहते हैं, जो बाहरी तड़क-भड़क का द्योतक है, अतएव बाद में वास्तविकता का पता चलने को 'कलई या मुलम्मा उतरना' भी कहते हैं।

लकड़ी की चीजें बनाने वाला कारीगर बढ़ई, बढ़ैया [६६२ ६५६ ६६४ (सं वर्धकि, प्रा वड्ढई-बढ़ई] कहलाता है। शिशु कृष्ण का पालना बढ़ई बनाकर लाया था— 'पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याउ रे बढ़ैया। सीतल चंदन कटाउ धरि खराद रंग लाउ।' (६५१) खराद [फ़ा खराद या खराद] नामक औजार द्वारा ही बढ़ई लकड़ी की सतह चिकनी करते हैं। हिंडोला बनाने वाले को गढ़नहार (१४४२) भी कहा गया है— 'गढ़नहार हिंडोरना की ताहि लेहु बुलाइ।' अनाड़ी बढ़ई को 'ठोंट सूर कूर कवि (११२) ठोंट' कहा जाता है। इसी को 'कठबिधरा' या 'ठोंठुआ' अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली में आज भी कहते हैं[१]।

१६१ वस्त्र सीने का काम दरजी (१६६५) अथवा दरजिनि (१६६१) [फ़ा दर्जी] का होता है[३] 'अपने गोपाल के मैं बागे रचि सेऊँ। दरजिनि ह्वै बागे निरखि नैननि सुख देऊँ।' (१६१६)। कृष्ण के मथुरा जाने पर वहाँ के दर्जी से वस्त्र पहनने का प्रसंग है— 'आइ दरजी गयौ जोसि ताकौं भयौ सुभग अंग साजि उन विनय कीन्हें'। (१६६५)

रँगरेजिन (११ २) [फ़ा० रंगरेज] का उल्लेख कृष्ण के बहुनायकत्व संबंधी संयोग पदों में है— 'रँगरेजिनी मिली कोउ बाल' (२१ १)। रँगने की कला भारत में प्राचीन समय से है।[४] इसकी चर्चा वस्त्रों के सिलसिले में की जा चुकी है। पाणिनि के समय में 'राग' रंग तथा रँगने के अन्य पदार्थों का सूचक था।[५] सूरसागर दशम स्कन्ध के रजक-वध प्रसंग में रजक (सं] (१७२६, १६६६ १६६ ४) शब्द का प्रयोग हुआ है 'रजक मारि हरि प्रथम ही नृप बसन लुटाए। रंग-रंग बहु भाँति के गोपनि पहिराए' (१६६)। हर्ष-चरित में भी 'रजक' द्वारा वस्त्र रँगने का वर्णन है।[६] ऐसा ज्ञात होता है कि घर की स्त्रियाँ वस्त्र बीनने के बाद रजक को रँगने के लिए दे देती थीं। विवाह के समय रजक को नेग देने की प्रथा भी थी।

उपवन में फूल आदि लगाने का काम तथा फूलों का व्यवसाय माली (१६६६, २६६५) तथा मालिनी (१६६२) [सं मालिन मालिनी] का है। मालिनी ही प्रायः फूलों के हार और

१—महाभारत, उद्योग पर्व अध्याय ६।२७ "अथाऽऽजगाम परतु स्कन्धेनाऽऽदाय वर्धकिः।"

२—ह० ची०, प्र० ११, अध्या० १।

३—तुलसी, कवितावली, १११ "ब्यौंत करे बिरह्या दरजी"।

४—शतपथ ब्राह्मण (५।३।५।२१) मे रंगीन कपड़े का द्योतक शब्द "पांडव" है 'अथैनं पांडव परिधापयति'। हर्ष० सां० अ० पृ० ७४, वाल्मीकि तथा कालिदास आदि द्वारा "मलिन" शब्द रंगने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (रामायण सुन्दर० ४६।४, मेघदूत, पूर्व-मेघ श्लोक १६)।

५— इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० २१, पाणिनि ने रजक के साथ रँगने का भी उल्लेख किया है। प्रारंभिक समय से भारत में लाक्षा रँगने के काम आता था। मंजिष्ठा, नील तथा रोचना अन्य वस्तुएँ थीं। कात्यायन के अनुसार शकल तथा कर्दम भी प्रयुक्त होते थे।

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७४।

फूल बेचती है अतएव वह फुलवाली१ भी कहलाती है— 'फूल थूंथि माला है मालिनी है' बाड़े (१६६१) कृष्ण के मथुरा आगमन पर वहाँ का माली भी पुष्प-हार ले उनका स्वागत करता है— बीच माली मिल्यो दौरि बनमाल पहिरी पुहुप-माला स्याम कंठ डारे। (१६६६)। गंगा यमुना आदि नदियों तथा मंदिरों के निकट अथवा संध्या समय बाजारों में इस प्रकार फूल और मालाएँ बिकने की प्रथा आज भी है। गृह कर्मों एवं संस्कारों में बंदनवार तथा विवाह का 'मौर' आदि बनाने का काम भी मालिनी का ही होता है—'मालिनी ही बई मालिनि लीनें। बंदन-माला बांधत डोलै (६५) अथवा मालिनि बांधे तोरना। (६५८)।

गंधिनि२ (१६६२) भिन्न भिन्न रूप तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ बेचने का व्यवसाय करते थे— बन्दन अरगजा सुर केसरि भरि लैडैं। गंधिनि हूँ आडैं सिरनि लैनि सुख लैडैं। (१६६३)। इस प्रसंग से तत्कालीन प्रचलित गन्धों का अनुमान भी हो जाता है। इनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है।

कोलिनि (१६६४) का उल्लेख भी कृष्ण-विवाह के प्रसंग में अन्य व्यवसायों के साथ ही हुआ है। मंगलचार गावें को डोरा करि लेडें कोलिनि हैं आडैं सिरनि लैनि सुख लेडें। (१६६१)।

१६२—हिन्दुओं में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो कुछ ऐसे घरेलू काम करती हैं तथा घर के उत्सवों आदि में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनमें नाइनि (६५८) [सं० नापित-नापित-नाइन-नाई] बारिन (६१०) दाईं (६५८) [सं दासी] तथा कहार (४११) [सं काहारक] आदि की गिनती की जा सकती है। कृष्ण के जन्म के सिलसिले में दाई का कई पदों में उल्लेख है। दाई का नेग के लिए झगड़ना तथा नेग बिना मिले नार न काटने की हठपूर्ण चपली का प्रसंग है— 'बलदा नार न छेदन देहौं (६१३) 'कंचन हार दिये नहिं मानति तुही अनोखी दाई'। (६१४)। दाई का प्रधान कार्य सौवर या सोहर [सं सोतागृह सूतिगृह] में होता है। बच्चे की नार भी बहुत से घरों में दाई ही काटती है। धाइ [सं धात्री] (१०६१) 'ही तो धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियो'—बच्चे को पालने वाली नौकरानी को धाय कहते हैं। नाई तो प्राय बाल आदि काटने का व्यवसाय करता है जब कि उसकी स्त्री घरों में संस्कार उत्सवों आदि में छोटे-छोटे काम जैसे नाखून काटना मालिश करना पैर धोना आदि करती है। वही ऐसे अवसरों पर स्त्रियों के पैरों में महावर भी लगाती है— नाइन बोलहु नवरंगी हो अवधा स्याउ महावर बेग उपर्युक्त कार्यों के लिए इन लोगों को जो रुपया पुरस्कार दिया जाता है वही नेग होता है— 'लाल इकत अब झूमका (हेतु) सारी दाइ की नेग (६५८)। इन्होंने मुंडन तथा विवाह आदि संस्कारों में मिठाइयों के बनने पर भी प्राय नाइन का ही हक होता है।२ विवाह की लगन लेकर

१—प सं डा, १६।१ 'ले ते बैठ फूल फुलहारी' १२४।१ 'मालिनि माव ले यांवै'।

२—प सं टी १।२ 'सौंघा सब बेंडू ले गांधी। समरक, भाग १, पृ कुछ सुगन्धियों के व्यापारी 'गन्धवणिक' कहलाते थे। इनमें से बहुत में रहते थे।

१—मानस, बाल ३१९, "नाऊ बारी भाट नट राम निछावरि पाइ

१३— धनि बड़भाग

१ —"कनक कलिस हो कलिस महली लिये कर हो।"

१४—"जो पग नाउन धोवहिं राम धोवावहिं हो।"

१५—"आवक रचिक अंगुरियन्हि मृदुल सुगारी हो। रामलला नहछू

अधिकतर गाई जाती है और उसे 'पहिरावनी' या 'सरोपा' मिलता है।

मालिन के अतिरिक्त बारिन के भी बंदनवार बाँधने का उल्लेख है 'बारिन बंदनवार बँधाई'। आजकल बारी जाति के बहुत से लोग पत्तल बनाने के स्थान पर घरों में सेवकों का कार्य भी करने लगे हैं।

कहार तथा कहारिन (४११) का उल्लेख चक्रमरल-फुलवाड़ कथा में हुआ है— 'तहाँ कहार एक तुम पायी' 'कहु भौ कहारनि हमैं न छोरि। भयो कहार चलत पग मोरि'। *ये लोग प्रायः डोली और बँहगी उठाने[1] तथा पानी भरने का काम करते थे।*[2] कहार को आजकल 'महरा' या 'धीमर' भी कहते हैं तथा कहारिन को 'महरी' [सं महिला महिलिका-महलिआ-महरिआ-महरी] तथा धीमरी। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में 'धीमरी' शब्द अधिक प्रचलित है तथा पूर्वी में 'महरी'।

१९३—भ्रमरगीत दीपक पदों के अन्तर्गत एक पद में कुम्हार[3] (४१६६) [सं• कुलाल] के घड़ा पकाने और रँगने से गोपियों के प्रेम का रूपक बाँधा गया है। इस पद से कुम्हार [सं कुम्भकार] के व्यवसाय की ओर ध्यान जाता है। 'विधि कुलाल कीन्हे काँचे घट ते तुम आनि पकाए। रँग दीन्हौं हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए। पाते गरे न नैन नेह तें अवधि अटा पर छाए।' (४१६६)। कुछ बर्तन जैसे घड़ा कमोरी तथा हँड़िया आदि पकने के पहले रँगे जाते हैं तथा कुछ पात्र जैसे सुराही कूँडी आदि बाद में रँगते हैं। मिट्टी के ये पात्र सुन्दर चित्रों से भी अलंकृत किए जाते थे। अँवा [सं आपाक—प्रा॰आवाअ—आवाय आवा॰अवा] में ही पात्र पकाए जाते हैं— 'ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए। फूँक उसास बिरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए।' (४१६६) यहाँ चाक चक्र्यो [सं• चक्र] (१०१८)। पद भी उल्लेखनीय है— 'सदा रहत चित चाक चढ़्यो सो गृह अँगना न सुहाई।' (१०१८)। यह पहिये के आकार का घूमने वाला पत्थर होता है। इस पर ही कुम्हार बर्तन बनाता है।

१९४—बैद बैद्[4] (४८७ ४१८७) [सं वैद्य]। च्यवन ऋषि कथा में अश्विनी कुमार द्वारा उनके नैन ठीक होने का उल्लेख है। उसी प्रसंग में वे कहते हैं— 'कहु भौ हम यज्ञ भाग नहिं पावत। बैद जानि हमकौं बहरावत।' ये अश्विनी नामक अप्सरा तथा सूर्य के दो पुत्र माने गए हैं। नवम स्कन्ध में संजीवनी बूटी बताने वाले बैद सुषेन (५६१) का

१—मानस, बाल १११, भरि भरि बसह अपार कहारा।

२—कृ भी, प्र १९, अध्याय ५, भी दर्मा ने कहार का संबंध पालि "काजहारको" से माना है। जनिमिन कृत भारत संहिता, अश्वमेध पर्व, अध्या १, "तथा गारुडिका धीरा (कुरुधर्मीपजीविका व्यापा) काहारका (पुष्टा) हयर्स तथा हयन्ति मे'।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ ९१, अष्टाध्यायी में "कुलाल" तथा "कुम्भकार" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनके द्वारा बनाए गए मिट्टी के पात्र "कौलालक" कहलाते थे।

४—तुलसी, दोहा, ५२४, "मन्त्री गुरु अरु बैद जो प्रिय बोलहि भय आस। राज, धरम, तन तीनि कर होइ बेगि ही नास।" आईने अ, पृ ८१, अबुलफजल ने "तबीब (वैद्य) को सेवी-वादियों या हितकरों में लिया है। उनके अनुसार हकीम (वर्तमान यूनानी विधि का चिकित्सक) दार्शनिक तत्ववेत्ता था।

की परिचय मिलता है। भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर गोपियाँ उद्धव से ही औषध में अपनी चिकित्सा करने को कहती हैं—

'ऊधौ त्रिदोष उपजी जक लागत बोलत बचन न सूधौ।
आपुन कौ उपचार करौ अति तब औरनि सिख देहु।
बड़ौ रोग उपज्यौ है तुमकौ भवन सवारैं लेहु॥
हौं भेषज नाना भाँतिन के अरु मधु-रिपु से वैद।
हम कातर डरपति अपनै सिर यह कलंक है खेद॥ (४१४०)

इस पद्यांश में त्रिदोष [सं] (वात पित्त तथा कफ का अतिक्रम) के कारण ठीक से बोल न पाने का वर्णन है। यह शब्द वैद्यक शास्त्र में प्रयुक्त होता है। अन्य रोगों में राजरोग, कफ (४१४१) तथा सन्निपात (४४१) का उल्लेख हुआ है। 'कफ कंठ बिरूधौ' (११८) का उल्लेख अवस्था के विषय में है। भेषज [सं भैषज] या दवाइयाँ भी अनेक प्रकार की बताई गई हैं। सूर के समय में भारतीय ढंग की वैद्यक अथवा आयुर्वेदिक चिकित्सा तथा हकीमी या यूनानी इलाज का ही प्रचार था।

गारुड़ी[१] (११५८—११८२) [सं गारुडिक] अथवा गुनी (११६१) जहर उ[तारने] वाले विष-वैद्य को कहते हैं।[२] राधा-कृष्ण के संयोग प्रेम के पदों में एक प्रसंग का गारुड़ी का वारण करने का है—मोहन मोहनि डारी (११६८)। सखियाँ राधा की [माता से] कहती हैं—

'खेलत महरि सुता अपनी कौ कहुँ इहिं कारैं खाई।
हम आगे आवति वह पाछैं धरनि परी मुरझाई।
फिर है गई रोहनी ढरिकै आपु कौ मुरझाई। (११६१)।
स्याम भुजंग डस्यौ हम देखत ल्यावहु गुनी बुलाई।

राधा की इस दशा शीतल अंग स्वेद सी सूखी को नगर के वैद भी ठीक नहीं कर पाते हैं—सूर गारुड़ी गुन करि थाके मंत्र न लागत है (११६२) अथवा 'बनै सब गारुड़ी पचिहार। नैकुँ नहिं मानत सुमति काहु न झार। (११६२) फिर नंद-सुत से ही सब प्रार्थना करते हैं—नंद सुवन गारुड़ी बुलावहु। इस पर नंद-नंदन कृष्ण आवे बैठे। वह गुन झार गुनिनि की बूझी (११७१)—पहले तो कृष्ण यह उत्तर देते हैं किन्तु माँ के आग्रह करने पर गारुड़ी के रूप में प्रिया राधा की रक्षा की इच्छा पूरी करते हैं—कीरति महरि बुलावन आई काहु न कुँवर कन्हैया (११७३) अथवा मैया एक मंत्र मोहि आवै (११७४) तथा हरि गारुड़ी तहाँ तब आए। यह बानी वृषभानु-सुता सुनि मन-मन हरष बढ़ाए 'सूर स्याम प्यारी होउ बानत अंतरगत को भाउ (११७६)।

इन्हीं पदों से साँप काटने का प्रभाव तथा उस समय गाँवों में प्रचलित मंत्र से उसके प्रति की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—फुरै न मन्त्र जन्त्र गद नाहीं चले गुनी गुन डारें (११५५) 'काहु न मानौ झारि (११७२) तथा नीकैं बिषहिं उतारयौ स्याम (११८२)। आज भी निम्न वर्ग के लोगों तथा गाँवों में साँप के काटने पर इसी प्रकार विष झारने का ढंग चल रहा है।

११५—एक स्थल पर तेली (१ २) [सं तैलिक तैलिन्-या तैलिक-तैली] का

१—सूरे सा स प २६, मिश्रपुर संग्रहालय प्रयुक्तविद् (इलाज करने वाले) आदि चिकित्सकों के अतिरिक्त आंगुलिक (विषवैद्य गारुड़ी) की चाल के लिखी है वे।

२—प से टी० १२ ।२ बोलत गुनी गारुड़ी आए। औषध वैद तमाम बोलाए।

भी उल्लेख है। 'तेली के वृष लौं नित भरमत भजत न सारंगपानि (१ २)। यहाँ पर तेल निकालने के कोल्हू में बैलों की सहायता का निर्देश भी है। तेली का काम तिल सरसों आदि से तेल निकालना ही है।

वणिजाण शीर्षक पदों में बनजारिनि [वाणिज्यकारक][1] बजारिनि [प्रा बाजारी] तथा पंसारिनि [सं पण्यशाली] (२ ६१) का निर्देश है—

'तीन्हें फिरत जग त्रिभुवन की री तोकी बनजारिनि।
ऐसी करति बैठि नहिं नीकै तुमही बड़ी बजारिनि।
सूरदास ऐसी गय जाके ताके बुद्धि पंसारिनि। (२ ६१)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'बनिजारा' ज्येष्ठ साथ को कहते थे जो घूम-घूम कर चीजें बेचते थे और उसकी स्त्री को बनिजारिनि कहते थे। आज बनजारा तथा बनजारिनि (जिप्सी रोमानी) इसी प्रकार भ्रमण करने वाली एक जाति है और ये लोग छोटी-मोटी चीजें बेच कर जीविका चलाते हैं। पंसारी या पंसारिनी उस बनिये या महाजन को कहते हैं जो मसाले तथा अनाज आदि बेचता है।

मोची (१४१) 'मोची लोग' विनय पदों में उल्लिखित है।

पारधी (१७) [सं पापर्द्धि] तथा व्याध (१७१) [सं व्याध] शब्दों का उल्लेख भी विनय पदों की अन्तर्कथाओं में है—'हौं प्रताप बढ्यो नृप करिया पारधि साधे बान। सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी कर छूट्यो संधान' (१७)। पारधी को 'आखेटक' 'शिकारी' 'व्याध' या 'बहेलिया' भी कहते हैं। सूरसागर में अहेरी (४८१४) [सं आखेटक] शब्द भी मिलता है—'विषय जाल बल बाँधि व्याध लौं गुन बग अवलि बटोरी। मनु सु अहेरी हवि बारोपति मुहा पींजरी तोरी। जिनके हेत पहीस एक मुख नावत कौरति मोरी। मनु उड़ि चले विहंगम के गन करे कठिन पग डोरी' (४८१४)। इस पद में चिड़िया पकड़ने के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता है तथा जाल व पींजरी शब्द भी आए हैं। पक्षी पकड़ने की अन्य विधियाँ तथा सामग्री भी[2] वर्णित हैं— चारा कपट पंछि ज्यों फंद्यत। (१५४२) अथवा—

लोचन भये पखेरू माई।
लुब्धे स्याम-रूप चारा कौं अलक फंद परे जाई।।
मोर मुकुट टाटी मानो यह बैठनि ललित त्रिभंग।
चितवनि लकुट लास लटकनि पिय कांपा अलक तरंग।।[3]

१—प सं व्या ७४।१ कितउर पद के एक बनिजारा (१) प्राचीन सार्थवाह का मध्यकालीन पारिभाषिक शब्द 'बनिजारा' था। ये लोग घूम-घूम कर व्यापार करते थे।

२—ह की प्र ११ अध्या ३ भाट में बांस के कब्बारों के बने चिड़िया पकड़ने के अड्डे कुपड़ा या 'कंपा' कहलाते हैं। उसमें चिपकने वाली वस्तु ही कंपा कहलाती है। चिड़िया फंसाने का जाल 'बगुरा' नाम से जाना जाता है तथा उसके तांत या घोड़े की पूंछ के बने फंदे ही 'फंदाने' या 'फंदवारे' कहलाते हैं।"

३—हर्ष का अ पृ १८२ बाण ने आखेट की सहायक सामग्री में पशुओं की नसों की डोरियाँ जाल चारे तथा व्यवधान (टट्टी) पुरुषाओं की चेतुरी का उल्लेख किया है। शाकुनिक अथवा व्याध बीतंसक जाल लिए हुए थे। डेलों पर लासा लगाकर गौरैया पकड़ी जाती थी। शिकारी कुत्ते भी सहायता करते थे।

हौरि गहनि मुख मधु मुसकावनि लोम पीअरा हारे।
सूरदास मन श्याम हमारे मृदु बन है जु बिसारे। (२८६०)

तथा प्रीत करि दीन्ही गरें छुरी ....मुरली मधुर चॅप काँपा करि मोरचन्द्र फंद वारि (१८०१)। फाँस [सं पाशक] गूलर के पेड़ का चिपचिपा दूध है जो इस काम आता है। जायसी की रत्नावली में भी ये सभी शब्द मिल जाते हैं।[1]

उद्धव-गोपी संवाद में महावत का (४१११) [सं महामात्र] का भी निर्देश हुआ है। उसके साथ अंकुश [सं अंकुश] की चर्चा भी है, जिसकी सहायता से महावत हाथी को वश में तथा अधिकार में रखता है—

'ज्यौं बन मत बानि हरि तुम सौं बाल बिचारि सबी ॥
मान नहीं महावत सठगुरु अंकुश बानहु टूट्यो। (४११५)

जाता हाथी किस प्रकार महावत की उपेक्षा कर साँकर [सं शृंखला] तोड़ कर भाग जाता है उसका वर्णन भी है—

'मावत मन-मतंगी आतुर तजि साँकर सर्वंग छूट्यो। (४११५)

'हाथीवान' तथा 'पीलवान' भी महावत को ही कहते हैं।

१९६ गनिका (१८२ १४७१) [सं गणिका] तथा वेश्या (१५१२) [सं वेश्या] की चर्चा भी इस सिलसिले में की जा सकती है। विनय पदों में उल्लिखित पुराकथाओं में गणिका के पाप नष्ट होने की कथा भी है—

'गज गणिका गौतम-तिय मोचन मुनि-शाप' (१८२) अथवा 'गीध व्याध गनिका गज अजामिल ये को प्राहि बिचारे' (१७६)। वसंत वर्णन में भी कुल-वधू (१४७१) तथा गनिका की तुलना कला तथा वधू से की गई है—

'मनु कुल बधू मिलन गई गृह-गृह बाहरि भटकि बड़ी तथा
'मानहु फिर सुबहित पवनोद्धत परसत गनिका गात (१४७१)। होली का मद सब ओर ही छाया था— सठ पठित वेश्या वधू हरि होती है (१५१२)। पद्माकर में भी शृंगार हाट में सजधज कर बैठी हुई वेश्याओं तथा उनकी क्रीड़ा आदि के माध्यम का विस्तृत वर्णन है।[2]

१—प स टी ६९७ ७०१ ७२ ७३—'आइ बिमाध हुआ ले टाटी चैत चैत गई जीवन आला। ...पाँव जाल कर खोपा लामा सरे तो बौध (६६), 'बूरि पाँव सिलेति हेली बिस ताना कस हेथे अंकुश। जौ न हुसि आरा के आसा। है मुखा परिरक्षित हुआ है कस फाँदा भाइ। (७), ज़द्दा लाइ पंक्तिहि कहुँ बरत (७१), 'ता दिन स्याम मयेउ शिव सेवा। कठे पाँव मा गाई परेवा। (७२) 'पाति मंजूसा मेथ माना (७३)।

२—प सं टी १४११ "तपि सिंगार हाट धनि देखा,
कह सिंगार तहँ बैठी बेसा।
१५१२, १ "कुल तँबोर तनचीर कुसुंभी।
कानन्ह कनक जराऊ खुंभी।
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं।
नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं।
१५१४ "भाइ कटाछ मारि फिर लेहीं
५२२।१ "चतुरदिसि नाचै दिहैं तो दीपै

नट, नटी अथवा नटिनी (१८ ४२५७) भी घूमने-फिरने वाली एक जाति है, जो अपनी कला से लोगों को प्रसन्न करके धन संचित करती है। स्त्रियाँ प्रायः नाचती गाती हैं तथा पुरुष कलाबाजी दिखाते हैं—'ज्यों बहुकला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कै।' (२१२) इनका निर्देश सूरसागर के कई पदों में है— 'तब जो कहत मधुर की दासी अब कुब्जा बधू कहाई। नटिनी ज्यों कर लिए लकुटिया कपि ज्यों नाच नचाई।' (४२५७) कुब्जा के प्रति गोपियाँ अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करती हैं। विनय पदों में कहीं-कहीं मृत्यु अथवा माया की तुलना नटिनी से की गई है 'ताके मुख नहीं नाचति है मीच मरति सीच नटी।' (१९) अथवा 'माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।' तथा 'घर-घर लोभ लागि लिए डोलति नाना स्वाँग बनावै।' (४२) नटों की जाति आज भी गाँवों में प्रचलित दिखलाई देती है। इनके सामाजिक तथा नैतिक नियमों का स्तर निम्न है। नटिनी को बेड़नी भी कहते हैं।[1] नट का समानार्थक बाजीगर (२६१) [फ़ा बाजीगर] भी प्रयुक्त हुआ है— 'कै कहुँ रंक कहुँ ईस्वरता नट-बाजीगर जैसे।'

कंस के दरबार में दो मल्लों (११८७) [सं मल्ल]—मुष्टिक तथा चाणूर के कृष्ण द्वारा मारे जाने की कथा है—'मारो मल्ल मुष्टिक से चाणूर सिला-भंजन' (११८६) अथवा 'कंस के कंवर छोड़ मल्ल मारे' (११ ७)। मुगल बादशाहों के दरबार के मनोरंजन में पहलवानों की कुश्ती शिकार घुड़दौड़ तथा हाथियों की लड़ाई का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये लोग नटों के खेल तथा कबूतर और बाज की लड़ाई के भी शौकीन थे। कंस के दरबार में पहलवानों की उपस्थिति इस प्रथा पर प्रकाश डालती है।

१६७—कृष्ण जन्मोत्सव शीर्षक कुछ पदों में (ढाढ़ी ढाढ़िनि ६४१—६५६) के बधावा गाने तथा कंचन मनि मुक्ता (६५६) तथा हीरा रतन पटंबर पाने का वर्णन है— 'ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं ठाढ़े हुरके बजावैं हरषि असीस देत मस्तक नवाइ कै' (६४१) अथवा 'हौं तौ ढाढ़िनि ढाढ़ी की जोरी अब तू बरनि बधाई (६५५) 'ढाढ़ी नाम मान के भाई (६५६) कहीं-कहीं कवि ने स्वयं को ही ढाढ़ी बताया है 'हौं तौ तेरे घर को ढाढ़ी सूरदास मोहि नाऊँ (६५१) अथवा 'हौं तेरी जनम-जनम को ढाढ़ी सूरदास कहाऊँ (६५४) यह भी सम्भवतः एक विशेष जाति है, जो गाने का काम करती है।

ऐसा ज्ञात होता है कि भीख माँगकर जीवन यापन करने वाला वर्ग सूर के समय में भी था उनको याचक (४९० ६४८) [सं याचक] तथा भिच्छुक (६४८) या भिखारी (२१०) [सं० भिक्षुक] कहा गया है— 'जैसी मन यह भिच्छुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि ते धाए' (६५३) या 'जो राजा-सुत होय भिखारी' (२१०)।

प्राचीन समय में राज-दरबारों के विरुदावलि गाने वालों की भी एक जाति थी। राम तथा कृष्ण-जन्मोत्सव पर नंद के द्वार पर इनकी उपस्थिति के उल्लेख हैं। इनको बन्दीजन (६५१) [सं बंदिन्] सूत [सं सूत] मागध (४६२ ६४८) [सं० मागध], भाट (६४९) [सं भट्ट] आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था।[2] 'आनंदित विप्र सूत मागध याचक-गन उमँगि असीस देत सब हित हरि के' (६४८) अथवा 'मागध-बंदी-सूत अपार' (४६२) अथवा

१—अ सं टी , ११२१७ "जाम्हु मति बढ़िनि देखराई ।

२—तुलसी, जानकी-मंगल, १८० "नट भाट मागध सूत याचक जस प्रताप बखानहीं' ।

मानव-बंदी-मूठ मत करउ कुसल बार (१४५) तथा मानव मूठ और मन मेठ
मुराबन है। (१४६)। इनको राजपूत-काल में बारत भी कहते थे।

'बटपारी ठग, चोर, उचक्का गाँठिकटा लठबाँसी (१८६), लूटा, धूत (१८६) को एक सूची में रखा जा सकता है। इन लोगों से दूसरे के धन पर आश्रित रहने का ही व्यवसाय बना लिया है। यह वर्ग हर समाज में सदैव से रहता आया है। ठगों से संबंधित शब्दावली भी उल्लेखनीय है जैसे ठगिनी कँसहारिनि पम्पारिनि (२१९९— २१ १)। इनके फंदा फाँसि तथा विष-खाडू (२१ २२ १) का भी उल्लेख है— विष लाइ हरलावति है धुनि देइ सदा बुधि बिसरत लगी। ता पाछे फंदा कर डारति हनि मारति कर मारति हो। (२१०१)। इस प्रकार के ठगों का भय मध्यकाल में बहुत था। "ठग मोदक" या "विष मोदक" (४ १५ २२ १) का उल्लेख प्रमाण भी है। तत्कालीन प्रचलित चोरी के विभिन्न ढंगों का अनुमान इस पद से हो सकता है—

चोरी के फल तुमहि दिखाऊँ (२५५५)। कंचन खंभ और कंचन की देहरी तुमहि बँधाऊँ। 'खोह' एक अंग कपु तुम्हारो तथा यह कहि डाँड़ मनाऊँ आदि पंक्ति द्वारा चोरों का बाँधना डंड-बंध तथा डाँड़' लेने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। फाँसी (४१९४) तथा सूली[1] (१८१) का अन्यत्र परिचय मिलता है।

१९८—तुलसी तथा जायसी ने उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त जुआ और भी नामों का उल्लेख किया है। तुलसी की शब्दावली में बजाज मरंठ जुलाहा उपरोहित आदि के नाम भी मिलते हैं।[2] रामलला नहछू (लोहार पद—,) में भी अनेक व्यवसाय करने वालों का उल्लेख है जैसे लोहारिनि अहीरिनि ठेठ मिनि दरजिनि मोचिनि मनिहारिनि 'नउनिया' तथा 'नाउन'। पद्मावत में महाजन (१७) तथा 'पटुवाई' (१२८) के नाम उल्लेखनीय हैं। बाजार में घूमने फिरने वाले चोर तथा 'गाँठिचोरा' (१२९) को भी गिना जा सकता है।

वर्तमान समय के ग्रामीण जीवन में उपयोगी शिल्पकारों तथा व्यवसायियों में उपर्युक्त के अतिरिक्त धोबी बढ़ईया चमार कंजड़ छीपा मोची भड़भूजा कुम्हार पासी आदि तथा हलवाई आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

ग्राम-प्रबंध तथा कृषि

१९९—ग्राम प्रबन्ध व्यापार तथा वाणिज्य के समान ही ग्राम प्रबंध तथा खेती से संबंधित शब्दावली भी सूरसागर में सीमित है। यह प्रमुख रूप से प्रासंगिक रूपकों के विषय पदों में मिलती है। व्यापार की तरह कृषि पदों में रूपक जीवन से सम्बन्धित शब्दों की

१—ब र टी २१ —"कोपि सदा पाले बड़े सूर।
"क बार दबिर न बनद बरनत बस्तु बिनु मन बाइए।।
बड़ भूप रमोनिवास तहूँ भी संपदा बणिक अनेक मनुहुँ कुबेर के।
बैठे बजाज सराफ बणिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।

२—मानस उत्तर २५

कवितावली, उत्तर०, १ ६,
"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलाहा कहौ कोऊ।
मीना बाल, १ १,— 'उपरोहित है कर मनक अनेक पठाई।

सहायता से शरीर तथा आत्मा आदि का रूपक बाँधा गया है (१४२।१४१)। इन थोड़े से शब्दों की सहायता से तत्कालीन स्थानीय स्थिति पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। शासन आदि में विदेशी शब्दों का कितना चलन हो गया था यह भी पता चलता है। ब्रज में गाँव के प्रमुख अथवा विशिष्ट जनों का आदर सूचक शब्द महतो (१४२) [सं महत] अथवा महर (१४० ६११) [सं महत] था। वृषभानु महर (१३२१) अथवा नंद महर थे। महरि (६११) महर का ही स्त्रीवाचक शब्द था। एक अन्य शब्द सिकदार (१४०) [फ़ा सिक विश्वसनीय व्यक्ति] भी प्रयुक्त हुआ है। मुग़ल प्रशासन में सिकदार एक अधिकारी विशेष का नाम था। कई गाँवों का समूह परगना (१४०) [फ्रा पर्गन] कहलाता था। बर्नियर ने ग्राम प्रबन्ध में सूबे तथा परगने का उल्लेख किया है।[1] प्रमुख नगर अथवा ग्राम परगने का केन्द्र (सदर) होता था। अकबर के राज्य काल में आगरा सरकार के अन्तर्गत तैंतीस (mahal) महाल या परगने थे। इनमें से ही पाँच मथुरा महोली मगोरा महावन तथा जलेसर थे।[2] आज एक ज़िले में कई तहसीलें होती हैं और उसका प्रधान शहर या गाँव तहसील सदर होता है। एक तहसील में कई परगने होते हैं। 'ब्रज परगन सिकदार महर तू ताकी करत नन्हाई (६४०)—माखन चोरी प्रसंग में यशोदा कृष्ण से कहती है। नंद के बड़प्पन को दिखाने के लिए ही यह उल्लेख है वर्तमान प्रचलित शब्द पटवारी (१८५) [स पट्ट = नगर या कस्बा + वारी] भी मिलता है—अहंकार पटवारी कपटी झूठी लिखत बही (१८५)। इसमें कर्मचारियों के अत्याचार की ओर भी संकेत है।

२ —ज़मीन की नाप-जोख का तत्कालीन प्रचलित शब्द मसाहत (१४२) [अ] था—'काया ग्राम मसाहत करि कै।'[3] इसी सिलसिले में कर तथा लगान सूचक भी कुछ शब्द ध्यान आकर्षित करते हैं। इन सब का हिसाब-किताब करने वाले को ख़िलहार (१४२)। [देश] कहा गया है—तातो सो लिखहार कहाय (१४२)। अन्य कर्मचारियों[4] में मुहासिब (१४२) [अ आय व्यय परीक्षक] तथा अमीन (६४) [अ वह अदालती कर्मचारी जो बाहर

१—बर्नियर, पृ ४५६

२—ग्राउज़, पृ ३

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ १९६, किसानों में भूमि-वितरण पाणिनि के समय में भी नाप-जोख तथा भूमि-पर्यवेक्षण पर आधारित था। यह सूत्र (४, १, २१) "काण्डान्तात क्षेत्रे" से पता चलता है। क्षेत्र का यह नाप-विशेष 'काण्ड' था।

४—आईने , पृ १८, टकसाल के कर्मचारियों में अमीन दरोग़ा को प्रबंध कार्य में सहायता करता था तथा झगड़े भी शांत करता था।

मुशरिफ़ आय-व्यय का हिसाब रखता था और इस काम के लिए एक किताब भी रखनी थी जिसमें दिन-प्रतिदिन का हिसाब रहता था।

पृ २ अहदी ये सिपाही का काम करते थे तथा राजदरबार में कुर्सियों के पदों पर, दफ़्तरों, तथा कारख़ानों में भी काम करते थे। महुरी कर या मालगुज़ारी वसूल करने भी जाते थे।

आईने, भा , पृ ८ मुस्तौफ़ी नायब-दीवान या दफ़्तर का अध्यक्ष होता था।

आमिल कलेक्टर और मैजिस्ट्रेट था जो कृषकों का रक्षक तथा कोष की पूँजी बढ़ाने वाला था।

~५~

का काम करता है] भी उल्लेखनीय है—पुर मापु मुकद्दम मुहासिब के बजाय पहुँचाने' (१४२)। मोहासिब (१४१) [प्र मुहर्रिर = लिखने वाला] अमला (१४) [प्र अमला] अधिकारी (१४४) [सं]—'अधिकारी' कम लेखा माने तथा मुस्तौफी (१४१) का भी उल्लेख है। हर्षचरित में भी गाँव के मुखिया तथा हिसाब-किताब का प्रबन्ध करने वालों का वर्णन है।¹

लगान तथा कर के समानार्थक शब्द पोता (१४२) [फ्र पोत] मुहासिल (१४२) [प्र] तथा अहदिया (१४२) [प्र अफसल = कर महसूल] प्रचलित थे। मुहासिल (१४२, १४१) [प्र० मजमल = एकत्रित किया हुआ] भी सम्भवतः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हर्ष चरित द्वारा प्राचीन समय में प्रचलित 'भाग' शब्द का लगान देने के सम्बन्ध में पता चलता है। कर के सिलसिले में गुजरान (१४२) [फ्र गुजरान] की भी चर्चा है।

जिस काजी में हिसाब रखते थे वह प्रायः बारिज (१४२) अबवारिजा (१४२) [फ्र० अबारिज] अथवा बही (१४४) के नाम से जानी जाती थी। सामान्य बोलचाल में बही शब्द मात्र भी खूब चलता है—'झूठी लिखत बही (१४४) मुवकिल कोई माल मुफ्त को हरि की लई है राखें। लिखत कर्ष कोस पाहिके कोई बारिज राखें। (१४२)। हिसाब के कागज या रसीद को फरद (१४१) [प्र फर्द] अथवा दफ्तरा (१११) [प्र० दफ्तर] कहते थे। पाहि अवधी में 'अमर' का उल्लेख है। अगर यह लिखित हिसाब होता था जिसके कोषाध्यक्ष या कर्मचारी-गण जिम्मेदारी से छूट जाते थे।² दस्तक (१४१) [फ्र = हुक्मनामा फर्की]—'दस्तक कोई मांड का उल्लेख भी हुआ है।

२०१—पूरा धन न देने पर बाकी (१४१) [प्र० बाकी] अथवा जिम्मे (१४१) [प्र० जिम्म] रह जाता था—'जिम्मे उनके मोहिं मोठे मह ठी बड़ी मगौति। कभी-कभी बट्टा (१४२) [सं वर्त discount] भी काटते थे—बट्टा काटि कसूर भरम को फरद हर्ष के द्वार (१४२)। कर लगान प्राप्ति से संबंधित कुछ शब्द और भी मिलते हैं जैसे जमा [प्र जमा] असल [प्र असल] लाएक (१४१) [फ्र लाय] तथा लेखा (१४१)—जमा बाकि ठहराये जमा करन मीठे करि राखें लेखा समुझि बताये तथा 'कहि प्रधानजा प्रम प्रीति को प्रसन्न नहीं कवितावली। (१४२)। तगीरी (१४१) [प्र तगीर = कुछ का कुछ कर देना = बाली]—कुमी तगीरी किमरि भई कुमि मो ठवि गए निवारे (१४१) का भी उल्लेख किया जा सकता है। जब हिसाब पूरा होता—लिखि कीनी है साफ—'साफ (१४१) [प्र साफ] करना कहलाता था। इसके मिलने के लिए बरामद (१४१) [फ्र बरआमद = ऊपर सामने आना] शब्द मात्र भी प्रयुक्त होता है—'बरे

१—हर्ष तो प पृ ११७, ११८ १७० गाँव का मुख्य अर्थ-अधिकारी (वर्तमान पटवारी के समान) 'ग्रामाक्षपटलिक' कहलाता था। सहायक लेखक "करणि तथा सरकारी कार्यालय 'अधिकरण' नाम से जाना जाता था तथा विविध विभागों के अधिकारी 'अध्यक्ष'।

२—एप तो प ११२ हर्ष ने तो गाँव वालों को दान दिए जिनका लेखक एक लहरा "हीर" था 'हलमृदि' का ('सीरसहकलमनिमानलीगतान) राजनीति (२।१८१) में कहा है कि एक ग्राम लेखपाल वाले गाँव का नाम एक लहरा वाली के कार्यालय थे।

१—पाहि प०, पृ० ११८।

कुम्हार बराबर हैं जो (१४१)।

एक स्थल पर किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता तथा ग्राम अधिकारी के अत्याचार का भी वर्णन है—

'अधिकारी जम लेखा माँगै ताते हौं आधीनो।
घर में गथ नहिं भजन तिहारो जौन दियें मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौं।
अहंकार पटवारी कपटी झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम बाकी सबै रही।
सोई करौ जु बसतै रहियै अपनी धरियै नावैं।
अपनै नाम की बैरख बाँधौ सुबस बसौं इहिं गावैं। (१८२)

कृषि

१ १—इसी प्रकार एक अन्य पद में कृषि का रूपक मिलता है—

प्रभु जू यौं कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि गाउँ हर जोते अरु जेती की तेती।
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि रज तामस सब कीन्हौं।
अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे, माया जूआ दीन्हौं।
इन्द्रिय मूल किसान महातृन अग्रज बीज बई।
जन्म जन्म की विषय वासना उपजत लता नई।
कीजै कृपा-दृष्टि की बरषा जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सो करियै होइ न कान-कटाई।

उपर्युक्त अवतरण में खेती से संबंधित प्रायः सभी प्रमुख शब्द मिल जाते हैं—खेती [सं० क्षेत्र- खेत+ई] बंजरभूमि[1] में नहीं हो सकती। भूमि जोतने के लिये बली दोउ बैल [सं० बलद] की आवश्यकता होती है। हल [सं०] का बैलों के कंधों पर रखने वाला भाग जुआ [सं० युग] कहलाता है। किसान [सं० कृषाण] या खतिहर [सं० क्षत्रकर] ही उसका हाँकनहार होता है। भूमि ठीक होने के बाद बीज [सं० बीज] बोते हैं तब लता [सं०] निकलती है। किसान का इतना परिश्रम व्यर्थ भी हो सकता है यदि बरषा [सं० वर्षा] न हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी प्रायः यह सब बातें कृषि के प्रसंग में बताई गई हैं।[2]

१—बंजर को ऊसर भी कहते हैं। रेह मिली होने के कारण मिट्टी निकम्मी हो जाती है। भा० रा० पृ० ४, ग्रामीण बोली में "ऊसरहा" भी कहते हैं। पृ० ११ 'जुआ' हल, का वह भाग है जो बैलों की गर्दन में रहता है। यह आम, कटहल आदि इसकी लकड़ी का बनता है। इसको 'जुआ' 'जुआठ' तथा 'जुआठा' भी कहते हैं।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १९५, अमेर में किसान के लिये 'कीनाश' शब्द मिलता है। अष्टाध्यायी में प्रायः "क्षेत्रकर" शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। हल को "हल" या 'हलि' कहा गया है। "हलयति (हल चलाना) वाप (बीज बोना) "तृणावहुल (घास उखाड़) निकालना, 'लवन' "[illegible]

स्फुट प्रसंगों में खरिहान (१४२) [सं खल] गाहि-गाहि खरिहान खेत कों' (१४२) का उल्लेख किया जा सकता है। खलिहान वह स्थान है जहाँ फसलें काटने के उपरान्त उसे गोड़-गोड़ कर अनाज और भूसा अलग करते हैं। स्फुट प्रसंगों में ही ऊसर (४४६२) अथवा ऊसर भूमि क्यों ऊसर करे की कुरी तथा खेतिहर (१ ७) [सं क्षेत्रकर] द्वारा निराई करने का वर्णन भी है जैसे प्रथम अपाढ़ आशु गुन खेतिहर निरवि उपाटव।[२] कुछ उदाहरण पौधों के नाम से सम्बन्धित भी आ सकते हैं जैसे— सुकवि सुर धान अंकुर सी बिनु बरषा ज्यों मूल तुई (२७७४) अथवा सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हड़े (४२२२)। खारिज अथवा नीवी जमीन को किसान पाट कर ठीक करता है—'सूर खारिज बिन पाटव (१ ७)। कारी घटा पीन झकझोरें लता तरुन लपटाहीं। (३३१६)—आदि अनेक स्थलों में बरषा अथवा पावस (३२१५) का सुन्दर वर्णन हुआ है। वर्षा ही कृषि की प्राण है।

२ १—खेती को प्राचीन साहित्य में 'कृषि' [सं० कृष्, कृष = हल जोतना] कहा गया है। 'कृषि' शब्द से हल जोतने के अतिरिक्त बीज बोने की अन्य सामग्री पशु और खेती करने वाले व्यक्ति आदि का पूरा भाव ही व्यक्त किया जाता है। वैदिक साहित्य के 'कृषि' शब्द के स्थान पर मध्याव्यायी आदि काल के साहित्य में 'कृषीवल' शब्द मिलने लगता है श्रमिकों को भरण-पोषण मिलता था। बीज के बोने भी यहाँ की उपजाऊ धरती एवं किसानों के कृषि वस्तुएँ से प्रभावित हुए थे। प्राचीन भारत में दो प्रकार के बीज साथ बोने का ढंग भी प्रचलित था। दो फसलें उस समय भी होती थीं—आसतक तथा मारतपुत्रक। 'वर्षा का पहला माह 'प्रावृषि' कहलाता था तथा वर्षा का प्रभाव अनवद्।[२] मध्याव्यायी में वर्षा के

काटना) 'खल (कूटना) तथा 'लिप्साव' आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।
'ऊसर 'बोवर', 'खज , तथा मोठ आदि के अतिरिक्त जोती जाने
वाली भूमि 'क्षेत्र (खेत) कहलाती थी। एक नया शब्द 'केदार' है जो
साहित्य में नहीं मिलता।

१—मानस, किष्किन्धा, १५

'महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतन्त्र भएँ बिगरहिं नारी॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥

२—ऐंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ १२४ १२५, मध्याव्यायी में 'गाहने' की 'खल' तथा खलिहान को भी 'खल' कहा गया है। बहुत से खलिहान 'खलिनि' और 'खल्य' कहलाते थे। हारी भूमि 'वर्ष' और जोती हुई 'सीत्य' तथा 'हल्य' कहलाती थी। 'सीता' शब्द तो ऋग्वेद तक में मिलता है। पृ, १२८, १२९ हल 'सीरनाम' तथा 'हल' कहा गया है। ऋग्वेद का 'लांगल' 'सीर' शब्द ही समानार्थक था। बड़े हल को 'हलि' या 'जित्य' भी कहते थे। जोती में 'कुटी' और 'कोटि' शब्द प्रायः भी आपसी सहायता के लिए होते हैं जहाँ हल बल दूसरे को देना। हल के तीन भाग 'ईषा' (लम्बी लकड़ी), 'कुशि (लोहे का फाल) तथा 'पोत्र' (बोझ का मुखा हुआ भाग) नाम से जाने

अतिरिक्त खेतों को नदियों तथा कुओं के जल से सींचने का उल्लेख भी है। इनमें सिन्धु, सुवास्तु, वक्षु सरयू विपाश देविका तथा चन्द्रप्रभा आदि नदियों के नाम आ सकते हैं। धान के खेतों में नहरों का पानी भी काम में आता था। देविका नदी का तट (देविका-कूल) धान के लिये प्रसिद्ध था।[१]

हर्षचरित में बाण ने भी विन्ध्याटवी के वन-ग्रामों के वर्णन में कृषि तथा कर्मों का चित्रण किया है। इन छोटे-छोटे खेतों में[२] किसान बिना हल बैल के ही कुदाल की सहायता से बीज बो लेते थे। कुछ स्थानों पर हल तथा बैलों की जोड़ी भी काम में आती थी। किसान ऊसर भूमि को खाद डालकर उपजाऊ बना लेते थे। इसी सिलसिले में गन्ने के खेतों कई धनसी धान तथा अनेक तरकारियों आदि विभिन्न पैदावार का वर्णन भी है।

कृषि से संबंधित थोड़े से शब्द तुलसी की शब्दावली में मिल जाते हैं जैसे 'खेत 'पाही खेत' (घर से दूर रहने का स्थान[३] 'पाही' और वहाँ का खेत) 'किसान' 'कृषि' 'ऊसर' आदि।

आज भी ग्रामीण बोली में हर (हल) कहते हैं तथा उसके कई भाग होते हैं— 'हर' 'परिहथ' हरिस 'नाधा' तथा जूआ। हल में लोहे का फार (फाल) भी होता है। हल बबूल की लकड़ी का अच्छा होता है।[२]

नग, धातु तथा सिक्के

नग

२०४—बहुमूल्य पत्थरों धातुओं तथा कुछ प्रचलित सिक्कों के नाम भी सूरसागर में मिलते हैं। यह अधिकांश रूप से कृष्ण-राधा रूप-वर्णन आभरण गानों हिंडोला तथा पालने आदि के वर्णन में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं कहीं नगों या धातुओं का प्रयोग उपमान रूप में भी हुआ है।

रतन[४] (६६९) [सं रत्न] नग (२१) [फा नगीन] और मणि[६]

जाते थे। वैदिक साहित्य में 'कृषम' शब्द कृषि की जगह प्रयुक्त होता था। इस के बैल 'हालक या सैरिक' नाम से प्रसिद्ध थे। यह प्रकार तातारियों के बैलों से किया गया था।

१—इंडिया एज नोन टू पाणिनि, पृ० १९४, २ ४।

२—हर्ष सां अ० पृ० १५८, १७९।

'अग्रमाण भूरि विल सेव कंटलकम्'

३—तुलसी, गीता , बाल० ६१, 'खेत के से धोखे हैं'।

'पाही खेत लपनबट, ऋन कुब्याज मग खेत। बैर बड़े सों आपने, किए पाँच दुख हेत॥'
'नृप किसान तर-बेद निकसते खेत सब सीच। तुलसी कृषि लखि जानिबी उत्तम, मध्यम नीच॥'

दोहा , ४७८,

'जूते न करे खेत बरषि सुधा बरषहि जलद।'४८८

४—आ ग , पृ० १०, ११।

५—सं ई टी ४८८।२ 'रतन लाख तेहि तीस करोरी' ४१८।४ 'और वाच नग सीवू लिखे', ६६८।६ 'रतन जटाएन नग को बनाने'॥

६—इंडिया एज नोन टू पाणिनि पृ० २११ खान में काम करने वालों को कात्यायन ने 'खनक' कहा है। कालिदास में 'मणि प्रस्तार' का उल्लेख है। अमरकोष में नगों के लिए 'मणि' शब्द आया है।

(११४) [सं० मणि] बहुमूल्य पत्थरों के साधारण अर्थ के सूचक रत्न हैं। कृष्ण तथा राम-जन्मोत्सव पर मागध निपुण तथा याचकों को दान न देने का उल्लेख बार-बार है—देत दान राख्यो न भूप कछू महा बड़े नग हीर (४१०) अथवा देत-देत है इनको मानो रत्न-कनक-मनि-हीर (४१२) तथा हीरा-रतन-पटंबर इनको (१५१)। कृष्ण का पालना भी रत्नजटित था—'मनिमय की अपार' (११६) अथवा रतन जटित बर पालनी (११५) तथा कनक रतन मनि पालनों (११)। नंद तथा यशोदा का वैभव इसी प्रकार थाने के पात्रों से भी प्रकट होता है— थार कटोरा जटित रतन के (१८११)। कृष्ण तथा राधा का हिंडोला भी अनुपम ही था 'रतननि जटित सुहावनी (१४४)। राधा को मोतिसिरी का एक-एक नग सत मत वाननि की (११६) था। वस्त्राभूषणों में रत्न जड़े होने का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आजकल नगों को 'जवाहरात' भी कहते हैं। हरि-नाम महात्म्य में भी कहा गया है— मरकति हाट बैठि मनियार है हरि नग निमल मोहि। (११)। नौ रत्न प्रमुख माने गए हैं— रेशम बनाई नव रतन पालनी (७०२) अथवा नव-मनि-मुकुट-प्रभा अति उदित (१२४) लाल है रत्न निकाले वाले का संक्षिप्त इस पद्यांश में है—'उर है बिराजत कुटिल आ गोकुल कीन्हों है मिल बालि।...मिकहत नाहिं जवाहर रतन क्यों नवो स्याम संग हरि। (४११६)।

२ ४—उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रसंगों में नगों के कुछ नामों को गयी है। प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं—

हीरा[1] हीर (४११ १९९) [सं० हीर हीरक] हीरे रत्न में होने तथा हीरक जटित वस्तुओं का ऊपर उल्लेख हुआ है— युठि हैम पदुमी मध्य हीरा (१४९)। कवि की सम्पत्ति से मनुष्य जीवन भी बहुमूल्य हीरे से कम नहीं है— हीरा जनम दियो प्रभु इनको' (१९९)। हीरे का समानार्थक शब्द वज्र (१४११) [सं० वज्र] भी है—'वज्र कोऊ नहीं तुठि गुमान लोभा कारि। सब नगों में हीरा ही सबसे अधिक बहुमूल्य होता है। पद्मावत में 'वज्र' शब्द हीरे का बोधक है।[2] हीरा कई रंगों का होता है—सफेद पीलापन लिए सफेद अथवा लाल किन्तु सफेद हीरा ही अधिक लोकप्रिय है। इसकी चमक विशेष होती है। भारत का प्रसिद्ध कोहनूर हीरा अब इंग्लैंड में है और वहाँ ताज में जड़ा जाकर राजरत्न-कोष में सुरक्षित है। हीरे से कम चमक वाला किन्तु मिलता-जुलता एक नग 'पुखराज' भी होता है। यह मूल्य में हीरे से बहुत कम होता है।

सीप्रज (३४५) [सं०] मुक्ता (१२९) [सं०] विधि वाहन-सम्भूत' [सं० विधि वाहन सम्भव] शब्द मोती के ही पर्यायवाची हैं। मोती के आभरणों का वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त हिंडोले में भी मोती की लरें लटक रही थीं—(१४४)। घर देत में कृष्ण के घोड़े की चोंच में मोती की लरें (८८४)। शिशु कृष्ण का पालना हीरे तथा जटित बाजूबंद पहरि सभी सब मुक्तावली (१५८)। बाल मोती से सजाया गया था—'पंच रंग रेशम लगाउ हीरा मोतिनि मढ़ाउ

१—जवाहरातों के नाम यह हैं—हीरा, माणिक, पन्ना, मोती, गोमेद, मूँगा, लहसुनियाँ, बहु भाँति हीरा जड़ पुखराज और नीलम।

२—प० ग्रं० १ ७।१ 'रतन चौक बैठे जनु हीरा, राती। हीरा दिखाई सो तेहि परिछाहीं।

३—१ ७।२ 'रतन चढ़ाएन मानिक मोती'।

कृष्ण के सुन्दर मानहुँ दाँतों की आभा मोती की भाँति दिखती थी 'प्रकटति हँसत दुकुलि मनु सीपज घमकि टूटे दस मोती री' (७१५)। अथवा मोती समुद्र से निकाला जाता है तथा जितना बड़ा हो उतना ही मूल्य अधिक होता है। प्राचीन काल से ही भारतीयों को मोती विशेष प्रिय रहा है। आजकल इनकी अनुकृति रासायनिक ढंगों से भी बनाई जाने लगी है। हंस द्वारा मोती चुगने की कवि प्रसिद्धि भी है—'जल तजि हंस चुगैं मुक्ताहल (१०४८) अथवा 'मुक्ति-मुक्ता मानसिवे चल तहाँ चुनि चुनि खाहिं (११८)।

मानिक[1] (६६४) [सं माणिक्य लाल पद्मराग] या लाल (१४६) जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है लाल रंग का पत्थर होता है किन्तु इसमें कई वर्ण भी होते हैं। इन सभी नगों के नाम विशेष रूप से झूले के वर्णन में मिलते हैं—हीरा-लाल-प्रवालमनि पंगति बहु मनि खचित पचावनी (१४५) अथवा मखम सों मानिक चुनी मानी बीच हीर तरंग' (१४६१) अथवा 'मनि लाल मानिक खचित भंवरा (१४२८) तथा लाल हीरा माइ' (१७७६)। माणिक्य तथा हीरक का पहनाव आज भी लोगों को अत्यधिक प्रिय है[2]—'कवि हीरा विच लाल प्रवाल' (७ २) गहरे रंग के लाल का ही संस्कृत नाम पद्मराग था।

२ १ मरकत[3] (१६२७) [सं० मरकत] हिंडोले के डंडे भी मरकत जड़ा था—डाँड़ी सबी पचि पचि मरकतमय सुराति सुधार। रास वर्णन में कृष्ण तथा गोपियों के शरीर की आभा मरकत का स्मरण करा रही थी—'बिच भी स्याम नारि बिच गोरी कनक बीच मरकत रुचि डोरी। (१६५७)। गोपियों का कंचन वर्ण तथा कृष्ण का रूप ऐसा था 'मानो पात मुक्ता मरकत पर शोभित सुमन सोवरे गात। (७७३) इस हरित वर्ण के पत्थर को आजकल अधिकतर पन्ना कहा जाता है। कृष्ण रुक्मिणी विवाह वर्णन में पन्ना (४८०४) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है— मुकुट कुंडल खचित हीरा लाल सोभा मनि बनी। पन्ना पिरोजा लगे बिच-बिच बहु विधि मरकत मनी। ......ह्राम पहुँचो हीर के नग खचित मुदरी भावई।[4] (४८०४)। मुसलमान इसे 'जमुर्रद भी कहते हैं। आर्मि-मकरी में यही शब्द मिलता है।

विद्रुम, प्रवाल (७१८, ७०२) [सं विद्रुम प्रवाल] अथवा मूँगा (१२१५) (सं मुद्ग) छोटे बच्चों को मूँगा पहनाने की प्रथा थी तथा अन्य प्रसंगों में यह पर्यायवाची नाम प्रयुक्त हुए हैं—'मुक्ता-विद्रुम-नील-पीत मनि लटकन लटकन भाल री' (७१८) तथा हीरा लाल प्रवालमनि पंगति (१४२)। शीशमी का चौक नगों से बनाया गया था यथा चौकिनि के चौक पुरत्र बिच बिच लाल प्रवालिका। (१४२७)।[5] 'विद्रुम अधर का उपमान भी है—'अधर बिद्रुम बचन दाड़िम किधौं दसनावली (४८ १) अथवा 'अलि-अलि बाउँ

1—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ २११ 'लौहितक (म णिक्य) तथा 'मरकत' (पन्ना) की गिनती मणियों में की गई है। इनका 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लेख है। 'वैदूर्य' (Cats eye) की खानें 'बालवाय' पर्वत पर प्रसिद्ध थीं। 'विदूर' में काटे जाने के कारण इनका यह नाम पड़ गया था। अमरकोश २।९।९२। 'शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः'।

2—सं० टी० ४४०।६ 'कंचन करी रतन मय हारा। बहुँ बरतन तहुँ न बना।

3—अमरकोश २।९।९२ 'गारुत्मतं मरकत-मश्मगर्भो हरिन्मणिः'।

4—स सं टी, ४८६।७, कनक चपूठी सो मन करी'

5—स सं० टी० १८४।४ 'रतन चौक पूरा तेहि ना।।

प्रवल प्रभरति की। विद्रुम दिव मरकत (१२८२)।¹ इस मणि में चमक नहीं होती तथा सुशोभित किए इसके लाल रंग की होती है। नासम (२८३२) अथवा इन्द्रनील (८३४) [सं इन्द्रनील] मूंगे में लटकती मोती की भालर में बीच-बीच में नीलम सुशोभित थे विच नीलम बहुमाखमो (१४५)। शिशु कृष्ण के मस्तक पर अन्य मणियों के साथ माला में नीलम भी पहना दिया था— मुक्ता-विद्रुम-नील-पीत-मणि लटकन लटकत भाल री। मानो गुरु-भौम-शनि-गुरु मिलि मणि के बीच रसाल री। शरीर के उपमान रूप में भी 'इन्द्रनील' प्रयुक्त हुआ है इन्द्रनील मणि से तन सुन्दर (८३४)। इन मणियों के प्रभाव में भी कुछ लोगों को विश्वास है विशेषकर हीरा मूंगा नीलम आदि। लोग नीलम बहुत ठोक-बजाकर कर पहनते हैं।

२७ फटिक सिला स्फटिक (१६६ १५४० १५१८) [सं स्फटिकशिला] मूंगे की पटली स्फटिक अथवा बिल्लौरी पत्थर की बनाई गई है। स्फटिक सिंहासन मध्य सिंहासन (१४२) स्फटिक पटुली धन (१५५८)। द्वितीय स्कन्ध के प्रारम्भ-विभ्रम सभी एक पद में यह उपमा दी गई है जैसे गज मणि फटिक सिला म रसमनि बाढ़ मरुता (१६६)।

फिरोजा (१५५) [फा फ़िरोज़ा] भी एक उल्लेखनीय रत्न है— मरकत मयादि फिरोजा लटकत सुन्दर सुहर हरावनी (१५५)। यह हरापन लिए हुए हल्के नीले रंग की मणि है।

मानस में राम-जानकी विवाह के निमित्त बना मंडप भी अद्वितीय था। वह सोने के खंभों तथा मणियों से विभूषित था।² इसमें नगीने के जड़ाव में पच्चीकारी (चीरि कोरि पचि) का वर्णन भी है। यह विवरण सूरसागर के हिंडोले से बहुत मिलता-जुलता है। आईने अकबरी म सम्राट् के रत्नकोष के अपूर्व रत्नों के नाम दिए गए हैं। इस विभाग में कारपर्दु 'बिरहवो' दरोगा तथा कई चतुर जौहरी (रत्नो को परखने वाले) नियत थे। रत्नों में लाल हीरा पन्ना आसमानी तथा कुछ मामूल तथा मोती के नाम मिलते हैं तथा उनको श्रेणी बद्ध करके मूल्य निश्चित कर दिए गए थे। अन्यत्र सूर के लाखहुकार तथा बिल्लौर नाम भी दिए गए हैं।

४ ८ इन बहुमूल्य रत्नों के साथ ही पोत (४१ ३३१८) तथा काच (१११८) का उल्लेख करना अनुचित न होगा। छोटे तथा नकली मोती को ही 'पोत' कहते हैं। मनुष्य जन्म हीरे के समान बहुमूल्य होते हुए भी उसका सदुपयोग हरिनाम में ही है अन्यथा वह पोत के समान ही व्यर्थ माना जावना— मनुष्य-जनम पोत नकली ज्यों मानत भजन बिना बिन (४१)। एक बहु मानिनी गोपी कहती है—'करौ न मंजन करौ न मरकत अबमर तनु न लगाऊँ। इन बसन कटि ना पट मेचक कंठ न पोत बनाऊँ (१११८)। काच के ही पोत बनाए जाते हैं— काच पोत गिरि जाइ नद चर फलो न पुर्वै॥ (२२३६)। कृष्ण द्वारा

१—प सं व्या ४४३१४ ५ 'हीरा रतन खचित धी स्यामा विद्रुम अधर रंग रस राते।

२—मानस, बाल २८८ बिबिध कनक मणि के बौंसा', 'हरित मणिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल बेनु हरित मणिमय सब कीन्हें चित्र विचित्र मुक्ताराम सुहाए', 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा', चैम और मरकत बबरि लसत पाटमय डोरि।

दधि दान की लीला-प्रसंग में गोपियों के गले की पोत की माला के टूटने का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। इस वर्ग की स्त्रियाँ प्रायः पोत की माला पहनती हैं। एक ओर तो सोने के रत्न-जटित आभरणों का वर्णन है किन्तु साथ ही पोत का उल्लेख स्वाभाविकता ला देता है। माया दीपक पदों में काँच तथा कंचन के समानत्व का वर्णन है—

'सूरदास कंचन अरु काँचहिं एकहिं धगा पिरोवै (४१) 'रंच काँच-सुख लागि मूढ़-मति कंचन राशि गँवाई' (३२८) तथा गोपियों की दृष्टि में 'हेम काँच हंस काग सरि कपूर देतो' (४२७१) कृष्ण-कुब्जा साम्य था।

प्रसिद्ध पौराणिक मणियाँ

२०९ प्रसिद्ध पौराणिक मणियों से संबंधित उल्लेखनीय शब्दावली यह है—

१ चिंतामनि (९) [सं० चिन्तामणि] ध्यान करते ही अभिलषित वस्तु देने वाला रत्न विशेष है—'परम उदार, चतुर चिंतामनि कोटि कुबेर निधन कों' (९) २. कौस्तुभमनी (४१५) विष्णु के हृदय पर शोभायमान मणि विशेष है। समुद्र-मंथन के फल-स्वरूप निकले हुए चौदह रत्नों[1] में कौस्तुभमणि भी था।

धातु

२१०—जिन प्रसंगों में रत्नों से संबंधित शब्दावली मिलती है वहीं धातुओं[2] की चर्चा भी है। धातु (३५१९) [सं धातु खनिज पदार्थ] शब्द का उल्लेख है। इनमें प्रमुख स्थान सोने, कंचन, कनक हाटक अथवा हेम[3] [सं० स्वर्ण सं] के (६४२ ६५८, ६६६, ३११४ ३८१०) को सरलता से दिया जा सकता है। राम-कृष्ण जन्मोत्सव पर सुवर्ण-दान की चर्चा है तथा आभूषण चूड़ा एवं चोकन के साथ पालना तथा हिंडोला आदि सभी स्वर्ण-निर्मित बताए गए हैं—'कै दासिनि कंचन-मनि-मुक्ता' (६५६) कनक-रतन-मनि पालनौं (६६००) 'सकटी कनक' 'कनक किंकनी किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जटि' (७६९, ६६७२) 'कंचन-थार दूब दधि रोचन' (१५८४) कंचन थार भराइ कै (१७८४) खचि रतन कंचन के खंभ' (१७४८) हाटक सहित सवारनी (१८५०) तथा 'मुठि हेम पटुली मध्य हीरा (१८१०)।

उनकी लकुटिया मुरली तथा पिचकारी तक सोने की रत्नजटित बनी है—

१—चौदह रत्न इस प्रकार हैं—अमृत, ऐरावत, कल्पवृक्ष, कौस्तुभमणि, धनु चन्द्रमा, कामधेनु, धन्वन्तरि रम्भा, लक्ष्मी, वारुणी, विष, तथा शंख।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २११ बहुमूल्य धातुओं में 'हिरण्य अथवा 'जातरूप' (सोना) तथा 'रजत' (चाँदी) का उल्लेख है। इसके अलावा 'अयस' (लोहा) और त्रपु (टीन तथा 'लोहितायस' (तांबा) नाम भी मिलते हैं। एक मत में 'सीस' तथा 'लौह' का जिक्र भी है। व्यापार की सामग्री में भी इन धातुओं तथा मणियों की गिनती की गई है।

३—कौटिल्य ने सोने के पांच भेद किये हैं। इनमें 'हाटक' इसी नाम की खान से निकलता था। इनमें एक जातरूप भी है। कसौटी पर कसने पर हल्दी के रंग का सुवर्ण ही तब 'सुवर्ण' नाम से जाना जाता था। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २)

'मोहन मुरली अधर धरी।
कंचनमनि मय रचित कवित धरी' (१८४४)
मेरी कनक लकुटिया दै री (२ २४)

अथवा रत्न-खचित पिचकारियां (१४८५)
तथा 'पिचकारी रतन खचित (१४९२)।
मुनी की डोरी भी सोने के तारों से बनाई गई थी—'धव रंग पाट कनक मिलि डोरी' (१४४)। 'कनक' तथा 'कामिनि' सदैव से संसार के सबसे बड़े प्रलोभन माने गए हैं—(छी बार कनक-कामिनि-रस ममता मोह बढ़ाई। पद्मावत में रत्नों के समुद्र से निकलने की कल्पना जायसी ने की है¹। यों कनको गर्तों का स्थल में होने का ज्ञान था।² मोतियों और राधा के रूप-वर्णन संबंधी पदों में उनके वर्ण की उपमा प्राप्त होने से दी गई है—

'सोपी मंडन भीजि स्याम। कनक नील मनि मनु अभिराम। (१०९८)।

एक स्थल पर शिशु कृष्ण के पद चिह्नों की सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—'प्रति चरन मनु हेम वसुधा देति भाजन कंज' (८२१)।

सुनार तीन प्रकार के होते थे अपनी कला-कुशलता दिखाता है। एक तो नए सोने को गलाकर चीजें बनाता है दूसरे पुराने आभरणों आदि को पिघलाकर दुबारा बनाता है तथा तीसरे सोने की पुरानी वस्तुओं को चमकाता और साफ करता है। पहले प्रकार के सोने को सूरसागर में अनगढ़ सोना (११८) कहा गया है—अनगढ़ सोना ढालना (गढ़ि) स्याए [कर] सुनार' (६५८)। अमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर रसाइनी [रसायनी से] रहि (१२१४) [सं पारद] से सोना बनाने का वर्णन की है 'जब ये होत सिधि [ग]ई—जैसे हाटक से रसाइनी³ पाइ ई माथि दई। जब मन लखी दृष्टि तब दीन्ही

१—प सं टी १०७ 'जहाँ रत्न रत्नाकर कंचन कहाँ सुमेरु' तथा उपजहि मोती मानिक हीरा (१२।१२)
२—प सं टी, ११।१२, 'जल बल नव न होइ कोइ जोती। जल बल बीच न उपजे मोती।'
३—प सं टी, ११२।१ 'कनक कंम धुरू धुआ कमाई।
४—प सं टी २१।४।५ 'धातु कमाइ सिखे तें जोगी....जस हरतार पार नहिं पाया। भंवक कहाँ कुकुरा जाया।'

(४) सिद्ध अथवा नाथ योगी रसायन अथवा धातुवाद की प्रक्रिया से सोना तथा चाँदी बनाते थे। यह लोग ताँबे में पारा मिलाकर 'सुवर्ण' तथा राँगे में ...रात मिलाकर चाँदी बनाते थे। ताम्र में भी 'कल्पगभी' या धातुविदों का ...ध किया है। नागार्जुन उनके गुरु थे। बाद में यह लोक-प्रदर्शन के नाम से ...ख्यात हुआ। पश्चिम देश में सोना, चाँदी ताँबा सीसा, राँगा आदि मिला होता है। सोना बनाने में रसायनिकों को पारद के प्रति एक प्रकारी दृष्टि की भी अवश्य पड़ती थी। २१।४।५ 'सिद्ध गोटिका जापहुँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं'।

'जब तेहि धातु रांच भा सोनी। होर हार सब बर के सोनी ...सवरद के तन ढूंढ़ कोन्हा। सो गुरू करि परिमिति नहुँ दीन्हा।

(५) बद्ध पारद की मोली सिद्धि, जिन्ह अथवा खेचरी गुटिका कहलाती थी। संबन

व्यापार, व्यवसाय कृषि ग्राम-प्रबन्ध मय वास्तु तथा सिक्के

सीसी कूटि गई। (१६१४)। सोना मय करने का उल्लेख भी है— पाँच सबै धातों स
सी भी वगुधातु गई। (४ २९)।

कसौटी (४२११) [सं कषपट्टिका]—'गेह कसौटी दीन्ह'—परीक्षा के आधार
मन में भी प्रयुक्त होने लगा है। कंचन का पारस द्वारा खरे करने की चर्चा भी है— स
कुबिधा पारस नहिं आवत कंचन करत खरो। (२२)

पद्मावत में कसौटी पर सोना कसने सुभारस बानि (बारहवानी) उत्तम सुवर्ण तथा
सुहागे का उल्लेख भी है¹। बारहवानी सोने को कुंदन कनक भी कहा गया है। कुंदन के
आमरव भाव मविश है। अकबर के समय में खरेपन के लिए 'बान' शब्द चलता था। सबसे
खरा 'बारहवानी' होता था। आजकल इसे कैरेट 'टच' या 'बट्टा' कहते हैं।

सोने के बाद धातुओं के निश्चित क्रम म रजत (१४७८) [सं] अथवा रूपे
(१४२) रूपे¹ (१७१०) [सं रूप्य] का स्थान है। एक विनय पद में मनुष्यों से 'रूपे
का मोम छोड़ देने का आग्रह किया गया है— निमय रूपै लोग छाड़िके (१४२)।

कंस-वध के बाद दान में दी जाने वाली गायों का दाँवे रूपे तथा सोने से सुसज्जित
होने का वर्णन भी है—'दाँवे रूपे सोने साज रावी दै बनाई हैं' (१७१) हिलोने के
'मख' तथा 'मयारि' रजत-निर्मित थे— रचि रजत मख मयारि' (१४७८)। आजकल
अधिक प्रचलित शब्द 'चाँदी' है।¹

और पारा मिला देने पर पारे के रूप अलग नहीं रहते। ऐसा पारा 'कज्जली
कहलाता है। गंधक पारे को खा लेती है। अभ्रक, पारद तथा गंधक को एकत्र
करके सिन्दूर बनाने का यहाँ उल्लेख है। इस शास्त्र के अनुसार पारा
हरताल तथा संखिया आग में डालने से उड़ जाते हैं किन्तु गन्धक पारे को बद्ध
कर लेता है। इनमें मिलकर हरताल भी अग्नि को सह लेती है।
भारत में पारा नेपाल चीन अफगान तथा स्पेन से भी आता है।

१—वं सं टी, १ ।। 'कंचन रेख कसौटी कसी कनक सुभारस बानि होइ
वह सोहाग वह माँग, ६१।४ 'कनक सुगंध सुभारस बानी', १७।।५ 'बारह
सोनहि मिला सोहागू।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—पृ २७१,२७२ सिक्कों को निपातिका से चिह्नित
करने या 'रूपा लगाने के अर्थ' में 'रूप' शब्द अष्टाध्यायी में प्रयुक्त हुआ है।
इन सिक्कों पर एक बार या अनेक बार विभिन्न छापें बनाई जाती थीं। 'रूप्य'
अथवा या 'आहत' के अर्थ में आता था। 'अपमित' अथवा 'आहत' किए बिना
सिक्के नहीं माने जा सकते थे।

१—अर्थशास्त्र में चाँदी के चार भेद बताए गए हैं—तुत्थोद्गत (तुत्थ पर्वत से प्राप्त
गौड़िक (गौड़ देश की), काम्बुक (कम्बु पर्वत की), चाक्रवालिक (चक्रवाल
पर्वत से प्राप्त)।

वैदिक ग्रन्थों में सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, लोहा, सीसा तथा जस्ता सप्त धातु
मानी गई हैं। 'पारा' रस होता है। अष्टधातु में 'पारा' भी गिना जाता है।
'स्वर्णं रूप्यं ताम्रं च रंग यशदमेव च। शीसं लौहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ
प्रकीर्तिताः। प्रतिमा निर्माण के लिए अष्टधातु का उपयोग होता था। गंधक
ईंगुर अभ्रक हरताल सुहागा फिटकरी तेल आदि उपरसों में है।

२११—ताँबि (६४१ १०१) [सं ताम्र] कंस-वध के बाद राम के समान ही कृष्ण के जन्मोत्सव में नंद तथा यशोदा के द्वारा दी गयी धातुओं की भी गई थीं यह भी इसी प्रकार वर्णयुक्त थी—

'कुर ताँबे रूपे पीठि सौंपे सौन भरी (६४२)।

इस प्रसंग से इन धातुओं के क्रमानुसार महत्त्व तथा मूल्य पर प्रकाश पड़ता है साथ ही इस प्रकार सजाई गई गायों के दान की प्रथा पर भी।

प्रथम स्कन्ध में लोहा (२२) [सं लौह] धातु का उल्लेख है—'एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो (२२)। धातुओं के उपयोगों की दृष्टि से लोहे को सर्वप्रथम स्थान मिला है। सोना तथा चाँदी तो वैभव ऐश्वर्य तथा सम्पन्नता के सूचक हैं किन्तु किसी भी देश की सम्पन्नता एवं उन्नति बहुत कुछ लोहे पर आधारित होती है।

पद्माकर में 'सार' व लोहे प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ फौलादी लोहा है।[1] अन्य तर में पोलाद (६२१) शब्द भी मिलता है।

आईने-अकबरी में मधुकरखाना से राजकीय टकसाल पर भी लिखा है। इसमें सोने-चाँदी को साफ करने की विधि तथा धातुओं की उत्पत्ति भी वर्णित है। उन्होंने लिखा है कि सोना बाहर से ही अधिक आता है साथ ही उत्तरी पर्वतों तथा तिब्बत में भी होता है। व्यापारी सोने-चाँदी से यथेष्ट लाभ उठाता है। खनिज पदार्थों में उन्होंने पाँच श्रेणियाँ की हैं—(१) पारद आदि (२) पारा (३) सिक्करी (४) गंधक (५) सोना आदि। सप्त धातुओं में उन्होंने चाँदी सोना तारचीनी ताँबा राँगा लोहा तथा सीसा रखा है तथा किस प्रकार इनकी उत्पत्ति होती है यह भी बताया गया है। मिश्रित धातुओं में काँसा हर्द, पीतल का जिक्र सीसेपूला तालीकून कौलपत्र तथा सप्तधातु है।[2]

२१२—सूरकालीन कुछ सोने के सिक्कों के नामों पर भी प्रकाश पड़ता है—

सिक्के (१) रुपैया[3] (१४२) 'रूपे के कोस कोड़ देने के उल्लेख में इस शब्द का अर्थ उस समय का प्रचलित रुपया हो सकता है।

(२) टका (१४८) [सं टंकक] कृष्ण-जन्म पर यशोदा ने दाई को भेंट में दिए थे—

'लाल टका सब झुमका हेतु सारी दाई को भेंट।

यह चाँदी का पुराना सिक्का था। अकबरी शताब्दी में पचड़े को भी टका कहते थे।

(३) दाम[4] (२४९०) [सं] राजा की मोतिसिरी के बदले में माता कीर्ति कहती है—

११२१४ कीहूँ वार पहिरि सब लेपा'।

१—प्र० सं टी

रहीम—'मुई खाल की साँस से सार भसम होइ जाइ'।

२—आईने अ०, पृ २९-४४

३—आईने अ पृ ४९ रुपया चाँदी का सिक्का था। यह शेरशाह के समय में चला था। एक रुपये में चालीस दाम होते थे। एक अठकोनदार रुपया भी चलता था जिसका नाम 'जलाला' था। दूसरा चुगना व गोल मुहरशाही रुपया था।

४—आईने अ पृ ५७ दाम ताँबे का सिक्का था। यह रुपये का चालीसवाँ भाग था। पहले इसे 'पैसा' या 'बहलोली' कहते थे। दाम का पच्चीसवाँ भाग 'जीतल' होता था।

एक एक नग सत दामिनि को लाख टका दै ल्याई (२५६)।

मुक्ता-माल इतना बहुमूल्य था अत: उनकी पुत्री पर न्योछावर होना उचित ही था। यह आजकल के पैसे के बराबर का पुराना सिक्का था। खराब सिक्का खोटा कहलाता है—'हरि को नाम' दाम खोटे लौं झकि-झकि डारि दयौ। (१४)।

(४) कौड़ी (२१६१) [सं कपर्द कपर्दिका] दधिदान प्रसंग में कृष्ण गोपियों से कहते हैं— अब तुमकौं मैं जान न दैहौं। दान लेउँ कौड़ी कौड़ी करि, बैर आपनो लैहौं अथवा 'सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लई' (१७६८)। कौड़ी मूल्यहीन होने का भाव व्यक्त करती है।

(५) दमरी[1] (१८६ १४१) अधर्मों तथा अपराधों की सूची वाले विनय पद में एक कृपण का चित्र खींचा गया है—'लंपट धूत पूत दमरी को कौड़ी-कौड़ी जोरै (१८६)। कौड़ी-कौड़ी जोड़ना' मुहावरा थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा धन इकट्ठा करने का द्योतक है।

(६) मोल (१५१६) [सं मूल्य] हिंडोले में झूलने के लिए राधा तथा गोपियाँ वस्त्राभरणों से अलंकृत हो एकत्रित हुई। उनके वस्त्र मँहगे (१५१६) थे—'पहिरि विविध पट मोलनि मँहगा। (१५१६)।

पद्मावत में 'दिनार' सिक्के का भी उल्लेख है।[2] आईने-अकबरी में दीनार सोने की मुद्रा बताई गई है। अन्य स्वर्ण मुद्राएँ भी अकबर के समय में प्रचलित थीं जैसे सहँसा रहस इलाही मोहर आदि करीब छब्बीस थीं।[3] सूरसागर में इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

१—आईने अ पृ० ५८ दमड़ी दाम का आठवाँ भाग था। 'अधेला' दाम का आधा तथा 'पावला' चौथाई भाग है।

२—प सं टी० ४८८।१, 'लाख दिनार देवाई जेंवा'।

३—आईने अ० पृ ४६ ५६।

खंड—५

राजदरबार, शासन-व्यवस्था तथा युद्ध

१—राजा, राज दरबार तथा महल

२११—सूरसागर में राजदरबार, शासन तथा युद्ध आदि की द्योतक शब्दावली यथेष्ट मात्रा में मिलती है। ये शब्द नवम-स्कंध तक की कथाओं तथा दशम-स्कंधउत्तरार्द्ध के पदों में अधिकांश रूप से प्रयुक्त हुए हैं। विनय पदों में राजदरबार-संबंधी कुछ रूपक पूरे-पूरे पदों में मिल जाते हैं। इन शब्दों के प्राचिस्य की दृष्टि से कुछ पदों (४ १४५,२२ ६ ११८७,१६११ ४८८५) पर ध्यान देना आवश्यक है।

राजा, राजदरबार[1] तथा उसके भवन और शासन-व्यवस्था की सूचक शब्दावली निम्नलिखित है—

नृप नृपति (२५ १४१,१४२) [सं] राजा (१७४ ४११ ४१६ ४२५६) [सं] महाराज (४) [सं] राय, राउ राइ (१४८ १४५ १७१४) [सं० राजन्-राय-राव], महीपति (२६११) [सं], भुवाल भुआला (६२२) [सं भूपाल], भूपति (२४८) [सं] अथवा सुल्तान (१४५) [अ] ही राज्य का उच्चतम अधिकारी होता था। कुछ विनय पदों में तथा अन्य स्फुट प्रसंगों में परब्रह्म के अवतार कृष्ण सब सृष्टि के अधिनायक घोषित किए गए हैं—'ऐसे प्रताप राइ कसो के तीनि लोक पर राज।' (१७१४) जब कि कवि स्वयं सब पतितों का राजा है—'हरि हौ सब पतितनि को राजा' अथवा 'हरि हौ सब पतितनि को राउ' (१४५)। इस दृष्टि से उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता—'को करि सकै बराबरि मेरी सो धौं मोहि बताउ' (१४५)। राजाओं के ऊपर सुल्तान वर्णित है—'और हैं आजकाल के राजा, मैं तिनमैं सुलतान[2]।' (१४५)। मुगल राज्य-काल में हिन्दुस्तान का सम्राट् 'पातशाह' [फ़ा] कहलाता था। वह राजधानी दिल्ली या आगरे में रहता हुआ राज्याधीन शासकों पर नियंत्रण रखता था। मुसलमान राजा ही प्रायः सुलतान कहलाते थे।

द्रौपदी-चीर-हरण प्रसंग में दुर्योधन की सभा का चित्रण कई पदों में है, जहाँ अनेक भूप और नृपति बैठे हुए थे—'बैठी सभा सकल भूपनि की' (२४८) अथवा 'परे बचन या नृपति-सभा पै।' (२५)। कृष्ण का मथुरा तथा द्वारकापुरी के राजा होने का वर्णन भी कई पदों में है—'राजा भए विहार ठाकुर भए कुबिजा पटरानी' (४२५६)। अथवा 'कहँ वे ब्रजाधिक के ठाकुर कहाँ कंस की रानी।' (४२६१)। यों ठाकुर [सं ठक्कुर] प्रतिष्ठासूचक है, व्यक्तिसूचक नहीं। पद २२ ६ में राजा से सुन्दर रूपक बाँधा गया है।

१—ईंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ ३९८—४०७, ४११, 'राज' शब्द के प्रतिकूल 'राजन्' से शासित प्रदेश 'राज्य' कहलाता था। अष्टाध्यायी में राजा को उसके अधिकारों के कारण 'ईश्वर' भी कहा गया है। प्रारम्भिक संस्कृत साहित्य में 'ईश्वर' राजा का सूचक शब्द है भगवान का नहीं। वास्तव में 'राजा' तथा 'ईश्वर' समानार्थी शब्द हैं। 'ऐश्वर्य' से युक्त वह 'स्वामी' नाम से जाना जाता था। 'स्वामिन् ऐश्वर्ये' पतञ्जलि के अनुसार 'ऐश्वर्य' शब्द इस भाव का द्योतक भी है। पाणिनि ने राजा का अन्य नाम 'भूपति' तथा 'अधिपति' भी बताया है। 'आधिपत्य' शब्द से कई राज्यों पर अधिकार होने का बोध होता है। 'सम्राट्' तथा 'महाराज' प्राचीन उपाधियाँ हैं। श्रेष्ठ राज्य को 'सौराज्य' कहते थे।

२—प सं टी०, ११३।१, 'अनि सलतान कि राजा कहुँ'।

प्राचीन समय में अन्य राज्यों पर विजय-प्राप्ति के हेतु ही अश्वमेध-यज्ञ का विधान था। ऐसे राजा को ही दिग्विजयी (१४४) [सं. दिग्विजयी] कहते थे जिसका प्रताप चारों दिशाओं में छाया हो। पद्मावत में सबके अर्थात् चक्रवर्ती राजा का निर्देश है।[१]

२१५—पटरानी[१] (४२५६,४२११ ४२७ ४११) [सं. पट्टराज्ञी]—प्रधान रानी को ही 'पट्टमहिषी' 'पट्टदेवी' अथवा पट्टरानी कहते थे। प्रायः पहली रानी को ही यह पद मिलता था। यह अपने विशेष अधिकार से राजा के साथ सिंहासन पर बैठती थी तथा धार्मिक कार्यों में अर्धांगिनी का स्थान ग्रहण करती थी। कभी-कभी युवराज की माता भी इस सम्मान की अधिकारिणी होती थी। सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में कुब्जा के प्रति कहे गए व्यंग्य वचन यहाँ उल्लेखनीय हैं—'नृप हुति कोटि सकल ब्रज-बनिता कान्ह कुबरी रीझी दासी से पटरानी कीन्ही सौत ग्यान यह पूछो। (४२१८) अथवा 'कुबिजा को पटरानी कीन्ही हुई रस बेरस।' (४२५५)। रानी (४२७) तथा इसका हीन बहुत देखन को संग लिए कुबिजा पटरानी।' (४२५५)। दोऊ हुती कंस की दासी, कुबरा करी (४११ ४२५४) [सं. राज्ञी] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—... तथा उनकी पटरानी एवं रानी का भी उल्लेख महरानी। (४२०४)।

६— कुमारपुर-कथा में विमलेन्द्र पृथ्वीपति राउ तथा उनकी पटरानी ... का रानी की ... यह देई। ता रानी सेती सुत हूँ है। (४१६)। पटरानी की सा रूप दियौ। तिन प्रसाद करि भोजन कियौ। राज-पुत्री का ही राजकुमारी (४७१२) [सं.] कहा जाता था। भीष्मराज की पुत्री रुक्मिणी के विवाहसूत्र प्रसंग का सुन्दर वर्णन है—नारद मेरी सरन होइगी मधुर सुखैनी भाइ। राजकुमारि सोधि जिय अपने, कर मीड़े पछताइ।

सूरसागर में राज तथा राजपाट, (१ १ १४१) [सं. राज्य] शब्द शासन अथवा राज्य के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं— राजपाट सिंहासन बैठि (१ १) अथवा 'राज विभीषन दीन्हें (५७)।

१—हर्ष ... स. ..., प. १२४, राज्यवर्धन के वध के बाद हर्ष ने दिग्विजय का निश्चय किया। पूर्व में प्राग्ज्योतिष, दक्षिण में त्रिकूट, पश्चिम में अस्तगिरि तथा उत्तर में काश्मीर तक उसके इस निश्चय की घोषणा की गई। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में 'सर्वपृथिवी विजय' तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि लेख में 'कृत्स्नपृथ्वीजय' कहा गया है।

२—प० सं० टी०, २६।८, 'चारह चकवन राजा चहूँ खंड भै होइ। सबै आइ सिर नावहिं सरवरि करै न कोइ।'

३—ईंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ४ ४, ४ २—हिन्दू राज्यतंत्र राज्य में रानी का अपना अलग स्थान सर्वस्वीकृत था। राजा तथा रानी का एक साथ ही राज तिलक होता था। पाणिनि ने प्रमुख रानी को 'महिषी' कहा है। राजकुमारों की माता 'प्रजावती' कहलाती थी। कौटिल्य ने भी 'राजमहिषी' तथा 'कुमारमातृ' का उल्लेख किया है। जातकों में भी 'प्रजापती' तथा 'राजमहेसी' शब्द उल्लिखित है। अष्टाध्यायी में मगध-नर की स्त्रियों को 'असूर्यम्पश्या' कहा गया है। 'राजदारा' (धर्म २) के अर्थ में अरोधन (अवरोधन) शब्द भी था। 'राजपुत्र' और 'राजकुमार' तो राजा के सभी पुत्र कहलाते थे किन्तु राज्य का उत्तराधिकारी राजकुमार ही 'युवराज' तथा 'कार्यकार' नामों से सम्बोधित किया जाता था।

जिन व्यक्तियों पर राजा का शासन होता था वही प्रजा (२५) [सं] नाम से जानी जाती थी। राजा की सफलता का माप उसकी सुख एवं समृद्धि ही थी। दुर्योधन का अन्याय प्रजा को असुर बना देता है—परे बन्धु या नृपति सभा प अकृति प्रजा अकुलानी (२५)। ब्रीडोपद्म में भी वही इसी अर्थ म आया है—निरमम देह राज-यह ताकी सोक-मगन उतसनु। (४)।

राजा अथवा सम्राट का रहने वाला नगर ही रजधानी (१४६,४२ १५)[सं राजधानी] होता था। सूरसागर में आराध्य कृष्ण की राजधानी होने का श्रेय गोकुल, वृन्दावन या ब्रज का वर्णित है—

अब दिन चार चहतु गोकुल मैं लेवहु आइ बहुरि रजधानी। (४२५५)
अथवा— माया-मोह-लोभ न भीजै जानी न इंद्रावन रजधानी। (१४६)
तथा—रंगभूमि रमनीक मधुपुरी रजधानी ब्रज की भुवि कीजौ। (४८८३)
संत-राज्यों में शासन केन्द्र को ही राजधानी कहते है।

२१५—राजा राजधानी के कोट (५११ ४०८४)[सं कोट:] अथवा गढ़ गढ़वै (१४४ ५२) [सं गढ़—खाई] या दुर्ग (५१६) [सं] में परमरक्षा के निमित्त रहता था। गढ़ की रचना राज्य-शक्ति की सूचक थी—सूर पाप की गढ़ दृढ़ कीन्हौ मुहकम लाइ किवार। (१४१)। नवम स्कंध में लंका के दुर्ग का वर्णन भी है—'बहु विधि लंक दुर्ग कैसें पाऊँ राम। (१६) अथवा 'लंक गढ़ माँहि आकास मारग चली बहु विधि रहत किवार' किवारि (५५) तथा 'खोजत कहाँ लंक गढ़ भीतर' (५११)। गढ़ को चारों ओर से अगम्य बनाने के लिए पानी की खाई (४८) [सं खातक] होती थी तथा प्रमुख द्वार दृढ़ तो होता ही था साथ ही उस पर पहरा भी होता था— लंक सा कोट देखि अति गरबहि पर समुद्र सी खाई। (५११)। किसी भी दुर्ग में प्रवेश करना सरल नहीं था इस तथ्य पर ऊपर के सभी अवतरणों से प्रकाश पड़ता है।

दशमस्कंध-पूर्वार्ध में द्वारकापुरी के कोट का वर्णन है—'द्वारावती कोट कंचन मैं रच्यो रुचिर मैदान (४०८४) तथा गुम्फित नहुँ वारिज बनाई। पश्चिम दिसा तीर सागर के कंचनकोट गोमती खाई' (४८८)।

राजा के निवासस्थान अथवा महि (५११) [सं प्रासाद] के लिए मन्दिर[1] (२११ ११२) [सं] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। हनुमान का रावण के महल के निकट बैठ कर चिंतन करने का चित्रण है—'मंदिर की परछाया बैठ्यौ कर मीजै पछताइ' (५११) अथवा अगम अगोचर मंदिर डिउपी निहारि' (५११)। मंदिर' शब्द सुन्दर भवन का परिचायक भी है—(माई) मातु तौ बना" बाज मंदिर महर कै' (१५१) अथवा 'पहुँची जाइ राजद्वारे पर, कपूँ नहिं अटकावी। इन छत चित पंखी मंदिर मैं हरि को बरसन

1—हर्ष सा म , पृ १२७, बाण ने महानामक स्कन्दगुप्त के 'मन्दिर' का उल्लेख किया है।
प० सं टी , ११।१४, 'कनक मनिन मग कीन्ह अराक'
११४।१ निज निज बासहि मदित नृप
११३।१ 'जहाँ मंदिर पदूमासनि बैरा'

पायी। (४८४५)

तथा— सुदामा मंदिर देखि डर्यौ।
यहाँ हुती मेरी तनक मड़ैया, को नृप आनि धर्यौ' (४८५१)।

यह शब्द घर के अर्थ में भी आया है—'या लागी मंदिर पग धरौ।' (४ १४) आज कल 'मंदिर' साधारणतया देवस्थान को ही कहा जाता है। माई री स्याम मैं मंदिर इस अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है—'रुक्मिनि देवी मंदिर आई। धूप-दीप-पूजा-सामग्री सबी संग सब ल्याई।' अथवा 'पाइ प्रसाद अंबिका मंदिर' (४८११)।

अन्य शब्द भवन (४८५४) [सं] तथा महल महलनि (१४९ १६ २) [अ] भी उल्लेखनीय हैं। सुदामा-भवन भी स्वर्ण-निर्मित बताया गया है—'ऊँचे भवन मनोहर छाजे, मनि कंचन की भीति।' नंद तथा वसुदेव के महलों का वर्णन भी है—'मोतिनि बाँधनी बार महल में आइके।' (१४९) तथा 'महलनि बन्दनवार बँधाए।' (१६ २)। [अ]

भवन के अन्दर रानियों का निवासस्थान 'अन्तःपुर' (११९ १६ २) अथवा रंगमहल (१४९) कहलाता था। राजन के अन्तःपुर की अनेक रानियों का कवि वर्णन किया है—

'चौदह सहस्र जुवति अन्तःपुर, तेई रानन आदि
चौदह सहस्र नारा-कन्या-रति परखी सो एक मति-धाम' (५१६)। फिर इस स्थान की अद्वितीय कला एवं वातावरण का वर्णन भी है—'मनिनि खचित मनि खंभ बनाए, पूरन काम-सुगंध—लीला स्रोत, पचासत माजत और राजसी भोग' (५१६)। इस के महला में भी अन्तःपुर बताया गया है—'अन्तःपुर महलनि रमो के' (१६ २)। इसी प्रकार अंतरली क रंगमहल (१४९) में स्त्रियों के तीव्र खेलने का विषय किया गया है। मुगल एवं राजपूत दरबारों के राजमहल में रंगमहल का प्रमुख स्थान था। इसके पर्याय 'सुखमंदिर' अथवा 'आरामगाह' भी प्रचलित थे। राजकीय ऐश्वर्य तथा वैभव का सूचक 'राजसी भोग' पद प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में 'रनिवास' शब्द भी प्रयुक्त किया है[२]।

१—हिन्दी विश्वकोश खंड १ अन्तःपुर प्राचीनकाल में हिन्दुओं का 'रनिवास' 'अन्तःपुर' कहलाता था। मुसलमानों के समय में वही 'हरम' या 'जनानखाना' कहलाया। गुप्त साम्राज्य एवं बादामी चालुक्य के काल प्राचीन समय में अन्तःपुर को 'शुद्धांत' और 'अवरोध' भी कहते थे। चीनी सम्राटों के पूरे महल को ही 'अवरोध' या 'प्रवक्ष नगर' कहते थे। अन्तःपुर के जिस भाग में राजा रानियों के साथ विहार करता था वह ही 'प्रमदवन' था। अन्तःपुर के रक्षक 'प्रतीहारी' अथवा 'प्रतिहार रक्षक' होते थे। कामि प पृ० ८९-९४, मधुर मध्य में अकबर के अन्तःपुर का विस्तृत वर्णन किया है। उसके विशाल दुर्ग में एक भवन थे। पाँच हजार महिलाओं के लिए अलग-अलग पर मनोनीत थे। पहर के समान ही अन्दर भी अनेक कारखाने थे जिनमें स्त्रियाँ काम करती थीं और सुरक्षित खेल रही थीं। आस-पास सशस्त्र भी स्त्रियाँ पहरा देती थीं। अन्तःपुर के वैभवों द्वारा संतोष मेल कर मेले तथा अन्य स्त्रियाँ बादशाह के ... कर सकती थीं।

२—सं० टी०, ४८११, सखी राजमंदिर रनिवासु—चौदह सहस पदुमिनी रानी—'

२१६—सभा राजसभा[1] (१ १ २६) [सं] का परिचय प्रधान रूप से द्रौपदी कथा से मिलता है—जब गहि राजसभा में आनी द्रुपद-सुता पटहीन करन को दुस्सासन अभिमानी (२९)। इस प्रसंग से राजसभा में विशेष नियमों आदि के पालन की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'मैं कहा करौं राजसभा[2] को ये गुरुजन बिप्र न जुहारे। (१५८६)। सूरजी ने पदों में इंद्र-सभा की चर्चा है—'इन्द्र-सभा चकित भई' (१२६७)। अनेक लोगों का किसी विशेष ध्येय को लेकर एक स्थल पर एकत्रित होना ही 'सभा' कही जा सकती है। साधारण सभा का उल्लेख भी सूर ने किया है—'रघुकुल भूमि सभा में बइसी मुकुनि ताल दिखायो। टेढ़ी बाम पाग सिर टेढ़ी, टेढ़ें-टेढ़ें धायो (१ १) अथवा—'बैठे नंद सभा-मधि (९४१)।

सभा के सदस्य[3] ही पारषद (६२) [सं पार्षद] कहलाते थे—जय अरु विजय पारषद दोउ (६२)। राजसभा को मुसलमानी शासन में दरबार (१५२२) भी कहने लगे थे किन्तु यहाँ नंद-दरबार का ही निर्देश है—'राम रंग रँगि भौंहि रही नंदराइ-दरबार'।

राजसभा में राजा सिंहासन[4] (१४१) [सं] अथवा पाट (१८१) पर बैठता था—'प्रभुता के सिंहासन बैठ्यो दंभ-छत्र सिर तान्यौ। (१४१) या 'पाट बिरध ममता है मेरे माया को अधिकार। अथवा—'इक बिस्वास कियो सिंहासन तापर बैठे भूप हरि-जस बिमल छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप। (४)। सिंहासन स्वर्ण-निर्मित तथा रत्नजटित भी बताया गया है—'कनक सिंहासन बैठिहै हरि होरी है (१५१२)। जायसी ने 'सिंघासन' (२९६।१) के साथ 'पाट' तथा 'औरंग' शब्द भी प्रयुक्त किए हैं[5]।

२१७—राजा के महल तथा उसके आगे सेवकों में से कुछ के नाम दिए गए हैं—द्वारपाल (१८१) [सं] प्रतिहारी (१८४) [सं प्रतिहार] पौरिया (८) [सं पौरक] तथा ड्यौढ़ीदार (४) [हि ड्योढ़ीदार]। ये राजमहल अथवा राजसभा के द्वार पर खड़े हो कर

१—देखिए एज नोन टु पाणिनि, १६६, ८ ३, पाणिनि ने तीन प्रकार की 'परिषद' का उल्लेख किया है—सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक। इनका सदस्य 'पारिषद्' अथवा 'पारिषद्य' कहलाता था। सामाजिक परिषद् 'समाज' भी कहलाती थी। राजा की परिषद (परिषदवाली राजा) 'परिषदबल' नाम से जानी जाती थी। बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र तथा अशोक के लेखों में भी 'राजपरिषद्' का उल्लेख है। कौटिल्य ने 'मंत्रि परिषद्' प्रयोग किया है। राजसभा परिषद से भिन्न थी। वैदिक साहित्य में भी 'सभा' शब्द का अर्थ राजसभा एवं सभा करने का भवन है। 'सभास्थाणु' से जुआरी वाले भवन का बोध होता है। मौर्यकाल के पहले 'काष्ठसभा' (लकड़ी के भवन) का भी प्रचार था। शुक्रनीति के अनुसार सभा में सभ्य तथा विद्वान् ही होते थे (सभायाम् साधु सभ्यः)।

२—प सं० टी , ४७।१, राजसभा पुनि होन बईठा।
५१।११, 'राजसभा सब मतें बईठी'

३—मार्निंग प्र , पृ ९, मनुक्ची ने अपना समायों का 'वकील' के नाम से आलोकित होने का जिक्र किया है।

४—शाहजहाँ का बनवाया हुआ 'तख्तताऊस' एक प्रसिद्ध राज-सिंहासन था जो मोर के आकार का था।

५—प सं टी , ४७।४ 'बांधे खात तब सब पाटा।'
४८६।१ 'साह औरंग राजा दै रहा'

...की रक्षा करते थे—'मद-काम लोठ रहे दुआरे, धर्म-मोत सिर नावें। बुधि बिबेक बिबिध ...िया समय न कबहूँ पाय। इनकी आज्ञा के बिना कोई अन्दर प्रवेश नहीं पा सकता—'अष्ट-महानिधि' न्यारे ठाढ़ी कर जोरे टर ओहै। छरीदार वैराग बिनोदी झिटकि बाहिरै कीन्है अथवा द्वारपाल महाकार (१४१) अथवा—कोप रहत प्रतिहारी (१४४)। दरबान (१८१) का भी उल्लेख है—'पौरिया' दृष्टि परे भागे दरबाना (४८१)। पद्मावत में 'छरीब... अथवा बेत-धारी प्रतिहारी को छोटिया कहा गया है (२११/४)।

सम्पन्न घरों अथवा राजभवनों में व्यक्तिगत सेवक (१४१) [सं] अथवा किंक... (१ १५४) रखने की प्रथा प्राचीन समय से ही है। अच्छा सेवक मालिक को प्रिय हो जाता है—'सुकृती-सुचि-सेवक जन काहि न जिय भावै।' (१२४)। सेविका के लिए दासी [सं] शब्द अनेक पदों म मिलता है—दासी कुब्जा अमत टहल-निह बहुत न छिन बिश्राम। समाचार सेवक भी मिलिकै करत बनाइनि काम। (१४१) टहल शब्द मात्र भी सेवा का भाव व्यक्त करता है। दास दासी के लिए प्राचीन शब्द 'चेट' या 'चेटिका' था।

भ्रमरगीत के कुब्जा-प्रसंग म भी अनेक पदों में मथुरा-भूप कंस की दासी कुब्जा के प्रति लोगिया के विचार प्रकट किए गए हैं—'कूबा दासी रति क कीरति है यहाँ जोत बिलारे' (४२१२) अथवा—घर मैं कंस की दासी (४८८६) अथवा 'कौरे किरत मथुर-वासी के अनु... मौर परयो (४२६४)। दासी का समानार्थक शब्द लौंडी (४२) भी है जो मुगलकालीन संस्कृति की देन है—'लौंडी की लौंडी अब बाजी कहूपी स्याम मधुरानं'।

इनके अतिरिक्त खवास (१४१ ४२११) [अ. खवास] भी धनिकों का व्यक्तिगत सेवक होता था। विनय-पदों में तथा कंस दरबार के वर्णन में यह शब्द मिलता है—'खवास मोह के या कहूँ के ब्याधिक क ठाकुर कर्म कंस की दासी। इन्द्रादिक की कौन चलावै संकर करत खवास। (४२११) तथा कोई खवास की सेन ह सिराराव संवारी (१५)।

२१८—राज वैभव सूचक सामग्री में सिंहासन के अतिरिक्त सिर पर छत्र (१५

१—अष्ट-सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशत्व वशित्व।

२—आईने अकबरी पृ १, सम्राट की सवारी करने के लिये कई सेवक थे। इनमें जवात (भोजन करने वाला), बावर्ची (रकाबदार का तश्तरी प्रमाण), मशालदार, आबदार, तोशकची आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

आईने अ०, पृ १ २ राज्य वैभव की सामग्री से संबंधित है। सिंहासन अथवा 'औरंग' अनेक प्रकार की आकृतियों के बनते थे तथा सोने चाँदी के रत्नजटित होते थे। 'छत्र (छत्र) सात से कम नहीं होते थे। वे भी रत्नजटित होते थे। इनके अतिरिक्त 'सायबान' अथवा 'आफताब (धूप में लगाने के लिए) तथा 'कौकबा' (दरबार के सामने लगे हुए) सम्राट का वैभव बढ़ाते थे। सवारी के समय 'कोर' (पु वैभव सामग्री का समूह जो सम्राट के साथ चलता है) में पाँच से कम 'अलम' (झंडा) नहीं रहते थे। हिन्दुस्तानी पताका 'झंडा' कहलाती थी। 'कोर' में हर प्रकार का एक झंडा समाप्त होता था।

—बर्नियर, पृ २२९, सम्राट का सिंहासन मोती तथा हीरे जवाहरात के समूह था तथा उसकी कीमत तीन करोड़ रुपए तक आंकी जा सकती थी।

१४१ १४४ २३४ ५११) [स कर्ण] आदि, गज, (१४४ १४१) पर बहना—बाजि मनोरथ गर्व मत्त गज प्रमत्त कुमत रथ-तुरंग (१४१) तथा नौबत (१४१) दुन्दुभि (४६८), डाँडी (१७१) निसान (१४४) [फा निशान] आदि द्वार पर बजना और सूत (६२८) बंदी (१४४) मागध (१८४) तथा नफीब (१४१) [अ नकीब] आदि यश गाने वालों की गिनती की जा सकती है।

इन शक्ति-वैभव-प्रकाशन की सामग्रियों का वर्णन विशेष रूप से कुछ विनय पदों में ही मिलता है— मत्त महकार बहुधी दिग-विजयी, मोभ-छत्र करि सीस। (१४४)। अन्य प्रसंगों में कहीं कहीं छत्र के साथ चिकुर-रूपी चौर चंवर[1] (१८०१) [सं चामर] का निर्देश भी है— बरुथिं कर पीठि डीठि चमर-छत्र-छाँहि। (१२०१), अथवा चिकुर चौर चपल भुजा हरि होते हैं। (१५१२) एक सेवक राजा के सिर पर छत्र तानता दूसरा चँवर डुलाता था। लंकापति रावण के छत्र[1] का सुन्दर वर्णन है 'बरजत रहत मत्त गज चढ़ि दिसि छत्र धुजा चढ़ि सीस। सेत छत्र छहराति सीस पर मनि मणि की दंड। (५११)। छत्र धारण करना राजत्व का सूचक था— कौन विभीषन रंक निसाचर हरि हँसि छत्र धरे। (१५) अथवा 'उग्रसेन सिर छत्र धर्यो (११)। छत्र के लिए आतपत्र (१८४१) [सं] तथा वर्तमान काल का प्रचलित शब्द छाता (२१) [सं छत्र] भी प्रयुक्त हुए हैं—'आतपत्र मयूर चंद्रिका सहत है रवि ऐन और, 'छाता सी छाई सिर सोभित हरि छाती (२१)। आजकल छतरी शब्द भी बोला जाता है, किन्तु 'छाता तथा 'छतरी राजसी छत्र के सूचक नहीं हैं। राजाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों के मार्ग में रेशमी पाँवड़े (१ २) [सं पादपट्ट] बिछाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'पाटंबर पाँवड़े बसाए[1]।

राजद्वार पर दुंदुभी बजाने की प्रथा भी थी— रुठ अम्यास अकाम, सूर नित नौबत द्वार बजावत। (१४१) या निशा पर-भुस पूरि रहयो जय यह निसान नित बाजा। (१४४) राम या कृष्ण की युद्ध में विजय-प्राप्ति पर देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा दुंदुभी बजाना ऋषियों का आशीर्वाद आदि प्राचीन साहित्य में भी वर्णित है— सुरति आकाश तें पुहुप बरषा करि अथवा रिपिन आकास जयधुनि उचारी' (४२०१) तथा 'सुरनि आकास दुन्दुभि बजाई (८८३६)।

भ्रमर-गीत प्रसंग के एक पद में गोपियाँ कृष्ण को नृपति-कुमार रूप में भी आदर देने को तयार हैं— फिरि ब्रज बसहु गोपाल। नंद-नृपति-कुमार कहिहैं, अब न कहिहैं ग्वाल।' (१८७५)। इसी पद में राजकीय चिह्नों की गणना भी की गई है—जैसे मुरली निशान 'मुरलि

— —

१—आईने अ क पृ १८ पर लिखा है कि गर्मी के कारण मक्खियों एवं धूल आदि से बचने के लिए सेवक बड़े-बड़े पत्तों से हवा करते थे।

२—हर्ष सां स पृ १, बाण ने कई स्थलों पर छत्र का वर्णन किया है। उस समय इन छत्रों में कर्पूरगौर की आकृतियों वाली मोती किनारे लगी रहती थीं। कुषाण युग से इस प्रकार की सजावट मिलने लगती है। गुप्तकाल में कमल की पंखुड़ी तथा मोर या गरुड़ के अलंकरण भी आ गए थे। इनमें मोतियों की माला तथा रत्नों की सजावट होती थी।

३—मानस, बाल, ३६८, 'परत पाँवड़े बसन अनूपा'

मंडल-भूप दिग्विजय के लिए, सजा भट मझुरखड़िका प्रस्थान मधुप बंदीजन वन के पशु-पक्षी तथा भूप बालक, पायक तथा वीथिया बताए गए हैं और फिर वे कहती हैं—'सुन्दर राज कीर्ति, धाइ सबकी बार। (१०८५)। पद्मावत में भी इसका उल्लेख है।'

र[?]-भवन बंदीजनों तथा चारणों के यश-गायन के बिना कैसे पूरा हो सकता है— मोह-माया बढ़ा गुन बाखान मानव रोग अपार' (१८४) अथवा— भिखा अब उपहास करत मन बंदीजन अब भावत' (१८०) अथवा अपजस अति नकीब कहि टेरयौ सब सिर माप्यु मान्यो' (१४१)। राजाओं के पारस्परिक व्यवहार में दूत[२] (१४१) [दं] का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु यदि दूत अपना कार्य ठीक से नहीं करता तो पूरे राज्य का ही अहित होता है— सदा दुष्ट अति दूत' (१४१)। रत्नपुत्र की प्रथा मान्य भी है।

पद्मिनी के इन स्थलों में राजदरबार से संबंधित सामग्री द्वारा मनुष्य के सांसारिक प्रयोजनों कुंठाओं तथा दुर्बलताओं का वर्णन किया गया है। यह उपर्युक्त प्रथाओं से स्पष्ट हो जाता है।

२—शासन व्यवस्था

२१६—शासन-व्यवस्था के निमित्त निम्न कुछ कर्मचारियों का भी निर्देश हुआ है उल्लेखनीय सम्बन्धी नीचे दी जा रही है—

मन्त्री अथवा वजीर[१] (४१ १४४ ६४) [व मंत्रि] [व वजीर] का स्थान एवं अति राजा के बाद होता था तथा वह राजा का सलाहकार भी होता था— मन्त्री काम न ओसर पाव, कहत बात अनुभवी अथवा मंत्री काम मोप निज राज'

१—प सं टी०, ५११।१५, 'बसर मेलि बौराती बचि' ५१२।१०, अपर कलक ममूला लाय बंदर भो हार। ५१३।१०, मान मदुक एक सिर लावा', २८३।४ 'लाना बाट एक के छाहूँ', ४७।१ 'सुरूप बांध बैठे सब राजा। हर मिलान मिल बैठे के बाजा।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ४१ पाणिनि के समय में 'दूत' का नाम, वह जिस राज्य में पहुँचे को भेजा जाता था, उस पर आधारित होता था। दूत द्वारा बताया मौखिक संदेश 'वाचिक' कहलाता था।

१—मनूची भाग २ पृ ४१८ मनूची ने शासन के तीन प्रधान अधिकारी बताए हैं (१) वजीर प्रधानमंत्री तथा सलाहकार (२) दीवान—राज्य के सब करों और मालगुजारी का हिसाब-किताब रखने वाला और (३) मीर—जिस पर शासन और राजमहल के सब कार्यों तथा फैसलों की जिम्मेदारी थी। इसके अलावा कोतवाल— नगर का प्रधान मीरबख्शी—एक वेतन तथा दूसरा सवार सेना के ऊपर था तथा काजी के पास मुकदमों की अन्तिम सुनवाई होती थी।

धार्मिक प पृ ७, मध्यकाल में भी शासन-व्यवस्था के सिलसिले में प्रमुख विभागों एवं उनके अधिकारियों का वर्णन किया है। उन्होंने 'वजीर' को सम्राट का मन्त्री माना बताया है।

अपनी-अपनी रीति। दुबिधा-दुख पै मिलि-अवसर उपजावत विपरीति' (१४१)। तथा 'मंत्री काम कुमति ढोवै की (१४४)। मन्त्री की सलाह नृपति को शासन की व्यवस्था में बहुत सहायता देती है किन्तु कुमति से अनर्थ भी हो सकता है—'पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ धर्म-सुधन लुट्यो। करुणाकर की छाँड़ि सुधा-रस सुरा-पान अँचयो' (१४)। मन्त्री के लिए प्राचीन शासन-व्यवस्था में सचिव' तथा 'अमात्य' शब्द भी प्रचलित थे। कौटिल्य के अनुसार प्रधान मन्त्री का ब्राह्मण होना आवश्यक था। क्षत्रिय राजा तथा ब्राह्मण मन्त्री की वैदिक काल से अशोक के समय तक प्रचलित प्रथा थी। कुछ प्रसिद्ध राजाओं के प्रधान मन्त्रियों के नाम भी इतिहास-प्रसिद्ध हैं जैसे वर्षकार (अजातशत्रु के) यौगन्धरायण (उदयन के) चाणक्य (चन्द्रगुप्त के) तथा राधगुप्त (अशोक के)¹। दूसरा प्रमुख कर्मचारी सेनापति (१७१) [सं सेनापति], जूथपति (५५१) [सं यूथपति] अथवा फौजपति (१६२२) [अ० फ़ौज + सं पति] था। सेनानायक का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था।

कुतवाल (१४) [सं कोटपालः] नगर की शान्ति का रक्षक होता है। यदि वह अपने कर्तव्य का पालन न करे तो वह स्वयं ही नागरिकों के भय एवं अशांति का कारण हो सकता है—उमराव कुतवाल काम रिपु सरबस लूटि लयो। (१४) काजी¹ (२१४क २८७४) [अ क़ाज़ी] का कार्य न्याय करना था। नेम शीर्षक पदों में एक स्थल पर उल्लेख है—इनसौं तुम परतीति बढ़ावत ये हैं अपने काजी। स्वारथ मानि लैत रति करि कै, बोलत हाँ की हाँ जी। (१८७५)। मुसलमान राज्य में क़ाज़ी न्यायाधीश को ही कहते थे जो मुसलमानी धर्मानुसार न्याय करता था। यह पद आरंभ से ही सम्मान तथा उत्तरदायित्व का समझा गया है। जीवनदंड या फाँसी की सजा को सूली (विनय पद) कहा गया है। अन्य दंडों का उल्लेख चोरों, ठगों आदि के सिलसिले में किया गया है²। राज्य-प्रबंध से सम्बन्धित अन्य कर्मचारियों में अमीन [अ] अमला [अ =कर्मचारी वर्ग] (१४) अहदी (१४) [अ] मुस्तौफी (१४१) [अ मुस्तौफ़ी=हेड मुनीम हेड एकाउंटेंट] तथा मोहरिल (१४१) [सम्भवत: अ मुहर्रिर=मुंशी, क्लर्क] आदि उल्लेखनीय शब्द हैं। इनमें से कुछ का तो ग्राम-प्रबन्ध में भी उल्लेख किया जा चुका है। विनय पदों के रूपकों

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ४१४ २, ४०४—कौटिल्य के अनुसार राजा के बाद राजमंत्री, फिर राजपुरोहित, उसके बाद सेनापति होता था। इसके बाद युवराज का स्थान था।

२—आईने अ , पृ ६, अबुलफ़ज़ल के अनुसार क़ाज़ी न्याय करता था तथा मीर अदल सज़ा का हुक्म देता था।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ ४११ पाणिनि ने न्याय' तथा 'धर्म' का उल्लेख किया है। धर्मपति क़ानून का रक्षक था। इसी सिलसिले में 'प्रतिभू' या प्रतिभाटक 'साक्षी', 'सत्यम् करोति' आदि शब्दों का उल्लेख भी किया जा सकता है। शारीरिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार के दंड देने की प्रथा थी। 'दंड' (धन-दंड) तथा 'शीर्ष-दंड' का भी उल्लेख है। दंड शब्द प्राय धन-दंड के अर्थ में आता था।

में ही इनकी चर्चा हुई है। पारसि प्रकरणी में प्रयुक्तक्रम में इनमें से कुछ अधिकारियों का उल्लेख किया है।[1]

शासन में अहसुर[2] (४८८४) [अ अमूद] का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस गाओं की बकर अधिकारियों को देकर उनकी सहायता करना इसका काम है— 'इतनी मसुप मसूद देखि मरो द्रूखो धीरज पानि (४८८५)। अमसूद को ही दुसरा भी कहते हैं।

६—युद्ध तथा शस्त्रास्त्र

२२—सूरसागर में युद्ध के पर्यायवाची कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं—लराई (२८६) (३१) [सं], रन (२४) [सं रण] संग्राम (१ १) [सं] तथा जुद्ध (४८ १) युद्ध]। पद्माकर में भुमाई शब्द भी मिलता है (५ ८।८)।

इसी प्रकार सैन, सैना सेना (१४१) [सं सेना] के अतिरिक्त चमू (१६२१)[3] [सं], दल (२१,५६२ ४८ १ १ २२ १६८४) [सं०] दल-बल (४८१६) कटक (५२ ४८१६) [सं कटक], फौज (१२४) [अ फौज] तथा लसकर (१४) [फा लश्कर] शब्दों के नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी शब्द कान्हा के अतिरिक्त युद्ध-प्रसंगों में ही प्रयुक्त मिलते हैं— कौरी-दल आदि आदि कीन्ही दल-भार्थ (२१) अथवा 'सबल के भटनि आदि कटक अनवास को' तथा 'दल के लोग पुनि बहुत बामन [अ । (४८१६)।

जूथ (५५६) [सं यूथ] भी दल के अर्थ में आया है। साधारणतया यह शब्द समूह के अर्थ में आता है—'गज-जूथनि पर धावै' (२०४)। सेना के चार अंग होते थे—हाथी घोड़े

१—पारसि प्र पृ ० मुतसद्दी वजीर के नीचे होता था। इसको नायब दीवान भी कहते थे वह वजीर की सलाह से अपना काम करता था। पृ , आमिल—सूबे का एक मीरदाद—(न्यायाधीश) तोमारदार सिपाह (सेनापति) तथा पृ ११ शाही टकसाल के अधिकारियों में अमान (दरोगा का सहायक) तथा मुशरिफ (आय-व्यय लिखने वाला) भी थे।

२—पारसि प्र पृ० । आमूद का काम वर्तमान की अदालत किना पटवार-गिरदावर चौधराना था। सत्यवादिता एवं दूरदर्शिता उसके आवश्यक गुण थे।

३—हिन्दी विश्वकोष खंड १ देखिए अक्षौहिणी सेना अक्षौहिणी सेना की इसकी छोटी इकाई 'पत्ति' थी, जिसमें एक रथ एक हाथी तीन घोड़े और पाँच पदल होते थे। 'पत्ति' सेनामुख' 'गुल्म' 'वाहिनी' 'पृतना', चमू, 'अनीकिनी' अक्षौहिणी—ये सब क्रमशः सख्या बढ़ते जाने वाले सेना के भागों के ही नाम थे। अंतिम को छोड़ कर बाकी सब क्रमानुसार अपने पहले की संख्या से तिगुने होते थे। 'अक्षौहिणी' में अनीकिनी से दसगुनी अधिक संख्या होती थी—२१ ८७० रथ २१ ८७० हाथी ६५,६१० घोड़े तथा १ ०९,३५० पदाति। अक्षौहिणी सेना में कुल अंगों की संख्या दो लाख अठारह हजार सात सौ होती थी। महाभारत के आदि पर्व में इस गणना का उल्लेख है।

रथ तथा पदल।[1] अतएव इसका चतुरंगिनी (१६४१) [सं० चतुरंगिणी] नाम पड़ा 'बैरुमी है मति भरि मन्मथ सै चतुरंगिनि सेना मार। गरजत अति गंभीर गिरा मनु, मयमत्त मत्त अपार। धुरवा धूरि उड़त रथ-पायक, घोरनि की गुरदार। (१६११) अथवा 'सखी री पावस सैन पलान्यो—मनौ बसत चतुरंग चमू नभ बाजी है गुरवैह। (१६२१)।

युद्ध के सभी प्रसंगों में प्राय इन चारों अंगों का वर्णन है। पायक पियादा[2] (१४१ १०८५ ३६११) [सं पादात् पादातिक] पैदल सिपाहियों का बोधक था—'सकल कपि मृग पक पायक' (३८४५)। पैदल चलने वाले राही को भी पियादा (२७०) कहा गया है। वन गर्भिणी सीता के संबंध में इसका निर्देश हुआ है— वह घर द्वार छाँड़ि कै सुंदरि चली पियादे पाउ' (४८८)। धनुर्धारी सैनिकों को धानक अथवा धानैत (१४१ १०८५) कहा जाता था—द्रुमलता-दल-कुसुम धानक' (१०८५)। रथ हाथी तथा घोड़ो के सेना में होने का अनेक बार स्पष्ट चित्रण है—'बाजि मनोरथ गर्व मत्त गज असत-कुमत रथ-सूत। पायक मन धानैत अधीरज सदा दुष्ट-मति दूत'। (१४१)।

घोड़े पर सवार सैनिकों को[3] असवार (१६१७) का सवार][4] कहा जाता था। यहाँ होली-प्रसंग में गधे पर सवार होने का जिक्र है किन्तु 'सवार होने' के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है— राते कनक बरन सजि हरि होरी है। बरनि भये असवार, यहो हरि होरी है। (१५१२)। सैनिकों के सूचक भी कई शब्द मिल जाते हैं—जैसे सुभट भट महाभट (१४४ १२०६ ४०१६ ४२१८) [सं] जोधा (१६२१) [सं योध] तथा सूरमा (१६११) [सं सूर]—'मार मार करत भए हाबुर नहिं रे मिथिल सनाह, उठरि उमरि ये परत धानि के जोधा परम उछाह।' तथा रघुवी महँकार सुमेर सूरमा सकि रही उर लागि (१६११)। इनमें सुभट' शब्द सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है—'सुन्या देस पर सुभट मनोरथ (१४४) 'रथ तें उतरि चक्र

1—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ ४१६,४२ , पाणिनि के समय में भी सेना के चार अंग होते थे। इनको सेनांग कहते थे। 'रथिकाश्व रोहम्' (रथ तथा सवार) 'रथिकापादातम्' (रथ तथा पैदल)। 'पदाति' (पैदल सिपाही) तथा सादि' (सवार सिपाही) प्रचलित शब्द थे। पाणिनि ने 'अश्व-सादि' तथा 'अश्व-व मि' का भी उल्लेख किया है। सवारों का सेनापति 'अश्व-पति' के नाम से जाना जाता था। यही पूरी सेना का 'सेनापति' भी होता था। सिपाही को सैनिक' अथवा सैन्य कहते थे। 'प्रहरण' (शस्त्रों) के अनुसार इनके नाम थे जैसे— प्रासिक' (तलवार वाला) 'प्रासक' (भाले वाला) 'धानुष्क' (धनुषवाला) आदि। हर्ष सां० अ पृ ४१ —हर्ष के समय में भी स्कन्धावार में ऊँट थे, किन्तु इनसे प्राय डाक का काम लिया जाता था।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ १५१ अष्टाध्यायी में रथ का विस्तृत वर्णन है। युद्ध के समय रथ के दोनों ओर दौड़ने वाले पैदल सिपाही (परिस्कंद) कहलाते थे।

३—हर्ष सां अ पृ ५ हर्षचरित में भी आगे चलती हुई पदाति सेना तथा पीछे अश्वारोही या असवार का वर्णन है। बाण के वर्णन में हर्षकालीन सम्भ्रान्त सैनिक-सामन्त का चित्र मिलता है।

४—अ० सं० टी, ६१२१६, 'दूद बैरी बहुँचे असवारा'

र लीन्ही सुभट सम्हुँ माए (२७४) अथवा रनबाँदी को बहुत महाभट बीन्हें रतन फटाई ।
रथ चलाने वाले को सारथी (४८८,२७८) [सं०, कहते थे । महाभारत युद्ध में कृष्ण अर्जुन के
रथ के सारथी थे—मैं जीवन, पुनि कृष्ण सारथी जिमि पीतपट लसत' (२७८) अथवा अर्जुन के
हरि हुते सारथी' (२६४) । सारथी को रथ-हँकवैया (४ ६) भी कहा गया है ।

२२१—युद्ध में सैनिकों के लिए सनाह[1] [सं० सन्नाह] अथवा कवच[2] [सं० कवच] पहनना आवश्यक था । यह लोहे का कोट सा होता था जो शत्रुओं के प्रहार से रक्षा करता था । इसी प्रकार लोहे की कड़ियों से बना जिरह भी होता था तथा उसमें लोहे के तवे से बने होने पर 'बख्तर' कहलाता था । हथियारों के आघात से बचने के लिए 'ढाल' का प्रयोग भी होता था । यह लोहे का बड़ा तवा सा होता था । युद्ध के चित्रों में इसका उल्लेख होना स्वाभाविक ही है—'बहुत सनाह अमर हर कैसे ज्यों कंटक तन-त्रान' (२७८) अथवा 'मानुष धरैं समस्त कवच रुचि बरन्धि बहुधी रनभूमिहिं धावी (५८४) । सैनिकों के बख्तों तथा कवचों के टूटों का भी निर्देश हुआ है—'टूटे कवच उभरे छिदि उ है बरछहि बाजी धाह । कारे पट धारे बाहक सिक कहुक मानि कनि बाहु । (१८११) । युद्ध क्षेत्र में मृत्यु होने को खेत होना अथवा सुखेत (१८११) कहते थे । इसी प्रकार का सिर का बचाव सिरत्राण (९ २) [सं० शिरस्त्राण] होता था । युद्ध-क्षेत्र के अर्थ में अधिकतर रनभूमि (२० २०१ ४८१६) [सं० रणभूमि] तथा रनखेत (४८ १) [सं० रणक्षेत्र] शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'सुरलोक रनभूमि विजय बिन्दु, विपदन पीठि दिखाऊँ' अथवा 'सुरसरी सुभग रनभूमि माए' (२७१) तथा अरु-लेख खीच ते अजहो रनखेत हैं' (४८ १) । प्राचीन काल के युद्ध किसी बड़े मैदान या क्षेत्र में होते थे । युद्ध से नगरों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । इस संबंध में भारतीय मान्य अपने सिद्धान्त निश्चित थे । युद्ध में भी प्रजा योद्धाओं के लिए स्थान नहीं था । रण से भागना अथवा पीठ दिखाना कायरता समझी जाती थी । बाद में इसी आधार पर राजपूतों में किये के जौहर करने तथा उनके केसरिया बाना पहन कर रणभूमि में प्राण दे देने की प्रथा चल गई थी । कृष्ण का एक नाम 'रणछोर' भी है क्योंकि जरासंध के साथ युद्ध में एक बार वे समर भूमि से भाग गए थे । युद्धभूमि में संग्राम प्रारंभ होने के पहले वीर रस के बाजे एवं दुन्दुभी बजाने की प्रथा थी । वीररसपूर्ण संगीत सैनिकों को युद्ध क्षेत्र में उत्साहित करता था—'सुर सभी सबै बैठु डोंडी सबै एक तें एक रन करि बजाई ।' (५७१) ।

1—तुलसी, कवितावली ६,११ 'लसत के समान अजगाह सबसाहरन ब सं टी , ४१६।४ जिवह लोनि रन लीं मत', ५११।४ 'लाट सँवारि लिये सब लोला

2—ईश्वरीय प्रज मौन ह वालिम पृ ४२ , कायचिक' सैनिकों का उल्लेख है । कवचहार' शब्द से सेना में प्रवेश पाने की आयु का भाव व्यक्त किया जाता था । उस समय सैनिक की वर्दी में कवच का भी स्थान हो गया था । बीजो व (१०५) में प्रौढ लोगों का ध्यान वहाँ की 'परिकर' या 'कमरबंद' (रथ के दोनों ओर बैठकर हाल लिए सिपाही) की प्रथा पर गया था । युद्ध में रथों के साथ दः सिपाही होते थे—दो ढाल लिए हुए, दो धनुर्धारी और दो रथवान को लड़ने में भी साथ देते थे ।

3—मानस अयोध्या , १९१।१ 'कहिह बनाइ सुभाउ होंऊँ', व सं टी , ४६५।२ 'इस बारहा रण सैनानी', ५ ५।४ 'भीम बहन धुम्मरहिं निसाना' ।

हर राज्य की पताका[1] (६ २) [सं] अथवा धुजा, ध्वजा ध्वज (५५८ ५११) [सं ध्वज] भाव के समान ही निश्चित थी । वह रथों आदि पर फहराती थी—'पताक-छत्र-रथ चाप-चक्र-सिरत्रान (६ २) अथवा अपने बान की काटि ध्वज रथ की ४८ १) तथा 'ऊँची धुजा-शक्ति रथ ऊपर लछिमन धनुष चढ़ायौ' (५११) । राम की ध्वजा विमल बनाई गई है—सोभित विमल ध्वजा (५५) । अर्जुन के रथ पर कपिध्वज (२७) होने का उल्लेख है—'स्यंदन खंडि महारथि खंडौ कपिध्वज सहित गिराऊँ (२७) । ध्वजा का गिरना विजय का द्योतक था ।

शस्त्रास्त्र

२२२—प्राय सूरकालीन सभी प्रमुख शस्त्रों के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं । अनेक स्फुट प्रसंगों से इनको एकत्रित किया जा सकता है ।[2] आयुधं (१९११) [सं आयुध] तथा हथियार (१५१२) और शस्त्र (४८ १ २७) [सं] हथियार व साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—'बरषा समझमाति आयुध' (१९११) अथवा आयु भौ गरिहि न सस्त्र गहाऊँ (२७) । वृन्दावन गोकुल पर इन्द्र के सेना सहित आक्रमण के रूपक तथा भ्रमरगीत के वर्षा-वर्णन में अस्त्रों के नाम मिलते हैं । आयुध तीन प्रकार के माने जाते थे—१—प्रहरण (तलवार, कटार आदि) २—हस्तमुक्त (चक्र भाला आदि) ३—यंत्रमुक्त (बन्दूक तोप आदि) ।

धनुष प्राचीनतम शस्त्रों में प्रमुख स्थान रखता है । इसके कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं—पिनाक (१८४) [सं], चाप (४७ १६१७) [सं] कोदंड (१ ७) [सं कोदंड], धनु धनुष (१ ७ ४६७) [सं धनु] तथा कमान (६४ ४८७१)—'कुटुफि-कमान चढ़ाइ कोप करि (६४) कोपि समर कर चाप लयो री (१६१७) अथवा मनु मदन धनु-सर संधाने देखि धन-कोदंड' (१ ७) तथा—'पिनाकहु के डंड की तन महत धन सदगाइ' (१८४) । शिव का धनुष 'पिनाक' है अतः उनका एक नाम 'पिनाकपाणि' भी है[1]—यह धनुष पिनाक पिता-प्रन राघव बयस किसोर । इनपै तौरत धनुष बड़े क्यों सनि यह संशय मोर—दृष्टि धनु टूट चुके यहाँ तई त्यों तारापन मोर' (४६७) । राम कथा (नवम स्कन्ध) के अन्तर्गत धनुष भंग के सिलसिले में प्राय इन सभी शब्दों का उपयोग हुआ है—'कर-धनु कांक-पंख सिर सोभित । अथवा करुनामय जब चाप लियौ कर (४७) । इसी स्कन्ध में बाल-क्रीड़ा में धर-क्रीड़ा का भी वर्णन है—करतल सोभित बान धनुहियाँ अथवा धनुही बान लए कर डोलत । (४६७) । बच्चों के छोटे धनुष को ही धनुही कहते थे । धनुषधर अथवा धनुर्धर

1—प सं टी , २ ३१५, 'सैरत्त ताल गगन मा धाई'
२२११, पार्थे ध्वजा फहरत सी काढ़ी

2—हथिया एक योग है पाणिनि, ३ ४२१, 'प्रहरण' शब्द हथियारों के साधारण अर्थ को व्यक्त करता था । उसमें 'धनुष' 'शक्ति 'परशाय' (कुल्हाड़ी) 'कामू' या 'कामूनरी', 'हैति' 'असि' 'कुन्ति' या 'कौमेयक' की गणना की जा सकती है । कमान को 'कार्मुक' भी कहते थे । बड़ा धनुष 'महेष्वास' कहलाता था । तीर में पंख लगा होता था । 'आयुध जीवि' लड़ाका जातियों को कहते थे । यौध सेना के विरुद्ध लड़ने में इस जाति ने बहुत वीरता दिखाई थी ।

1—कुमारसंभव तृतीय सर्ग, श्लोक १ —
'दूर्वा हरस्यापि पिनाकपाणे धैर्यच्युति के मम धन्विनोऽन्ये ।'

(४९७७) शब्दों का परिचय भी मिलता है। कमल की टोटी प्रशंसा अथवा पक्षी कहलाती है।

धनुष का अभिन्न अंग सर (४६४ २७६) [सं शर] अथवा बान (४६३, २७१) [सं बाण] है। महाभारत युद्ध तथा रामकथा में ये शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं—'बान बरषा सबै करन प्रति क्रुद्ध हुँ (२७१) या 'बहुत सुभट सु समर सर बेधे, ज्यों कंटक सम बान। (२७८) तथा 'श्री रघुनाथ धनुष कर ली ही लक्षन बान सरासनि पाई (५ १)। कुंत १ (५१९) [सं कुंत] तथा सायकनि (५८५) शब्द बाण के अतिरिक्त भाला या तलवार के द्योतक भी हैं—'ठौर ठौर प्रस्थान महाबल करत कुंत-प्रति घात। (५१९) अथवा 'पंच प्रकास सायकनि छाको' (५८)। तीर के सामने का लोहे का भाग 'फल' होता है तथा फल की नोक अनी। बिना फल वाला तीर तुक्का [फा तुक] कहलाता है।

धनुष कंधे पर टंगा रहता था—इसी कारण कंध तें कर गहि लीन्हों धनुष सँवारि। सर अथवा पीठ पर बंधे हुए तरकस (६४) [फा तर्कश] तुनीर (४०) [सं तूणीर] भाथा (५ १) [सं भस्त्रा, भस्त्रा] अथवा निषंग (३१२) [सं] में बाण रखे जाते थे—कुसुमि कमान कहाय कोप करि सुचि तरकस फिरों (६४) अथवा 'प्रगट प्रबल प्रतीमित महिमा कटि-तट कसे तुनीर। (४०) तथा हाथ धनुष लीन्हें कटि भाथा (५ ६)। हरि त्रिशूलों में परिवर्तन आता ऐसा हु है जैसे—'पाहन पतित बाण नहिं भेदत रीतौ करत निषंग। (३१२)।

२२१—प्रहरण शस्त्रों में प्रमुख स्थान खड्ग (१४४) [सं , या असि (५१९) [सं] का था। यह लोहे का बना शस्त्र है और काटने का काम करता है। तलवार म्यान [फा नियाम] में रखते हैं तथा इसमें एक धार होती है। यह राजपूतों का प्रिय शस्त्र था १। सामने की पूरी विनार व र' तथा नोक 'अनी' कहलाती है। खड्ग अथवा खाँडा की लम्बाई ३६ हाथ होती है। यह भारी बिना धार का तथा बिना नोक का होता है। जिस तलवार में दोनों ओर धार होती है वही 'दुधारा' कहलाती है। करवार करवाल करवार (४८१९ १९२८ २०४०) [सं करवाल] का उल्लेख अनेक पदों में है। यह पावक रूप में दामिनि का दोनों की चमक का उपमान है—'दामिनि कर करवाल' (१९७२) या 'कुमनि हुय चमक करवरनि लौ। (२०४०)। आज इसका अधिक प्रचलित नाम तलवार [सं तरवारि] है।

तलवार की शैली व अन्य शस्त्रों में बरछी (४२८१ ४८१९) छुरी (११८५) सेल्ह (१९४९) सक्ति (४११२) [सं० शक्ति], भालि (१९२१ [सं भल्लक] साँग (४८ १) नेजा (२०४०) [फा नेज़] तथा सूल (४९१२) [सं शूल] आदि के नाम लिए जा सकते है। बरछी भाले से बड़ी होती है तथा इसकी नोक तीन पहलू होती है। इसे फेंक कर मारते हैं।

१—ईरिया एक लोक इ पाणिनि, पृ ४२ पतंजलि के अनुसार 'कुंत' का प्र भाला अथवा भाला चलाने वाला है।

२—हर्ष ला प , पृ १२ दुसयुग के और बाद में कमर पर बाईं ओर ५ कटारी (छुरिका, छुरिका) तथा बाईं ओर मियान (परतला) में असि रहती थी। पृ १४६, इस्लामी का बैठनी के 'पटीवारें' (लड़ कोष) में रखने का उल्लेख है। यह समय मुक्त काल में नियम के लिए बाल बना था। 'परतलीक ' पर भी प्रयुक्त होता था। पीठ पर धौंकनी के आकार का तरकस भी वर्णित है जो रीछ की खाल से बनाया जाता था।

भाले की नोक चौपहल होती है। यह लाठी में लगा होता है और फेंक कर मारते हैं। नेजा पूरे लोहे का बना छोटा भाला होता है। सांग नेजे से बड़ा होता है। बरछा बरछी को ही कहते हैं तथा शक्ति भाले का प्राचीन नाम है जिसका पाणिनि ने भी उल्लेख किया है। त्रिसूल [सं त्रिशूल] शिव का आयुध माना गया है। रुक्मिणी हरण शीर्षक पदों में भयंकर युद्ध का वर्णन कवि ने किया है— सांग की झमक कहुँ दिसि चपला चमक गज गरज सुनत दिग्गज डरपे था 'बान बरछा लगे करन घाते' अथवा बान सौं बान तिनके निवारे' तथा खड्ग ले हाथ भगवान मारन चले' (४८ १)। इसी प्रकार शम्बर-वध का चित्रण है— डारसी और बरछी चलाई' तथा सीस ताकी बहुरि काट करवार सौं (४८१६)। इसी प्रकार के अन्य शस्त्रों में तेगा, गुप्ती खंजर, करौली किर्च कृपाण तथा पेशी होते थे।[1]

इन्हीं युद्धों में गदा (४८१६ ४८४०) [सं] तथा मुसल (४८०१) [सं] का उल्लेख भी है— लैंचि गदा ता सीस मारी' (४८३९) अथवा बहुरि ले गदा परहार कियौ स्याम पर अथवा हरि गदा लगत गये प्रान ताके निकसि' (४८४) अथवा राम तब मुसल संभारि मार्यौ बहुरि' (४८०१)। मुसल लोहे का भारी डंडा सा होता है। गदा के नीचे का भाग गोल गुंबद की तरह होता था। ये लोहे के बनते थे तथा इनसे प्रायः सिर पर प्रहार किया जाता था। मुसल को मुग्दर (५४८) [सं मुद्गर] भी कहते थे। भीम का प्रिय आयुध गदा था—'हाथ भी सत दिन गदा युद्ध कियौ' (२५१ २४७)। काम रिपु के दल वर्णन में (४ ८५, ४७११) दारू [फ़ा दारू], पलीता [फ़ा पलीत] तथा गोला [सं गोल पोला] आदि शब्दों के उल्लेख से मुसलमान काल के तोप[2] [तु] नामक नये शस्त्र पर भी प्रकाश पड़ता है। हिन्दूकाल में युद्ध के शस्त्रों में इनका स्थान नहीं था। सिकंदर की सेना में कुछ तोपें थीं। 'अमर कमान बारि दारु भरि तड़ित पलीता देत। गरजन भर बद्नाम मनु गोला पहुरक में गह लेत। (४७८४) द्वारा वर्षा का चित्रण हुआ है।

स्पष्ट ही है कि महाभारतयुद्ध लंकायुद्ध आदि प्रारंभिक स्कन्धों में उल्लिखित युद्ध-प्रसंगों में प्रयुक्त शस्त्रों के नाम फिर दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में वर्णित रुक्मिणी-हरण भौमासुर-वध बाणासुर-वध पौंड्रक युद्ध राम जरासंध शिशुपाल शाल्व दंतवक्र आदि शत्रुओं के वधों के सिलसिले में मिलते हैं। वर्षा-वर्णन के कुछ पदों में इंद्र तथा कामरिपु की सेना का वर्णन भी

१—ह ओ म ११, अध्याय १४ बागु एक विशेष प्रकार की तलवार थी जिसे आज की 'भुजाली कह सकते हैं। वराहमिहिर ने उत्तम तलवार की लंबाई पचास अंगुल कही है। 'ऊन' उससे आधी लंबाई की होती थी। वस्तुतः छुरी, कटारी, करौली, भुजाली सब तोल अंगुल के माप से कम होते थे। तलवार का एक नाम 'निस्त्रिंश' भी था। अजंता के चित्रों में बागु का अंकन है।

२—तुलसी, दोहा , ५१५ 'व्याल तोपची तुपक महि, दारु अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमीपाल ॥
दोहा , ५११, 'गोली बान सुमन्त्र सर, समुझि उलटि मन देखि।'
प० स० व्या , ५०६।१, 'बनी कमानें जिम गुन गोला'
'सिरहु पर बिरच कमानें धरीं। माथहिं अष्टधातु की भरीं'
सौ सौ मन तिन्हहिं के दाव। हेरहिं जहाँ, सो टूट पहाव।
५०७।८ 'तिलक पलीत, तुपक मन'

भाले की नोक चौपहल होती है। यह लाठी में लगा होता है और फेंक कर मारते हैं। नेजा पूरे लोहे का बना छोटा भाला होता है। साँग भाले से बड़ा होता है। सेल बरछी को ही कहते हैं तथा शक्ति भाले का प्राचीन नाम है जिसका पाणिनि ने भी उल्लेख किया है। त्रिसूल [सं० त्रिशूल] शिव का आयुध माना गया है। रुक्मिणी हरण शीर्षक पदों में भयंकर युद्ध का वर्णन कवि ने किया है—साँग की झलक चहुँ दिसि चमकत चमक पग परत सुभट दिगगज डरावे या बान बरसत लगे करत घाटें' अथवा 'बान कौ बान छिनके निवारै' तथा 'कवच सो ठाढ़ि सबवान मारत चले' (४८ १)। इसी प्रकार शस्त्र-वध का चित्रण है—डारची घोर बरछी चलाई, तथा 'सीस ताकी बहुरि काट करवार सौं (४८११)। इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में नेजा, धूमी पोंकर, करौली किर्च कृपाण तथा पीनी होते थे।[1]

इन्हीं युद्धों में गदा (४८१६ ४८४) [सं तथा मुसल (४८०१) [सं] का उल्लेख भी है—कौंधि गदा ता सीस मारी' (४८१९) अथवा बहुरि लै गदा बलराम किन्यो स्याम पर' अथवा 'हरि गदा कमठ नये प्रान ताके निकसि' (४८४) अथवा राम न्म मुसल संभारि मारयो बहुरि (४८०१)। मुसल मोटे का भारी डंडा सा होता है। गदा के नीचे का भाग गोल मुंदर की तरह होता था। ये लोहे के बनते थे तथा इनसे प्रायः सिर पर प्रहार किया जाता था। मुसल को मुगदर (५४८) [सं मुद्गर] भी कहते थे। भीम का प्रिय आयुध गदा था—'बोल भी सत दिन गदा युद्ध किन्यौ' (२९९,२८७)। काम रिपु के दल वर्णन में (४८८५, ४८११) दारू [फ़ा दारू], पलीता [फ़ा फलीत] तथा गोला [सं गोल गोला] आदि शब्दों के उल्लेख से मुसलमान काल के तोप[2] [तु] नामक नये शस्त्र पर भी प्रकाश पड़ता है। हिन्दूकाल मे युद्ध के शस्त्रों में इसका स्थान नहीं था। सिकंदर की सेना में कुछ तोपें थीं। 'गरज कमान बारि दारू भरि तकित पलीता देत। गरजत अति तड़ान मनु गोला पहुंचत मनु घन देत। (४८८३) द्वारा वर्षा का चित्रण हुआ है।

स्पष्ट हो है कि महाभारतयुद्ध लंकायुद्ध आदि प्रारंभिक स्कन्धों में उल्लिखित युद्ध—प्रसंगों में प्रयुक्त शस्त्रा के नाम फिर दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में वर्णित रुक्मिणी-हरण भौमासुर-वध बाणासुर-वध पौंड्रक युद्ध तथा जरासंध, शिशुपाल वध दंतवक्र आदि असुरों के वधों के सिलसिले में मिलते हैं। वर्षा-वर्णन के कुछ पदों में इंद्र तथा कामरिपु की सेना का वर्णन भी

1—बृ० सं० अ० ११, अध्याय १४ बहु एक विशेष प्रकार की तलवार थी जिसे आज की 'भुजाली' कह सकते हैं। वराहमिहिर ने उत्तम तलवार की लंबाई पचास अंगुल कही है। 'क्रम' उससे आधी लंबाई की होती थी। वस्तुतः छुरी, कटारी, करौली भुजाली सब तीस अंगुल के नाप से कम होते थे। तलवार का एक नाम 'निस्त्रिंश' भी था। अजंता के चित्रों में बाहु का अंकन है।

2—तुलसी, दोहा०, ३१५ 'कमल तोपची तुपक महि, दाक अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमीपाल॥
दोहा, ५११ 'बोली बान सुभट सर, समुझि उलटि जग देति।
प० स ग्रा , ९ ६११, 'बनो कमानें जिम गुरु गोला'
'निगृह घर बिरह कमान धरी। गाजहि मान्यथा की भरी'
जौ लौ बन निमहि वे दाक। हेरहि जहां, सो टूट पहाड़।
९०४१८ 'तिलक पलीत, तुपक मन'

है। इसमें युद्ध का सजीव चित्रण हुआ है तथा उस समय की युद्ध शैली पर भी प्रकाश पड़ता है।

पौराणिक अस्त्र

२२४—कुछ प्रसिद्ध अस्त्रों के नाम भी इस शब्दावली में रखे जा सकते हैं। जिस प्रकार राम का प्रिय अस्त्र धनुष-बाण था उसी प्रकार विष्णु के आयुध सुदर्शन-चक्र के नाम से ही कृष्ण का ध्यान आ जाता है। ब्रज-लीलाओं में तो कृष्ण का बिल्कुल ही भिन्न व्यक्तित्व है किन्तु मथुरा जाते ही जैसे उनके जीवन का दूसरा अध्याय प्रारंभ होता है। इसमें कृष्ण एक कुशल व्यक्ति राजनीतिज्ञ कूटनीतिज्ञ तथा योद्धा के रूप में सामने आते हैं। महाभारत में तथा दूसरे ग्रंथों से युद्धों में उनका प्रिय आयुध चक्र सुदर्शन (४८१० २०१, २०४) अथवा चक्र समर में भी बताया गया है— कोटिक कोपि चक्र कर लीन्हो (२०३) अथवा सुदर्शन मुनि दल-विरोधी चक्र सुदर्शन धारी। (२०२) तथा कर परि चक्र बदन की भावति नहिं बिसरति वह छबि (२०६)। साधारण आयुधों में भी चक्र का स्थान है। इस लोहे के पहिए को योद्धा अंगुली पर घुमा कर मारते थे।

धनुष गांडीव (४६२०) [सं० गाण्डीव] अर्जुन के धनुष का नाम था— धनुष है मेरो निज नाम। धनुष गांडीव मम अभिराम (४६२०) कथा यह है कि यह धनुष सोम ने वरुण को और वरुण ने अग्नि को दिया था फिर खांडव-वनदाह के समय अग्नि से अर्जुन को मिल गया था।

नाग फाँस (५८४) [सं० नागपाश]—यह समर के अभिपति अस्त्र का विशेष ऐन्द्र जालिक अस्त्र था जिससे शत्रु पर विजय पाते थे। इस अस्त्र को बरुन फाँस (२०८) [सं० वरुण+पाश] भी कहा गया है— बरुन फाँस तैं मोहि मुकराई (१०२)। नवम स्कन्ध के राम-मेघनाद युद्ध में नागफाँस का उल्लेख है— ईंधि-ईंधि नागफाँस उर डारत ते सेन बँधायौ (५८४)।

ब्रह्म-अस्त्र (२८९) [सं० ब्रह्मास्त्र]—यह अमोघ अस्त्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ समझा जाता था। इसको अभिमंत्रित करके चलाते थे। प्रथम स्कन्ध के अर्जुन-अश्वत्थामा युद्ध में इसकी चर्चा है— हरि-अग्रज रथ पर चढ़ि धाये। अश्वत्थामा प बलि धाए। अश्वत्थामा अस्त्र चलायौ। अर्जुन हूँ ब्रह्मास्त्र चलायौ। (२८९)। ब्रह्म-फाँस (५४८) ब्रह्मबान (५४१) तथा बिस्वबान (५४) का भी उल्लेख नवम स्कन्ध के राम-रावण युद्ध में है।

वज्र (४१७३) [सं० वज्र] इंद्र का आयुध माना गया है।

मदन—धनुष (३१८५ १८४४) कामदेव का यह धनुष-विशेष पुष्पनिर्मित माना गया है। कालिदास ने कामदेव को 'पुष्पधन्वा' तथा 'कुसुमायुध' कहा है।[२] इनकी ध्वजा मकरों से बनी कल्पित है।[१]

१—गीता, अध्याय ११, श्लोक १७, 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्' विष्णु के रूप-वर्णन में उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का सदैव वर्णन किया जाता है।

२—कालिदास, कुमार सम्भव तृतीय सर्ग, श्लोक १० 'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा। कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥' श्लोक ११, 'लग्नोत्सुकं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ।' 'प्राय स्मरस्य न बहूनि नमासमनम पदपरस्यम् ।' (८।२९, ८०) १

१—मेघ ३१

२२५—तुलसी की शब्दावली में भी 'कोदंड' 'बाण' 'निषंग' 'सारंग' 'कृपाण' 'करवालि', 'शक्ति' परशु' चर्म (ढाल) 'गोला', 'तुपक' 'शाक' 'पलीता', 'गोली' आदि शब्दों के नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 'मुग्दर' 'कवच' 'सनाह' 'कुम्भाण्ड तोम' आदि शब्द भी उल्लेखनीय हैं। ये शब्द मानस के लंकाकाण्ड में विशेष रूप से मिलते हैं (२१ १४ ६७ ८९ ८८)।

जायसी ने भी पद्मावत के बाद लड़ाई भाग में युद्ध का सजीव वर्णन किया है (४९।१।२ ४११ ५०४ ५ ६ ५१४)। कटक का प्रयाण या कूच घोड़े हाथी पैदल तथा परिग्रह (परिच्छद-राजसी सामग्री छत्र चंवर आदि) के उल्लेख भी हैं। अनेक शब्दों 'तीर' 'कमान', 'बान धनु' 'गोलन' 'कमानें (तोप) बारू' आदि के अतिरिक्त जैसा 'खोल' (कवच तथा सिरस्त्राण) और जैबा [तु॰ ज़ेरा] आदि नाम भी उल्लिखित हैं। रत्नसेन के सैनिकों का वर्णन अलाउद्दीन के सैनिकों से भिन्न है। यहाँ संस्कृत व तद्भव शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं जैसे—'सनाहा' पहुँचीन (=दस्ताना अबुलफजल ने दस्ताना' शब्द प्रयुक्त किया है) 'टोपा' आदि। सूरसागर की शब्दावली में तुलसी और जायसी की शब्दावली में कुछ ही नये शब्द हैं।

आईने अकबरी से भी तत्कालीन प्रमुख शस्त्रों तथा उनके मूल्य पर प्रकाश पड़ता है।[1] मुगलकालीन अस्त्रशस्त्रों में सूर वर्णित नामों के अतिरिक्त तेगा करौली किर्च छुरी किरपान कटार, पीपी, गुप्ती, खंजर दुधारा बसन्ता गंजा तथा तुपक [तु॰ तुफ़ंग= बन्दूक] थे।

इन कई सौ वर्षों में यदि जीवन के किसी अंग में स्पष्ट परिवर्तन हुआ है तो वह है युद्ध के आयुध तथा युद्ध की विधि। आज वैज्ञानिक आधार पर बने अस्त्रों के सामने मनुष्य संख्या की शक्ति तथा वृद्धि कोई अर्थ नहीं रखती है। वर्तमान आविष्कार एटम तथा हाइड्रोजन बम अंतर्राष्ट्रीय बैलिस्टिक मिसिल आदि ने तो साधारण तोप बम टैंक हवाई-जहाज बन्दूक पैराशूट इत्यादि आदि युद्ध सामग्री तथा लड़ने की विधि तक को बहुत पीछे छोड़ दिया है। आज के युद्ध में कुछ नगरों तो क्या पूरे संसार पर ही प्रभाव पड़ता है। एक युद्ध अपने बाद वर्षों तक के लिए निर्धनता, अकाल, तथा अनेक भयंकर रोग छोड़ जाता है।

१—आईने अ., पृ. ११०

खण्ड ६

सामाजिक संगठन, संस्कार तथा त्योहार

१—वर्ण-व्यवस्था तथा जातियाँ

२२९. भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता उसकी वर्ण-व्यवस्था भी रही है। प्रमुख चार व्यवसायों में लगे व्यक्तियों को तदनुसार चार भागों में बाँट दिया गया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र।[1] प्रारंभ में कर्म के अनुसार वर्ण निश्चित होता था, किन्तु धीरे-धीरे समय के साथ इस संबंध में कठोरता आती गई तथा जन्म से ही वर्ण की व्यवस्था होने लगी। मध्ययुग में छुआ-छूत, भेद भाव आदि विचार समाज को व्याप्त रूप प्राप्त हुए।[2] सूरसागर में भी प्रमुख वर्णों का उल्लेख है तथा ऊँच-नीच की भावना की ओर भी थोड़े से स्थलों में संकेत है। अपने समाज के इस प्रमुख अंग की ओर कवि का ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

विनय पदों में तथा अन्य कुछ स्फुट प्रसंगों में ब्राह्मण के कई पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख हुआ है—विप्र (८११, ६८८, ४२४, ११८६) [सं. विप्र], द्विज (१५९, ८६८) [सं. द्विजः] तथा बाम्हन[3] (८६७, १५७) [सं. ब्राह्मण]। इसके अतिरिक्त पंडित[4] (१५१२) [सं. पंडित] तथा पाँडे (८९९) भी ब्राह्मण के ही सूचक शब्द हैं। पंडित का साधारण अर्थ विद्वान् था, किन्तु ब्राह्मण का कार्य विद्या से संबंधित होने के कारण दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगे। आज भी पंडित शब्द इन दोनों अर्थों का द्योतक है। यज्ञोपवीत द्वारा ब्राह्मण का दूसरा जन्म माना गया है और वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है, अतः उसका 'द्विज' नाम पड़ा।

यशोदा के समक्ष महराने से एक पाँड़े के आने का प्रसंग है (८११-८७)—'महराने ते पाँड़े आयो (८९९)। इस प्रसंग में ब्राह्मण के विविध संस्कार तथा उसका प्रसन्न भोजन बनाना

1—बर्नियर, पृ. ३२१-३२५. भारतीय समाज के इस विभाजन का बर्नियर ने उल्लेख किया है। उन्होंने पंडितों के मुख्य विभाजन (सत, रज तथा तामस) का भी समाज की विशेषताओं में उल्लेख किया है।

2—ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ. ३१-३. ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द ऋषि अथवा प्रधान पुरोहित के अर्थ में ही प्रमुख रूप से (पैंतालिस बार) प्रयुक्त हुआ है। वर्ण सूचक केवल आठ बार ही आया है और मंत्र रचयिता के अर्थ में सबसे अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के अन्तिम भाग के पुरुष सूक्त में ही केवल चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है। पुरुष (सृष्टि का रचयिता) के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जांघ से वैश्य, तथा पैरों से शूद्रों के उत्पन्न होने का वर्णन है। पुराण-काल तक भेद भावना का पूर्ण विकास हो गया था। धीरे-धीरे अनेक उपजातियों का भी जन्म होता गया तथा महाकाव्य काल (ई. पू. ७ से ईसा पश्चात् ५ शती तक) तथा धर्म सूत्र तथा स्मृति (१० ई.) के समय तक इस संबंध में निश्चित नियम भी बन गए थे।

3—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ. ७१ 'ब्राह्मण' वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग पाणिनि ने भी किया है।

4—प. सं. टी., ५८।३ कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू।

5—प. सं. टी., २४।१ 'चतुर्वेद पंडित हीरामनि नाऊँ।'

और इनके द्वारा छू जाने पर भोजन का बेकार हो जाना आदि प्रचलित रूढ़ियों पर भी प्रकाश पड़ता है। खाना तैयार होने पर उसका भोग (८९७) लगाकर भोजन प्रारंभ करने की प्रथा की ओर भी संकेत है। कृष्ण-सुदामा कथा के अन्तर्गत विप्र सुदामा का सत्कार वर्णित है—'कर जोरे हरि विप्र आगिलें' (४८४८)। जन्म विवाह आदि शुभ अवसरों पर विप्र अथवा द्विजों को अन्न-धान्य धन-वस्त्र तथा गोदान आदि करने की प्रथा भी प्रचलित थी—'ते दीनी द्विजनि अनेक हरषि असीस पढ़ीं' (६४२) अथवा अलंकृत विप्र सुत माधव आनन्द-मग्न, उमंगि असीस देत सब हित हरि के। (६४८) तथा 'दै सत धेनु द्विजनि को दीनी' (६९)। ऐसे अवसरों पर ब्राह्मणों का आशीर्वाद भी अभीष्ट समझा जाता था—'बदि बंदन चारु मंगल विप्रनि तिलक करें। द्विज-गुरु-जन को पहिरत सब कैं पाइ परे। (६४२)।

विनय पदों में आराध्य के समत्व भाव पर ही बार-बार बल दिया गया है—'प्रभु की देखो एक सुभाइ (८) अथवा 'राम भक्त वत्सल निज बानौं। जाति,¹ कुल² नाम गनत नहिं रंक होई कै रानौ। (११)। जाति [सं], गोत [सं गोत्र] अथवा कुल [सं०] आदि पदों का भेद प्रशंसनीय नहीं है तथा मनुष्य मात्र ही स्नेह का पात्र होना चाहिए—इस कथन की पुष्टि में अनेक बार यही समझने का यत्न किया गया है। निम्न कुल तथा जाति के कुछ ऐसे विशेष उदाहरण दिये हैं जिनको प्रभु की विशेष कृपा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, प्रभु के कुल तन न विचारत। अविगत की गति कहि न परति है व्याध अजामिल तारत। कौन जाति अरु पाँति विदुर की ताही कैं पग धारत। भोजन करत मांगि घर उनके राज-मान-मद टारत। (१२)। एक गोत्र में विवाह मना था। 'ऐसे जनम करम के ओछे, ओछनि हूँ ब्यौहारत। निम्न कुल में खान-पान विवाह आदि व्यवहार निषिद्ध थे इस तथ्य पर इस पद्यांश से प्रकाश पड़ता है।

विनय पदों में उल्लिखित भावना के होते हुए भी समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के भाव का परिचय कृष्ण-सुदामा-प्रसंग के अनेक उल्लेखों से मिलता है—जैसे काग हंस की संगति

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ ७५ पाणिनि ने वैदिक शब्द 'वर्ण' के साथ साथ बाद में प्रचलित 'जाति' शब्द का अधिक उल्लेख किया है। 'जाति' शब्द में 'गोत्र' तथा 'चरण' दोनों ही सम्मिलित थे। पतंजलि ने यह स्पष्ट किया है (गोत्रं च चरणैः सह)। पाणिनि ने दो जातियों के मिल जाने का भी उल्लेख किया है जैसे ब्राह्मण पति तथा वैश्य पत्नी (पृ ९२)। एक ही वर्ण के लोग 'सवर्ण' कहलाते थे (पृ ९१) और एक ही गोत्र के लोग सगोत्र। सगोत्र व्यक्तियों के पूर्वज एक ही होते थे। बालकों में व्यक्ति के साथ उसके गोत्र की चर्चा भी है। पाणिनि ने गोत्र नाम इस प्रकार बताए हैं—पिता का नाम गर्ग पुत्र गार्ग्य पौत्र तथा उसका भी पुत्र गार्ग्यायण। उन्होंने 'सपिंड' 'समानि' 'जाति' तथा सकुल आदि संबंधों के अतिरिक्त कुल शब्द का भी उल्लेख किया है। 'कुल' का अर्थ परिवार था और 'कुलीन' का अर्थ श्रेष्ठ कुल के व्यक्ति से था। वंश का उल्लेख भी है।

२—ए स टी १८५११ कुलीन कुटी में बोहने भगी। १—ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने छत्तीस कुलों की सूची दी है। पद्मावत में यहाँ पर कोरी 'सोमनि' 'परमारिनि' बैसिनि 'चौहानिनि' 'चौहानी' 'चन्देलादि' 'वामनि' कैकिनि 'चहुँकिनि' बारहनि का पद्मावती के साथ जाने का वर्णन है।

लहसुन संग कपूर। कैसे कंचन कांच बराबरि सेव काम सिंदूर। भोजन साथ सूद्र बामन के, तसी उनकी लाज। (१७७)।

२२७ छत्री[१] (४५७) [सं क्षत्रिय] शब्द का उल्लेख परशुराम अवतार में हुआ है— मारे छत्री इकइस बार। (४५७)। ठाकुर[२] (१२२ ४२११) अथवा ठकुराइति (४२५५) तथा ठकुरानी (४१०१) (राधा तथा रुक्मिणी के लिये प्रयुक्त) शब्द प्राय बड़प्पन के सूचक हैं। इनका उल्लेख विनय पदों में तथा भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिया के व्यंग्य वचनों में अधिकांश रूप से हुआ है। ऐसो को ठाकुर जन कारन दुख सहि भलो मनाव (१२२) अथवा हरि सौ ठाकुर और न जन कौ (१) अथवा कहँ व व्रजपति के ठाकुर कहाँ कंस की दासी। (४२११) अथवा 'कहियो ठकुराइति हम जाना। (४२५५) अथवा राजा भए जिहारे ठाकुर अब कुबिजा पटरानी। (४२५१) तथा 'अंदर्भंदम करि मर की ठाकुर (२११) एक विनय पद के खेती के रूपक में यह शब्द सम्भवतः जाति विशेष का सूचक है—धर्म अमात्य मिल्यो न चाहै तामें ठाकुर लूटी। (१८५)। ऊपर के पदांशों द्वारा स्पष्ट पता चलता है कि प्रतिष्ठा के साधारण अर्थ के सूचक रूप में ही 'ठाकुर' प्राय प्रचलित था। आजकल साधारणतया 'ठाकुर' शब्द क्षत्रिय जाति के अर्थ में बोला जाता है। राम अथवा कृष्ण की मूर्ति-विशेष भी इसी नाम से जानी जाती है।[३]

व्यवसायों के सिलसिले में 'बनिज' का उल्लेख किया जा चुका है। व्यापार व्यवसाय द्वारा जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति ही वैश्य[४] वर्ग में आते थे। आजकल दुकान आदि के कार्य में लगे लोगों को 'महाजन'[५] या 'बनिया' भी कहा जाता है।

सूद्र[६] (१७७) [सं शुद्र—अधम नीच] शब्द शूद्र वर्ण के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शूद्र कर्मों में लगे हुए कुछ व्यवसायियों के संबंध में बताया जा चुका है।

१—तुलसी कवित्त ७ १ १ 'धूत कहौ रजपूत कहौ'

२—स सं टी २०१४ ठाकुर अंत कहूँ जो मारा तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा।

इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ७३ पाणिनि ने गोत्र जनपद तथा संघ के लिए लिखे में क्षत्रिय' का उल्लेख किया है। संहिताओं में 'राजन्य' शब्द क्षत्रिय का पर्यायवाची है।

३—डा सुनीति कुमार चैटर्जी भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी (पृ १ १) में सिलवें लेवी के मतानुसार 'ठाकुर' अथवा ठक्कुर शब्द का उद्गम प्राचीन तुर्की शब्द 'तेगिन्' से है।

४—इंडिया एज नोन टु पाणिनि प ७३ वैश्यों को 'आर्य' उपाधि प्राप्त थी जिससे उनके सामाजिक मान का अनुमान होता है।

५—स सं टी १०१२ 'जनक हाट तब उठइह सीसी बैठ महाजन सिंघलदीसो।

६—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ७८ पतंजलि ने दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है—आर्यावर्त तथा समाज में रहने वाले २—उससे बाहर रहने वाले। शक तथा यवन समाज के अंग बनी थे और यह भी एक नाम से पुकारे जाते थे। आर्य-निवास-स्थानों के बाहर रहने वाले शूद्रों में 'चांडाल' का नाम लिया जा सकता है। समाज में रहने वाले तथा विभिन्न कर्मों में लगे शूद्रों में अनेक थे, जैसे 'तक्षा' 'रजक' तंतुवाय' आदि। कुछ ही शूद्र अस्पृश्य समझे जाते थे।

मिसिलनि (२५) [सं॰ मिस्त्र] जाति का उल्लेख सुमति-कथा प्रसंग में है। यह एक प्रसिद्ध बंजारी जाति है।

२—सती प्रथा

२२८ पूर्वकालीन समाज की विशेषताओं में सती प्रथा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका उल्लेख एक दो स्थलों में ही हुआ है। संभवतः इसका कारण यही है कि यह प्रथा मात्र पारम्परिक प्रतीत होते हुए भी उस समय के लिये साधारण ही थी। सूरसागर में सती (२६१) शब्द उल्लिखित है जहाँ सती शब्द सारार्थ बारो ढेर रही। (२६१)। सीता-निकट-संवाद में पातिव्रत्य का यह मार्मिक रूप रक्खा गया है कि राम देउ मध्य पावक के ... बिनवे रघुराइ। जो पतिव्रता प्रान देर जीवति निपुरी कार। (५२१)।

पति के साथ सती होना प्रगाढ़ प्रेम का उदाहरण होते हुए भी देखने वालों को गर्हित लगा था—देखि जरति ... नारि की (२) बालि प्रेम के संग। चिता न किय पीछे गयो (२) देखत नैननि माह। (१२५)।

इस प्रथा के प्रारंभ काल में स्त्रियाँ अपनी इच्छा से ही सती होती थीं किन्तु पूर्वकाल आते-आते इसका सम्बन्ध बीभत्स रूप हो गया था। उनकी अनिच्छा होने पर घर के लो(ग) बलपूर्वक ... में ढकेल देते थे। उस समय के विदेशी यात्री तो इस प्रथा से यातं(क) ... इस भयानक दृश्य को देखकर मूर्छित तक हो गए थे।[१] बर्नियर ने कई मार्मिक दृश्यों का वर्णन किया है जिनसे वह अत्यधिक पीड़ित हुए थे।

बाण ने हर्ष की माता देवी यशोमती के सती होने का वर्णन किया है।[२] राज्यश्री के सती होने के लिये उद्यत होने तथा हर्ष द्वारा रोक लेने से यह भी पता चलता है कि उस समय सती होना आवश्यक नहीं था।

पद्मावत में भी[३] 'पद्मावती नागमती सती-खंड' में इस प्रथा के वर्णन-विस्तार हैं। विवाह के समान ही सब शृंगार करके बजना बाजे चिता पर बैठने के पहले मांग भरने आदि की प्रथा थी। सती के लिये लाइ 'लाटा' शब्द आये हैं (६४६।२,१)। जौहर की प्रथा अधिकांश रूप से राजपूतों में थी।[४]

३—संस्कार, गृह्यकर्म तथा आश्रम धर्म

२२९ भारतीय हिन्दू परिवारों में जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति का जीवन षोडश

१—बर्नियर पृ ३११ ३१४ ३४१ बर्नियर ने इस प्रथा के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं का वर्णन भी किया है जिन्होंने उनका ध्यान आकर्षित किया था—जैसे धार्मिक समुदाय—सूफी जोगी फकीर आदि वहाँ व्यवस्था विशेष के अलावा अन्य प्रचलित देवी देवताओं की पूजा आदि।

२—हर्ष ... पृ ९७ १९९ (गृहीतमरणानुगमनम्)

३—प ... टी, ६४८।१ 'पदुमावति मइ बाहुरि चली ... साथ होइ पिय की जोरी।

४—६५ ।' 'तर रवि ... बहु कीन्हा। साल बार फिरि भांवरि दीन्हा।

५—प ... टी॰ ६५।१८ 'जौहर भईं इस्तिरी पुरुष भए संग्राम।

संस्कारों¹ की सीमा से बांधा गया है। यह संस्कार उसके जीवन को संस्कृत कर सही मार्ग निर्देशित करने का यत्न करते हैं। सूरसागर के कवि ने अपने आराध्य के जीवन को हर दृष्टि कोण से संस्कृत करने का प्रयत्न किया है अतएव हिन्दू धर्म द्वारा निर्धारित इन नियमों की सीमा उसने भी स्वीकार की है। सूरसागर में उल्लिखित इन संस्कारों में जातकर्म नामकरण अन्नप्राशन कर्णवेध यज्ञोपवीत विवाह तथा अन्त्येष्टि से संबंधित शब्दावली की ओर ध्यान चला जाता है। उपर्युक्त सभी संस्कारों में जन्मोत्सव तथा विवाह संस्कार सूचक शब्दावली वर्णन-विस्तार की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। कृष्ण के दो प्रधान विवाहों (राधा तथा रुक्मिणी) के अतिरिक्त राम-सीता विवाह का वर्णन भी किया गया है।

शास्त्र सम्मानित संस्कारों के साथ-साथ हिन्दू परिवारों में कुछ लोकगृहीत शुभ कर्म भी प्रचलित हैं। इनके अन्तर्गत उल्लिखित शब्दावली से सूरकालीन कुछ प्रादेशिक प्रथाओं का भी सुखद परिचय मिलता है। अतएव यहाँ संस्कारों के साथ इन शुभकर्मों का विवरण देना अनुचित न होगा।

बालक के जन्म के अवसर से संबंधित शब्दावली

२१ कृष्ण-जन्म के पूर्व विष्णु का अवतार रूप में देवकी के गर्भ में आना और उसका प्रभाव वर्णित है 'हरि के गर्भ-बास जननी की बदन² उजारी लाग्यौ। अविनासी को आगम जान्यौ सकल देव अनुराग्यौ। कुछ दिन यों गर्भ को आलस उर देवकी जनायौ। पुष-रोहिनी-अष्टमी-संगम बसुदेव निकट बुलायौ। सकल लोकनायक सुखदायक अजन जन्म धरि आयौ। (६२२)। फिर अलौकिक घटनाओं के फलस्वरूप बसुदेव शिशु को मिथ नंद के घर गोकुल छोड़ने में सफल हुए। यशोदा का भी पुत्र जन्म के पहले की अवस्था का 'दोहिली' में वर्णन है— आठ मास ऊंचन पियौ (हो) अपर्ए लियौ कपूर। बदन मान मोहन मतो³ (हो) पालन बाजे तूर। (६५८)। इसके बाद शिशु जन्मोत्सव⁴ से संबंधित पद हैं (६२२ ६५२)। दाई द्वारा नार छेदना तथा नेग के लिये झगड़न का (६११ ६११) का उल्लेख भी किया जा सकता है। पुत्र-जन्म पर नंद का घर ही नहीं किन्तु सारा गोकुल ही उल्लास के सागर में

१—१ गर्भाधान २ पुंसवन ३ सीमन्तोन्नयन ४ जातकर्म ५ नामकरण ६ निष्क्रमण ७ अन्नप्राशन ८ चूड़ाकर्म ९ कर्णवेध १० उपनयन ११ वेदारम्भ १२ समावर्तन १३ विवाह १४ गृहस्थ १५ वानप्रस्थ १६ सन्यास।

२—स सं टी, ५ १० 'जब जोषान पूर होत नमू, दिन-दिन हिर्दे होत परगासू। बात चंचल जीने गह लिया। तब उजियार देवकी हिया।

३—स सं टी ५।११ 'भए दस मास पूरि भै घरो।

४—हर्ष सो ग पृ ६५, बाण ने भी हर्ष के जन्मोत्सव का विशद चित्रण किया है। यह सूरसागर में वर्णित चित्र से आश्चर्यजनक रूप से मिलता है। हर्षचरित में शंख, दुदुभी, पटह आदि मंगल बाद्य सुगन्ध सुवासितों से भरी कलसियों पर धागाओं में प्रज्वलित अग्नि कड़ाहों का देदीप्यमान परिचारकों एवं वनियों का नगर से भूषण करना आदि उल्लेखनीय है। सूतिगृह में वाममातृ देवी अथवा वर्णिका की आकृति बनाई गई थी।

हुए गया। इस अवसर की कुछ महत्वपूर्ण बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। मंगल कलश रखना होम [सं॰ होम], द्विज पूजा तथा मंगल बंदन से लीपने की[१] प्रथा भार द्वार वर्णित है— कंचन-कलश होम, द्विज-पूजा, बंदन भवन लिपायो। (१२२)। मणिगन और बारिन का बंदनवार बाँधना अरगजा बहल हल्दी आदि छिड़कना[२] भी अवसर के अंग थे— बाजत ताल मृदंग संघमठि बरषि अरगजा अंग चढ़ाई। मच्छठ दूध लिये दधि ठाढ़े बारनि बंदनवार बँधाई। (१२७) अथवा बाँधो बंदन मणिर मनिनि छिड़कावन २। (१४६) तथा 'रुक्मिणी सी बहू मालिनी बोले। बंदन माला बाँधन दोले। (१५०)।

मच्छठ [सं॰ मध्य] (पूजन के निमित्त पुत्रे बासन), दूब [सं॰ दूर्वा—देवता या पितृ पूजन के निमित्त घास विशेष] तथा बंदनवार भाव भी इसी प्रकार ऐसे अवसर पूर्व बाजावत में सम्मिलित है। मोती का बन्दनवार भी बाँधा गया था—'मोतिनि बँधायो बार महल में बाहरे (१४६)। तोरण की भी [सं॰ तोरण] कहते हैं—'मानिनि बाँधे तोरन' (१५८)। द्वार पे पत्तों के सर्वथा प्रकार बन्दनवार को ही तोरण कहते हैं।[१]

२११—पुत्र-जन्म पर स्त्रियों का बधायी [सं॰ वर्धन] (१४४) तथा सोहिलो[२] अथवा मंगल गाना तथा बाद्य बजाना पुत्रोत्साह प्रकट करता है। इस प्रसंग में अनेक पद इस बात के सूचक हैं। गोकुल की स्त्रियाँ नंद के सौभाग्य को सुनकर, वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर मंगल थाल सजा सजाकर बधावा लाने लगीं—'कंचन-थार-दूब-दधि रोचन गावति चार बधाई। (१४०) अथवा कर कंचन कंचन थार मंगल साज लिए। सुन बाजत मंगल-गीत मिलि सब पाँच सखी। मधु और नये रचि देखि फूली कमल-दली सिर दधि-माखन के माट, गावत गीत नए। (१४२) अथवा सुबरन-थार रहे हाथनि लसि। कंचन-कलश जगमगें नग के। (१५) तथा 'पाउ बधायो नंदराय के गावहु मंगलचार। गाई मंगल-कलश सांजि के दधि फल सुवन-द्वारे। (१४५)।

इन गीतों में सोहिलो (१५८) गीत विशेष का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे ब्रज प्रान्त बुंदेलू बोली में 'सोहर' कहते हैं। इसके अधिकांश भाग में गर्भ-काल विरहनी दोहद आदि के रसों का वर्णन होता है साथ ही नौ महीने तक की माता की अवस्था तथा पुत्र-जन्म पर सबकी प्रसन्नता का वर्णन भी होता है। यह गीत जन्मोत्सव के अतिरिक्त अन्य कुछ संस्कारों जैसे मुंडन कनछेदन यज्ञोपवीत आदि में भी गाए जाते हैं। पद्मावत में भी पद्मावती के विवाह पर सोहिला गाने का उल्लेख है।[४] सूरसागर में कृष्ण के मंगल-गीतों में इसका निर्देश हुआ है— बीति मोहनार बीतहूँ (हो) देत सारद लोहि। गावों हरि को सोहिलो (हो) मन-आनन्द है मोहि। हृदय बधावा।

१—प॰ सं॰ टी॰ ५।८ 'नीके बहिर सँवारे और बंदन सब लीप।

२—तुलसी गीता १।१ 'सींचिए कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई' गीता १।२ 'दल फल फूल दूब दधि रोचन घर-घर मंगलचार।'

३—कालिदास, उत्तरमेघ श्लो॰ १२ 'हरम्यार्थ सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन'

४—तुलसी गीता १।२ 'लहुरी सुनु सोहिलो रे। सुनि सकल सोहिलो सुनि बाजे बहुरहूँ निसान।' गीता १।१ 'सहस्र सिंगार किये बनिता चलीं मंगल विपुल बनाई।'

५—प॰ सं॰ टी॰ १७।१७ 'सब कविलास होत सोहिला।'

मन भयौ (हो) रानी जायौ पूत।' (६५८)। गौरी गणेश्वर एवं शारदा की विनय करके व्रज की स्त्रियाँ गीत प्रारंभ करती हैं। इनको देवी के गीत कहते हैं। व्रज में देवी गीतों में एक 'सुरही [सं० सुरभि] गीत भी है। घरों में शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले मंगल गीतों को कुछ देवी के गीत गाने के बाद ही गाते हैं। गारी गारि (१ २) [सं० गालि] के गीत गाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'वे देत महरि कौं गारी। (१२२) अथवा 'बहुत भाँति सुहाग सुंदरि और गोप कुमारि। सजन प्रीतम नाम लै लै दे परस्पर गारि (६४४)। अन्नप्राशन संस्कार में भी सखियों द्वारा गाली गाने की चर्चा है—'जुवति महरि कौं गारी गावति, और महर कौ नाम लिए। रुक्मिणी-विवाह के बाद भी एक लम्बा सा पद गारि का है—'छोटी गारि कहा कहि दीजै बाप तुम्हारे कहौं नावं लीजै जाति गोत न जानिये। तेरी माई सकल जग सोधी। (४८ ५)। इससे उस समय के गाली-गीतों का अनुमान हो सकता है। गाली-गीतों में संबन्धियों पर व्यंग्य होते हैं तथा वह श्लील तथा अश्लील दोनों प्रकार के होते हैं।[१] निमन्त्रण के अवसर के अतिरिक्त ढाढ़ी ढाढ़िनि के बधावा गाने और 'बकसीस' (६२७) [फा० बख़्शिश] अथवा दान मिलने से संबंधित भी कई पद हैं (६६१ ६६७)। ढाढ़ी का उल्लेख जीवन-निर्वाह के साधनों के सिलसिले में किया जा चुका है।

गीतों के साथ ही आनंदमग्न हो नंद और गोप ग्वालों के नृत्य करने का वर्णन भी है[१]—'नाचत महर मुदित मन कीन्हे ग्वाल बजावत तारी। (१२२), अथवा आनंदित गोपी ग्वाल नाचैं कर दे दे ताल अति अहलाद भयौ जसुमति माई कै' (६४६) तथा 'नृत्य ठांवहि ठांव' (६४४)।

अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों[१] की ध्वनि ने वातावरण को और भी उल्लासमय बना दिया—'घर घर बाजे निसान' (६४६), अथवा 'बाजत पनव निसान पंच विधि रुंज मुरज सहनाई' (६४)। इन बाजों की व्याख्या संगीत संबंधी शब्दावली के अन्तर्गत की गई है। आज भी शुभ अवसरों पर शहनाई नौबत या 'बैंड' बजने की प्रथा चल रही है।

२१२—नंद का पुत्र जन्म पर ढाढ़ी मागधसूत तथा ब्राह्मणों आदि को बहुमूल्य वस्तुयें दान करने का निर्देश है—'महर महरि बर-व्हार लुटावत आनंद उर न समाई।' (६४) अथवा 'जिन जो जाच्यौ सोइ दीन अस नंदराइ ढरे।' (६४२) तथा 'एकनि कौं गोदान समर्पत एकनि कौं पहिरावत चीर। एकनि कौं भूषन पाटम्बर एकनि कौं जु देत नग हीर।' (६४३)। इन सबका तथा गुरुजनों का असीस [सं० आशिष] देना भी वर्णित है—'आए पूरन आस कै सब

---

(७) मांगलिक गीत जो विवाहादि अवसरों पर गाते हैं। [सं० सौभाग्य-प्रा० सोहग्ग + क-सोहला]।

१—सूर सा० प०, प० १० हर्ष-जन्मोत्सव के अवसर पर बाण ने भी चार विलासिनियों के अश्लील रासक पदों (गीतों) के गाने का उल्लेख किया है। अश्लील-रासक-पदानि रासा + पाम्पोत।

२—तुलसी दोहा १ १ 'नाचहिं पुर नर नारि प्रेम भरि देह दसा बिसराई।
१ २ नृत्य करहिं नट नटी नारि नर अपने-अपने रंग।'

३—तुलसी गीता १ २ 'घर घर बाजत बधाव बाजन बाजे बेनु दफ तार।'

मिलि देत असीस । मंदरा का साहिनी औरै कोटि बरीस । (१४४)१ अथवा 'है जिनकी देहि असीस रवि मननी-मन भी । (१४२) तथा 'देहिं असीस जियौ बहुत-सुत कांदिनि बरन समूहा ।' (१५१) ।

इन लोकाचारों के अतिरिक्त अन्य कुछ लोक कृत्यों का भी परिचय मिलता है जैसे— एक फिरत दधि दूब धरत सिर, एक छूत नहि पाइ । एक परस्पर देत बधाइ एक उठत हँसि गाइ । (१३८) अथवा मागध उर धंवन न समाहीं सीस सुमन बरषावहिं (१४१) या 'गृह-आगन-नपत यत सोधि कीन्ही बेद धुनी 'नहूं भीतर भवन बुलाइ एक सिसु-पाइ-परी । इक करत उघारि निहारि देहिं असीस खरी । गुहि गुजा मनि बनमालु, अगनि चित्र ठए । मिलि मागध करत कलोल छिरकत हरद-दही । इक कनि-गोरोचन, ले सबहु सीस धरे । तब न्हाइ नंद भए ठाढ़ मद फूल हाथ धरे । नांदीमुख पितर पुजाइ अंतर सोच हरे । पछि बंदन बार बँधाइ, बिप्रनि तिलक करे । फिर सुजन की पहिराइ सब कु पाइ परे । सब इष्ट मित्र मह बंधु हँसि-हँसि बोल लिये । मनि मुकत-सभय भपूर साथे तिलक किये । (१४) अथवा 'एकनि का पुहुपनि की माला' (१४१) या 'नंद द्वारे भेंट ले ले उमग्यो गोकुल सारे । बोक बंदन भीपि कै धरि आरत संजोए । द्वार सथिया देति स्यामा सात सीक बनाइ । (१४६) अथवा सिर पर दूब धरि बैठे नरसजा नपि (१४६) तथा 'मागध होना टोसना (नहिं) स्याम मधुर मुनार । कनडु लाल की मारती (री) मय दधि कादों मूठ । नाहन बोलइ मनरसी (हो) स्याम महावर देत । ले मासी नहि टोसना बिछकमा दुलहार । काढ़ो कोरे कापरा (मह) काढ़ो भी के मील (१५८) ।

उपर्युक्त उद्धरणों से अनेक घरेलू कृत्यों पर प्रकाश पड़ता है । बालधर्म संस्कार का उल्लेख नवजात शिशु का पिता द्वारा स्वागत प्रमाणित प्रमाणों से उसकी रक्षा-कामना तथा उसकी दीर्घ आयु एवं स्वास्थ्य की प्रार्थना करना है ।

२११—जन्मवार संस्कार पर दिव्य आमे बाल गृह-कमों के साथ-साथ कवि ने उनके मिलन का उल्लेख किया है—देवनि विष्णु हम को न भुना कर कुछ पदों में देवताओं की प्रसन्नता का विषय भी विद्याधर-किंनर-कलोल बाढ़त सुख संपर्क पुलकि तन नाचति सब सुर लिखि दुंदुभी बजाई । बरसत सुमन सुदेस सुर सुर' सब अपकार करत मगत रति । सिव बिरंचि नारि रसिक मनि । कूकी सुत न समान सुहित मति । (१२४) अथवा 'अमर विमान चढ़े सुख इत्यादि अमरसुनि सकल सुनाई । (१४), तथा 'अमर नगर उतसाह अप्सरा गावत है । बहु किन्नी देवत जै-धुनि सकल सुनाई है । (१४६) । अष्ट सिधि [सं सिद्धि] तथा नवनिधि१ [सं प्रकार इष्ट के दरसन है । इसी हरि से है—'द्वार बुहारति फिरति अष्ट निधि] का जन्मोत्सव में भाग लेने का वर्णन मिलि । (१५) । बहु के प्रकार लेने का यह वर्णन भंद सिधि । कोटिनि सथिया चीतति नव निधि । (१५) । नाचि के अमित सौभाग्य को सूचता है ।

१—तुलसी गीता १, १ गावहिं देहिं असीस मुदित चिरजियौ तनय सुखदाई ।
२—मानस बाल ११३ 'अंशोपुत सरस करि आसकरन सब सौंहू ।
३—अष्ट सिद्धि :—'अणिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य महिमा तथा । ईशित्व च वशित्व च तथा कामावसायिता ॥

नवनिधि—कुबेर के नौ खजाने माने गए हैं—पद्म महापद्म, शंख मकर, कच्छप मुकुंद कुंद नील तथा खर्व ।

छठी [सं षष्ठी] अथवा छठे दिन होने वाले गृह-कर्म का उल्लेख भी है—'आदर रोरी मांगहु (मिसि) करो छठी की चार।[1] ऐपन की सी पुतरी (सब) सखियनि किया सिगार। (५५८)। छठी वृद्ध पुचि का उत्सव है। इस दिन माता और शिशु को स्नान कराया जाता है। माता को साधारण खाना दिया जाता है तथा सौवर की छूत नहीं रहता। जन्म के छठे दिन आज भी 'छठी' या 'छट्ठी' नामक गृहकर्म स्त्रियाँ करती हैं। बच्चे की बुआ सौवर [सं सोमगृह] के द्वार पर गोबर और 'सौ' व 'सतिया' [सं स्वस्तिक] रखती है और शिशु के नेत्रों में काजल लगाता है। बुआ उसके लिये वस्त्राभरण मिठाई खिलौने मेवा आदि लाती है।[3] इसको नगर का बधावा माना भी कहते हैं। इस दृश्य में ननद भावज का नेग के लिये हास-परिहास-युक्त झगड़ा भी चलता है।

ऐपन[4] पिसे हुए कच्चे चावल का हल्दी मिला वह द्रव पदार्थ है जिससे मांगलिक अवसरों पर चौक अथवा छापे आदि बनाते हैं।[5] गोपी बार्तो महरके (६४) से पद्रस्का छठ का बोध होता है। यह छठी का रात को सबस पन्थ म मामा बर्ने वाला गीत है। इसमें भी गाली दी जाती है।

नवम-स्कन्ध मे राम-जन्म संबंधी कई पद हैं (९ ४६२)। इसमें कृष्ण-जन्म से मिलता जुलता चित्रण है किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त—'फूले फिरत अयोध्या-वासी गनत न त्यागत चीर। परिरंभन हँसि देत परस्पर आनंद नैननि नीर। दत्त दान राख्यो न भूप कछु, मह्य बड़े नग हार।[5] (४६), अथवा 'गावैं सखी परस्पर मंगल रिषि अभिषेक कराई। और मई दसरथ के आंगन सामवेद धुनि छाई।[6] (४६१) तथा 'दिस देस तें टीको आयो रतन-कनक-मनि-

---

१—तुलसी गीता १ ५ 'आमिष राम छठी मधुल मठी किए नीक मानिनि ग्रामरन
अतिदान पूजा मूलिकामनि साथि राखी प्रति क। की दब मूर्धी
राइमत छिल सामि आपन हाहिने नमठे लिये।

प सं टी ५२०१ मह छकि राति छठी सुनमाली। छूत भोइ तों रनि बिहानी।

२—हर्ष तो च, प ७२ बाण ने कादम्बरी में सूतिकागृह के वर्णन में सोवर के बाहर बने सतिये का उल्लेख किया है। यह रंगीन कपास के फाहों से अलंकृत किये गये थे।

३—ब्रज लोक साहित्य पृ १४५ जब ननद बच्चे के लिये कुरता टोपी लाती है उस समय ब्रज में गाया जाने वाला एक प्रसिद्ध लोकगीत 'जगमोहन मुंदरा' है। इसमें ननद अपनी भाभी से नेग में 'जगमोहन' नामक साड़ी तथा 'मुंदरा' नामक गहना मांगती है और रुक्मिणी-हरण का वर्णन भी है। 'सौहिलो' आदि लोकगीत स्तुत्य तथा प्रबंध दो प्रकार के हैं।

४—हर्ष ता च प ७ राज्य श्री के विवाहोत्सव के वर्णन में छोपतो मिल भूमल आदि पर ऐपन की थापें लगाने का उल्लेख किया है।

५—मानस बाल १६४ हाटक घेनु बसन मनि नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।

६—हर्ष ता च पृ १४ बाण के समय में प्रभाकर के पाठ तथा सामगान का बहुत प्रचार था। यह अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों द्वारा भी अपने-अपने चरण तथा शाखाओं के अनुसार अध्ययन करने वालों ब्राह्मणों का परिचय मिलता है।

हीर वह प्रदीप सूर चिरजीवी रामचन्द्र रणधीर। (४१२)। तुलसी ने 'ढोटा' शब्द उपहार अथवा 'टीका' के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[1] मूर्ति-पूजा होने के कारण राम के जन्म पर देव देव से टीका माँग का उल्लेख स्वाभाविक है। (२१४)

सूर ने नामकरण का भी संक्षिप्त वर्णन किया है (७ १-७ ५)। नामकरण संस्कार का प्रथम नवजात शिशु का नियमानुकूल नाम चुनना है। बालकर्म के समय पिता घर का नाम तब कर लेता है। विप्र-सुजन-चारन-बंदीजन सकल नंद गृह आए। गुनन सुभग सुत-सुरबी-बधि हरषित होंस बँधाए। (७ ५)—आदि मांगलिक भावनाओं के अतिरिक्त प्रधान रूप से गर्ग मुनि के आगमन तथा शिशु के जन्मपत्र को देखकर उज्ज्वल भविष्य की घोषणा का वर्णन है।[2]—इस प्रसंग में सूर के ज्योतिष ज्ञान का परिचय भी मिलता है। ज्योतिष शास्त्र की सूचक शब्दावली पर ७ ४ म विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है—नंद सु आदि जोतिषी[3] तुम्हारे घर को पुत्र जन्म सुनि आयौ। लगन सोधि सब जोतिष गनिकै चाहत तुमहिं सुनायौ। संवत सरस बिभावन भादों आठै तिथि बुधवार। कृष्न पच्छ रोहिनी, अर्ध निसा हर्षन जोग उदार। वृष है लगन उच्च के निसिपति तनहिं बहुत सुख दैहैं। चौथे सिंह, रासि के दिनकर जीति सकल महि लैहैं। पँचएँ बुधकन्या को जो है पुत्रनि बहुत बढ़ैहै। छठएँ सुक्र तुला के सनि जुत सत्रु रहन नहिं पैहैं। ऊँच नीच जुवती बहु करिहैं सतएँ राहु परे हैं। भाग्य-भवन में मकर मही-सुत, बहु ऐस्वर्य बढ़ैहै। लाभ भवन में मीन बृहस्पति नव निधि घर में ऐहै। कर्म भवन के ईस सनीचर, स्याम बरन तन ह्वैहै। (७ ४)।

जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन नामकरण संस्कार होता है। इसको साधारण बोली में 'छठी' [सं षष्ठीपूजन] या 'बरही' कहते हैं। जन्म तथा अन्नप्राशन पर भी सुलग्न निकालने की सूचना मिलती है—ग्रह-नखत-नपठ-मक सोधि कीन्ही बेद धुनी। (४२) अथवा सुभाद नाम ल बूझ्यो राशि सोधि इक सुदिन धर्यौ। आजी दिन[4] सुनि महरि जसोदा बोलि सुत काज कर्यौ। (७ ६)।

२१५—अन्नप्राशन अथवा पासनी (७ १७ ७) [सं] यह संस्कार भी सुदिन देखकर किया गया।[5] छ महीने से कुछ दिन कम से तभी नंद ने यह संस्कार करने का

१—तुलसी गीता १ २ ... से होत प्रजा प्रमुदित करे भाँति-भाँति बलि जाए।

२—हर्ष ला प, प ६५ बात में भी हर्ष-जन्म पर तारक जानक ब्राह्मण का की गृह संहिताओं में वर्णन का हर्ष के भविष्य के संबंध में बताने का उल्लेख किया है। बृहत्संहिता में ज्योतिष के तीन अंग हैं—गणित, संहिता तथा होराशास्त्र। ज्योतिषी ने ग्रहों की गणना करके सूचना दी कि 'जब यह उत्पन्न के है 'बाणभट्ट के बाद इस प्रकार का चक्रवर्ती योग किसी का नहीं हुआ है। यह युग सात चक्रवर्तियों में सबसे श्रेष्ठ सात समुद्रों का पालनकर्ता व सूर्य के समान तेजस्वी होगा।'

३—प सं टी ५३।१ 'मही जन्मपत्री लो लिखी। दै असीस बहुरे जोतिषी।

४—तुलसी गीता १ ६, नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए।

५—हर्ष ला प प ७१ हर्ष के समय में भी सुन्दर लग्न निकालकर शुभकर्म करने की प्रथा थी। राज्यश्री के विवाह की शुभ लग्न निकलवाने का उल्लेख है ('महानाभिमुखमहापरमलग्नमपुर्लग्ने')।

विचार किया। इस संस्कार पर अपनी जाति बिरादरी वालों का भोजन व अन्नप्राशन के समय नंद का शिशु को खीर खिलाने का वर्णन है—'नंद-घरनि ब्रज-बधू बुलाई जे सब अपनी पाँति। कोउ ज्योनार करति कोउ घृत-पक षटरस के बहु भाँति आपु गए नंद सकल-महर घर ले आए सब ज्ञाति। (७ ७)। संस्कार से पहले बच्चे को नहला-धुलाकर नये वस्त्र पहनाए गये थे—'जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह कौ पट भूषन पहिराइ। तन झगुली सिर लाल चौतनी चूरा दुहुँ कर-पाइ। घरी जानि सुत मुख जुठरावन नंद बैठे ले गोद। कनक-थार भरि खीर धरी ले, ता पर घृत-मधु ना। नंद लै-लै हरि मुख जुठरावत नारि उठी सब गाइ। (७००)।

आज भी बहुत कुछ इसी प्रकार अन्नप्राशन संस्कार सम्पादित किया जाता है। होम तथा पूजन के बाद इष्ट-मित्र तथा बन्धुबान्धवों के भोजन का आयोजन होता है। मंगल-गान के साथ इसी प्रकार शिशु को चावल की खीर खिलाकर पहली बार अन्न खाने का उत्सव मनाते हैं। अधिकतर चाँदी के रुपये से अथवा चाँदी या सोने की चम्मच कटोरी से शिशु को खीर खिलाते हैं। शिशु के माता-पिता को अन्नप्राशन का नेग देते हैं। 'पासनी' तथा अन्नप्राशन दोनों शब्द आज भी चल रहे हैं। यह संस्कार दाँत निकलने के पहले छठे या आठवें महीने में किया जाता है। दाँतों की रक्षा एवं सही शरीर वृद्धि के लिये इसके बाद धीरे-धीरे अन्न का अभ्यास कराया जाता है।

११६—बरष गाँठि (७१२-७१४) का उत्सव भी मनाने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। बालक को स्नान के बाद नये वस्त्राभूषण इस दिन भी पहनाए गये थे—'सिर चौतनी डिठौना दीन्हौं आँखि आँजि पहिराइ निचोल।' (७१२) अथवा 'बाँधे चीरे बनाइ भूषन पहिरावौ' (७१३)। उत्सव की 'शुभ घरी' पहले ही ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित की जा चुकी थी—'एक शुभ घरी धराइ' (७१३)। अन्य संस्कारों के समान स्त्रियों का इस उत्सव में भी मंगल-गीत गाना आँगन को चंदन से लीपना तथा चौक [सं० चतुष्क-चौकोर चौक] पूरना मांगलिक पदार्थों—अक्षत दूब दल रोचन दधि फूल हार—आदि एकत्रित करने का वर्णन हुआ है—'सखिनि को बुलाइ मंगल-गान करावौ। चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ उमँगि अंगनि आनंद सौं, तूर बजावौ।' (७१३) अथवा 'गावहिं मंगल गान नीके सुर नीकी तान। आनंद अति हरषनि। कंचन-मनि जटित-थार रोचन दधि फूल डार मिलिबे की तरसनि।' (७१४)।

पहले प्रत्येक जन्म दिन पर एक डोरे में गाँठ बाँधने जाने की प्रथा थी। इसी प्रकार आयु सूचक वर्षों की गणना की जाती थी। इस प्रथा का परिचय इन पदों से प्राप्त होता है—'ब्रज-जन-मोहन बरस-गाँठि की डोरा खोल' (७१२), अथवा 'बरष-गाँठि-जुरावौ' (७१३) तथा 'प्रभु बरष-गाँठि जोरति' (७१४)। इस प्रथा से ही 'बरष-गाँठ' शब्द बना है। एक अन्य समानार्थक शब्द 'सालगिरह' भी बोला जाता है। कुछ अंग्रेजी संस्कृति से प्रभावित नागरिक-परिवारों में विदेशी पद्धति से वर्षगाँठ मनाने का ढंग चल गया है जैसे केक काटना वर्षों की प्रतीक जलती हुई मोमबत्तियाँ बुझाना, शुभकामनाएँ देना फूल और भेंट देना मंगल कामनाओं से अंकित छपे कार्ड भेजना, भोज नाच एवं नृत्य आदि। इस नयी विधि से वर्षगाँठ मनाने पर भी अधिकांश परिवारों में भारतीय प्रथा ही चल रही है जो सूर वर्णित उत्सव से मिलती-जुलती है। डोरे में गाँठ बाँधने की प्रथा अवश्य लुप्तप्राय है।

१—हर्ष चरित, पृ० ७२, राज्यश्री के विवाह के पहले सामन्त पत्नियों के मंगलगीत गाने का वर्णन है (बहुवरयोषिद्गृहीतमंगलानि श्रुतिसुभगानि मंगलानि गायन्तीभिः)।

२१७—कनछेदन—'कनछेदन'¹ संस्कार का अत्यन्त ललित वर्णन है (७१८)— कान्ह कुँवर को कनछेदन है हाथ सोहारी भेली गुर की। इस पद में बच्चे का ध्यान आकर्षित करने के लिए 'गुर' की भेली देना, कान पर मीठ [हि. लुपोका] से रोचना तथा कंचन के दो दुर कान में पहनाना, कान छेदने के दर्द से बच्चे का रोना देखकर माता का भी व्याकुल होकर नाऊ को डाटना तथा सबका 'बधाई' देना आदि सरल स्वाभाविक रूप में चित्रित है। इसी प्रकार का दृश्य आज भी कनछेदन के अवसर पर देखने को मिल सकता है। अब लड़कों के कान छिदवाने की प्रथा उठ सी गई है। इसका कारण यही है कि पुरुषों द्वारा कर्णाभूषण पहनने की प्रथा नहीं रही है।

सूरसागर में झँडूले बार (७१९) अथवा गभुआरे केस (७५२) का तो उल्लेख है किन्तु चूड़ाकर्म संस्कार विशेष का वर्णन नहीं है।

२१८—जनेऊ—कंस वध के बाद वसुदेव का यज्ञ परब्ध। के अनुकूल कृष्ण और बलराम का जनेऊ (१०११) [सं. यज्ञोपवीत]² करने का विवरण है। वसुधो कुल-व्यौहार विचारि। हरि हलधर को दियो जनेऊ, करि षटरस ज्योनारि। (१०११)। गर्ग मुनि का गायत्री मन्त्रोच्चारण, ब्राह्मणों को बहुधा भूषण तथा भोजन, स्त्रियों का सामूहिक गान 'निछावरि' देना, वाद्य-वादन स्थान स्थान से टीकों आना आदि वर्णित है (१०११ १०१२)।

यह इसी संस्कार आजकल सनातनी व आर्य समाजी (वैदिक रीतियों पर आधारित) दो प्रमुख पद्धतियों के अन्तर्गत होते हैं। जनेऊ ब्राह्मणत्व का सूचक भी है तथा इस संस्कार के बाद उसका 'द्विजत्व' (दूसरा जन्म) प्राप्त होता है। इसका एक नाम 'उपनयन' भी है। इस संस्कार के बाद बालक गुरु के पास विद्याध्ययन के लिये ले जाया जाता था। यहाँ वह 'वेदव्रत' अथवा ब्रह्मचर्य धारण करने की प्रतिज्ञा करता था। यज्ञोपवीत के साथ ही पिता पुत्र को ब्रह्मचारी के योग्य अन्य सामग्रियाँ भी देता था—अजिन दंड तथा मेखला।³ इसके बाद से पिता का स्थान गुरु ग्रहण कर लेता था।

२१९—बिवाहु—हिन्दू धर्म में शास्त्रानुसार विवाह आठ प्रकार के माने गये हैं।⁴ राम [illegible] कुल का विवाह संबंध बिवाहु (११८) [सं. [illegible] + विवाह] बताया [illegible] करनबेध उपवीत बिआहा। अंग-अंग सब नए उछाहा।' [illegible] कहा है। कुमार [illegible] गुप्तकालीन ब्राह्मण-धर्म

१—मानस अयोध्या १ [illegible]

२—हर्ष [illegible] १६ साल से [illegible] को [illegible] यज्ञोपवीत का अंकन नहीं है किन्तु [illegible] कालीन मूर्तियों में यज्ञोपवीत [illegible] संबंधी मूर्तिकला में देखा जा सकता है।

३—कुमारसंभव सर्ग ५ श्लो १ [illegible] प्रबद्धविचाराधारप [illegible] प्रथमाश्रमी यथा। [illegible]

४—मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में भी यह आठ विवाह वर्णित हैं—१—ब्राह्म २—दैव ३—आर्ष (गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों के साथ स्त्री प्राप्ति का प्रयास) ४—प्राजापत्य ५—आसुर ६—गान्धर्व (प्रेमपूर्वक [illegible] तथा दुष्यन्त का ऐसा ही विवाह था।) ७—राक्षस (स्त्री हरण के उपरान्त विवाह जैसे कृष्ण-रुक्मिणी और अर्जुन-सुभद्रा का विवाह) ८—पैशाच (उषा-अनिरुद्ध विवाह इसी प्रकार का था।) प्रथम चार प्रकार समाज द्वारा अधिक मान्य थे। अन्तिम चार का विधान केवल असाधारण परिस्थितियों के लिये किया गया था।

गया है—'जाकी व्याह करत रस है गन्धर्व विवाह चित दे सुनौ विविध विलास ।' इस विवाह में स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से एक-दूसरे का वरण करते थे तथा प्रेम ही इसका आधार होता था। स्वयंवर (४८१०) की प्रथा पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार राजकन्या निमन्त्रित राजाओं में से स्वयं वर चुनकर जयमाल पहना देती थी।

विवाह निश्चित होने का जो उत्सव मनाया जाता है एवं कृत्य होते हैं उसको आज के समान ही सूरदास जी ने मंगनी (४२१७) तथा सगाई (४४१७) कहा है किन्तु यह विवाह वर्णन में न आकर स्फुट प्रसंगों में आए है—'बैर मिस्यो कुबिजा की नीको। सूरदास प्रभु सुधि न देखी मंगनी नहीं चही की। (४२१७) अथवा तुमसों उनसों कौन सगाई। हम अहीर अबला ब्रजबासी वे यदुपति यदुराई। यहाँ सगाई' अपनत्व के साधारण अर्थ में भी लिया जा सकता है। आज इस लोकाचार के अवसर पर प्रायः वर पक्ष से वधू के लिये वस्त्राभूषण और मेवा-मिठाई आदि आते हैं और वधू के घर के साथ उन लोगों को भेंट देते हैं। सूरसागर में विवाह के साथ इन कृत्यों का वर्णन नहीं है।

विवाह-कृत्य के सरलता से तीन भाग किए जा सकते हैं—१ मांगलिक सजावट, २. संस्कार विशेष, ३ परम्परागत सामाजिक रूढ़ियाँ। राधा तथा गोपियाँ सर्वप्रथम मनोवांछित पति-प्राप्ति के लिये अनेक व्रत-साधन तथा देवी की उपासना करती हैं—'किये प्रथम कुमारिकनि व्रत धरि हृदय विस्वास। नंद-सुत पति देहु देवी पूजि मन की आस। दियौ तब परतच्छ सबकौं भयौ सबनि हुलास। (१९९९)।

सूरसागर में तीन विवाह प्रमुख रूप से वर्णित हैं—१ राम-सीता २. कृष्ण-राधा तथा ३ कृष्ण-रुक्मिणी। कृष्ण के अन्य विवाहों में जाम्बवती सत्यभामा विवाह (४७०८) तथा पंचपटरानी विवाह (४८१) थे। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा साँब (४८१४ ४८१५,४८२७) विवाह शीर्षक भी कुछ पद हैं। प्रथम तीन विवाहों का ही अधिक महत्व है।

२४—सजावट की परिचायक शब्दावली में बंदनवार-बन्धन, आरती तथा मंगलकलश सजाना[1], दधि अक्षत कल फूल रखना, आँगन में चौक पूरना, अरघ [सं० अर्घ्य—एक जल पात्र में अक्षत दूर्वा तिल यव गन्ध, पुष्पादि डालकर यह जल देवता पर चढ़ाने को ही अर्घ्य देना कहते हैं] बाट या बन्दीजनों का विरुदावलि-गायन बाद्य-वादन आदि कृत्य अन्य संस्कारों के समान ही लिये जा सकते हैं। विवाह का मंडप[2] (१९९०) अथवा मंडल (४८०३) अवश्य 'कदली खम्भ' एवं 'विविधवसन' और फूलों से अलंकृत किया गया था। मंडप तथा चौरी [सं

१—मानस बाल० २८६, 'मगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चमर सुहाए।

प स टी २७११४ १ 'बंदन खंभ रचे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती। घर-घर बंदन रचे दुआरा। बांधत नगर मीत झनकारा।

२—प स टी २८४११ 'मांडो लीने कर मगल सवारा। बंदनवार लाल सब डारा। ताका पाटंबर के छाहीं। रतन चौक पूरा तेहि माहीं। कंचन कलस नीर भरि धरा। इन्द्र पास आनी अपछरा। अथवा २७४१५ 'रचि-रचि मानिक माड़ो छावहिं।'

तुलसी रामलला नहछू ३ ४ 'आलहि बाँस के मांडव मनिगन पूरन हो। मजमुकता हीर मनि चौक पुराइय हो। मरकत खंभ चहुँ ओर मध्य सिंहासन हो। मानिक दीप बराय बैठि तेहि आसन हो।

मधुर—बेदी] विवाह-संस्कार का महत्त्वपूर्ण अंग है। वर वधू मंडप के नीचे ही बैठते हैं।[1] म
मात्र भी कदली-खंभों तथा फूल मालाओं से सजाया जाता है—'रची चौरी मधु सुधा ब
चौक लगाए के। चौक पुरावहु पुरयो आदि रचि बैठे तहाँ।[2] (४८ ४)।

विवाह के उत्सवमय वातावरण का वर्णन इस प्रकार किया गया है—सुर क
वार बाए' (४८०१), अथवा छवि माटी कलश स वारि (४८०२) तथा

बांधहु बंदनवार मनोहर, कनक कलश भरि नीर धरावहु।
रचि पच्छव फल फूल परम रुचि आंगन चंदन चौक पुरावहु।
कदली पूग मधुर विरल दल, सुरंग सुमन से मंडप छावहु।
हरद दूब केसर मग छिरकहु भेरि मृदंग निसान बजावहु। (४८ १) और कहीं

सुभग माली' (४८ ६), धन भेरि निसान बाजे बज विविध सुहाने। अब दोनों विरद बार
बजन लहै मनभावने। (४८ ४) और 'बाजहिं सु बाजन सरस सुर। (१६६) अथवा मन
फूलनि के मंडप छाए (१६६)। शुभ मुहूर्त में ही मंडप बनाने की प्रथा मान्य भी है—सोधि
सुदिन चौरी लिखि रची। (४८ ४)[1]। मंडप के नीचे चौक पूरा जाता है तथा यज्ञ करने के
लिये चौरी अथवा वेदी (१६६) [दे० वेदी] बनाते हैं—छाए सु फूलनि कुंज-मंडप पुलिन मैं
बेदी रची। (१६६)।

कुछ व्यवसायियों की उपस्थिति[4] भी आवश्यक सी समझी जाती है जैसे—'मालिनी'
बोलिनि सुआरि' दरजिनि तथा 'बधिनि (१६६१)।[5] स्त्रियों के गाली गाने की प्रथा की
सूचना भी है—'तोसी थपि कहा कहि दीप (४८ ५) अथवा गाई सु नेवते मुई विधि हैं, देखि
मार्यद माचियो। (१६६)। नेवता शब्द सहेतू निमन्त्रण के अर्थ में मान्य भी बोला जाता है।
विवाह में बारात के खाना खाते समय कुछ बरा में स्त्रियों के गाली गाने की प्रथा मान्य तथ
सुरक्षित है।

१—सूर सा प्र पृ ७२ रुक्मिणी-विवाह के निमित्त बनी के उसमें मीली ऐपन की थापों तथा आलना से रंगे हुये लाल बर्तनों आम तथा अशोक पत्तों से सजाये गये थे।

२—मानस बाल, २८७ 'बिरचे कनक कदलि के खंभा।' २८९ ५८८—'रचे रुचिर बर बंदनिवारे।' 'चौकें भांति अनेक पुराईं।'

३—तुलसी जानकीमंगल १२७ 'सुदिन सगुन बोलि बहुरि सुभ मांडव छावन। गावहिं गीत सुआसिनि बाज बधावन।'

४—सूर सा प्र पृ ७ बाल पंचम रुक्मिणी के विवाह की तैयारी का चित्रण महत्त्व की दृष्टि से बेजोड़ है। इससे प्राचीनकाल के समृद्ध भारतीय घरानों में अनेक प्रकार के कार्यों में नियुक्त व्यक्तियों का विवरण विशद मिलता है। इस वर्णन से तत्कालीन विवाह की तैयारी पर भी प्रकाश पड़ता है। आतिथ्य-सत्कार में सुगंधित पान और वस्त्र बांटे जाने लगे। दूर-दूर से चतुर दर्जी बुलाए गये थे। ढोल बजाने वाले बजार को हटवा दी गई थी। हवेली करने वाले कारीगर, चुनकिया दल के बीड़ा कानियां करने वाले लोग सुनार (टेपकार), आधुनिक चित्र बनाने वाले चित्रकार मिट्टी के खिलौने बनाने वाले चित्र बनाने वाली तथा मालायें उत्पन्न एवं बस तथा चोरे की लड़ियां रंगनेवाली स्त्रियों तथा अन्य अनेक कामों में दक्ष व्यक्तियों का सामाजिक विवरण है।

२४१ बिमाह[1] (११९६) ब्याह (११११ ४८ ५) [सं० विवाह] अथवा पानिग्रहन (११६) [सं० पाणिग्रहण । संस्कार वधूविधि स सम्पादित होने का निर्देश भी कवि ने किया है ।—'वेद-विधि किया ब्याह विधि' (४८ ४) अथवा 'विप्र सबै धुनि वेद उचारत, कुवरिनि मंगल गाए' (४१८) तथा 'घरे निसान अजिर गृह मंगल विप्र वेद अभिषेक करायो । सूर अमित आनन्द जनकपुर सोह सुकदेव पुरानमि गायो । (४१९)

पाणिग्रहण संस्कार मात्र तो कुछ ही घंटों में पूरा हो जाता है किन्तु उसके स्वागत समारोह की तैयारी वधू पक्ष वाले महीनों से करते हैं । दूलह (११९२ ११६) [सं० दुर्लभ] ४८ अथवा वर [सं० वरं] के[2] पक्ष के लोग बरात[1] (४८ ४) (सं० वरयात्रा] लेकर निश्चित तिथि पर दुलहिनी [(११६ ४८ ३) अथवा दुलहिनि (११९२) के घर उपस्थित होते हैं । बरात में जाने वाले वर के बंधु बांधव एवं इष्टमित्र ही बराती [सं० वरयात्रिक] (११६) कहलाते हैं—मगमय सनिक भए बराती । (११६) उग्रसेन और वसुदेव के बरात सजाकर जाने का वर्णन है—'चले साजि बरात

४—४ तुलसी रामललानहछू ४ १०—'लोहारिनि' 'तबोलिन' अहिरिनि' मोचिनि' 'मलिनिया ,'बरिनिया' 'नउनिया', 'मालिनि' आदि अनेक व्यवसायिकों का विवाह के अवसर पर उपस्थित होने तथा उनके अपने अपने निश्चित कार्यों का महत्वपूर्ण निर्देश है ।

६—मानस बाल १२८ 'बैठत बैहि मधुर धुनि गारी । लै लै नाम पुरुष अरु नारी ।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ ८५, ८६, पाणिनि ने विवाह का पर्यायवाची शब्द 'उपयमन' प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ 'स्व-करण (वर का वधू को अपना बना लेना) था । विवाह संस्कार पाणिग्रहण से पूरा होता था । पाणिग्रहण का भी उपर्युक्त भाव ही है । वर पिता के हाथ से वधू का हाथ ग्रहण कर उसकी जिम्मेदारी स्वीकार करता है । मनु के अनुसार विवाह अपनी जाति में ही होते थे । कात्यायन ने शास्त्रानुसार विवाहिता पत्नी को पाणिग्रहण विधि के कारण ही 'पाणि-गृहीती' कहा है । इस विधि के अनुसार विवाहिता न होने पर 'पाणि-गृहीनी' कहा है । मनु के अनुसार कन्या 'प्रदान' रूप में पति को पिता द्वारा दी जाती थी । पाणिनि के अनुसार पत्नी 'कन्या' होनी चाहिये तथा पतंजलि ने भी 'अपूर्वा पति' 'कुमारी भार्या तथा' 'कुमार पति' का उल्लेख किया है । 'पत्नी' शब्द उसका पति के साथ यज्ञों में भाग लेने का बना है ('पत्युर नो-यज्ञ संयोगे) । पति की सामाजिक स्थिति पत्नी को [illegible] हो जाती थी जैसे महामात्र की पत्नी महामात्री और आचार्य की पत्नी [illegible]

२—हर्ष डॉ० अ पृ ७२ बाण ने 'वर' तथा 'वधू' शब्द [illegible] ('वधू वरयोश्पहणमनोति)

३—हर्ष डॉ० अ पृ ८२ बाण ने राज्यश्री की बारात [illegible] वर्णन किया है । आगे पैदल लाल केसर लिये हुए [illegible] पीछे घोड़े के साथ में धम्मल लगी थे । पूर्ववर्ती [illegible] आगे चारण गान गा रहे ।

बाजे कोटि उन्मन प्रति बनी। (४८०४) सम्बन्धी (१२१) से संबन्धी] का वर्ण-
बनाके यमि का विशद विवरण पद में भी है—तात पताका बहे बजामत, समधी सोभा की।
बारात के साथ इस प्रकार बाजे की व्यवस्था मात्र भी होती है—'संख भेरि निसान बाजे बर्ने विविध सुहावने।' (४८ ४)। इसके अतिरिक्त उन समय सजे हुए हाथी घोड़े एवं रथ भी बारात की शोभा-वृद्धि करते थे—'गज रथ बाजी बनाइ बाँवर तन बाजि।' (११६२)। वर का वाहन विविध रूप से सुसज्जित किया जाता है। वह उस समय अलंकृत घोड़े अथवा रथ पर जाता था[१]। इसका संकेत सूर ने किया है—'तुरी नाची बिना तावन बनत चपला भी रही। बीन बजित बरात पाछरि लगी सब मुख्य करी।' (४८०४)। वधू की विदा भी इसी रथ पर होती है—'चंदन के स्यंदन बैठे दुहि, संग भी राजा सौंपि।' (११६५)।

बहुमूल्य नये वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त वर के वेश में मौर (११८६) तथा सेहरा[१] (११६२ ४८ ४) इस विशिष्ट शुभ अवसर की सूचना देते हैं—'सेहरा सिर मुकुट लटकन कंठ माला राजई। हाथ पहुँची हीर की नग जटित मुदरी भ्राजई।' (४८०४) अथवा 'लटकन सिर सेहरो मनु' (११६२) तथा 'मोर मुकुट रचि मौर बनायो' (११९०)। मौर तथा सेहरा बनाने का काम माली का है। सिर पर मुकुट के समान 'मौर' होता है तथा चेहरे पर पड़ी फूल मालाओं को 'सेहरा' कहते हैं।

इस संस्कार के साथ विविध अंगों में लगन (११८६) निकालना—'घरी लग्न सु तरह निकिरी' मधुपर्क [सं मधुपर्क एक भाग दही दो भाग शहद तथा घी मिलाकर

१—मानस बाल २१८ हय गय स्यंदन साजहु जाई।
१२२ तुरत सजावहिं कुंवर बर सकल मदंग निसान।
१ २ सजहु राम बाजहिं सहनाई। 'नट भाट मागध सूत बाचक जस प्रभावहिं'
सामग्री मंगल १८ 'बांधहि तमहु हेतु पट देहीं माला बांध तोवार।
बाजहीं। २०१। ८ ९ बांधहि तमहु हैसि होइ असवार।

२—अ स टी० २०१। बांधहु मौर छत्र सिर लाल्हु ... सब राजा। बाजन बाजन
२००। ७ मीरका रच बोने व साजा नए बरात मोहन
का मलबाक। सब मिलन के करहिं बोहाक।

३—हर्ष ला प पृ ८१ वर गृहकर्म के सिर पर मल्लिका पुष्पों की मा
तथा उसके बीच में फूलों का सेहरा वर्णित है ('जतकुल्म मल्लिका मु
कन्याच्यावित कुसुमशेखरेण सिरसा)।

४—हर्ष ला प पृ ८१ राज्यश्री के विवाह की वेदी चूने से पुती थी ...
नये उगे हुए जवारे शुभ मंगल कलश रखे थे। विवाहाग्नि के निकट हरी कुशा मांगलिक के लिये भिन्न कुल मूल कर्म पुन खजा और समिधाएं रखी हुई थी। नये गृह में लाजाहोम के लिये खीलें भी रखी गई थी। होम के बाद राज्यश्री और गृहवर्मा ने अग्नि के चारों ओर भाँवरें घूमीं और लाजांजलि दी। विवाह कर्म की समाप्ति पर वर-वधू ने सास-ससुर को प्रणाम कर वासगृह में प्रवेश किया।

मधुपर्क बनता है] और पूजन विधान[1] में इसका स्थान है] (११८१) भाँवरि[2] (११८१ ११६) [सं भ्रमण—अग्नि परिक्रमा], ग्रन्थि बन्धन ११८१ ११६०) पानिग्रहन[3] (११६) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है—'अपर मधु मधुपरक[4] करि कै करत प्राशन हाथ। फिरत भाँवरि करत पूजन अग्नि मनो उछाह ॥ ग्रन्थि परी ग्रन्थि कौन छोरै निकट गनत न सास। (११८१) अथवा 'तब देत भाँवरि कुंज मंडप प्रीति ग्रन्थि हियें परी।'[5] (१७१०) तथा 'ता परि पानिग्रहन विधि कीन्हीं। तब मंडप भ्रमि भाँवरि कीन्ही। (११६०)। इन भाँवरों को 'फेरा' भी कहा जाता है।[6] अग्नि-परिक्रमा को ही भाँवरें कहते हैं।

ग्रन्थिविधि के साथ जुआ ब्योहार (४८ ४) अथवा लोक रीति (११६२) पूरे करने की भी सूचना है—'जुआ जुआति खिलाइ कुल ब्योहार सकल करायो। (४८ ४) अथवा 'कुल की सब रीति भई, बरसानें ब्याह। (११६२)। विवाह-संस्कार के बाद स्त्रियों के मनोविनोद तथा हास-परिहास पूर्ण कुछ कृत्य हैं जिन्हें लोक-प्रहीत कह सकते हैं। उपर्युक्त पद्यांश में उल्लिखित जुआ का चित्रण नवम-स्कन्ध के राम-सीता-विवाह में भी है—'[?]गीफल जुव बल निरमल भरि, मानी भरि जुती को कनक को। खेलत दूर सकल जुवतिनि में हारे रघुपति, जिती जनक की। (४६१)।

दूसरे प्रमुख लोकाचार कंकन चार[7] (११६१) का दोनों विवाहों में सुन्दर वर्णन

1—पूजन के सोलह अंगों में मधुपर्क भी है— आसन स्वागत पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमस्नान वसनाभरणानि च ॥ गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्य वन्दनं तथा ॥

2—तुलसी जानकी-मंगल १६२ 'होम समय भाँवरी

3—मानस बाल १२८ 'भयो पानिगहन'

4—तुलसी पार्वती-मंगल ११५ 'अरघ देइ मनि आसन पर बैठायउ। पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अंचवायउ।

5—न स टी २८१ तेहि गाँठि पिय जोरत जतन न होइहि छुटि गाँठि दुलह दुलहिनि कै जोरी। दुमी अपत को जाइ न थोरी। बेद मनहि पहित तेहि ठाईं। कन्या तुला राशि लै जाई। २८५ १ २८८ दुहुं मार्ज हीर गाव उचारा। दोउ के हाथ दीन्ह जयमाला।

6— ८६-७ चार तुम्ह दुई भाँवरि लेहीं साती पर माँगि लो एहीं।

7—तुलसी जानकी मंगल १६८, 'सुमा लेवाबन कौसिक कीन्ह पयानिन्ह।

8—हर्ष लो म पृ ७२ ब्याह के कंगनों के लिये सूत की लच्छियों के रंगने का बाण ने उल्लेख किया है ('बवाहिककङ्कणोर्णा सूत्रग्रहोच रंजयन्तीभिः')। पृ ८३ विवाह के पहले वधू को स्त्रियों द्वारा कौतुक गृह में ले जाने का वर्णन भी मिलता है। यहाँ लोकाचार तथा हलोड़ स्त्रियों के परिहास की चर्चा भी है। बाण ने कोहबर का विवाह के पहले वर्णन किया है। पंजाब में यही प्रथा है तथा कुरुक्षेत्र में भी प्रचलित होगी। दिल्ली मेरठ में उल्टा होता है। यहाँ स्त्रियों के देवताओं को जगाना वाले पूजाचार, विवाह कार्य के बाद होते हैं।

—'कर कंपै, कंकन नहि छूटे। राम-सिया-कर रत्न मगन भए, कौतुक निरखि सखी सब
छूटे सब कर जोरि छुड़े रघुपति हू, कर कौसिल्या माता भावे। (४६६) अथवा कस
ब्याह बिधि होइ रही हो कंकन बार बिचार।[1] रचि रचि पचि-पचि गु थि बनायौ, मदन
सिसुन सम्हारि॥ बड़े डुड़ो तो छोरि लेहु जी सकल बोप के राइ। कै करि जोर करौ बिनती,
कै छुवो राधिका पाइ॥ छोड़ु बैनि कि मानहु अपनी जसुमति माइ दुहाइ"। सहज मिथिल
पल्लव तें हीलिहु, नीरही छोरि गंवारि। तुलहिनि छोरि तुमहु का कंगन, बोलि बना
सुपमान। कमल-कमल करि बरत्ना है हो पाणि प्रिया के लाल। सब कहि छुन सखि गे
लालन, रोम कंटीले गात। (११६१) तथा 'कंकन छोरथौ हारिका बस्थो मनव मिलान।
(४८ ६)। तेल चढ़ाते समय वर-वधू के हाथ में कंकन बांधने की प्रथा मान्य की है। दोनों ओर की
छोटी सी पोटली में हल्दी सुपारी और लोहे का छल्ला कलावे से बांध देते हैं। दोनों ओर की
स्त्रियाँ (ग्राम भाभी) इसमें कुछ बड़े बांध देती हैं जिसमें सरसों से गुंथ न सके। ऊपर
के पर्याय में इसका संकेत है। कलावा (लाल पीले व सफेद रंग) तिरंगा सूत होता है जिसे
गुभ कार्यों में काम में लाते हैं। आजकल इसी प्रकार और भी कुछ मेल 'कोहबर' (एक
कोठरी जिस में कुछ देवी देवता स्थापित किये जाते हैं) में सम्मिलित हैं जहाँ वर-वधू का एक
दीपक की दो बत्तियाँ मिलाकर एक करना मटकी से पुए मुट्ठी से भरकर निकालना आदि।
यह सभी कृत्य दो व्यक्तियों के एक-प्राण होने के प्रतीक रूप हैं। हर घर में किसी न किसी रूप
में यह लोकाचार प्रचलित है।

२४२—विवाह के समय दुलहन के घूंघट काढ़ने की प्रथा का इन प्रसंगों में उल्लेख
नहीं है। हिंडोला दीपक तथा दधि-दान आदि में जो उल्लेख आते हैं उनकी चर्चा पहले की
जा चुकी है। घूंघट की प्रथा आजकल धीरे-धीरे कम होती जा रही है। विवाह के समय
अधिकांश परिवारों में आज भी वधू का मुख घूंघट से आवृत रहता है और एक रस्म मुंह
दिखाई की भी है। इसमें सब दुलहन वधू का मुख देखकर कुछ भेंट देते हैं।

विवाहोपरान्त हल्दी में बन्धी एवं याचकों तथा ब्राह्मणों को दान देना उनका आशीर्वाद
लेना तथा 'न्यौछावरि'[1] भी उल्लेखनीय हैं—(४८ ४, ४६ ६) देखी पियो आदि
पानी है अतीव निहारती। अथवा 'मुक्ति-मुक्ति न्यौछावरी पाई सुर सुजान।
भारतीय हिन्दू परिवारों में प्रचलित विवाह सम्बन्धी कड़ियों में राहसु" (४०१

१—मानस बाल १६ 'तुहिन सोचि कल करन घोरे।
२—हर्ष सी प व ५ रामची के विवाह वर्णन में बाण ने कोठरी में
इमाली के रूप में कुछ देवी-देवता स्थापित करने का उल्लेख किया है।
('प्रतिष्ठापयमानाली' इत्यादि)। विवाह-पद्धतियों के अनुसार इमाली का
पूजन भी होता है (विवाह प्रदीपूजनं) बाण ने पुनर्लेपन एवं उबटन तैयार
करने का उल्लेख भी किया है।
१—तुलसी जानकीमंगल २ ६ करहिं निछावरि छिन-छिनु मंगल मुद भरी।
व मे टी २८१६ सकल लोकि नेवछावरि देहीं।
४—हर्ष सी प पू ७१ रामची को दहेज में दिये जाने वाले हाथी एवं
घोड़ों का उल्लेख बाण ने किया है (निरवमानयोग्य त्योगमानपुरंग

जानकी और पार्वती के विवाह का कवि ने मनोयोगपूर्ण चित्रण किया है। सूरसागर में ७ लिखित सम्बन्धों के अतिरिक्त तुलसी के इन ग्रंथों में प्रयुक्त अन्य कुछ नये नामों पर भी ध्यान जाता है जैसे 'बरखी' (—अथवा 'बरेखी') 'तिल' चढ़ाना 'लगन' देना, अगवानी 'जनवासा' 'सुआसिन' 'परिछन' 'नेगचार', कुसोदक लेना कन्यादान, 'शाखोच्चार' सिंदूर-वंदन, 'होमसाला' 'सिलपोहनी' कोहबर', 'लहकौरि' आदि। 'मुख दिखरौनी' तथा 'घूँघट' का उल्लेख भी है। कोहबर के 'जुआ' तथा 'कंकनाचार' के अतिरिक्त सींक के धनुष' से वर की शक्ति की परिहासयुक्त परीक्षा का उल्लेख भी है। शास्त्रोचित कार्यों से अधिक इन लोकाचारों का उस समय की प्रथाओं पर प्रकाश डालने के कारण अधिक महत्व है।

जायसी ने पद्मावती के गौपाल जन्म छठी, तथा नामकरण आदि का वर्णन किया है। छठी के दूसरे दिन पंडित का आना कन्या का भविष्य बताना तथा नाम रखना आदि वर्णित है।[1] विवाह कार्य से संबंधित शब्दावली में 'वर' 'बरोक' (बरच्छा) 'तिलक' 'बेमारा' 'मंगल-चार' 'लगन' 'बियाहू' 'नेवत' 'सुहाग' वाला आस वरन मंडप के निकट बिछाना, 'बरात' बराती, 'जनवासे' [सं जन्यवासक] 'गवना' [सं गमन—गवन—गौना] तथा 'चिकनार' आदि उल्लेखनीय हैं। गौने के बाद दुबारा पिता के घर न लौटने की प्रथा का अनुमान होता है। यात्रा की सुविधाएँ न होने के कारण सरलता से मायके जाना सम्भव न होना और फिर यदि दूरी अधिक हो तब तो दुष्कर ही होता।[2] वर वधू का एक दूसरे को जयमाला पहनाना अंचलि में जल लेकर कन्यादान करना ग्रन्थि-बन्धन आदि कृत्य भी वर्णित हैं।[3]

४ त्योहार

२४६ सूरसागर में तत्कालीन कुछ प्रमुख त्योहारों और उनके मनाने की पद्धति का परिचय भी मिलता है। गोवर्धन-पूजा शीर्षक महत्वपूर्ण प्रसंग के पहले ही दीपमालिका[4] (१४२७ २४१ १५११) का वर्णन है। कृष्ण इस दिन सुरपति इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा करने का आग्रह करते हैं। दीपमालिका वर्णन में मोती और प्रवाल से चौक पूरते कंचन की थालिका में दीपक बनाना पूजा की बलि-सामग्री तैयार करना, घरों के द्वारों पर 'चापें लगाना' (१४२७ १४१ १४१६) तथा 'अन्नकूट-विधि' के लिये पकवान और 'मेवा' एकत्रित करना (१४३४) आदि वर्णित है— आजु दीपति दिव्य दीपमालिका। मन मोतिन के चौक पुराए चित्र-विचित्र लाल प्रवालिका। बर शृंगार विरचि राधा जू चली सकल ब्रज बालिका। झलमल दीप समीप सौंज भरि लेकर कंचन थालिका। (१४२७) दिवाली के दूसरे दिन अन्नकूट का उत्सव मनाते हैं। यह ब्रजभूमि में विशेष लोकप्रिय पर्व है। कृष्ण-मन्दिरों अथवा विष्णु-मन्दिर में इसका विशेष आयोजन करते हैं। गोवर्धन-पूजा का अन्नकूट से ही संबंध है। विविध नैवेद्य तथा भोज्य पदार्थों का पहाड़ के समान ढेर सा लगाते हैं और गोबर के बने गोवर्धन की तथा गो की भी पूजा होती है। इसके साथ ही त्योहार के उल्लासमय वातावरण का दृश्य भी उपस्थित किया गया है—

'गावत हँसत गवाय हँसावत पटकि-पटकि कर तालिका। (१४२७)।

१—प स टी ५ ९२।
२—प सं ब्ये २७४ १०३।
३—प सं टी २८६।
४—तुलसी गीता ७ २ 'लसित दीपमालिका बिलोकहि हित करि अवध धनी।

उड़त गुलाल मगन भए सगरे । कुमकुम कीच मची धरनी पर ।।
चंग मृदंग बाँसुरी बाजै ।[1] पकरत एक एक भरि माजैं ।।
एक से आवत हरद कपोलनि । एक से पोंछति ललित पटोलनि ।
एक अलसलति, एक अवलोकति । चुंबन बात देति इक अंपति ।।
मुस्कान करै सबै मिलि देवैं । तिनको तरनी तृन सम लेवैं ।।[2] (३५१९)

अथवा 'मारो होरी देत दिखावत ।[3] ब्रज में फिरत गोप-जन गावत ।
दूध दही के माठे ढोरत । कान्ह न हो हो हो हो बोलें ।।
अबलनि मैं दाखें पिचकारी । बाँधत फेरें पाग सँवारी ।
छज्जनि तें छूटति पिचकारी । रँगि गईं बाखरि महल अटारी । (३५२)

या खेलत फागु कहुत हो होरी ।
इत नागरी-समाज बिराजत उत मोहन हलधर की जोरी ।
इहि बिधि उमँग चल्यौ रंग जहँ तहँ, मनु अनुराग सरोवर फोरी । (३५२१)

या खेलत हरि ग्वाल-सग फागु-रंग भारी ।
एक नाचत एक ठाढ़े एक भावत एक गावत, एक बाजत एक नाचत एक भावत बारे । (३५ ६)

या उत घेरी भरे भार बासनि रंग परी मार । (३५ ७)
अथवा 'आँखिनि आँजि मनावहि फगुआ'। (३५११)
तथा 'यह दांटा भी चाहि कौन की मारत मनसिज बान' । (३५१३)
तथा 'मानत कौन काप मैं प्रमुदा मन भायौ सो कीन्यौ' ।(३५१४)

आँखों में काजल लगाना युवतियों का छड़ी बेंत लेकर[4] निकलना तथा गाँठ जोड़ने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है । बेंतों की मार का प्राय सभी पदों में निर्देश है—[5]

'फूलनि के कंदुक नौलासी कनक लकुटिया हाथ । (३५२५) ।

२४ब इसी पर नये वस्त्राभूषण पहनने का संकेत है—'नये बसन आभूषन पहिरत अरुन स्वेत पाटंबर कोरे' (३५२१) तथा फूलों के शृंगार का भी विवरण है (३५१५) । होली पर गाये जाने वाले गीतों[6] धमारि (३५१३) झूमक (३५२१) तथा चाँचरि (३८७५) की व्याख्या संगीत के अन्तर्गत की गई है ।

फगुआ फगुआ (३५१२) में मेवा-मिष्टान तथा वस्त्र देने का जिक्र है : (कुम) फगुआ दियो रस रास्यौ पट भूषन माँहि (रहनी) कास्यौ,, । (३५१५) अथवा 'जसुमति घरि नृपभानु के फगुआ हमरो देहु । जसुमति ईषि सब सखिनि त्यों राखे जिन्ही मोल । मेवा मिस्री बहु

१—गीता ७ २२ 'बाजहिं मृदंग डफ ताल बेनु । छिरकहिं सुगंध भरे मलय रेनु ।
२—गीता ७ २२ करें कूद निपट गई लाज ।
३—गीता ७ २२ 'भर मारि परसपर मारि देत ।
४—ब्र जी प्र (१५ अध्या १) बरसाने की स्त्रियाँ फागुन सुदी नौमी अथवा दसमी को नंद गाँव के पुरुषों को डंडे मारती हैं । पुरुष ढाल ओट से अपने को लाठी के डंडों से बचाते हैं । इस प्रथा को 'हुरंगा' कहते हैं ।
५—तुलसी गीता ७ २ नित नूतन रँग सोवैं बिभाग । चाँचरि झूमक कहँ सरस राग । तथा [illegible]

स्थान पर रंग छिड़कने का रिवाज हो गया है। होली के विशिष्ट लोक-गीतों एवं संगीत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तर प्रदेश बिहार आदि में होली के आगमन से नव वर्ष का प्रारम्भ भी माना जाता है। होलिका सम्बन्धी अनेक लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। सबसे अधिक लोक प्रिय हिरण्यकशिपु की बहन होलिका तथा प्रह्लाद की कथा है। विद्या की देवी सरस्वती तथा विष्णु-लक्ष्मी-पूजन भी कहीं-कहीं होता है।

दीवाली तथा होली के अतिरिक्त वर्तमान समय के अन्य प्रचलित त्योहारों में दशहरा, रक्षाबन्धन, शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी, भैयादूज, नागपंचमी या गुड़िया, वसन्त पंचमी तथा हरितालिका तीज आदि के नाम लिए जा सकते हैं। मुगलकाल में भी प्रायः यह सभी त्योहार प्रचलित थे। उस समय भी गाँवों में एवं क्षत्रिय वर्ग में दशहरे का महत्त्व था। साधारण वर्ग का मनोरंजन सदैव से इन त्योहारों और उत्सवों से ही प्रधानतया होता रहा है। सावन के लोकगीत प्रायः पति-पत्नी और भाई-बहन से सम्बन्धित हैं। इनमें ही झूले के गीत भी हैं। होली के समान हिंडोले के अधिकांश गीतों का सम्बन्ध राधा-कृष्ण तथा ब्रज की अन्य गोपिकाओं से है।

जायसी ने भी होली जलाने खेलने[1] तथा पक्वानों[2] आदि के पहले वसन्त पंचमी[3] के उत्सव का भी उल्लेख किया है। सूर सम्बन्धित लोक-गीतों का पद्मावत में भी निर्देश हुआ है।

१—प० ग्र० दो, १८६-१८८।
२—प० सं० मी, ११२४।
३—पं० सं० दी १८३-१८९।

खण्ड ७
धर्म तथा दर्शन

१—दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दावली

१—भक्ति से संबंधित शब्द

२५ —सूरदास जी प्रारम्भ में दास्य भाव से पद निर्माण करते थे। वल्लभ-संप्रदाय में प्रवेश करने के बाद सांप्रदायिक सिद्धान्तों एवं विचारधारा का प्रभाव उनकी काव्य रचना पर पड़ना स्वाभाविक ही था। वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी होने के नाते अन्य अष्टछाप कवियों के समान ही सूरदास जी की दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दावली वल्लभीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही समझी जा सकती है। पुष्टिमार्गीय आचार्यों द्वारा प्रवर्तित तथा अष्टछाप कवियों द्वारा प्रचारित भक्ति-भावना की मूल धारा ब्रह्म-सूत्र, भागवत, गीता, महाभारत के नारायणी उपाख्यान, नारद पंचरात्र तथा शाण्डिल्यभक्ति-सूत्र आदि में है। इस दृष्टिकोण को सामने रख कर ही इस शब्दावली का विवेचन करने का यत्न किया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैतवाद अथवा अविकृत-परिणामवाद ही धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक दृष्टि में पुष्टिमार्ग अथवा अनन्य सम्प्रदाय समझा जा सकता है। इस संप्रदाय के अनुसार भगवत्प्रेम प्राप्ति के तीन साधन माने गए हैं—(१) मर्यादा मार्ग (कर्म तथा ज्ञान) (२) प्रवाह मार्ग (लौकिक कर्मों में रत रह कर) (३) पुष्टि (भगवत् अनुग्रह द्वारा)। भक्तिमार्ग सर्वोत्तम समझा गया है जा पर कृपा तुम्हारी होइ। तब तुम्हारो नाम लेइ। (४११६) तथा— अपनी भक्ति देहु भगवान। (११६)। सांसारिक विषयों में अनासक्ति आवश्यक है—'जौ लौं मन-कामना न छूटे ... ज्ञान-अगिनि झर फूटे ... हरि-हीरा। (५६)। प्रारम्भिक अवस्था काम क्रोध मद लोभ सब है जा ... छूटे। (११२) अथवा—'पार्थ ही ... (१२६) तथा—२ मन ... विषय को ... का आग्रह किया है। पर माल ... इस ... प्रमाणों से दूर रहने का ... संहिता तथा उपनिषद्), के अनेक पदों में कवि ने बार बार ... प्रमाण माने हैं—वेद (ब्राह्मण-ग्रंथ ... इनका प्रमाण दिया गया है। संप्रदाय में चार प्रधान प्रमाण माने हैं—वेद ... पदों में ... वचन प्रमाण। (४६५१)। गीता वेदांत-सूत्र तथा भागवत। सूरसागर के अनेक पदों में ... परन्तु, इस क्रम अथवा इनका उल्लेख इन ग्रन्थों के सिलसिले में किया गया है—१—पूर्ण पुरुषोत्तम (१३८१)। २—अक्षरब्रह्म—यह

२५१—ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं—१—पूर्ण परमानन्द (१३८१)। २—अक्षरब्रह्म—यह सच्चिदानन्द देव पुरुष अथवा 'पुरुष परमानन्द' ... योगियों द्वारा ध्यान में ही साक्षात्कार ... में प्रकट होता है। ३—... जैसे सगुण तथा अन्य, किन्तु श्रीकृष्ण— सच्चिदानन्द स्वरूप धर्मों का आधार है तथा उसके छः गुण हैं—ऐश्वर्य, ... अथवा चौबीस अवतारों में प्रकट होता है। परन्तु विरुद्ध धर्मों का आधार है ... हैं ... अन्तर्यामी ब्रह्म। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है तथा ... ब्रह्म व निर्गुण एवं अनन्त। ... यह पूर्ण पुरुषोत्तम है। उनकी महत्ता निर्गुण रूप में भी ... ज्ञान तथा वैराग्य। ... योगियों द्वारा निरगुण भी कहलाता है, किन्तु सूर के उपास्य देव श्रीकृष्ण हैं जो पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। ... प्रति कार्तिक ... ग्रंथ ... है साथ ही उन्होंने राम की स्तुति भी की है। ... 'प्रभु तुम्हरे इक राम ...' पद दोनों पूर्ण ब्रह्म कृष्ण के ही अन्य रूप हैं—

१—इस अध्याय की शब्दावली की पृष्ठभूमि सम्बन्धी सामग्री का मुख्य आधार डा॰ दीनदयालु गुप्त के अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के दूसरे भाग के पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय हैं।

(१११) । निर्गुण के प्रति उनके विचार स्पष्ट ही हैं— अविगत गति कछु कहत न आवै ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै । सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन पद गावै । (२) । सूर ने उनके विराट-रूप का भी वर्णन किया है— हरि जू की आरती बनी' (३७१) अथवा—'नैननि निरखि स्याम-स्वरूप । रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप' (३७) । उनके विचार से ज्ञान तथा कर्म मार्ग दुष्कर हैं जिसमें निर्गुण की उपासना बताई गई है । भ्रमर-गीत वाला अंश इसका ही प्रमाण है । गोपियों के मुख से मानो सूरदास जी ने अपने विचार ही रखे हैं—'मधुकर निरगुन ज्ञान छिहारी । तीच्छन तेज तपस्या अगनी कारज पाप जु भारी । (४५४४) अथवा यह गोकुल गोपाल-उपासी । जे गाहक निरगुन के ऊधौ ते सब बसत ईसपुर कासी । (४५४५), अथवा 'अगम पंथ परम कठिन गौन वहाँ नाहिं । (४५१०) तथा 'ब्रज बन सकल स्याम व्रत-धारी । बिना गुपाल और जिहिं भावे तिहिं कहिये व्यभिचारी । ((४५४१) ।

सूर ने इस प्रकार अपने इष्टदेव को ही परब्रह्म माना है । त्रिदेव तथा चौबीस लीलावतार सब उनके ही रूप हैं— हरि के रूप रेख नहिं राखा । अगम रूप कछु कह्यौ न जाइ । हरि जू के हित्ये यह भाई । देवें सबनि यह रूप दिखाई । (४११८) अथवा जगत पिता तुम ही हो ईस (४११९) तथा 'परमहंस तुम सबके ईस । अगम तुम्हारे गुन अबोध । तुम अच्युत अविगत अविनासी । परमानंद सकल सुख-रासी । तुम तम धरि हरयौ भुव-भार । नमो-नमो तुम्हें बारम्बार ।' (४११५) अथवा 'अबगत निरंजन निराकार अच्युत अविनासी । सेवत जाहि महेस सेस सुर माया दासी ।। जन स्यापन हेत पुनि धरयौ नर औतार । मैं व्यापक सब जगत भेद चारी मोहिं भाषी । मैं करता मैं भोगता मो बिनु और न कोइ । जो मोकौं ऐसे भजै ताहि भरम नहिं होइ. मैं उपसम सब को एहौ यह मम सहज सुभाइ । ऐसो जानै मोहिं जो, मम माया तरि जाइ ।।'[१] (४२२०) 'तुम जानत मोहि नन्द-दुहैया अब कहाँ तैं आये । मैं पूरन अविगत अविनासी माया सबनि भुलाए । (२११८) सृष्टि ब्रह्म का ही अंश है । जड़ सृष्टि में उसका सत् अंश है तथा जीव में सत्, चित् । यह परमात्मा के वशीभूत है—करी गोपाल सो सब होइ (२६२) अथवा 'माधौ के बस तीन लोक हैं, (२६८) । जीव में ब्रह्म के [illegible] गुणों तथा आनन्दांश का तिरोभाव है । इसकी प्राप्ति से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है तथा संसार के आवागमन से मुक्ति । जीव सर्वदा नित्य तथा सनातन है । निम्नलिखित पंक्तियाँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं—'आपुहिं पुरुष आपुहीं नारी पाठम बाल बिना मन भूला । परमानन्द तबहिं सुख पावहु । (४७१२) अथवा 'केवल जीव सदा चिर बासी' या 'एक प्राण द्वै देह हैं, द्विविधा नहिं यामें । गर्व कियो नरदेह तैं मैं रह्यौ न तामें । (१७११) तथा 'घट-घट व्यापक दास अविगति ज्यों यथा बसै उर माहीं । (४२२४) ।

२५२—जगत भी ब्रह्म का अंश है तथा वही इसका निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है । जगत सत्य है क्योंकि ईश-निर्मित है तथा इसका लय भी ईश्वराधीन है । सूरसागर में भी जीव तथा जगत सम्बन्धी यही सिद्धान्त वर्णित है—'तीन लोक हरि करि

१—गीता अ ९, श्लोक ९, उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।

२१—'पुरुषः स पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया परा ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

विस्तार। अपनी जोति कियो उजियार। जब कोउ यह संवारि। दीपक बारि करै उजियार। घट-घट में सोई दरसाई। जाति इतना प्रकाश भयो। पामर अंधम भई कवि भए। जोति तुम्हारी प्रकट किए। (४९१८) अथवा जो जग कौ मिथ्या कहि जाइ। जहाँ तहँ तुमहीं तुम माह। (४९१९) तथा 'ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता माहिं समाइ। त्यौंही सब जग प्रकटत तुमतें पुनि तुम माहि बिलाइ। (४९२)।

बल्लभ संप्रदाय के अनुसार संसार को असत्य बताया गया है। यह जीव निर्मित तथा उसकी ममत्वात्मक कल्पना तथा अहंता का ही नाम है। जगत सत्य है तथा ईश-निर्मित किन्तु संसार असत्य है तथा जीव को अविद्या माया कर इसमें भक्ति पाने का यत्न करना चाहिए। इहि संसार अपार बिरत हूँ (९२) हरि बिन अपनो को संसार। (८४)। माया भी दो प्रकार की बताई गई है—एक विद्या (ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा जो जगत का प्रसार करती है) तथा दूसरी अविद्या (संसार का निर्माण करने वाली)। सूरसागर में अविद्या माया का वर्णन अनेक पदों (४२-५५) में है—'महामोहिनी मोहि आतमा' तथा अपमारगहि लगावै तथा कवि ने इससे छूटने को बार बार कहा है। भक्ति तथा ईश-अनुग्रह ही इससे निस्तार के उपाय हैं—माया अनादि अपार महाप्रभु, हरि न सके छिति कोइ। नाम जहाज चढ़े जो कोउ गुरु पद पहुँचे धाइ। (४९२) में पूरन अविगत अविनाशी माया सबनि भुलाइ (२११८)। अथवा—इहि माया सब लोकनि भुलयौ। जिहिं हरि कृपा करी सो छूट्यौ' (२८२) अथवा—हरि तेरौ भजन कियो न जाइ। कहा करौं तेरी प्रबल माया देति मन भरमाइ। (४५) तथा (माधव) तुम्हरी माया महाप्रबल जिहिं सब जग बस कीन्हौ (हा)। तथा (४४) 'तुम्हरी माया जग जनमाया। (४९१८)।

पुरुषोत्तम का अंश-रूप माया के भुलावे में पड़ कर अपने स्वरूप का विस्मरण कर देता है तथा अनेक कष्ट पाता है। जीव की अहंता में ही जग स्थित है तथा संसार तो स्वप्न समान है। सूर ने इस भावना को अनेक पदों में समझाया है—'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो' कहूँ कौन पकर्यौ' (२९१) कहाँ तो बलि बलि उपेचर, जहाँ न प्रेम वियोग। (३१८) 'जो भी सत-गुरुत्व नहिं सूझत। (३१८)

सूरसागर के कमरी-पदों में शक्ति-रूप माया का रूपक बाँधा गया है—'यह कमरी कमरी के बल असुर संहारे। (२११४)। कमरी करि कामरि जो जिहिं लोक पटंबर, रूप में भी वर्णन है। प्रथम भ्रम नष्ट होने पर प्रभु की शक्ति रमा-रूपिणी माया का इस रूप में भी वर्णन है—विपदा जात हरयौ जात। (३६७) कृपामय हो जाता है या एक प्रकार की मुक्ति ही है—'अंतर तें हरि प्रगट भए। (१०४८)।

२९१—चारि पदारथ (३४१, ३५६, ३४१८ ४७७८) का उल्लेख अनेक बार है—'चारि पदारथ के प्रभु दाता (३५९) अथवा चारि पदारथ पावै कोई (३४१८)। इनके नाम भी बताए गये हैं—अर्थ धर्म कामना मुक्ति, फल चारि पदारथ पावै (४७७८) संसार-दुःख से छुटकारा तथा आनंदावस्था की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। मर्यादा मार्ग से सालोक्य सायुज्य, सारूप्य तथा सामान्य मुक्तियों की प्राप्ति हो सकती है। सूरसागर में इनका उल्लेख है—'सालोक्यता, समीपता सारूपता, सुख चारि। इक रही सायुज्यता सो किय नहिं चित कान। अथवा इन समोल अरु सायुज्या सुधि संदेह बताई। (४९१८)। सामान्य भक्ति का अर्थ है भगवान के साथ साथ में रहना। कहूँ तो, बलि परम उदार जहाँ न प्रेम वियोग (३१८) अथवा 'मुक्ति ही पहुँचा।'

मन स्याम कमल-पद, जहाँ न निसि को त्रास।' (३४१) तथा—'सुवा चलि ता बन को रस पीजै। (३४)। सामीप्य का अर्थ है उनके निकट पहुँचना सारूप्य उनका रूप पा लेने का बोधक है तथा सायुज्य है एकीभूत हो जाना। वल्लभ सम्प्रदाय में पाँचवीं तथा श्रेष्ठतम मुक्ति सायुज्य-मनुरूपा मानी गई है। प्रथम चार प्रकार ब्रह्म तक पहुँचाती हैं तथा पाँचवीं पूर्ण पुरुषोत्तम तक। इस उच्चतम अवस्था में आत्मा पूर्णपुरुषोत्तम की लीला में प्रवेश पाकर पूर्णानन्द को प्राप्त होती है। इस अवस्था में भेद इसलिए किया गया है क्योंकि अभेद से आनन्दानुभव नहीं हो सकता। सूर-वर्णित रास का सुख इसी प्रकार का है।

पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध तथा संचित कर्मों का भगवत्कृपा से शमन हो जाता है—किन्तु अन्य मार्गों से क्रम-मुक्ति मिलती है—'माधो जू, जो जन तें बिगरै। तउ कृपाल करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै। (११७) अथवा—'जिन जिनहीं केसव उर गायौ। तिन तुम प गोबिंद-गुसाईं सबनि अभय-पद पायौ। (११६)

पुरुषोत्तम का लीलाधाम ही 'गोलोक' कहा गया है। इसका स्थान बैकुंठ से उच्चतर है। पुरुषोत्तम सर्वव्यापक हैं अतएव गोलोक भी। यह स्थान-विशेष नहीं है वरन् स्थिति-विशेष है। इस नित्य लीला-धाम का ही अवतरित रूप वृन्दावन तथा गोकुल है। इसीलिए व्रजभूमि व्रज की भाषा गोप-गोपिका, पशु-पक्षी वृक्ष यमुना आदि सभी का विशेष माहात्म्य माना गया है। सूरदास जी ने भी इसको बैकुंठ से ऊपर स्थान दिया है—'तीन लोक वृन्दावन करि सकल मन्वन्तर धर जोऐं। बंसीबट, वृन्दावन यमुना, तजि बैकुंठ न जावै।' (१४६) अथवा—'वृन्दावन रज ह्वै रहौं ब्रह्म लोक न सुहाइ वृन्दावन कुंज की महल कानें बरन्यो जाइ॥ (१११) तथा—'वृन्दावन कुंज सदा सुखिये' (११५४)।

२५४— रास (११५७ ११५५) [रस—आनन्द—रस तथा आनन्द का समूह ही रास है]। यह तीन प्रकार के माने गए हैं—विषयानन्द काव्यानन्द तथा ब्रह्मानंद। वल्लभ सम्प्रदाय में एक चौथा श्रेष्ठतम आनन्द भजनानन्द अथवा प्रेमानन्द भी माना गया है। सूरसागर में इसका उल्लेख है—'भजनानंद हमैं अति प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन बिचारौ। (४०१२)। 'रास' शब्द का सम्बन्ध 'रहस' [एकान्त आनंद] से भी माना गया है। रास एक नृत्य विशेष है। सम्प्रदाय में रास आध्यात्मिक अर्थ में भी लिया गया है अर्थात् अप्राकृत देहधारी रस-रूप श्रीकृष्ण का उनकी आनन्द-प्रसारिणी-सामर्थ्य-शक्तियों अर्थात् गोपियों के साथ नित्य लीला का रससमूह। रास के चार भेद किये गए हैं १—नित्य रास २—अवतरित रास, ३—अनुकरणात्मक रास (भक्तों का भावात्मक या मानसिक) ४—देहात्मक या दैहिक रास (भक्तों द्वारा किया जाने वाला नृत्य विशेष)। सूरसागर में रास का विस्तृत वर्णन है। इसमें नित्य रास तथा अवतरित रास दोनों का एकीकरण है—'सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत। धनि-धनि सूरदास के स्वामी अद्भुत राच्यौ रास।' (११६२) अथवा—'मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि-ब्रज भामिनि। (११११)। अथवा— मुरली धुनि बैकुंठ गई। नारायन-कमला सुनि दम्पति अति रुचि हृदय भई। सूर निरखि नारायन इकटक भूले नैन निमेष। (११८२) तथा— सबन सुन्यौ न कहूँ अवलोक्यौ यह सुख अब लौं कहाँ दैख्यौ। (१०११)। दास्य वात्सल्य सख्य तथा कान्ता या माधुर्यभाव की भक्तियों में से रास-रस की अनुभूति

स्वरूप प्रतिष्ठित भाव से ही प्राप्त की जा सकती है। सत्संग में माधुर्यभाव में भक्ति करने वाली साधिकाएं तथा राधा ही इसकी अधिकारिणी समझी गई हैं।

माधवी परब्रह्म की आनन्द-प्रदायिनी सामर्थ्य-शक्ति-रूपा है तथा राधा इसकी पराकाष्ठा वाला रूप है। वह भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति है। माधवी सिद्ध अथवा सिद्धि में सब रूपतामात्र से भक्ति करने वाले भक्तों का रूप भी समझी जा सकती है। भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। विट्ठलनाथ ने राधा का उल्लेख किया था स्तुति में निज। वल्लभाचार्य ने पहले वात्सल्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया था। वास्तव में भक्ति का प्रारम्भ इसी भाव से हुआ है। वल्लभाचार्य के उत्तर-जीवनकाल में तथा विट्ठलनाथ जी के समय में युगल-स्वरूप की उपासना होने लगी। राधा का भी निश्चित स्थान हो गया। निम्बार्क सम्प्रदाय, गौड़ीय वल्लभ सम्प्रदाय (चैतन्य महाप्रभु) तथा राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय (हित हरिवंश) में युगल रूप की उपासना का मौलिक रूप में प्रभाव माना जा सकता है।

गौड़ीय वल्लभ सम्प्रदाय में राधा की उपासना परकीया भाव से है किन्तु पुष्टिमार्ग में स्वकीया भाव से। सूरदास जी ने भी स्वकीया नायिका रूप में ही राधा का चित्रण किया है। उन्होंने कृष्ण तथा राधा का माधव विवाह भी करा दिया है। माधवी दोनों प्रकार वर्णित है—स्वकीया तथा परकीया। परकीया नायिका का आत्म-समर्पण की चिन्ता न करना पति-पुत्र का मुख मुरली ध्वनि सुनकर छोड़ना—'सूर निठुर विधि की मर्यादा लिखि मन की सब चाहीं (१६१७) अथवा 'मानति नहीं और रिसि पावति निकसी नाहीं नारि बैठे सब प्रभु भाषा की सो का धरे कहारि। (१६२१) आत्म-समर्पण की दृष्टि से बहुत उच्च हुए भी सामाजिक दृष्टि से अनुपयुक्त प्रेम का चित्र है। कहीं-कहीं लौकिक दृष्टि से अस्वाभाविकता भी मानी जा सकती है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से उसमें पर गम्भीरता नहीं है।

राधा का स्वामिनी रूप में चित्रण है—

रस-मंडल मध्य स्याम राधा। ... कौंधति सुमन, एक है रूप द्वै नाहिं बाधा। (१६७)।

घनी घन बीच दामिनी कौंधति ...

वह दम्पति की जोरी है—

'सुन्दरता-धाम रमा निरमल बासनी। (१६६४)

तथा— प्राण एक है देह कीन्ह, भक्ति-प्रीति प्रकाश।

सूर-स्वामी स्वामिनी मिलि करत रंग विलास। (१७०)

राधा परम निर्मल नारि'

राधा-सुख प्राप्त करके सब्ली भक्तियां अपराध छिपी नहीं है—

'हम सुन्दरि नहि नारि, दिया मति का सब नाहीं।

मैं यह दिन सुनि सब मनमुग्धा दिन सब नाहीं (१७८१)।

२५५—मुक्ति-नाम के तीनों साधनों—ज्ञान, भाव या कर्म तथा भक्ति (१६४) में सूरदास जी ने भी भक्ति का ही पूजा है। भ्रमर-गीत प्रसंग में उद्धव-गोपी संवाद द्वारा यह बार-बार स्पष्ट किया गया है—'यह जो कछु ज्ञान की बात जानै एक जहँ जाय।' (४ ११) या 'कहाँ प्रेम न जाय। (४ ३५)। ज्ञान तथा योग मार्गों से निर्गुण ब्रह्म उपलब्ध है। कृष्ण उद्धव को ब्रजवनिता के निकट यही समझाने के लिए भेजते हैं—'जो निर्गुन, ... कही ब्रजबाला ... सुनायहु जाय। 'प्रेम मिटाइ ज्ञान परमारथ गुण ही गुण ...'

भज स्याम कमल-पद जहाँ न निसि को त्रास।' (१४१) तथा— सुबा बसि ता बन की रस पीजे। (१४)। सामीप्य का अर्थ है इनके निकट पहुँचना सारूप्य उनका रूप पा लेने का बोधक है तथा सायुज्य है एकीभूत हो जाना। वल्लभ सम्प्रदाय में पाँचवीं तथा श्रेष्ठतम मुक्ति सायुज्य-अनुरूपा मानी गई है। प्रथम चार प्रसर ब्रह्म तक पहुँचाती हैं तथा पाँचवीं पूर्ण पुरुषोत्तम तक। इस उच्चतम अवस्था में आत्मा पुरुषोत्तम की लीला में प्रवेश पाकर पूर्णानन्द को प्राप्त होती है। इस अवस्था में भेद इसलिए किया गया है क्योंकि अभेद से भजनानन्दानुभव नहीं हो सकता। सूर-वर्णित रास का सुख इसी प्रकार का है।

पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध तथा संचित कर्मों का भगवत्कृपा से शमन हो जाता है— किन्तु अन्य मार्गों से क्रम-मुक्ति मिलती है—'माधौ जू, जौ जन तैं बिगरै। तउ कृपालु करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै। (११७) अथवा—'जिन जिनहीं केसव उर गायौ। जिन तुम पै गोबिंद-गुसाईं सबनि अभय-पद पायौ। (११९)

पुरुषोत्तम का लीलाधाम ही 'गोलोक' कहा गया है। इसका स्थान वैकुंठ से उच्चतर है। पुरुषोत्तम सर्वव्यापक हैं अतएव गोलोक भी। यह स्थान-विशेष नहीं है वरन् स्थिति-विशेष है। इस लिए लीला-धाम का ही अवतरित रूप वृन्दावन तथा गोकुल है। इसीलिए व्रजभूमि व्रज की माया गोप-गोपिका पशु-पक्षी द्रुम यमुना आदि सभी का विशेष माहात्म्य माना गया है। सूरदास जी ने भी इसको वैकुंठ से ऊपर स्थान दिया है— तीन लोक तृन-सम करि लेखत नन्दनन्दन उर जोरें। बंसीबट वृन्दावन जमुना, तजि बैकुंठ न जावै।' (१४९) अथवा—'वृन्दावन रज ह्वै रहौं ब्रह्म लोक न सुहाइ वृन्दावन द्रुम की महत कापै बरनी जाइ। (१११) तथा—'वृन्दावन द्रुम लता हूजिये' (१६६४)।

२५४— रास (१६५७ १६५५) [रस=आनन्द—रस तथा आनन्द का समूह ही रास है] । यह तीन प्रकार के माने गए हैं—विषयानन्द, काव्यानन्द तथा ब्रह्मानंद। वल्लभ सम्प्रदाय में एक चौथा श्रेष्ठतम आनन्द भजनानन्द अथवा प्रेमानन्द भी माना गया है। सूरसागर में इसका उल्लेख है—'भजनानंद हमैं अति प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन बिचारौ। (४०१२)। रास' शब्द का सम्बन्ध रहस' [एकान्त आनंद] से भी माना गया है। रास एक नृत्य विशेष है। सम्प्रदाय में रास आध्यात्मिक अर्थ में भी लिया गया है अर्थात् अप्राकृत देहधारी रस-रूप श्रीकृष्ण का उनकी आनन्द-प्रसारिणी-सामर्थ्य-शक्तियों अर्थात् गोपियों के साथ नित्य लीला का रससमूह। रास के चार भेद किये गये हैं १—नित्य रास २—अवतरित रास, ३—अनुकरणात्मक रास (भक्तों का भावात्मक या मानसिक) ४—देहात्मक या दैहिक रास (भक्तों द्वारा किया जाने वाला नृत्य विशेष)। सूरसागर में रास का विस्तृत वर्णन है। इसमें नित्य रास तथा अवतरित रास दोनों का एकीकरण है— सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत। धनि-धनि सूरदास के स्वामी अद्भुत राच्यौ रास। (१६६२) अथवा— 'मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि-ब्रज भामिनि। (१६६६)। अथवा— मुरली धुनि बैकुंठ गई। नारायण-कमला सुनि दम्पति अति रुचि हृदय भई। सूर निरखि नारायन इकटक भूले नैन निमेष। (१६८२) तथा— रास रस मुरली ही तें जान्यौ यह सुख सब मैं कहौ लै भाख्यौ। (१७९१)। दास्य वात्सल्य सख्य तथा कान्ता या माधुर्यभाव की भक्तियों में से रास-रस की अनुभूति

प्रकार भक्ति मार्ग में ही प्राप्त की जा सकती है। सूरसागर में माधुर्यभाव से भक्ति करने वाली भक्तिमती तथा राधा ही इसकी अधिकारिणी बनायी गई है।

दीनदयालु परमात्मा की आनन्द-प्रदायिनी सामर्थ्य-शक्ति-रूपा है तथा राधा इसका परकीया भाव है। वह भगवान के माधुर्य को पूर्ण सिद्ध करती है। नायिका सिद्ध अवस्था सिद्धि में कृष्णभाव से भक्ति करते हुए नहीं का फल भी जानी जा सकती है। वल्लभ ने राधा का सम्बन्ध यहीं है। विट्ठलनाथ ने राधा का उल्लेख किया न था, किन्तु स्तुति में किया। वल्लभाचार्य ने पहले बालकृष्ण-रूप की भक्ति का प्रचार किया था। वल्लभ में भक्ति का प्रारम्भ इसी भाव से होता है। वल्लभाचार्य के उत्तर-काल में तथा विट्ठलनाथ का समय में युगल-स्वरूप की उपासना प्रारम्भ हुई। राधा का भी निश्चित स्थान हो गया। निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय (बल्लभ सम्प्रदाय) तथा राधा-वल्लभ सम्प्रदाय (हित हरिवंश) में युगल रूप की उपासना का मौन रूप में प्रभाव माना जा सकता है।

दोनों ही सम्प्रदाय राधा की उपासना परकीया भाव से है, किन्तु पुष्टिमार्ग में स्वकीया भाव है। सूरदास जी ने भी स्वकीया भाव में ही राधा का चित्रण किया है। कहाँ-कहाँ उत्तम प्रेम तथा राधा का माधव विवाह भी करा दिया है। माधवी दोनों प्रकार की वर्णित है—स्वकीया तथा परकीया। परकीया नायिकों का लोक-मर्यादा की चिन्ता न करना पति-पुत्र का मोह त्यागना, सुन्दर श्याम—'सूर शिरोमणि विधि की मर्यादा, जिनकी नारी नारि को सब बाहीं' (१६९३) अथवा 'मानति नहीं लोक कुल मर्यादा' (१६२१) लोक-मर्यादा की दृष्टि से अनुचित 'मैं बस प्रभु साथ की गा का क्यों बहुरि।' (१६९१) दिन का दिया है। कहीं-कहीं धार्मिक दृष्टि से हुए भी मान्यताओं दृष्टि से सम्मुख दिन का किन्तु धर्मानुसार दृष्टि से देखा पर कल्पना नहीं है। मर्यादा भी मानी जा सकता है किन्तु लौकिक रूप में विरक्त है—

राधा का स्वकीया रूप में विरुद्ध है—

राधा का स्वकीया रूप स्थान यथा।

पत्र-नवल दम स्नान कालिन्दी सुन्दर, फूल है रूप है भई बाला। (१६७)।

'सखी सब साथ राधिका है—

यह दुल्हन-दुलह की जोरी है—

'दुल्हन-दुल्ह राधा गिरधर बनी। (१६६४)

तथा—'प्राण एक द्वै देह करी, भक्ति-भीति प्रकास।

मुख-स्वामी स्वामिनी मिलि करत रंग-विलास। (१७)

राधा परम निष्ठ नारि' किन्तु नहीं है—

पति-सुत प्रगट करत बाबा दशरथि शाखाएं किन्तु नहीं है—

'सब सुन्दरि नहिं नारि, दिया कहि की सब माहीं।

मैं सब दिन पुनि सब कल्पना दिन सब माहीं' (१७८१)।

२४४—मुक्ति-मार्ग के सभी साधनों—ज्ञान, ध्यान या कर्म तथा भक्ति (१६४) में सूरदास जी ने भी भक्ति का ही गुण है। प्रेम-भक्ति प्रसंग में स्वरूप-सम्बन्ध संकेत द्वारा बार-बार स्पष्ट किया गया है—'यह जो कहत ज्ञान को बातें नाहीं एक बाटि बात।' (४ १२) या 'कहाँ लग जा कहत। (४ १२)। ज्ञान तथा ध्यान का मतों में निर्गुण ब्रह्म परमात्म है। इस स्वरूप का स्वरूपियों के निकट पहुँ समझने के लिए नेत्र है—'ना दिन विपद नहीं हर-भजन, काहे पूजत राम। 'प्रेम निवार ज्ञान परमानु तुम हो पूरन काम।

मम स्वामि कमल-नयन जहाँ न निशि की त्रास।' (३४१) तथा—'सुवा चलि ता बन को रस पीजे। (३४)। सामीप्य का अर्थ है उनके निकट पहुँचना सारूप्य उनका रूप पा लेने का बोधक है तथा सायुज्य है एकीभूत हो जाना। वल्लभ सम्प्रदाय में पाँचवीं तथा श्रेष्ठतम मुक्ति सायुज्य-अनुरूपा मानी गई है। प्रथम चार प्रकार बहुत तक पहुँचाती हैं तथा पाँचवीं पूर्ण पुरुषोत्तम तक। इस उच्चतम अवस्था में आत्मा पूर्णपुरुषोत्तम की लीला में प्रवेश पाकर पूर्णानन्द को प्राप्त होती है। इस अवस्था में भेद इसलिए किया गया है क्योंकि अभेद से आनन्दानुभव नहीं हो सकता। सूर-वर्णित रास का सुख इसी प्रकार का है।

पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध तथा संचित कर्मों का भगवत्कृपा से शमन हो जाता है—किन्तु अन्य मार्गों से क्रम-मुक्ति मिलती है—'माधौ जू जौ जन तैं बिगरै। तउ कृपाल करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै। (११७) अथवा—'जिन जिनहीं केसव उर गायौ। तिन तुम प अविरल-सुसाईं सबनि अभय-पद पायौ। (११९)

पुरुषोत्तम का लीलाधाम ही 'गोलोक' कहा गया है। इसका स्थान बैकुंठ से उच्चतर है। पुरुषोत्तम सर्वव्यापक हैं अतएव गोलोक भी। यह स्थान-विशेष नहीं है वरन् स्थिति विशेष है। इस नित्य लीला-धाम का ही अवतरित रूप वृन्दावन तथा गोकुल है। इसीलिए व्रजभूमि व्रज की जनता गोप-गोपिका पशु-पक्षी वृक्ष यमुना आदि सभी का विशेष माहात्म्य माना गया है। सूरदास जी ने भी इसको बैकुंठ से ऊपर स्थान दिया है— तीन लोक तृन-सम करि लेखत नन्दनन्दन उर ओरै। बंसीबट वृन्दावन जमुना, तजि बैकुंठ न जावै। (३४९) अथवा—'वृन्दावन रज ह्वै रहौं ब्रह्म लोक न सुहाइ वृन्दावन द्रुम की महत कापै बरन्यौ जाइ। (१११) तथा—'वृन्दावन द्रुम लता हुजिये' (१११४)।

२१४— रास (११६७ १११५) [रस=आनन्द—रस तथा आनन्द का समूह ही रास है]। यह तीन प्रकार के माने गए हैं—विषयानन्द काव्यानन्द तथा ब्रह्मानंद। वल्लभ सम्प्रदाय में एक चौथा श्रेष्ठतम आनन्द भजनानन्द अथवा प्रेमानन्द भी माना गया है। सूरसागर में इसका उल्लेख है—'भजनानंद हमें अति प्यारो। ब्रह्मानंद सुख कौन बिचारो। (४०१२)। 'रास' शब्द का सम्बन्ध 'रहस' [एकान्त आनंद] से भी माना गया है। रास एक नृत्य विशेष है। सम्प्रदाय में रास आध्यात्मिक अर्थ में भी लिया गया है अर्थात् अप्राकृत देहधारी रस-रूप श्रीकृष्ण का उनकी आनन्द-प्रसारिणी-सामर्थ्य-शक्तियों अर्थात् गोपियों के साथ नित्य लीला का रससमूह। रास के चार भेद किये गये हैं १—नित्य रास २—अवतरित रास, ३—अनुकरणात्मक रास (भक्तों का भावात्मक या मानसिक) ४—देहात्मक या दैहिक रास (भक्तों द्वारा किया जाने वाला नृत्य विशेष)। सूरसागर में रास का विस्तृत वर्णन है। इसमें नित्य रास तथा अवतरित रास दोनों का एकीकरण है—'सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत। ललि-ललि सुरदारा के स्वामी अद्भुत राच्यो रास। (११६२) अथवा—'मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि-ब्रज भामिनि। (११६६)। अथवा— मुरली धुनि बैकुंठ गई। नारायण-कमला सुनि दम्पति अति रुचि हृदय भई। सूर निरखि नारायण इकटक भूले नैन निमेष। (११८२) तथा— श्रवन सुन्यो न कहुँ अवतारयो यह सुख अब लौं कहीं बंध्यो। (१७११)। दास्य वात्सल्य सख्य तथा कान्ता या माधुर्यभाव की भक्तियों में से रास-रस की अनुभूति

(४ ४१) अथवा 'पूरन ब्रह्म प्रकट अविनाशी ताके तुम ही बाता ब्रह्म बिना नहिं प्रासत। (४ ४४)। किन्तु मसा सगुण रूप को आराधना करने वाली गोपियों को यह मार्ग क्योंकर रुचिकर हो सकता था— जोग जुगुति हम कबू न जानें न कयु ब्रह्म बानी। नव किसोर मोहन मृदु मूरति तासों मन उरमानो। (४२२६) अथवा हमको हरि की कथा सुनाउ। ये अपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही लै जाउ। (४२२६) अथवा 'निरगुन कौन देस को बास (४२४९) अथवा—'जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै—गुन कर मोही सूर सावरे को निरगुन निरबैहै। (४२८२) तथा तुम्हारे भक्ति हमारे प्रान' (१६९) तथा भक्ति-पंथ की जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग की करै। (३६४)।

भक्ति नवधा (४७१२) बताई गई है—'जोगी होइ सो जोग बखाने नवधा-भक्ति दास रति मान।' नवधा भक्ति में श्रवण कीर्तन स्मरण (नाम व लीला से सम्बन्धित) पादसेवा, अर्चन वंदन (रूप से सम्बन्धित) तथा सख्य दास्य आत्म-निवेदन या आत्म-समर्पण (मानसिक स्थिति) आदि भी अङ्ग हैं। सूरसागर में यह सभी अंग मिल जाते हैं। पुष्टिमार्ग में दसवीं भक्ति प्रेमरूपा' मानी है। प्रथम नौ इस अन्तिम स्थिति तक हो पहुँचाती हैं। सूरदास जी की आस्था इसी प्रेम-भक्ति पर है—'ऊधो प्रेम-भक्ति रहित निरस जोग कहा गायो। (४२१५) अथवा 'कहिं अपराध जात लिखि पठवत प्रेम भगति तै करत उदासी। (४५४६) तथा 'भ्रमरगीत जो सुनै सुनावै। प्रेम-भक्ति गोपिनि की पावै। (४७१२)। इन पदांशों से स्पष्ट है कि पूरा भ्रमर-गीत-प्रसंग प्र म-भक्ति की महत्ता बताता है। यह अंश इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि माधुर्य-भाव या प्रेम भक्ति में विरह की स्थिति का विशेष करता है। उत्कट प्र म में मिलन की व्याकुलता ही चरमोत्कर्ष है—'बिरह दुख जहं नाहिं नेकहू, तह न उपजे प्रम। (४ ११) अथवा 'मिलि बिछुरन की बेदन न्यारी। (१८२४)।

सूरदास जी ने सकामी तथा निष्कामी (३६४) भक्ति का उल्लेख भी किया है। सकामी भक्ति में तामसी (पर अपकार की कामना) राजसी (धन कुटुम्ब की कामना तथा सात्त्विकी (मुक्ति-कामना) तीन प्रकार की भक्ति होती है। निष्कामी भक्ति में उत्तम है जिसमें भक्त कुछ भी कामना नहीं करता है। इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर कवि ने कुछ पदों में आराध्य के मुखामृत अथवा अधरामृत-पान की इच्छा प्रकट की है अधर सुधा पियाइ बिछुरे (४९५१)। सूरदास जी ने भक्त भी तीन प्रकार के बताए हैं—कर्मयोग, ज्ञान जोग तथा भक्ति-जोग (३६४)।

२५६—पुष्टिमार्गीय प्रेम लक्षणा भक्ति में चार अवस्थाएं बताई जाती हैं १—सनेह (स्नेह) (१२९, ४१०७) लोक से विकर्षण तथा भगवान में ध्यान— ग्रह जन की नहिं पीर हमारे—पाप पुण्य लोक परित्यागे अब जो होइ सो होइ' (१६४६) अथवा—'बिधि-मरजाद लोक की लज्जा' तृनहु तै घटि मान। (१६९) 'मैं मन मोल चुकाउहिं दीन्हौ।' (४१४६) तथा 'मन दै माधव सौं करि प्रीति' (१८५)। २—आसक्ति—इसमें ग्यारह भाव हैं—(१) गुण-माहात्म्य तथा उसमें आसक्ति। विनय पदों में यह भाव मिल जाता है—'प्रभु की देखो एक सुभाइ' (८)।

(२) रूपासक्ति— '(अलि हौं) कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं' (४१५२) 'सखी निरखि हरि प्रति अङ्ग' (१२५८)

(३) पूजासक्ति—'चरन कमल बंदौं हरि राइ। आराध्य कृष्ण के स्तुति प्रसंगों में यह भाव है।

(४) स्मरणासक्ति—'ब्रज देखौ हरि भांति कन्हाई' (१८१५) अथवा 'एक दौस कुंवर में माई' (४०२)। कृष्ण-वियोग में राधा तथा गोपियों का यह भाव वर्णित है।

(५) दास्यासक्ति—'प्रभु मेरे गुन-अवगुन न बिचारौ। (१११)। विनयपदों में यह भाव मिलता है।

(६) सख्यासक्ति—'प्रानु हौं एक एक कर टरिहौं। (१३४)। गोप इसी भाव से भक्ति करते थे।

(७) कान्तासक्ति—'मैया हरि संग-संग कुचले री माई' (२८५५)। संयोग-प्रेम के पद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

(८) वात्सल्यासक्ति—'जसुदा देख मधुमति सुख पावै। (७४४)। यशोदा तथा नंद की प्रेम-भक्ति इसके उदाहरण हैं।

(९) आत्मनिवेदनासक्ति—'प्रभु मैं नाम्बी बहुत कृपाल। (१५३) आदि अनन्यभि की सुधि लीजै। (१८ ८)। विनय तथा विरह संबंधी पद इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

(१) तन्मयासक्ति—'ऊधौ मो हीं नाहीं मन मेरौ। कहौं सु ढंग मदनगन के बहुरि न कीन्हौ फेरौ। (४३४१) अथवा मन में रही नाहिन ठौर। (४३५)। राधा तथा गोपियों का प्रेम इस सीमा तक पहुँच जाता है।

(११) परम विरहासक्ति—'(मेरे) नैना विरह की बेलि बई। (३८६४) अथवा 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' (३८५१)। इसमें वात्सल्य-भाव का विरह भी पा जाता है—'मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ बसहिं धर्यो रहै। (३०२८) मथुरा-गमन के बाद नन्द की अवस्था का विवरण इस अवस्था का उदाहरण है।

३—व्यसन

इस अवस्था में आराध्य का ध्यान हर समय रहता है—'नहिं बिसरति वह रति ब्रज-नाथ। (३८२१) तथा 'बिछुरत ही आये दिन चाम। (३८११)।

४—तन्मयता

सूरदास जी ने गोपियों की इस अवस्था का चित्रण किया है। वह स्वयं कृष्णमय हो जाती है—'कहा कहति तू मोहि री माई। (२२६९)। वह 'दही लो' की जगह तन्मयता की अवस्था में 'गोपाल लो' कहने लगती है—'आमिनी प्रमदी पुरन मेहु। दधि-भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहिं लेहु। (२२९८)।

२५७—सूरदास जी प्रेम की जिस ऊंचाई तक उठते हैं तथा जितने पदों में उसका वर्णन किया है उतना हिन्दी कवियों में कोई नहीं कर पाया है। उपर्युक्त सभी अवस्थाओं पर अनेक उत्कृष्ट पदों की रचना हुई है। उनके राधा कृष्ण युगल मानव भी हैं। हँसी विनोद, सुख-दुख सभी का चित्रण कवि ने किया है।

सूरदास जी ने भक्ति के सहायक यथा सत्यगुरु (४ ७ ४१२७) तथा सत्संग (१९) की महिमा-वर्णन भी किया है—'प्रभुजी भ्रमन ही में पायौ। सम्पर्क सब भयौ उजियारौ, उछरूप भेद बतायौ। (४ ७) अथवा 'सतगुरु-चरन भजे बिनु बिद्या कहु कैसे कोउ पावै। (४१२७) तथा—जा दिन संत पाहुने आवत। तीरथ कोटि सनान करें फल जैसो दरसन पावै। (१९)

बल्लभ सम्प्रदाय में गुरु कृष्ण का प्रतिरूप माना गया है। इसमें संन्यास की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी भक्ति की जा सकती है। तृतीय-स्कन्ध का कथन एकान्त भावना के अनुसार किया गया है। यह सूरदास जी का अपना मत नहीं समझना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूर के उपास्य देव बाल किशोर तथा तरुण अवस्था वाले लीलाधारी श्रीकृष्ण हैं। उनके मथुरा तथा द्वारिका वाले रूप की ओर उनका आकर्षण नहीं है। उन्होंने राधा के साथ उनके युगल-रूप की उपासना ही की है। भौतिक दृष्टि से यह गोवर्द्धन में स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा-कीर्तन का कार्य करते थे।

२—योग मार्ग से संबंधित शब्द

२५८—सूरसागर के कुछ प्रारंभिक पदों तथा भ्रमरगीत प्रसंग के उद्धव-गोपी संवाद में योग से संबंधित कुछ शब्दावली मिलती है। इन पदों में योग के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं है। केवल कुछ पारिभाषिक नामों का उल्लेख मात्र है। योग का अर्थ [सं युज्] जोड़ना है। जिन शारीरिक एवं मानसिक साधनों द्वारा आत्मा क्रम-पूर्वक परमात्मा से जोड़ी जाती है उसको ही योग कहते हैं।[1] अनेक प्रकार के योगों, जैसे—राजयोग ज्ञानयोग कर्मयोग तथा हठयोग में से यहाँ हठयोग से ही तात्पर्य है। हठयोग में अंगों तथा श्वासादि को संयमित किया जाता है। उद्धव-गोपी संवाद में प्रेम-भक्ति की ओर उन्मुख गोपियों की उद्धव के इस शारीरिक संयम वाले हठयोग के प्रति विरक्ति होना स्वाभाविक है— भक्ति विरोधी ज्ञान तुम्हारो' (४७१२) अथवा 'सांची निहचै प्रेम की जीवन मुक्ति रसाल। (४७१३) तथा ऊधो जोगहि ना धुएँ धुएँ तो प्रेम सजाहि। (४१४)।

अतएव इन पदों में भी जोग (३९४ १८४४ ४ ११) [सं योग] प्रायः हठयोग का ही बोधक है। पतंजलि ने इसके आठ अंग माने हैं।[2] सूरदास जी ने अष्टांग जोग (३९४) का ही उल्लेख नहीं किया है। किन्तु आठ अंगों के नामों का निर्देश भी किया है—'भक्ति-पंथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै। यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम। प्रत्याहार धारना-ध्यान। करै जु छाँडि बासना आन। क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।।

यम तथा नियम[3] आचार-विचार संबंधी अंग हैं। यम के अन्तर्गत अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आते हैं तथा नियम में पवित्रता, संतोष तपस्या स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान आवश्यक हैं। ईश्वर के प्रति चित्त स्थिर करने में आसन से भी सहायता मिलती है। इसमें शरीर की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। शिवसंहिता में चौरासी आसनों का उल्लेख है जिसमें प्रमुख चार सिद्धासन, पद्मासन उग्रासन तथा स्वस्तिकासन हैं। सूरसागर में पद्मासन (४१२८) [सं पद्मासन] की चर्चा है—'पद्मासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि अन्तरगति ध्यावौ' (४१६७)। इन आसनों द्वारा शरीर के विभिन्न अंग शक्तियुक्त होते हैं।

२५९—प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास को संयमित करने का विधान है। सूरदास जी ने इनके नामों का उल्लेख किया है—रेचक (४१२८) कुंभक (४१२८) तथा पूरक (४१२८)। बाहर छोड़ी जाने वाली वायु रेचक तथा भीतर जाने वाली 'पूरक' कहलाती है। जो वायु

१—कबीर का रहस्यवाद पृ ९८

२—पतंजलि-'योग दर्शन' २—साधनपाद सूत्र २९ 'यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि'

३—इंडिया एज नोन टू पाणिनि, पृ ३८१ योग की सूचक शब्दावली में पाणिनि ने 'यम' 'नियम', संयम' तथा 'योगी' शब्दों का उल्लेख किया है।

अन्दर रोक ली जाती है वही 'कुंभक' के नाम से प्रसिद्ध है। यही नाक दबा कर वायु संबंधित करने का उल्लेख भी है— 'नासा कर वाहि ध्यान लिवलावत।' (४१६१)।

इन साधनों द्वारा योगी इंद्रियों पर अधिकार पा लेता है। यही प्रत्याहार की स्थिति है जिसमें इंद्रियाँ उसकी दासी हो जाती हैं जबकि सामान्य व्यक्ति उनका दास रहता है। इसके बाद ही योगी धारणा द्वारा अपने मन को विशिष्ट वस्तु पर केन्द्रित करने में समर्थ होता है। इस वस्तु विशेष का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है। योग की उत्कृष्टतम स्थिति समाधि है— 'सहज समाधि युत बांधो क्यों मुद्रा घटा विभूति लगाए' (४१०८)[१]। इस स्थिति में योगी का अपना अस्तित्व नहीं रहता। चित्तस्थ विषय में ही ग्रस्त-भाव का तिरोभाव हो जाता है तथा एक ज्योति से वह प्रकाशित हो उठता है—'हृदै कमल में ज्योति बिराजै—घोर अनहद अविनाशी।—इहि उपाइ विरला कोउ पावै। बोध-पथ क्रम क्रम अनुसरिहौ।' (४११७)।

प्राणायाम द्वारा वायु-नाड़ियों तथा चक्रों में शक्ति भरती है। शिव-संहिता में १४ नाड़ियाँ बताई गई हैं किन्तु इनमें से दस ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से भी तीन इड़ा, पिंगला तथा सुषुमन[२] (४९७ ४१८८ ४०१२) का विशिष्ट स्थान है। कबीर-योगी वेदान्त दीपक अनेक पदों में इनका उल्लेख है—'इड़ा पिंगला सुषुमन नारी। सुन्न सहज में बसत मुरारी। ताको भाव करि सब में देखो। अलख निरंजन ही को लेखो।'

अथवा

पावै रूप बरन वपु नाहीं। नैन मूंदि चितवो मन माहीं।
हृदय-कमल में ज्योति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज सुन्न[३] में बसहि मुरारी।
मात पिता न दारा भाई। जल-थल घट-घट रह्यो समाई।
इहि प्रकार मन सुस्थिर करिहौ। योग पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ। (४०१२)।

२१—योग से संबंधित उपर्युक्त शब्दावली में सहज सुन्न निरंजन, ब्रह्म हृदय कमल तथा अनहद नाद नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। सुषुम्ना नाड़ी की शक्ति-वृद्धि करना ही योगी का ध्येय है जिससे उसको सिद्धि मिल सके। यह नाड़ी नाभि प्रदेश से निकल कर मेरुदण्ड से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इसमें ७ स्थितियाँ (चक्र) व ७ शक्तियाँ तथा ७ कमल होते हैं।[४] कंठ से इस नाड़ी के दो भाग हो जाते हैं—एक त्रिकुटी (भौंहों के बीच में) से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तथा दूसरी सिर के पीछे से होकर। इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड की बायीं ओर है तथा पिंगला दाहिनी ओर। यह दोनों सुषुम्ना से लिपटती हुई मस्तक तक जाती हैं किन्तु पहले ही एक दूसरे को पार कर लेती हैं। इस प्रकार इड़ा तो नाक के दाहिनी ओर तथा पिंगला बायीं ओर जाती है। प्राणायाम द्वारा योगी की सुषुम्ना नाड़ी के नीचे भाग में रहने वाली सर्पाकार

१—क० सं० ग्रं० १६७।२, 'त्रिकुटि सन्धि कोई लौ जानी। बेधि दरसन कारन दैराजै।'

२— वही, २१५।१ 'यही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि जो तारी।' 'कहै कबीर सोई बोलैनहार सहज सुन्न ल्यौ लावै।'

३—कबीर ग्रन्थ, छन्द ११, श्लोक २७—

४—शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक 'मेरुदण्डे च पद्म-शक्ति मध्यस्थ योगिनो विदुः।'

दिव्य शक्ति कुंडलिनी जागृत होती है तथा यही धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्र की ओर बढ़ती है।[1] ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल-कमल तक पहुँचने पर मन तथा शरीर पर अधिकार प्राप्त कर योगी को सिद्धि मिल जाती है। कुंडलिनी ज्यों-ज्यों ऊपर जाती है योगी को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[2] मनुष्य-शरीर में दस वायु हैं, इनमें से पंचवायु (प्राण, अपान समान उदान, व्यान) प्रमुख हैं। योगी इनको प्राणायाम द्वारा ऊपर उठाता है—'भव भयराधन पौन' (४१ ८) अथवा 'री पुकार द्वार गृह-गृह तें सुनौ सखी इक जोगी आयौ। पवन सधावन भवन छुड़ावन रवन रसाल गोपालें पायौ ॥ आसन बाँधि परम ऊरध चित बसत न तिन्हिं कहा हित स्वामी। कनक-बेलि कामिनि ब्रजबाला, जोग अगिनि दहिबे कौं जामी ॥' (४१११) तथा—

> आसन बैसन ध्यान धारना मन आरोहन कीजे।
> षट दल अरु द्वादस दल निरमल अजपा जाप जपाली।
> त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यौं मिलिहै बनमाली ॥ (४४८४)।

सुषुम्ना नाड़ी में स्थित छः चक्रों में त्रिकुटि (४१४८) [सं. त्रिकुटी] के आज्ञा-चक्र को सिद्ध कर लेने से बड़ी से बड़ी सफलता मिलती है। इसको वाराणसी भी कहते हैं (इसके एक ओर इड़ा वरुणा के समान है तथा दूसरी ओर पिंगला असी के समान)। सूर ने काशी का उल्लेख किया है—'जे माहक निरगुन के ढ़ग्यौ ते सब बसत ईसपुर कासी। (४५४९)। यहाँ ही विश्वनाथ निवास करते हैं। इन छः चक्रों के बाद ही कुंडलिनी ताभु-मूल में स्थित सहस्र-दल कमल या ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। योग की यही चरम स्थिति है। यही ब्रह्म की स्थिति है। इसका रूप बिन्दु ( ) के समान है। इसमें स्थित चंद्र से सदैव अमृत प्रवाहित होता है जो मूला-धार चक्र के सूर्य द्वारा नष्ट होता रहता है जिससे मृत्यु की प्राप्ति होती है। सबद अनाहद[1] (४१४८) [सं. अनाहत] समाधि की अवस्था में योगी को सुन्न [सं. शून्य] अथवा ब्रह्मरन्ध्र के शून्य-रूप वातावरण में सदैव होने वाला संगीत-नाद सुनाई देता है। इसके द्वारा उसका चित्त ईश चिन्तन में लगा रहता है— 'कहत हो अनहद सुनत हो चपि वास। (४५२)। ब्रह्म यहाँ निवास करता है—'नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास। अविनासी विनसे नहीं सहज जोति परकास। अथवा हरि तजि भजहु अकास' (४४११)। शून्य का ही समानार्थक 'आकाश' भी है।

सूरसागर में उल्लिखित हृदय-कमल से सम्भवतः हृदय-स्थल पर स्थित एक चक्र के कमल से तात्पर्य है जिसमें बारह दल हैं। इसका नाम अनाहत-चक्र भी है। योगी को इसके चिन्तन से भूत भविष्य-वर्तमान जानने की शक्ति तथा 'खेचरी' (आकाश में गमनता) शक्ति मिल जाती है।

इस प्रकार से योग-साधना पर कुछ प्रकाश पड़ता है—हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो।

1—प. सं. टी. २ १।८५,१ 'दसर्ये दुआर गुप्त एक नाकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी। भेदी कोई जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाटी। नव पौर सुरंग गुरु अगमाह्। तेहि महुँ पंथ कहौं तोहि पाँहा।
२१६।८ दसवँ दुआर ताल का लेखा।

2—वही, २१२।१, ७ 'सिद्ध पग नहिं बैठे माखी। सिद्ध पलक नहिं लागे आँखी।
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ न भूख औ माया।

3—वही २२८।६ सुन पर तखत ब्रह्म पट केरा। मोहि पद और पवन नहि पेरा।'

मास पवास पदम पठिोषी सुस्मन बिधि मन रासी। सहुबासन सुख सील करवि करि बसत बंध करि बंदन। मोमसमवार पवन माटेमन हिर-कम काम-निरंजन। सुस्-सम कामि अमिति चहुँदिसि मन उरमि ताम बिनु रहै। पिमत धुम उपदास बहां तहं सपजस सकल सजैबे॥ सहज समाधि धारि वपु बसक निरंजि निमेष न बासत। परम ज्योति प्रति अंब माधुरी पठित सौ लिपि बामत। बिहुवि संत सुर्यन वटाक मन मन सनि लागे।—मुरली मपर सबन धुनि सो धुनि सबद मनाहर कामें।' (४१५८)।

२११—निरंजन (४०१२ ४०११ ४११७) का भी अनेक पदों में उल्लेख है—'माया हि पाप निरंजन सोह। (४०१२) अथवा 'एक समय अपार मादि मबस्त है कोई। माबि निरंजन नाम ताहि रीभ सब कोई। (४०११)। कबीर-पंथियों के अनुसार अनुपुरुष (प्रारंभ की एक ही शक्ति अथवा पारब्रह्म परमात्मा) ने ६ महात्मा के बाद निरंजन की सृष्टि की थी। निरंजन तथा माया के तीन पुत्र थे—ब्रह्मा विष्णु तथा महेश। पुत्रों का उत्पत्ति के बाद निरंजन अंतर्धान हो गया था। ब्रह्मा की सृष्टि इन तीनों का पूजन करने लगी किन्तु माया इसे सहन न कर सकी और उसने सांसारिक ममता मोह का जाल फैला दिया—माया निरखहि सब ठाहि है जोबन बड़े। बानी रैन अनेक ठाहि पुरुष नहि कहे। (४०११)।

प्रकृति के पांच तत्वों का उल्लेख भी है—पंचतत्व प्रकृति परे, अपर केस बानी' (४५१८)। अद्वैतवाद में मूलतत्व परब्रह्म है। सृष्टि करने के लिए इसका ही रूप प्रकृति है जिसके पांच रूप हैं—आकाश वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी।

योगा के उपकरण

२१२—भ्रमर-गीत के योग प्रसंग में गोरखनाथ जी के अनुयायी सिद्धों का उल्लेख है तथा उनकी वेश-भूषा का वर्णन भी अनेक पदों में है। मारवाड़ कृष्ण में अनुरक्त व्रज की स्त्रियों का इस ओर जरा भी आकर्षण नहीं है। इन सभी उपकरणों से भी उनको विराग है। वह तो यह ही नहीं पाती कि कृष्ण ने वाम-संदेश उनको भेजा ही, क्योंकि उनके लिए इसका क्या प्रयोजन?—भक्ति-मार्ग पर चलने वाली गोपियां योग-साधना कैसे कर सकती है अथवा योगिनी वेष कैसे धारण करें—'कान हुंसहि संग देखो कहीं पुष बनई भोग। (४१५)।

गोरख शब्दु' (४१११,१८७४) द्वारा गोरखनाथ जी के अनुयायियों का उनकी जय-जयकार करने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है—'गोरख शब्द पुकारत मारत, रब रचना अनुराग। (४१११) अथवा 'गोपालहि पाती भी लिखि देव। सिंगी मुद्रा कर खप्पर ले कहियो जोगिनि भेष।—हरि कारन गोरखहि जगाऊं यह स्वांग महेस। (१८७४)।

इस वेशभूषा में सबप्रथम विभूति, भस्म अथवा भसम (१८२४ ४१११,४१ ८)

१—कबीर का रहस्यवाद, पृ ४२।

२—व सं टी, १२१, 'तना तन राजा था जोगी। सी किंगरी कर लई बियोगी तन बिसंभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम परी सिर जटा। चद बदन औ चं... रहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा। मेखल सिंगी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राक अधारी। कथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्धि होइ कहं गोरख कहा। मुद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान कांध बघछाला। पांवरि पांव दीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता।' २१२।८, 'जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट।' १८२।२, 'गोरख सिद्धि दीन्ह तुम्ह राजा।'

लगाने का विधान है— जिहि सिर केस कुसुम भरि गूँदे, कैसें भस्म चढ़ै। (४३१) अथवा— 'बदन छाँड़ि विभूति लगावत' (४१११)। वस्त्रों में चीर पुरातन (४१११), त्वचा-मृग (४१ ८) अथवा कथा (४११२, १८४४) का स्थान है। कानों में कुण्डल के स्थान पर मुद्रा (४१०८ ४१११) माटी की मुद्रा (४२१९) पहनी जाती थी अथवा 'कस्मीरी मुद्रा' (४४११)। हाथों में भिच्छा' के लिए पात्र (४१११) अथवा खप्पर (४११२) धामत्सक था। यह नारियल का बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त चमत्कार दिखाने के लिये योगी के पास दंड (४२) भी रहता था। यह धातुम का बनाया गया छोटा डंडा था। प्रायः इन सभी पदों में सिंगी (४११४) अथवा शृंगी[1] (४१ ८) [सं शृंग] का उल्लेख भी है। यह सीग का बना हुआ फूँकने वाला एक वाद्य-विशेष था। योगी को बालों को जटा रूप में रखने की आज्ञा थी— तजन कहत अंबर आभूषन गेह नेह सुत ही कौं। अंग भस्म करि सीस जटा धरि सिखवत निरगुन फीकौ' (४११२ तथा—'जो ये लट हरि सुमननि गूँथी सीस जटा अब कौन धरैगो। ४२१७)।

अधारी (४२२१ ४१११) एक प्रकार की टिकटी सी थी जिस पर योगी बैठते या सोते थे—'ऊधौ जोग सिखावन आए। सिंगी भसम अधारी मुद्रा दे ब्रजनाथ पठाए। अथवा 'शृंगी, मुद्रा, भस्म अधारी हमहीं कहा सिखावत' (४४११)। सेली (४११२) या सेल्ही (४११) योगियों की माला को कहते हैं।

परिशिष्ट

निम्नलिखित पदों अथवा पदांशों द्वारा ऊपर दी गई नामावली को एक साथ पढ़ने से स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। साथ ही इस संबंध में गोपियों की मनः स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। उनका कृष्ण के प्रति प्रेम ही किस योग से कम दुष्कर था—

(१) फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यों पजरे पर लौन॥
सृंगी-मुद्रा भस्म, त्वचा-मृग अरु अवराधन पौन।
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि जानति कहँ कौन॥ (४२ ८)

(२) हम तो तबहीं तें जोग लियो।
रहित सनेह सिरोरुह सब तन श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन फिरि फिरि फेरि सियाए॥
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलहिं लोचन पात्र पसारी॥
बाँधे बेनु कंठ सिंगी जिम सुमिरि-सुमिरि गुन गावत।
करुणा बैठ रंक उर करत न सुमत स्थान दुख पावत॥
रहत जु चित उदास फिरति बन बीथिनि दिन अरु राति।
बारक आनत कुटुम्ब बापुरा, योक सब न गुहाति॥ (४१११)

(३) ऊधो धरि रहीं हम जोग।
कहा एती बात ऊधौ देखि गोपी भोग॥

1—न० प्र० सी०, ११६।१, 'कथा मनौ लेहि भसम मनीसा।'
2— वही ११६।१, 'सिंगनाद जोगिन्ह कर बाजा।'

सीस सेली-जेम, मुद्रा कान-बीरी बीर ।
बिरहु भस्म चढ़ाइ बैठी सहज कंथा चीर ॥
हृदय सिंगी टेर मुरली नैन खप्पर हाथ ।
चाहती हरि दरस भिच्छा देहि दीनानाथ ॥ (४११२)

(४) सुफलकसुत सौं कहि कथा जोग की सगरी कहूँ पाऊँ ।
कबौं कहूँ पूँजी पर सेली देही भस्म चढ़ाऊँ ।
सोलह सहस पुहरी कासा मृगछाला नई पाऊँ । (४१५६)
एक समय हरि मनने हाथनि कनकफूल पहिराए ।
सब केतें मटी के मुद्रा मधुकर हाथ पठाए ॥

(५) सेवी सुभग बुझी मनने कर बारलनि बाबक दीन्ही ।
कहा कही वा स्याम सुन्दर सों लिपट कठिन मन कीन्हों ॥
जोगा बंधन और मरघला जा मुख मैं हम राखी ।
अब तन की हम भस्म चढ़ावै सुन मधुकर हो साखी ॥ (४२११) ।

२६३—सूरसागर में उपर्युक्त योग की सभा सामग्री के अतिरिक्त 'किंगरी' [स किन्नरी] जिसे बजाकर भीख मांगते थे], 'सकं' [पत्रिनी नामक अंगूठी], 'अंधारी' [तार के छल्लों का बना गोरखधंधा जिसे योगी सुलझाते थे] 'ओघटा' [सं योगपट्ट—ध्यान के समय सिर से पर तक डाला जाने वाला वस्त्र], तथा 'जपमाला' आदि[१] का उल्लेख रतनसेन के योगी-वेश तथा बाघपट्ट—पूरी प्रसंग (जो योगिनी रूप धारण करके आई थी ।) में हुआ है । जायसी ने नाथ-सम्प्रदाय के नौ नाथों तथा सिद्ध-सम्प्रदाय के चौरासी सिद्धों का उल्लेख भी किया है ।[२] आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ तथा गोरखनाथ आदि संप्रदाय के प्रमुख नाथ थे । जायसी द्वारा उल्लिखित 'ओघटा' ही बाण द्वारा वर्णित सर्वांगी के बाद कंधे पर पड़ा हुआ 'कुंडलीदार योगपट्ट' है ।[३]

३—धार्मिक कृत्य

२६४—सूरसागर से हिन्दू-समाज की धार्मिकता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है । प्रारम्भिक पदों में नाम-माहात्म्य प्रभु भक्त-वत्सलता तथा अवतारों का वर्णन इस विचारधारा के प्रमाण स्वरूप हैं । महिमा की समता पूर्व जन्म के पाप-पुण्य का प्रभाव तथा तपस्या स्वर्ग-नरक की प्राप्ति आदि का उल्लेख किया जा चुका है । जीवन में प्राप्त सुख सम्पदा ...

१—प स टी १२६।१-७।६०१।
'जोगिनि एक बार है कोई । मारे तेज सिद्धोसिनि होई ।
जांघिहु मलत जोबन तप लीन्हें । फारि पटोरा कंथा कीन्हें ।
बिरहु मभूति जटा बैरागी । छाला कांध जाप कंठ लागी ।
मुंदरा श्रवन देंह न थिर जीऊ । तन तिरसूल अधारी पीऊ ।
पाव न छांह मुद्र अस मरई । पाव न पावहि भूमि परई ।
सिंगी सबद अधारी करा । जरी सो अव पाव कहुँ धरा ।
किंगरी गहे बियोग बजावे, बारहि बार सुनाव ।
नैन चक्र चारिहु दिसि हेरे, दहुं दरसन कब पाव ॥

२—प स टी , २६४।५, 'नवो नाथ चलि आवहिं औ चौरासी सिद्ध'।

३—हर्ष सा प , पृ १२।

कृपा से ही मिल पाती है। भोजन के प्रारम्भ में आराध्य को भोग लगाने की प्रथा इसी भाव । पर आधारित थी—'पाछें महि भोग लगावन पाय (८६७), अथवा 'परसि कृष्ण-हित ध्यान लगायौ। (८९९) तथा—'मनसा करि प्रभुहि अर्पि भोजन कर बाटे। (५४)।

देवताओं की पूजा भी इसी प्रवृत्ति की परिचायक है। सूरसागर में सिवसंकर(1) (१३७४) त्रिपुरारि (११८५) गौरीपति (११८४), महादेव (११८४) गौरि (४०६८; ४०९९) सिवगौरि (६६८) रवि (११८५) सालिग्राम (८८१) इंद्र तथा गोवर्द्धन-पूजा (१४१८) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। शिव-पूजा का विवेच गोपियों द्वारा कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना को प्रकाशित करता है। वह 'माखुर-पत्र-फल' तथा 'कमल-पुहुप' लेकर अर्चना करती हैं तथा 'नेम-धर्म' से रहती हैं—'गौरी-पति पूजति ब्रजनारि—महादेव पूजति मन बच करि सूर स्याम की आस। (११८४), अथवा सिव सौं बिनय करति कुमारि। जोरि कर मुख करति अस्तुति बड़े प्रभु त्रिपुरारि। उन्हीं रिपु तप करति नीके गेह नेह बिसारि। (१ ८५)। फिर इस तपस्या का फल उनको मिल जाता है—

'सिव संकर हमकौं फल दीन्हौ।

पुहुप पान नाना फल मेवा, षटरस अरपन कीन्हौ। (१४१६)। इसी प्रसंग में रवि पूजन का वर्णन भी है—बिनय संभ्रम छोरि रवि सौं करति हैं सब बाम। हमहिं होहु दयालु दिन-मनि तुम बिदित संसार। (११८५) अथवा 'रवि सौं बिनय करति कर जोरे। (११८६) तथा 'नेम सहित जुवती सब न्हाईं। मन मन सविता बिनय सुनाईं। मूँदे नैन ध्यान उर धारे। नन्द-नन्दन पति होहिं हमारे। रवि करि बिनय सिवहिं मन कीन्हौ। हृदय माँझ अवलोकन कीन्हौ। त्रिपुर-दहन त्रिपुरारि त्रिलोचन। गौरीपति पशुपति अघ-मोचन। भस्म-असन अहि भूषन-धारी। जटा धरन सिर गंगा प्यारी।।' (१४१७)।

नवम स्कन्ध में सीता द्वारा सूर्य-बिनती का उल्लेख है—'दई असीस तरनि सन्मुख ह्वै चिरजीवौ दोउ भ्राता। (५११)। यसोदा भी सूर्य का ध्यान करती है—सूर महरि सविता सौं बिनवति भलो स्याम की जोरी। (११२१)। यसोदा का पुत्र-कामना के लिए

१—हर्ष ना च, पृ ५६,५७ थानेश्वर में सातवीं सदी में ही शिव-पूजा का खूब प्रचार था। बाण ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। ('गृहे गृहे भगवानपूज्यत त्रपुरान्तकः')। शिव-भक्त गुग्गुल जलाते थे शिव को दुग्ध स्नान कराते थे तथा बिल्वपल्लव चढ़ाते थे। अन्य सामग्रियों में स्वर्ण स्नपन-कलश, अर्घपात्र, धूपपात्र पुष्पपट्ट, अधिवरोप, बहुमूल्य तथा मुखकोश आदि शिवलिंग पर चढ़ाए जाते थे। मथुरा-कला में कुषाण काल से ही एकमुखी, चतुर्मुखी तथा पंचमुखी शिवलिंग मिलने लगते हैं। गुप्तकाल में एकमुखी शिवलिंग अधिक लोकप्रिय थे। पाशुपत शैव-धर्म की यह विशेषता (पत्थर में ही मुख बनाना) ज्ञात होती है। फिर उन पर सोने के खोल चढ़ाए जाने लगे जिनको 'मुखकोश' कहते थे। इसके आगे बाण ने भैरवाचार्य नामक महाशिव का वर्णन किया है।

२ १ ८, प्रथम शताब्दी ईसा के बाद से मथुरा तथा पूरे उत्तर भारत में पाशुपत शैवों का प्रचार हो गया था।

नन्द द्वारा सालिग्राम (८८१) [सं० शालिग्राम] अथवा हरि-पूजा (८७८)[1] के वर्णन-विस्तार कई पदों में (८७८-८१) मिलते हैं। इनमें नन्द का 'अस्नान' कर यमुना जल भरने में जाना, कंज आदि पुष्प संग्रह कर चरण धोकर मन्दिर में जाना, 'अस्नान' को लीप कर पात्र[1] धाकर सब के काज करना आदि वर्णित है। (८७८) यह पूजा विधिवत थी बहुभाँति (८७८) थी। यहाँ ही पग बजाकर देवता को स्नान कराना तथा धूप व चंदन

की दृष्टि से भी इसका महत्त्व था। यहाँ की बनी मूर्तियाँ कौशाम्बी वाराणसी श्रावस्ती आदि अनेक स्थानों में भेजी जाती थीं। हिन्दुओं के प्रायः सभी देवी-देवताओं—जैसे विशेष विष्णु ब्रह्म शिव, पुरुष व लिंग, अग्नि कार्तिकेय सूर्य कृष्ण कामदेव दुर्गा, पार्वती तथा बौद्धों के बुद्ध, जैनों के चौबीस तीर्थंकर आदि सबके स्वरूप निश्चित हो चुके थे। गुप्तकाल में इस मूर्तिकला का ही विकास हुआ। उसमें विश्वरूप विष्णु तथा महाविष्णु की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। इनमें विष्णु के तीन मुख मिलते हैं—बीच का साधारण तथा एक वाराह व एक नृसिंह का। पीछे प्रभामंडल पर विशेष सूर्य चंद्र अग्नि नवग्रह आदि हैं। मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में भी मथुरा वृन्दावन वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। वैष्णव धर्म के चार प्रमुख सम्प्रदाय थे—१ वैष्णव प्राचीनतम संप्रदाय था। वृन्दावन का रंग जी का मंदिर प्रधान था। रामानुज ने इसकी नींव डाली थी। २ निम्बार्क—निम्बार्काचार्य ने नींव डाली थी। मथुरा के पास ध्रुव टीले पर प्रधान मंदिर था। ३ मध्वाचार्य का माध्व सम्प्रदाय था जो मथुरा भर में फैला था। ४ वल्लभसम्प्रदाय—गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी का मंदिर प्रधान था।

२—हर्ष धा म पृ १ ६, धार्मिक संप्रदायों में बाण ने गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ में प्रविष्ट होने वाले 'वैखानसों' का उल्लेख किया है। उन्होंने भागवत धर्म तथा पांचरात्रों की व्यूहपूजा के साथ साथ वैदिक पक्षों को भी अपने धर्म में ग्रहण कर लिया था। वशिष्ठ तथा सनक उनके आदर्श थे। वैष्णव में भी चार भेद थे—भागवत पांचरात्र वैखानस, तथा सात्वत। पांचरात्रिक चतुर्व्यूह तथा उनमें से कुछ 'एकान्तिन्' कहे जाने वाले वासुदेव विष्णु को मानते थे। सात्वतों का प्राचीन नारायणीय धर्म था। वे विष्णु के अन्य अवतारों—वाराह, नृसिंह आदि को भी मानते थे। मथुरा-कला में इन अवतारों से संबंधित विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। पृ ११ पांचरात्रिक सम्प्रदाय के लोग वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध तथा साम्ब (पंचव्यूह) की उपासना करते थे। इनमें से वासुदेव तथा संकर्षण-पूजन प्राचीन था।

३—ब्र श्री पृ १२ प्रश्न ११ मंदिरों में पूजा के पात्रों में कोपर, तसला, चरणोदकी (ठाकुर जी को नहलाने को तांबे की छोटी कटोरी) पंचपात्र (चरणामृत देने की चम्मच), पत्थरी (पंचामृत देने की कटोरी) झारी (भगवान के सिंहासन के एक ओर रखते हैं) बन्टा (पूजा के जल का लोटा), हरसा (चन्दन घिसने का) आदि उल्लेखनीय नाम हैं।

भेंट करना 'भोग' लगाना, आरती करना २ (८७६) तथा ध्यान समाधि लगाना (८८०)
भी उल्लेखनीय है। कृष्ण का देवता द्वारा भोग न ग्रहण करने का सन्देह 'कहुक कान्हू खाय
सुन भरथी देव नहीं कछु खाइ। (८७६) सुनकर सब प्रभु की पूजा कर देवता को
प्रणाम करने का आग्रह करते हैं—'सुर स्याम देखि कर जोरि सुभाव रहे सिरि नाइ।'
(८७६)। देवताओं के प्रति इस समाज विश्वास को प्राय भी अनेक हिन्दुओं में देखा जा
सकता है। इस प्रसंग में कृष्ण का शालिग्राम को अपने मुख में रख लेना व सब को तीनों लोक
दिखाना आदि भी वर्णित है (८८ ८८१)। इसमें रंग की गोल पत्थर की बटिया को ही
'शालिग्राम' कहते हैं जो एक प्रकार की विष्णु की ही मूर्ति है।
अन्य देवी देवताओं में शारद (६५८ १११) [सं शारदा—सरस्वती] तथा
बलराम का पुनस्मरण भी है—स्याम बलराम की सदा माई' (११७)। 'सोहिनी' में सब
की सिनी शारदा का भी स्मरण करती है—बौरि मनेस्वर बीनई (हो) देवी शारद
तोहि।' (६५८)। जायसी ने मनोवांछित वर-प्राप्ति के लिए महादेव-पूजन का उल्लेख किया
है (१२१) किन्तु बसन्त पूजन में विशेषर देव' का उल्लेख है (१८६)।
२६६—उपर्युक्त पदार्थों से पूजा से पहले स्वच्छता के लिए स्नान का बराबर निर्देश
...इसके अतिरिक्त पवित्र नदियों तथा तीर्थस्थानों में स्नान के माहात्म्य का अनुमान भी
...स्नान तथा कुरुक्षेत्र-स्नान के उल्लेखों से किया जा सकता है—'धर्म-प्रवाह जो न्हाइ। सो
...सिन्ध ॥ हरिपुर जाइ। (४५१)। (४५६)
अथवा—'परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथहि प्रथम बर देन।
तथा—'बड़ो परब रवि-ग्रहन कहा कहौं तासु बड़ाई। (४८६१)।
चलो सकल कुरुखेत तहाँ मिलि सैन बनाई। (४६१६)के परब अथवा पर्व (४८६१
रविग्रहन (४८६१) अथवा सुरजग्रहन (४६११) [सं पर्व] पर कुरुक्षेत्र स्नान का महत्व स्नान-स्थल स्वरूप के इन पर्वों से
स्पष्ट है। साथ ही ये धार्मिक दृष्टि से ग्रहण के माहात्म्य के परिचायक हैं।
दान' का उल्लेख संस्कारों तथा त्योहारों आदि के सिलसिले में किया जा चुका है।
हिन्दू धर्म में दान का विशिष्ट स्थान है। सूरसागर के अनेक उल्लेखों से यह अनुमान किया जा

१—भगवान को भेंट किया जाने वाला नैवेद्य ही 'भोग' कहलाता है। भोग लगाने
के बाद उसमें से ही भगवान का प्रसाद भक्तों को दिया जाता है।
२—पूजा के समय पात्र को दाहिने हाथ से आरती करते हैं तथा बाएँ हाथ से घण्टी
बजाते हैं। आरती दीपक को कहते हैं तथा उसमें सात या पाँच दीपक होते हैं।
३—वर्नियर पृ १ २, वर्नियर ने सूर्य-ग्रहण के अवसर पर हिन्दुओं का यमुना में
स्नान करने और उसके बाद ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख किया है। उन्होंने
इस पर्व पर गंगा, सिन्धु आदि अन्य नदियों तथा थानेश्वर के तालाब के स्नान
को महत्व का भी जिक्र किया है। उस समय का प्रसिद्ध सूर्य-ग्रहण १६६६ ई०
में पड़ा था।
४—प सं दे २४५।२ 'दिया सो सब जप तप उपराहीं।'
१४५।४, दिया सो काज दुहूँ जग आवा।
१४६।१ 'एका दृष्ट सब दुहूँ जग।

सकता है। विपत्ति टलने पर दान देने की प्रथा की ओर भी कवि ने संकेत किया है। नन्द वरुण के पाश से छूटकर आते हैं तो यशोदा आनन्दित हो दान करने का आग्रह करती है—

मन तो कुशल परे पुन्यनिर्वै[1] द्विजनि करो कछु दान। (१६ १)।

पुण्य कर्मों का प्रभाव मनुष्य जीवन पर पड़ने की धारणा भी हमारे अनेक विश्वासों में से एक है। तीर्थस्थानों के माहात्म्य का उल्लेख विनय पदों में है। स्थानों के नाम में इस सम्बन्ध में बताया जा चुका है।

२६७—जप-तप[2] भी धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित है। गोपियों की कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना इतनी तीव्र थी कि वे इसके लिए जप-तप, स्नान पूजा आदि सभी[3] करती थीं—'नेम धरम तप साधन कीन्हें', 'व्रत साधति नीके तन धारी। प्रात उठैं जमुना जल धारैं। सीत उष्न कछु मन न मोरैं।', 'पति कैं हेत नेम तप साधैं।' तथा 'माघ सीत की भीत न मानैं। षट ऋतु के दुख सम करि जानैं।' (१४१७)। इस प्रकार छहों ऋतुओं में साधना माघ की ठंड से भी न डर तीन बार स्नान तथा नियमों के अनुसार रहना तथा श्रद्धा पूर्वक षोडश उपचार कामना से भोजन न करना आदि उनकी तपस्या में वर्णित है—सीति भीति नहिं करति छहो रितु त्रिविध काल जल खोरैं। गौरी-पति पूजति तप साधति करत रहति नित नेम। भोग-रहित निसि जागि चतुर्दसि जसुमति सुत कैं प्रेम। (१४)। सूर वर्णित गोपियों की यह तपस्या कालिदास वर्णित पार्वती-तपस्या का स्मरण कराती है।[4] व्रजवासिनी गोपिकाओं के तप तथा व्रत का 'नीके व्रत कीन्हौ तनु गारी। व्रत स्वामी करि मैं चित धारी।' (१४१७) वर्णन तो अनेक बार है ही साथ ही कुछ विशेष व्रतों का भी उल्लेख है। इनमें एकादसि (१६०२) [सं. एकादशी] के वर्णन-विस्तार मिलते हैं—'उत्तम व्रत एकादसि आई। विधिवत व्रत कीन्हौ नन्दराई। निराहार जल-पान विवर्जित। पापनि रहित धर्म-क्रम-पजित।' (१६ २)। निर्जल रहने के साथ ही नन्द ने दिन रात निरन्तर नारायण का जप किया तथा रात्रि जागरण में व्यतीत की। तदनन्तर देव मन्दिर पाटम्बर से सुसज्जित कर पुहुप-माल-मंडली बनाई

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ. ३८७ पाणिनि ने भी 'पुण्यकृत', 'सुकर्मकृत', तथा 'पापकृत' आदि कर्मों के भेद किए हैं। 'महापातक' कहकर पाप कर्म के उल्लेख के साथ सुकृत्यों में 'श्रद्धा', 'श्राद्ध' 'तप', 'त्याग', 'विवेक' 'धर्म' 'दम' 'शम' आदि माने जाते थे। पाणिनि ने 'धर्म' शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है—१ धर्म-सूत्रों में प्राप्त आचार अथवा तत्कालीन समाज द्वारा निर्देशित नियमों के अनुकूल, २—धार्मिक अथवा नैतिक कर्म। अन्य विश्वासों में पाणिनि ने शरीर के प्राकृतिक चिन्हों से भविष्य सूचना भविष्य-वेत्ताओं से शुभ बातें तथा कुछ दिन-रात शुभ मानना आदि का उल्लेख किया है।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ. ३८९ पाणिनि ने धार्मिक कृत्यों में जप (शब्दों को बार बार पढ़ना) 'चान्द्रायण', 'बलि' आदि का उल्लेख किया है।

३—पूजन के षोडश अंग माने गए हैं—'आसनं स्वागतं पाद्यमर्घमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमस्नानं वसनाभरणानि च।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वन्दनं तथा।'

४—कालिदास कुमारसंभव पंचम सर्ग श्लोक २२, २६, २९।

जाता था। राज्याधीन राजा सम्मिलित होकर उपहार भेंट करते थे तथा अन्य अनेक प्रकार से उत्सव मनाते थे। अश्वमेध यज्ञ भी बसन्त से प्रारम्भ होकर एक वर्ष तक चलता था। इसका प्रधान ध्येय अन्य राजाओं पर आधिपत्य प्राप्त करना था। एक घोड़ा सेना के साथ छोड़ दिया जाता था। जो राज्य आधिपत्य मानने से इनकार कर देता था उससे युद्ध करना पड़ता था।

२६९—सूर ने सभी तीर्थ-स्थलों में ब्रज का माहात्म्य सबसे अधिक माना है जहाँ विष्णु ने अपने सगुण रूप में अनेक लीलाएँ कर सबको अमित आनंद दिया—'वृन्दावन ब्रज को महत कापै बरन्यो जाइ' अथवा 'वृन्दावन रज द्रुम ह्वो ब्रह्मलोक न सुहाइ' (११११) तथा 'बंसीवट वृन्दावन जमुना तजि बैकुंठ न जाव।' (१४६)।

विनय-पदों में कवि ने नाम-महिमा को सभी पुण्य संचय करने वाले प्रचलित धार्मिक कृत्यों के ऊपर रखा है—'गोविन्द भजन करो इहि बार। संकर पारबती उपदेसत तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति द्वार। अस्वमेध जज्ञ जो कीजै गया बनारस अरु केदार। राम-नाम सरि कोऊ न पूजै जौ तनु गारौ जाइ हिवार। सहस बार जो बेनी परसो, चंद्रायन कीजै सौ बार।' (१४६) अथवा 'जो सुख होत गुपालहि गाएँ। सो सुख होत न जप-तप कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाएँ।' (३४६)। कवि ने यही भाव श्रुति प्रवर्तित भी माना है—'है हरि नाम को आधार। सकल स्रुति दधि मथत पायौ इतौई घृत-सार।' (५८७)।

इस प्रकार कवि की सम्मति में कर्मकाण्ड की उतनी महिमा नहीं जितनी कामना-हीन भक्ति भाव की है—'जौ लौं मन कामना न छूटै। तौ कहा जोग जज्ञ-व्रत कीन्हें बिनु कन तुस को कूटै। कहा सनान किये तीरथ के अंग भस्म जट जूटै। कहा पुरान जु पढ़े अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूँटे।' (३६२)।

२७०—सराध[1] (२६) [सं० श्राद्ध] अथवा नांदीमुख पितर (१४२) [सं० नान्दीमुख + पितृ] भी एक धार्मिक कृत्य माना गया है। इसमें शास्त्रानुसार पूर्वजों के लिए कृत्य किए जाते हैं। परीक्षित कथा में सराध का उल्लेख है—'अब सराध न कोऊ करै। कोऊ धर्म न मन मैं धरै।' (२६)। नांदीमुख श्राद्ध एक आभ्युदयिक श्राद्ध है जो किसी शुभ कार्य के प्रारंभ में करते हैं—जैसे अन्नप्राशन उपनयन या विवाह।[2] दूसरा श्राद्ध एकोदिष्ट है जिसे मृत्यु आदि शोक अवसर पर या वैसे भी कभी कभी करते हैं। अतएव कृष्ण जन्मोत्सव में नंद द्वारा इस कृत्य के करने का उल्लेख स्वाभाविक है—'तब न्हाइ नंद भए ठाढ़े, अंतर सोच हरे।' (६४२)

४—अन्य विश्वास

२७१—सूरसागर में हिन्दू समाज में प्रचलित कुछ तत्कालीन अंध-विश्वासों का भी निर्देश हुआ है। इनमें से बच्चे को बुरी नजर से बचाने के लिए केहरि-नख, बघनहाँ (७११ ७६६) पहनाने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। बच्चे पर टोना[3] (८४१२ ४) [सं० स्तम्भ—टन + क— मोहन बोहन, मंत्र जंत्र टोना सब तुम पर वारत' (२२ ४) कर देने में विश्वास था। अपने बच्चे के क्या किसी से भयभीत हो माता का कुदृष्टि से बचाने

1—देखिए एव मौन टू पारिभाषिक पृ० १८६ अष्टाध्यायी में पितृ' को देवता माना गया है तथा श्राद्ध में भोजन करने वाले 'श्राद्धी' या 'श्राद्धिक' कहलाते थे।

2—नांदीमुख श्राद्ध को 'काम्य' (पूर्वजों का आशीर्वाद लेना), 'आभ्युदयिक' (समृद्धि के लिए) अथवा 'वृद्धि' श्राद्ध भी कहते हैं।

3—प० ई० टी०, ४४८।६ सिखा कायदे पाक्कित टोना।

करते हैं। इसी प्रकार उद्धव के आने से पहले वृन्दावन में अच्छे शकुनों को देख लोग किसी शुभ सूचना की प्रतीक्षा करते हैं। इस सूची में 'बार बार बलि बामे सरकनि' काग उड़ावन भामी' (४ ७२) तथा 'भुज फरकत अँखिया तरकति काउ मीठी बात सुनावै (४०७२) तथा तो गू उड़ि न जाइ रे काग। जो गुपाल गोकुल को आवै तो ह्वै है बड़भाग। दधि भोजन भरि दोनी देहौं, अरु अंचल की नाव। (४ ७४)। इन शकुनों से ही यह कृष्ण के आने के समाचार का निश्चय कर लेती है—स्यामसुंदर को आवत जानिय ये निश्चय कर मान। इमि सकुननि की यह भरोसो, नैननि दरस दिखावैं। (४ ७२)।

कृष्ण जब व्रज के लोगों को कुरुक्षेत्र में मिलने का संदेश भेजते हैं तो वहाँ पहले से ही यह लोग शुभ-समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। शकुनों में यहाँ भी कौए का बोलना व नेत्र तथा शरीर के अंगों का फड़कना प्रमुख रूप से वर्णित है—बामन बहुगहात मुनि सुदरि—शुभ सुख नैन अधर फरकत हैं, जिनहिं पास अंचल ध्वज डोली। (४ ६८)।

अथवा— माधौ म मनहार भए। अंचल उ इ मन होत गहगहो फरकत नैन छए।

बैई देखि लोग जिय जानें परम सगुन बर। (४८६)।

सुदामा भी कृष्ण के पास जाते समय सगुन से ही आश्वासित होते हैं (४८४९), किन्तु यहाँ इनकी सूची नहीं दी गई है।

२७१—अपशकुन अनिष्ट की सूचना देते हैं। सूरसागर में वर्णित सूची द्वारा उस समय जन-साधारण में प्रचलित इन विश्वासों का अनुमान हो जाता है।[1] काली-दह-लीला तथा दावानल-पान-लीला के पहले माता पिता को अशुभ घटना की आशंका छींक से हो जाती है— 'महर पैठत सदन भीतर, छींक बाइ बार। (११४२) तथा—छींक परी ती आजु सवारे। (१२११)। कालीदह-अग्नि के पहले अपशकुन-सम्बन्धी (११५० ११) कई पद हैं। इनमें 'मंजारो आगे ह्वै आई, बार काग दाहिन फल-स्वर' (११५८) 'पठउ पौरि छीक भई बाएँ, दहिने धाव सुनावत। फरकत स्रवन स्वान हारे पर गरजो करति लराई। माथे पर ह्वै काग उड़ान्यो कुसगुन बहुतक पाई। (११५६)। प्रथम-स्कन्ध में भी कृष्ण की मृत्यु से पहले युधिष्ठिर आदि अपसगुन देखकर भावी दुर्घटना से चिन्तित हो उठते हैं— रोवैं वृषभ तुरग

छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सन्मुख आयउ दधि अरु माना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रवीना।'
प सं टी ११५।१-४ 'भावे सगुन सगुनियाँ तरका।—कवि कह्यु बिचार।'
जायसी द्वारा दी गई इस सूची में दही, मछली जल से भरा कलश, मोर, सर्प के मस्तक पर खंजन का बैठना बाई ओर दौड़ता हुआ हिरण तीतर व गधे का बाईं ओर बोलना, सांड़ का चिल्लाना आदि, क्षेमकरी चील व लोमड़ी का दर्शन तथा कुररी व कौंच पक्षी का बोलना आदि उल्लेखनीय हैं।
'धीवरा मृगा' इत्यादि पद्या वामे बारस्वनाः मुहूर्त चिन्तामणि यात्रा प्रक श्लोक १ ४।

१—हर्ष चरि प पृ ८६ प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पहले तथा हर्ष के सैनिक प्रयाण से सम्बन्धों में होने वाले अनेक अपशकुनों की लम्बी सूची से तात्कालीन विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है तथा सूर के समय में माने जाने वाले अपशकुनों से उनकी तुलना की जा सकती है।

सते हैं। इसी प्रकार उद्धव के आने से पहले वृन्दावन में अच्छे शकुनों को देख लोग किसी शुभ सूचना की प्रतीक्षा करते हैं। इस सूची में 'बार बार अलि आवे सरनिनि' काग जगावन लागी' (४ ७२) तथा 'भुज फरकत अँखिया हरकहिं भोर मोठे बात सुनावै' (४ ७२) तथा तो गु उडि न जाइ रे काग। जो गुपाल गोकुल को आवें तो ह्वै है बड़भाग। दधि ओदन भरि दोनों देहौं, अरु अंचल की छाय। (४ ७४)। इन शकुनों से ही यह कृष्ण के आने के समाचार का निश्चय कर लेती हैं— स्यामसुंदर को आगम जानिय ये निश्चय पर पावें। इमि सगुननि को यह भरोसो, नैननि दरस दिखावें। (४ ७२)।

कृष्ण जब व्रज के लोगों को कुरुक्षेत्र में मिलने का संदेश भेजते हैं तो वहाँ पहले से ही वह लोग शुभ-समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। शकुनों में यहाँ भी कौए का बोलना व नेत्र तथा शरीर के अंगों का फड़कना प्रमुख रूप से वर्णित है— वामस यहगहात मुनि सुर्वरि—भुज भुज नैन अधर फरकत हैं जिनहिं यात अंनक भ्रज होता। (४८६४)।

अथवा— आयी अ बनहार भए। अंचल उ ड मन होत महमहो फरकत नैन धए।

बेई देखि सोच जिय अपनें परम सगुन दए। (४८६)।

सुदामा भी कृष्ण के पास जाते समय सगुन से ही प्रोत्साहित होते हैं (४८४५), किन्तु वहाँ इसकी सूची नहीं दी गई है।

२७६—अपशकुन अनिष्ट की सूचना देते हैं। सूरसागर में वर्णित सूची द्वारा उस समय के जन-साधारण में प्रचलित इन विश्वासों का अनुमान हो जाता है।[1] कालीदह-लीला तथा रामायण-राम-लीला के पहले माता पिता को अशुभ घटना की आशंका छींक से हो जाती है— 'महर पैठत सदन भीतर, छींक बाई बार। (११४२) तथा—छींक परी ती मातु सवारे। (१२११)। कालीदह-घटना के पहले अपशकुन-सम्बन्धी (११५८ १६) कई पद हैं। इनमें 'मंजारो आगे ह्वै आई, बार काग दाहिनें स्वर-स्वर' (१११८) 'पैठत पौरि छींक भई बाएं, दहिने धाह सुनावत। फरकत लगन स्वान द्वारे पर धरनी करति लराई। माथे पर ह्वै काग उड़ान्यो कुसगुन बहुतक पाई। (११५६)। प्रथम-स्कन्ध में भी कृष्ण की मृत्यु से पहले युधिष्ठिर आदि अपसगुन देखकर भावी दुर्घटना से चिन्तित हो उठते हैं— रोवें वृषभ तुरग

क्षेमकरी कह क्षेम विशेषी। स्यामा वाम सुतरु पर देखी।
सम्मुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रवीना।'
प च मै ११५।१-४ आगे सगुन सगुनियाँ ताका।—कवि कहा विचारि।'
जायसी द्वारा दी गई इस सूची में यही मछली जल से भरा कलश, मोर वर्ण के मस्तक पर खंजन का बैठना बाईं ओर चीखता हुआ हिरन तीतर व गधे का बाईं ओर बोलना, सांड का चिंघाड़ना नाहुर, क्षेमकरी चील व लोमड़ी का दर्शन तथा कुररी व नीलकंठ पक्षी का बोलना आदि उल्लेखनीय हैं।
'लोमा मृगा' बकाश्चोऽपि यस्या वामे चरन्ति मुहूर्त चिन्तामणि यात्रा प्र० श्लोक १ ४।

१—हर्ष चा० प० पृ० ६६ प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पहले तथा हर्ष के सैनिक प्रयाण से अमुभों में होने वाले अनेक अपशकुनों की लम्बी सूची से तत्कालीन विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है तथा सूर के समय में माने जाने वाले अपशकुनों से उसकी तुलना की जा सकती है।

स्यों नियना लिपि पाई। मनसहि प्रानि प्रयानक कारिम उपजन वालि जगाई (१८७७) अथवा— सुनें हरि मारा ही निकसा। (१८७६) तथा बहुरो मुनि न पाउ मना। मुनहूँ के मुख न सरि सकी मीह गवाइ भना। (१८८२)।

इस्लामी व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में इन दो प्रकार के स्वप्नों को भी गिनते हैं— एक तो भविष्य का पूर्वाभास कराने वाले तथा दूसरे अतृप्त इच्छाओं को पूरी करने वाले तथा हर समय मस्तिष्क में रहने वाले विचारों के फलस्वरूप आने वाले स्वप्न।

५—अन्य सांप्रदायिक शब्द

२७५—नूरसागर में जहाँ तहाँ कुछ सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख हुआ है। उनके नाम-मात्र ही मिलते हैं अतः यहाँ इनका संक्षेप में निर्देश कर देना अप्रासंगिक न होगा।

जोगी अथवा जोगिनि (८५५, ८ १७ ११, २६१) के सम्बन्ध में अलग बताया ही गया है, क्योंकि इनसे सम्बन्धित अनेक शब्दों का परिचय मिलता है। उद्धव-गोपी संवाद में विशेष रूप से प्रेम भक्ति मार्ग के साथ योग-मार्ग की तुलना अनेक पदों में की गयी है।

कपालिक[1] (४५५) [सं० कापालिकः]—'जय जय जय जय माधव बेनी। जा परसें जोतें जम-सेनी जनम कपालिक, जैनी। (४५५)। यह शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत हो एक प्रकार से उसका उप-सम्प्रदाय था। कापालिक अपने पास कपाल रखने के कारण इस नाम से विख्यात हो गए। इसी पर्याय में जैनी[2] साधुओं का उल्लेख भी हुआ है। दिगम्बर (४१३६) का उल्लेख योग प्रसंग में हुआ है—'कहूं अबला कहूं दसा दिगम्बर, मष्ट करो पहिचानै। जैन धर्म की दो प्रधान शाखाएँ थीं—श्वेताम्बर और दिगम्बर।

इनके अतिरिक्त ज्ञान अथवा कर्म मार्ग के अन्य कुछ अनुयायियों के लिए साधारण पद में कुछ शब्द जैसे तपसी (५२१ ५१८) साधु (४५, १५१२) गुसाईं (१ ७) [सं० गोस्वामिन्] तथा स्वामी (५२) आदि मिलते हैं—'तपसी तप करें जहाँ सोई बन भावी। (५२१), अथवा—'रावन भेष धरयौ तपसी को कत मैं भिच्छा मेली। (५१८) अथवा 'मेरो मन मति-हीन गुसाईं। (१ ३), अथवा— विसक बनाइ चले स्वामी ह्वै विपविनि के मुख जोए। (५२) तथा भेष धरि-धरि हरयौ पर-धन साधु-साधु कहाइ। (४५) तथा साधु असाधु न समझौं हरि होरी है। (१५१२)। इस प्रकार कवि ने प्रायः कर्मकांड का उपहास किया है तथा भगवद्भजन ही श्रेयस्कर बताया है—'बाद बिवाद जज्ञ-व्रत-साधन, कितहूँ जाइ, जनम डहकावै। होइ पटल जबलौ अंतर मैं, अन्तमास कारिखे फल पावे। (२११)। अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल' (१५३) पद में साधुओं की

---

[1]—हर्ष तो प्र पृ ६६, भैरवाचार्य की बेताल-साधना में स्फटिक कुंडल का उल्लेख है। इस कपाली साधुओं का सम्प्रदाय सातवीं शती में कापालिकों के साथ मिल गया था। गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय में प्रचलित बीभत्स क्रियाओं को हटाकर सम्प्रदाय को ठीक करने का यत्न किया था।

[2]—हर्ष तो प्र पृ १ ६ १ २ १ ८,१६१, हर्षचरित में उल्लिखित सम्प्रदायों में जैन साधुओं का उल्लेख भी है। इन लोगों को निरप्पहार रहने वाला तथा लम्बे लम्बे उपवास करने वाला बताया गया है।

पूपा तथा मंदिरों के कीर्तन पर भी प्रकाश पड़ता है। 'बोलना' मात्र 'गुरु' 'पखावज'
गाद' शब्द 'कंठ बांध्यो तिलक' आदि शब्द इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। एक अन्य पद
में भी ऐसा ही चित्रण है—

भाल तिलक सबनि तुलसीदल मेले कंठ लिए।
मूंड्यो मूंड कंठ बनमाला मुद्रा चक्र दिए। (१०२)।

साधु का प्रयोग संतों के साधारण अर्थ में भी किया गया है—'ना हरि भक्ति न
साधु समागम रही बीचही लटके। (२६२)। सत्संग को भक्ति का साधन समझ अनेक
पदों में कवि ने उसकी महिमा का गुणगान किया है।
नामवली ने भी तत्कालीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।[1] यह नामावली तत्कालीन
स्थिति पर प्रकाश डालने के कारण महत्वपूर्ण है।

१—प० दी० १।४-६—
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी।
कोई महाव्रत पंथ चले। कोइ दिगम्बर आपहिं भले॥
कोइ सरसुती सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पथ बैठ बियोगी।
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखे देवी सती॥
सेवरा खेवरा बानपरस्तो। सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब, जारि आतमा भूत॥

खण्ड ८

साहित्य, सगीत तथा नृत्य

२—साहित्यिक ग्रंथ

२७४ सूरसागर में कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं। विनय के भक्तवत्सल-वत्सलता अथवा नाम-माहात्म्य संबंधी पदों में विशेष रूप से कवि ने साखी रूप में इन ग्रन्थों के नामों का बार बार उल्लेख किया है।[1] निम्नलिखित नाम महत्त्वपूर्ण हैं—

वेद (११४ २२११ [सं वेद]—विनय पदों में कवि ने भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख होने का आग्रह किया है तथा सांसारिक पदार्थों एवं साधनों की निःसारता व्यक्त की है। उसकी दृष्टि से भक्त-वत्सल प्रभु के चरणों का आश्रय ही अन्तिम सत्य है। इसी बात पर और अधिक बल डालने के लिए प्राचीन ग्रन्थों का सहारा लिया गया है—कह वेद उपनिषद साखै (१२२) अथवा वेद बखान करत भारी (१८२) अथवा साखी वेद पुरानों (११)[2] तथा 'लोक वेद बरनत सबै (१२५)। एक दो स्थलों पर चार वेदों का उल्लेख भी है—चारों वेद चतुर्मुख ब्रह्मा जस गावत हैं ताको। (१११) अथवा चारौ वेद रटे। (२११)।

मुरली ध्वनि से विमोहित गोपिकाएँ वेद-वर्जित कुल-मर्यादा भी विस्मृत कर बैठी हैं—कुल मर्याद वेद की आज्ञा नैकहु नहीं डरी। (१६१८)। रास-लीला के पहले सांसारिक सीमाओं तथा बन्धनों की याद दिलाकर कृष्ण गोपियों की प्रेम व दृढ़ता की परीक्षा ले लेते हैं—'इहि विधि वेद मारग सुनौ। कपट तजि पति करौ पूजा कहा तुम जिय गुनौ। (१६१४)। निर्भय प्रेम प्रदान करने पर ही उनको रासलीला द्वारा दुर्लभ सुख मिलता है—दाप नहीं श्रुतिनि मन राखी। मनवांछित सबहिनि फल पायौ वेद-उपनिषद साखी। (१७८१)। भ्रमर (१७८) अथवा भी रस-रास रंग हरि कीन्हो वेद नहीं ठहरायौ। गीत प्रसंग में भी गोपियाँ कृष्ण की वेद-वर्जित भक्त-वत्सलता को निष्कारण बताती हैं। उनका कठोर योग संदेश ही यह सिद्ध करता है—'भक्त-विरह-कातर करुनामय डर निरंतर गाए। की है बोल मुकुत खां क्यों सूर स्याम बन भाए। (४५१२)। कृष्ण-जन्म पर

१—वल्लभ सम्प्रदाय में चार प्रस्थान प्रमाण माने गए हैं वेद (कात्यायन-ईश संहिता तथा उपनिषद) गीता वेदव्यास सूत्र तथा भागवत।

२—तुलसी दोहा, ५५४, 'श्रुति विरचित ... सम्मति, निदहि वेद पुरान। विनयपत्रिका, ७ वेद-पुरान, कहत उदार हर। चार वेद मति सब मोहि पायो। रिन धातु साम

३—सं० ह टी १ ८।४ भावबल पायो।

वही, ४४६।४ जनम सौ नाम वेद करि गुना।, ४४६।८ 'वेद वेद जब

बरदत्ति --

होम (६२२) तथा वेद धुना होना भी उल्लेखनीय है— ग्रह-गमन-नखत पग तापि लोगहि वेद सुनी। (६४१)।

वेद प्राचीनतम तथा अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान' है। वेद चार हैं ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद अथर्ववेद।[1] इनमें ऋग्वेद प्राचीनतम है। सूरसागर में सामवेद का उल्लेख है। राम-जन्म पर दशरथ के घर अन्य मांगलिक कृत्यों में सामवेद पढ़ने का निर्देश हुआ है[2]— और भई दशरथ के आँगन सामवेद धुनि छाई। (४६१)।

२७७ निगम (२०४ २१५) [सं० निगम] वेद का पर्यायवाची है[3] तथा इन्हीं प्रसंगों में इसका भी उल्लेख हुआ है— निगम जाको सुजस गावत (२१५)। गोपियों के मिथ्या गर्व को नष्ट करने के लिए कृष्ण रास के बीच अन्तर्धान हो जाते हैं। उसके पहले भावना का महत्व उनको समझाने का प्रयत्न करते हैं—'भावबस्य सब पै रहौं निगमनि यह भाषी। (१०१६)। भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर गोपियाँ वेदों द्वारा प्रमाणित योग के प्रति विरक्ति प्रकट करती हैं— बादिहि योग अपार जतन करौ निगम न चाहु सही। (४२२८)। ब्रह्मसंहिता को भी निगम कह देते हैं।

वेद के तीन प्रमुख भाग हैं—संहिता ब्राह्मण तथा उपनिषद। इनके अतिरिक्त चौथा भाग 'सूत्र' है—श्रौत-सूत्र (यज्ञ बलि आदि के नियम) गृह्य-सूत्र (संस्कारों के समय की जाने वाली बलियों का विधान) धर्म-सूत्र (व्यक्ति के साधारण तथा धार्मिक जीवन संबंधी नियमों का प्राचीनतम ग्रंथ) तथा कल्प-सूत्र (श्रौत गृह्य-सूत्रों को मिलाकर)।

सुति अथवा श्रुति (१०११ ३४१) [सं श्रुति]—इसका भी उदाहरण-रूप में उल्लेख है—'श्रीपति नाथ प्रथम भति भेखी' (२८४) अथवा (हरि) पतित पावन दीनबन्धु, अनाथनि के नाथ। संतत सब लोकनि सुति गावत यह गाथ। (१५२) तथा 'गोविंद भजन करौ इहि बार। संकर पारवती उपदेसत तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति-द्वार' (३४६)। मथुरा में सम्पन्न कृष्ण के यज्ञोपवीत संस्कार के संबंध म कवि कहता है— जाके स्वास-उसास वेद मै प्रगट भए यति चार। तिन गायत्री सुनी गर्ग सौं प्रभु गति अगम अपार। (१०११)। दशम-स्कन्ध उत्तरार्ध में कवि ने एक पद में वेद-स्तुति की है तथा उसी ब्रह्म रूपी हरि के स्वास से उत्पन्न बताया है—'स्वासा तासु भए सुति चार। करैं सो अस्तुति या परकार' (४९१२)।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १९८, अष्टाध्यायी में ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद की विभिन्न शाखाओं का स्थान स्थान पर उल्लेख है। पाणिनि ने 'आथर्वणिक' अर्थात् 'अथर्वन् वेद का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी' का निर्देश किया है।

२—हर्ष सा भ , पृ १४ बाण के समय में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के साथ तथा सामगान का बहुत प्रचार था।

३—तुलसी, कविता ७ ८४ 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग निगम नियोग ते से, केलि ही छरो सो है।

गोपियों को मुक्ति की रिया (१७९१) के समान पवित्र बताया गया है— सब सुंदरि नहिं नारि रिया मुक्ति की सब माहीं। मैं मन छिव पुनि सेष सम्भ्रमी ठिन सम गाहीं ॥ (१७९१)। मुक्तियों के मसह पर ही साकार रूप म वृन्दावन में माना तथा मुक्तियों का गोपिका रूप में साहचर्य प्राप्त करने का वर्णन भी है— मुक्तिनि कह्यो कर जोरि सच्चिदानंद देव सुम। मन बानी ते मगन जो निकटावहु सो देव। श्रुतिनि कह्यो ह्वै गोपिका केलि करें तुम संग एवमस्तु निज मुख कह्यो पूरन परमानंद। सेस कह्यो है गोपिका हरि संग किमी बिहार॥ नारि पुरुष कोउ होइ, श्रुति ऋचा गनि सो पावै सब साख को नार सार-इतिहास-सब को। सब पुराननि सार सार को सर्व श्रुतिनि को ब्यास श्रु कह्यो पुरान मैं सूर कह्यौ सो गाइ॥ (१७९१)।

२९८—गायत्री (१३१७) [सं] ब्राह्मणों द्वारा उपास्य एक पवित्र वैदिक मंत्र है। इसकी उपासना से ब्राह्मणत्व का रूप पूरा होता है। यहाँ कृष्ण का मन से गायत्री सुनने का वर्णन है (१७११)। ब्रह्म-यज्ञ के अन्तर्गत गायत्री-पाठ माना है। सावित्री अथवा गायत्री पाठ उपनयन से प्रारंभ होता है तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में भी इसका पाठ आवश्यक है। यह एक प्रकार की मानसिक एवं मानसिक शक्ति देता है।

ऋचा[2] (१७९१) [सं]—कवि ने गोपियों को वैदिक ऋचा के समान पवित्र माना है। पद्य रूप के वैदिक मन्त्रों को ही ऋचा कहते हैं। ऋग्वेद पद्य में लिखा हुआ है।

संहिता (२१) [सं]—यह वेदों का मन्त्र भाग या सूक्त है।[1] यह भी चार हैं। पुराणसार में बताया गया है कि कलियुग के कारण व्यास-अवतार हुआ तथा उन्होंने संहिता तथा पुराणों की रचना के बाद भागवत लिखी—'तातें हरि करि व्यास अवतार। करी संहिता बर बिचार। बहुरि पुरान अठारह किए। पै तउ शांति न आई हिए। (२२)।

१—सूर सा० प, पृ० १११ हर्ष को समझने के लिए श्रुति-स्मृति-इतिहास के वेत्ता भी उपस्थित थे—श्रुतिस्मृतीतिहास विचारदक्ष वरद्विजादयः।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ० ११८ पाणिनि ने 'छन्द' 'मंत्र' 'ऋक्' 'यजुः' 'ब्राह्मण' तथा 'निगम' आदि शब्दों का सूत्रों में प्रयोग किया है। छन्द का अर्थ वैदिक साहित्य है जबकि भाषा बोलने वाली भाषा के लिए प्रयुक्त है। छन्द में ही 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण' दोनों लिए गए हैं। ऋक (पद्य) तथा यजुः (गद्य) के पवित्र पारिभाषिक सिद्धांतों को ही मंत्र कहा गया है— 'ब्राह्मण' के विरोध में। तुलना, श्वेता० १,१ सबसे प्रथम रचना ऋचा ऋषि रान लिपले।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ० १११ पाणिनि को 'ऋग्वेद' तथा 'यजुर्वेद' की संहिताओं तथा उनके 'सूक्त', 'अध्याय', 'अनुवाक' आदि भागों का ज्ञान था।

उपनिसद्[1]—(१२१ २२११) [सं उपनिषद्]—उपनिषद् का अर्थ 'निकट बैठना' अर्थात् शिष्य का गुरु के निकट बैठकर आत्मा परमात्मा का रहस्यात्मक निरूपण करना है। वेद तथा उपनिषद का प्रायः साथ-साथ उल्लेख हुआ है — जस बेद उपनिसद बाखें। (१२२) अथवा सूर स्याम तुम अन्तरजामी बेद उपनिषद गावै। (२२११)। यह वेद की शाखाओं या दर्शन संबंधी भाग है जिनमें आत्मा-परमात्मा आदि की व्याख्या की गई है। ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले यज्ञ बलि तथा उनके महत्त्व आदि पर भी प्रकाश पड़ता है।

पुरान (१८ १६७ १५) [सं पुराण]—वेद के साथ ही पुराण का भी उल्लेख कवि ने किया है— जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत बेद पुराननि साखैं। अथवा 'सुनियत कथा पुराननि गनिका व्याध अजामिल तारौ। (१५७) तथा बेद पुरान भागवत गीता सबको यह मत सार। (१८)। योग के संबंध में शुकदेव गोपियों से कहते हैं— आये जोग सिखावन पांड़े। परमारथी पुराननि लादे ज्यौं बनजारे टाँड़े। (४२२२)। पुराण[2] अठारह हैं तथा वेद व्यास द्वारा रचित माने गए हैं— ताते हरि करि व्यास अवतार। करी संहिता वेद-विचार। बहुरि पुरान अठारह किए।[3] पै तउ सांति न आई हिए। (२१) इनका समय महाभारत के बाद का माना गया है[4] तथा इनमें वर्णित सभी प्रधान आख्यानों का आधार महाभारत है।

भागवत—(१ १८५ २२६) [सं भागवत] अठारह पुराणों में से सबसे महत्त्वपूर्ण भागवत पुराण ही है। भागवत सुनने की बहुत महत्ता है— श्री भागवत सुनी नहिं

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ २१७ एक सूत्र में पाणिनि ने 'उपनिषद्' शब्द प्रयुक्त किया है जहाँ यह 'जो गुप्त है' के अर्थ में आया है। कौष के विचार से भी पाणिनि उपनिषद से परिचित थे।

२—हर्ष का अ, पृ ४२ ४३, बाण के पुस्तकवाचक सुदृष्टि का कंठ मधुर था तथा वह नित्य प्रति वायु पुराण की कथा सुनाता था ('पवमानप्रोक्त पुराणं पपाठ')। इस प्रसंग में बाण ने 'पुस्तक' शब्द प्रयुक्त किया है तथा प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ किस प्रकार रखते थे इसका भी निर्देश है। पुस्तक के लिए प्राचीन शब्द 'ग्रन्थ' था। वैदिक साहित्य में कहीं भी 'पुस्तक' शब्द नहीं मिलता है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी तथा पतंजलि के महाभाष्य में भी 'पुस्तक' का उल्लेख नहीं है। अमरकोश तथा अश्वघोष और कालिदास के काव्यों में भी नहीं आया है, अतः सम्भवतः बाण के समय के आसपास ही 'पुस्तक' शब्द किताबों के अर्थ में प्रचलित हुआ था। पाँचवी शती के मध्य में 'पुस्तक' शब्द के ईरान से अपनी भाषा में आने की सम्भावना है। ईरान में चमड़े पर किताबें लिखी जाती थीं अतः 'पुस्तक' शब्द का अर्थ ग्रन्थ हो गया। हमारे देश में आकर दो सौ वर्षों में यह साहित्य में भी प्रयुक्त होने लगा। पहलवी भाषा में 'पुस्तक' शब्द खाल का द्योतक है।

३—म स टी १८।१ 'कस्तूँ पठित पढ़हि पुराणू। परम पंथ कर करहिं बखानू।

४—प्राचीन पृ १ २ अकुल फजल ने रामायण तथा हरिवंश पुराण के फ़ारसी अनुवादों का उल्लेख किया है। सभी प्रमुख प्रसिद्ध ग्रन्थ सम्राट के पुस्तकालय में थे।

गीता—(११६ २८६) [सं भगवद्गीता] वेद उपनिषद के साथ नाम-माहात्म्य तथा प्रभु की भक्त-वत्सलता की साखी गीता से भी की गई है — गीता-वेद-भागवत में प्रभु यों बोले हैं पाथ। जन के निपट निकट गुनि निश्चय हैं सदा रहत ही साथ। (११६)।

अर्जुन को कृष्ण द्वारा संग्राम-स्थल में गीता सिखाने का उल्लेख भी सूर ने किया है— कही हरि जू जो गीता गायी। (२८६)। गोपियाँ भी गीता का उल्लेख करती हैं— 'समुझत नहीं ज्ञान गीता को मृदु मुसकानि अरे। (४१४८)। गीता महाभारत के भीष्मपर्व का ही एक भाग है। इसमें अर्जुन-कृष्ण संवाद है। इसका विषय ज्ञान कर्म तथा भक्ति मार्गों से संबंधित है। आज गीता का धार्मिक ग्रन्थों में अत्यधिक उच्च स्थान है।

२८१—सुम्रिति, सुमृति (१४८,२ ४ १८५) [सं स्मृति] जीवन-पथ के निर्देशन करने वाले ग्रंथों में इसका भी उल्लेख है – सुमृति-वेद भारत हरिपुर की ठाढ़ें सियो सुनाई। (१८७) अथवा वेद पुराण सुमृति संतनि की यह आधार मीन को ज्यों जल। (२ ४) तथा हरि समान हितिया नहिं कोई, स्रुति सुमृति ढंढरी सब जोई। (१४८)।

स्मृति शास्त्र में हिन्दू धर्म के नियम दिये गये हैं। सास्त्र[1] (१७६२) सब सास्त्र को सार[2] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इतिहास (१७६१) शब्द का भी उल्लेख किया जा सकता है। काम-शास्त्र का संबंध धर्म के पथ में काम की पूर्ति से है तथा अर्थशास्त्र का राजनैतिक जीवन से किन्तु धर्म-शास्त्र का व्यक्ति के धार्मिक जीवन तथा मोक्ष से है। प्राचीन तम धर्मशास्त्रों में गौतम बौधायन आपस्तंब (ई पू ६ से १ ८) हैं। विष्णु धर्मशास्त्र एवं हारीत के धर्मशास्त्र के अतिरिक्त ग्रन्थ और भी अनेक शास्त्र हैं। इसके बाद अनेक स्मृतियों की रचना हुई। इनमें सबसे महत्वपूर्ण मनुस्मृति है। इसका वर्तमान रूप २ ई का माना जाता है।

ऐतिहासिक तथ्यों को संचित करने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। प्रत्येक धर्म में यह अपने मूल रूप में है, जैसे जैन (तीर्थंकरों के संबंध में) तथा बौद्ध-धर्म (बुद्ध के संबंध में)। इसके बाद बाणकृत 'हर्षचरित' तथा कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' के नाम भी लिए जा सकते हैं।

२८२—सांख्य (१ ४)। [सं सांख्य, सांख्य] षड् प्रसिद्ध षट् दर्शनों में से एक है—'सूर सकल षट दरसन वै हौं बारहखरी पढ़ाऊँ। (४७४४)। सूरसागर में कपिलदेव द्वारा सांख्य रचना का उल्लेख है— कपिलदेव सांख्यहि जो गायो (१६४)। कपिलदेव के अवतार देवहूति-कपिल संवाद तथा सांख्य-दर्शन की प्रमुख बातें भी वर्णित हैं—'मम स्वरूप जो सब घट जान। मगन रहै तजि उद्यम आन। षट सुख दुख कछु मन नहिं

१—प सं टी , ४४१, 'राजा भोज चतुर्दस विद्या भा वेदन सी हेत। चार वेद षट् वेदांग पुराण मीमांसा न्याय, तथा धर्मशास्त्र इनको चतुर्दश विद्याओं में गिनते हैं। ('पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांगमिश्रिता। वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥)

प छ टी ४५ ।१ 'चारा निरारि कै राखी गुनी। 'गुनी' किसी शास्त्र या कला में पारंगत व्यक्ति को कहते थे। यह पारिभाषिक शब्द था। 'मानस' में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—मानस, बाल , ११६।७ 'पठये बोल गुनी तिन्ह नामा।'

२—तुलसी, वैराग्य संदीपनी, तुलसी-वेद-पुराण-मत, पूरन सास्त्र बिचार।'

वे। माया सो नर मुक्त कहावे। (१६४)। फिर चार प्रकार की भक्ति— सात्विकी राजसी तमोगुणी' तथा शुद्धा के संबंध में बताया गया है। इनमें 'शुद्धा' भक्ति सर्वश्रेष्ठ है जो मुक्ति की इच्छा का भी त्याग कर देती है (१८४)। सांख्य के अनुसार त्रिगुणात्मक माया से सृष्टि तथा समस्त पदार्थों का विकास हुआ है— माया को त्रिगुनात्मक जानौ। छह-रस तम ताके गुन मानौ। ईश्वर की सत्ता नहीं मानी है। आत्मा ही सहज मान्य प्रकृती साखी एवं प्रकृति से भिन्न है— आदि पुरुष चेतन को कहत। तीनों गुन वामें नहिं रहत। यह स्वरूप सब माया जानौ। जब लगि है जिन मैं प्रकास। चेतन को सो सकै न जान। चेतन घट पट है या मांई। घट उपजै बहुरी नसि जाइ। रवि मिस रहै एकही भाइ। यह तन को है जनमरु मरना। चेतन पुरुष अमर अज बरना। सकाम भक्ति से भी धीरे धीरे मुक्ति मिल जाती है— भक्त सकामी है जो होइ। क्रम क्रम करिके उधरै सोइ। (१६४)। सांख्य में भक्ति की उत्पत्ति के क्रम तथा प्रकृति एवं चेतन के मूल पर भी प्रकाश डाला गया है।

पद्मावती के नखशिख वर्णन में उसका रसना पांडित्य बताने के लिए जायसी ने कुछ चुने हुए उस समय के प्रसिद्ध ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें चतुर्वेद 'भारथ' 'गीता' तथा 'पुरान' के अतिरिक्त कुछ और भी नाम दिये हैं जैसे अमर (अमरकोष) 'पिंगल' (छंद) तथा हठात्मक निर्धारित ज्योतिष ग्रन्थ भावती (भास्वती)।[१] जायसी ने 'कवि' 'कविराज' तथा 'कविता' शब्द भी प्रयुक्त किये हैं[२] तथा नाटक का भी निर्देश किया है।[३]

२—वाद्य-यन्त्र

२८१ श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु ने ब्रज में श्रीनाथ जी की स्थापना कर वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ-साथ संगीत कला की नींव भी डाली। गऊघाट पर सूरदास जी से भेंट होने तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार करने के बाद मंदिर का कीर्तन तथा गायन कार्य उनको ही सौंप दिया गया। वल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप की स्थापना कर इस कार्य को और बढ़ाया। ब्रज में प्रचलित झांकी उत्सवों तथा ऋतुओं में गाये जाने वाले पदों की रचना इन आठ कवियों ने की जो गेय शैली में थे तथा वाद्यों के साथ गाये जाते थे। इन कवियों में संगीत-कला-पांडित्य की दृष्टि से सूरदास कुम्भनदास तथा गोविन्दस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं।

अष्टछाप के अन्य कवियों के समान ही सूर-काव्य में अनेक वाद्य यन्त्रों तथा संगीत के पारिभाषिक शब्दों का निर्देश हुआ है। इनसे तत्कालीन संगीत-ज्ञान तथा प्रचलित वाद्यों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस नामावली से उस समय ब्रज में लोकप्रिय तथा वहां के मंदिरों के कीर्तन में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु प्राय: वाद्यों के आकार प्रकार आदि का परिचय प्राप्त नहीं हो पाता है। प्राय: एक साथ अनेक वाद्यों एवं रागिनियों आदि के नाम गिना दिये गये हैं।

१—प० ग्रं० टी० १ ४।८-१ 'भासवती व्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान। वेद भेद सों बात कहु तस जनु लागहिं बान।'

२—प० ग्रं० टी० ४४१।६,८ 'कवि जो देव तस कविराजा,'तथा 'कविता सब हारिय प्रति केली।'

३—प० ग्रं० टी० १६।५ 'कतहुँ नाटक चेटक कला।' २२७।४, 'कतहूँ पतुरिनि जो नाचा।'

सूरसागर में इन प्रधान प्रसंगों में बाजों से संबंधित शब्दावली मिलती है—१ कृष्ण-जन्मोत्सव २ रास-लीला ३ बसन्त अथवा फाग उत्सव ४ विवाह प्रसंग। इन पदों में बाजों के नाम एक साथ दिए गए हैं। कृष्ण को प्रिय मुरली पर भी अनेक पदों की रचना हुई है जिसका उल्लेख आगे भी किया गया है।

सूरसागर में बाजे (४८०५) बाजन (६२७) [सं वाद्य] तथा साज (११२१) शब्द वाद्य यन्त्रों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। संगीतज्ञों के अनुसार बाजे चार प्रकार के होते हैं—१ तत्[1] (तार या तंतु वाले) २ सुषिर (जो वायु के दबाव से बजाये जाते हैं, जैसे बाँसुरी) ३ आनद्ध अथवा अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) ४ घन (एक दूसरे पर चोट करके बजाये जाने वाले जैसे झाँझ)। बाजों के यह दो भेद भी सरलता से किये जा सकते हैं—१ स्वर वाद्य २ ताल वाद्य। सूरसागर में सुर (१४८४) तथा ताल (१४८४) का कई स्थला पर उल्लेख है।

वाद्ययन्त्रों से संबंधित नामावली की व्याख्या उपर्युक्त चार भागों में अलग-अलग करने से सरलता होगी। प्रमुख नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) तार वाले बाजे—

२८४ बीन (१४८७) बीना (५१६, ३१ १) [सं वीणा] इस श्रेणी में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन वाद्य है— बाजी सांसि राम हम बूझी। (४६६८)। तन्तु-युक्त बाजे के तारों को नाखून मिजराब अथवा घोड़े के बालों वाली कमान से झंकृत करके स्वर-माधुर्य उत्पन्न किया जाता है। वीणा का वर्णन वैदिक काल से ही मिलता है। प्राचीन समय में वीणा के कई रूप प्रचलित थे। संगीत रत्नाकर में वीणा के दस भेद दिये गये हैं तथा 'संगीत पारिजात' में आठ भेद। हेमचन्द्र के अनुसार प्रत्येक देवता की वीणा के नाम पृथक-पृथक थे। यह वीणा के भेद संभवत तारों की संख्या तथा तंबूरे के आकार एवं संख्या पर आधारित थे। आईने-अकबरी के (पृ २६८) अनुसार वीणा तीन डोरी वाली तथा किन्नरी दो तारों की होती थी।

इन भेदों में से कुछ नाम सूरसागर में भी मिल जाते हैं, जैसे किन्नरी[2] (१४८१ १४८८) तथा सुरमंडल (१५११ १५१४) [सं स्वरमंडल]— सुरमंडल झनकार' (१५१५)। किन्नरी वीणा का अत्यधिक सरल रूप था। यह बंस दंड तथा तीन तूंबों से युक्त एक तांत वाली होती थी। कलकत्ता के संग्रहालय में इन दोनों वीणाओं को देखा जा सकता है। यों किन्नरी वीणा के भी कई भेद हो गये थे। इस वाद्य का स्वर कोमल होता है। होली के उल्लास-मय वातावरण में सूर ने अन्य बाजों के साथ किन्नरी का उल्लेख किया है—'बाजत बीन बाँसुरी महुवरि किन्नरि की मुँहचंग। अमृतकुंडली औ सुरमंडल आउझ सरस उपंग॥ ताल मृदंग झाँझ डफ बाजै सुर की उठति तरंग। (१५१४) अथवा 'झाँझ झालरी किन्नरी रंजबीनी झामिनि। (१४८१) तथा 'बाजत ताल मृदंग और किन्नरि की जोरी।' (१४८८)।

यहाँ किन्नरी का अर्थ 'किंगरी अथवा 'कनरी' नामक वाद्य भी हो सकता है जो अब भी बहुत प्रचलित है। यह त्रिकोणात्मक लोहे की छड़ का एक बाजा है जिसे लोहे की छड़ से

१—प सं टी ५२७।७ तंत बितत सुमर घनतारा।'

२—भारतीय वाद्य पृ ७, बाइबिल में किन्नोर नामक एक बाजे का उल्लेख है किन्तु इसका रूप अनिश्चित है।

…बजाते हैं।[1] इसे प्राय बहुरवा नाम के साथ बजाते हैं। अन्तिम पदोक्त म ताल-वाद्यों के साथ आने तथा 'कोठी' के उल्लेख से इस नाम के अन्य ताल-वाद्य का भी सन्देह होता है। संगीत रत्नाकर' तथा 'संगीत पारिजात' में किन्नरी का उल्लेख है।

स्वरमंडल वीणा म इक्कीस अथवा अट्ठाइस तार होते हैं।[2] इसको ही कात्यायनी वीणा अथवा हार्लेरन द्वारा वर्णित मत्त कोकिला कहा जा सकता है।[3] इसे मिस्टर अथवा लकड़ी के टुकड़े से बजाते थे। संगीत पारिजात म वीणा के भेद म 'स्वरमंडल' नाम भी है। 'वर्तमान पाद बंध म भी सुरमंडल नाम है।[4]

अष्टछाप कवियों द्वारा उल्लिखित 'बीन' अथवा वीणा प्राचीन रुद्रवीणा की द्योतक है। इसमें सात तार तथा बाइस पर्दे होते थे। दो तुंबी वाली इस वीणा म किन्नार की ओर मोरनी की आकृति होती थी। वीणा नामक वाद्य प्राय भी इसी वीणा की ओर संकेत करता है। सूरदास जी ने बीन के स्वर-माधुर्य का प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ते बताया गया है—

सुर न करहि बीन को परिंदी। एक अपनी मानी मृग मोहि नाहिन होत बरु की हरिनी। (१६७५)

बीन शब्द के अन्य अर्थ भी आज बस गए हैं जैसे सपेरे की महुअरि तथा भैरव के नाम पर भीख माँगने वाले 'भोपा' का सहक वाद्य।

२८४. तुंबुर (१५ १) [सं. तुंबुर] का उल्लेख आ होली के बाजा म हुआ है— एक वीणा एक किन्नरि एक मुरली एक उपंग एक तुंबुर एक रबाब भाँति सी बजावैं (१५ १)। तंबूरी वीणा अथवा वर्तमान तानपूरा सूर के समय में भी था। स्वामी हरिदास का एक चित्र इसको बजाते हुए प्राप्त हुआ है।[5] तानपूरे से गायक को केवल स्वर का बोध होता है अत यह पूर्ण वीणा नहीं है।

रबाब (१५ १) महोबान द्वारा उल्लिखित[6] होने के कारण इस बाजे की मिस्री भी प्राचीन बाजों में की जा सकती है। पद्मावत म भी इसका उल्लेख है अत यह अकबर के कुछ पहले बन चुका था।[7] भक्ति-मञ्जरी (पृ. २६६) में भी इसका वर्णन है। आज भी कुछ रबाबकार रामपुर जिले में हैं। रबाब बाजों से मिलता जुलता बाजा है। पश्चिमी पंजाब से अफ़गानिस्तान तक यह बाजा अपने विविध रूपों में प्रचलित है।

अमृत कुंडली (१५१४ १५ १)—अमृत कुंडली को सुरमंडल आठक सरस उपंग। अष्टछाप कवियों ने इस वाद्ययन्त्र का उल्लेख अधिक किया है। प्राचीन संगीत

१—अष्टछाप बाद पृ १४।
२—अष्टछाप बाद भूमिका, पृ ७, अन्यान्य कुछ विद्वानों द्वारा सुरमंडल में बत्तीस तार होने के समय में बजा सकता है— सुरमंडल ठई मधुर होता। एक बराबर पर्दब बजाया। (७२।५)।
३—अष्टछाप बाद पृ १५।
४—अष्टछाप बाद पृ ८।
५—अष्टछाप बाद पृ १।
६—अष्टछाप बाद, पृ १७ एवं बहुरि मवमालको रबाबहु स्पृत' २ १२५ १२०।
७—प प टी ५२०।१।

सूरसागर में इन प्रधान प्रसंगों में वाद्यों से संबंधित शब्दावली मिलती है—१ कृष्ण-जन्मोत्सव २ रास-लीला ३ वसन्त अथवा फाग उत्सव ४ विवाह प्रसंग। इन पदों में वाद्यों के नाम एक साथ दिए गए हैं। कृष्ण की प्रिय 'मुरली' पर भी अनेक पदों की रचना हुई है जिसका उल्लेख आगे भी किया गया है।

सूरसागर में बाजे (४८ ५) बाजन (१२८) [सं वाद्य] तथा साज (११२१) शब्द वाद्य यन्त्रों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। संगीतकारों के अनुसार बाजे चार प्रकार के होते हैं—१ तत् (तार या तंतु वाले) २ सुषिर (जो वायु के दबाव से बजाये जाते हैं, जैसे बाँसुरी) ३ आनद्ध अथवा अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) ४ घन (एक दूसरे पर चोट करके बजाये जाने वाले जैसे झाँझ)। वाद्यों के यह दो भेद भी सरलता से किये जा सकते हैं—१ स्वर वाद्य २ ताल वाद्य। सूरसागर में सुर (१४८४) तथा ताल (१४८४) का कई स्थलों पर उल्लेख है।

वाद्यमन्त्रों से संबंधित नामावली की व्याख्या उपर्युक्त चार भागों में अलग-अलग करने से सरलता होगी। प्रमुख नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) तार वाले बाजे—

२८४ बीन (१४८७) बीना (५११, १५ १) [सं वीणा] इस श्रेणी में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन वाद्य है— 'बाजी तांति राग हम बूझे।' (४२६५)। तन्तु-युक्त बाजे के तारों को मिजराब तथा अथवा घोड़े के बालों वाली कमान से संघृष्ट करके स्वर-माधुर्य उत्पन्न किया जाता है। वीणा का वर्णन वैदिक काल से ही मिलता है। प्राचीन समय में वीणा के कई रूप प्रचलित थे। संगीत रत्नाकर में वीणा के दस भेद दिये गये हैं तथा संगीत पारिजात में आठ भेद। हेमचन्द्र के अनुसार प्रत्येक देवता की वीणा के नाम पृथक्-पृथक् थे। यह वीणा के भेद संभवतः तारों की संख्या तथा तंबूरे के आकार एवं संख्या पर आधारित थे। आईने-अकबरी के (पृ २९८) अनुसार वीणा तीन तारों वाली तथा किंनरी दो तारों की होती थी।

इन भेदों में से कुछ नाम सूरसागर में भी मिल जाते हैं, जैसे किंनरी[1] (१४८५,१४८८) तथा सुरमंडल (१५११ १५१४) [सं० स्वरमंडल]— सुरमंडल झनकार' (१५१५)। किंनरी वीणा का अत्यधिक सरल रूप था। यह बांस दंड तथा तीन तूंबों से युक्त एक तांत वाली होती थी। कलकत्ता के संग्रहालय में इन दोनों वीणाओं को देखा जा सकता है। यों किंनरी वीणा के भी कई भेद हो गये थे। इस वाद्य का स्वर कोमल होता है। होली के उल्लास मय वातावरण में सूर ने अन्य बाजों के साथ किंनरी का उल्लेख किया है—'बाजत बीन बाँसुरी महुवरि किंनरि धौ मुहचंग। अमृतकुंडली धौ सुरमंडल आवज सरस उपंग॥ ताल मृदंग झाँझ डफ बाजै सुर की उठति तरंग।' (१५१४) अथवा झाँझ झालरी किंनरी रंगमीची भामिनि। (१४८५) तथा 'बाजत ताल मृदंग और किंनरि की जोरी।' (१४८८)।

यहाँ किंनरी का अर्थ 'किंनरी' अथवा खंजरी नामक वाद्य भी हो सकता है जो ब्रज में बहुत प्रचलित है। यह त्रिकोणाकार लोहे की छड़ का एक बाजा है जिसे लोहे की छड़ से

१—प॰ सं॰ टी॰ १९७१७ तंत वितत सुमर भनकारा।'

२—प्रचलित वाद्य पृ॰ ७, बाइबिल में किन्नोर नामक एक बाजे का उल्लेख है किन्तु इसका रूप अनिश्चित है।

ही बजाते हैं।[1] इसे प्राय बहुरवा नाम के साथ बजाते हैं। अन्तिम पदांश में ताल-वाद्यों के साथ आने तथा 'कोरी' के उल्लेख से इस नाम के अन्य ताल-वाद्य का भी सन्देह होता है। संगीत रत्नाकर' तथा 'संगीत पारिजात' में किन्नरी का उल्लेख है।

स्वरमंडल वीणा मे इक्कीस अथवा अट्ठाइस तार होते हैं।[2] इसको ही कात्यायनी वीणा अथवा शारंगदेव द्वारा वर्णित मत्त कोकिला कहा जा सकता है।[3] इसे मिजराब तथा लकड़ी के टुकड़े से बजाते थे। संगीत पारिजात में वीणा के भेदों म स्वरमंडल नाम भी है। 'अभिमान पाद' ग्रंथ म भी सुरमंडल नाम है।[4]

अष्टछाप कवियों द्वारा उल्लिखित 'बीन' अथवा बीना प्राचीन रुद्रवीणा की द्योतक है। इसमें सात तार तथा बारह पर्दे होते थे। दो तुंबी वाली इस वीणा म सितारे की ओर मोली की आकृति होती थी। वीणा नामक वाद्य आज भी इसी वीणा की ओर संकेत करता है। सूरदास जी ने बीन के स्वर-माधुर्य का प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ने वाला बताया है—

'सूर न करहि बीन की धरिबो। रथ थक्यो मानो मृग मोहे नाहिन होत चन्द्र को ढरिबो। (१९७५)

बीन शब्द के अन्य अर्थ भी आज बस गए हैं जैसे सँपेरे की महुवरि' तथा भैरव के नाम पर भीख मांगने वाले जोगा का मडक' वाद।

२८४ धुंधुर (१५ १) [सं तम्बुर] का उल्लेख भी होली के बाजा मे हा है— इक बीना इक किन्नरि इक मुरली इक उपंग इक तुंबुर इक रबाब भांति सौ बजावै (१५ १)। तोम्बुरी वीणा अथवा वर्तमान तानपूरा सूर के समय में भी था। स्वामी हरिदास का एक चित्र इसको बजाते हुए प्राप्त हुआ है।[5] तानपूरे से गायक को केवल 'स्वर' का बोध होता है अत यह पूर्ण वीणा नहीं है।

रबाब (१५ १) महीपाल द्वारा उल्लिखित[6] होने के कारण इस बाजे की निश्ची भा प्राचीन बाजों में की जा सकती है। पद्मावत म भी इसका उल्लेख है अत यह अकबर के पूर्व पहले चल चुका था।[7] मानि-मञ्जरी (प २६९) मे भी इसका वर्णन है। आज भी यह रबाबकार रामपुर जिले में है। रबाब सारंगी से मिलता जुलता बाजा है। पश्चिमी पंजाब से अफगानिस्तान तक यह बाजा अपने विविध रूपों मे प्रचलित है।

अमृत कुण्डली (१५३४ १५ १)—'अमृत कुंडली' को सुरमंडल पाठक सरल अष्टछाप कवियों ने इस वाद्ययन्त्र का उल्लेख अधिक किया है। प्राचीन संगीत दर्पण। अष्टछाप

१—अष्टछाप वाद्य पृ १४।

२—अष्टछाप वाद्य भूमिका, पृ ७ उल्लास कुछ विद्वानों द्वारा सुरमंडल में बत्तीस तार होने के सबब में कहा जाता है— सुरमंडल नई प्रयुक्त वीणा। एक शततन्त्र पर्यंत कीता। (७२।५)।

३—अष्टछाप वाद्य पृ १५।

४—अष्टछाप वाद्य पृ ८।

५—अष्टछाप वाद्य पृ १ ।

६—अष्टछाप वाद्य, पृ १७ 'रवं बहुविध वाद्यमानो रबाब स्मृत' २ १२५ १२८।

७—प स टी ५२७।१।

ग्रन्थों में इसका निर्देश नहीं है और न आजकल व्रज में प्रचलित बाजों में यह मिलता है। पोपले ने 'राजवाद्यस्त मीपा' से मिलते हुए एक प्राचीन बाजे अमत का उल्लेख अवश्य किया है। व्रज के कुछ लोगों के अनुसार यह सर्प के फन के आकार का स्वर-वाद्य है।[1]

जन्त्री (४ ६२) जन्त्र (१५१३) [सं यंत्र] साधारण वाद्ययन्त्र[2] के अर्थ में ही नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् यह एक वाद्य विशेष भी है। भार्गि-चक्रवर्ती में इसका वर्णन है। इसके दंड में दो आधे तुंबे तथा सोलह स्वर चिह्न बताए गए हैं। 'यंत्र' में पाँच तार होते थे। सूरसागर में जन्त्री (यंत्र- वादक) तथा खोमरी शब्दों का उल्लेख है—'हम पर काहे कौं भृकुटि बनवारी। .. कमल मौप क्यों कर्स खोमरी खड़ पुरे पर वारी। अब तो हाथ परी जन्त्री के बाजत राग दुलारी। (४ ६२)।

(ख) वायु के दबाव अथवा फूंक से बजने वाले वाद्य

२८६ कृष्ण का प्रिय वाद्य-यंत्र होने के कारण सूरसागर में मुरली दीपक अनेक पद हैं तथा इसके बहुत से पर्यायवाची नाम मिलते हैं। मुरली का रूपक रूप में भी चित्रण है जो वास्तविक विचारधारा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। कृष्ण की प्रिय वस्तुओं में मुरली के सम्बन्ध मे विस्तार से बताया गया है। पर्यायवाची शब्दों में बंसी (१२६६ १ २) [सं वंशी] बाँसुरी (१२६७ १२६१) [सं वंशिका] मुरली (११३ १ २) [सं मुरली] मुरलिका (१२७४) तथा बेनु (१ २) [सं वेणु] उल्लेखनीय है। बंसी तथा बासुरी' नामों से स्पष्ट है कि यह बाँस से बनती है। सूरसागर के कुछ मुरली पदों में (१८६४ १८७४) गोपियों द्वारा उसके नीच वश मे जन्म लेने पर बार-बार व्यंग्य है तथा मुरली-उत्तर शीर्षक पदों में (१६४८ १६५६) बंसी बजाने का वर्णन भी है। कहीं-कहीं इष्टदेव की मुरली को सुवर्ण की और रत्नजटित बताने का प्रलोभन कवि नहीं रोक पाया है (८८५)।

बंसी पके हुए पीले बाँस से बनाते हैं जो दस अंगुल से एक हाथ तक लम्बी और छ से नौ छेद वाली होती है। उपयुक्त भिन्न-भिन्न पर्यायवाची नाम सम्भवत लम्बाई के आधार पर रखे गए होंगे।[3]

सहनाई (१४ ४७१) [फ़ा शहनाई] शब्द के उद्गम से ही स्पष्ट है कि यह वाद्य विरुप मुसलमानी संस्कृति की देन है। शहनाई एक हाथ लम्बी लाल चंदन की बनाई जाती है तथा इसमें आठ छेद होते हैं। इसका बड़ा रूप 'नफ़ीरी' नाम से प्रसिद्ध है। शहनाई शुभ अवसरों पर बजाया जाने वाला बाजा है जैसा कि सूरसागर से भी पता चलता है। राम का विवाह के बाद अवधपुरी लौटने पर शहनाई से ही स्वागत होता है और कृष्ण-जन्म के बाजों में भी उल्लेख हुआ है—'पुरत निसान मृदंग संख धुनि भेरि झांझ सहनाई। (४७१)

१—अष्टछाप वाद्य, पृ १८।

२—प स री १२७।१ (१) 'वस्तुत सवयन्त्र पु राजपर्णा वादव समम्, संगीत रत्नाकर ६।११६।

३—अष्टछाप वाद्य, 'संगीत रत्नाकर में चार स्वर वाली बांसुरी को ही 'मुरली' नाम दिया गया है—'चतुःस्वर छिद्र युक्ता मुरली वाद्यवादिनी' (६, ७८४)।

मकसा बाजत प्रगट निसान पचबिधि' संख मुरज सहनाई। (१४)। इन पदों से यह और पता चलता है कि शाम के समान ही शहनाई नगाड़े के साथ बजाई जाती थी। प्रायः भी स्कोर' तथा विवाह आदि मंगल अवसरों पर शहनाई की ध्वनि सुनाई देती है।

मंगल अथवा कबु (१८८४ १४६ ४८ ४) [सं शंख] (११६) [सं कंबु] का निर्देश पाप के अतिरिक्त जन्मोत्सव तथा विवाह-प्रसंगों में है—संख और निसान बाजे बहु विविध सुहावने। (४ ८)। सीतापुर वध प या उल्लेख है—करो हरि संख धुनि बाजी सब मधुर धुनि' (४८१२)। इस प्रकार के शुभ अवसरों तथा पूजा के समय शंख बजाने की प्रथा आज तक चल रही है विशेष रूप से बंगाल म। स्वयं विष्णु के एक हाथ में शोभित माना गया है—'संख चक्र कर गदा पद्म कर (११६) अथवा संख चक्र गदा-पद्म चतुर्भुज भासन रे। (१४६)। साहित्य में गरदन के उपमान रूप म भी शंख का बराबर प्रयोग हुआ रहा है—'कंबु-कंठ वर' (११६०)।

गीता में युद्ध प्रारंभ होने के पहले 'पणव गोमुख' भेरी आदि के साथ शंख का उल्लेख है। साथ ही विशिष्ट व्यक्तियों के अपने शंखों के बजाने का वर्णन है।[२] शंख समूह से निकलता है। यों तो सब से एक ही स्वर निकलता है किन्तु महोत्सव में इसकी अधिकता सुषिर' बाजों में की है जिससे अनुमान होता है कि इससे राग रागिनियाँ भी बजाई जाती होंगी। किन्तु यह शंख बड़ा होता होगा। नाद-यन्त्री योगियों क पास पाँच मुँह वाला विशेष शंख मिलता है।

२८७ सिंगी (१८८४) [सं शृंगिन्-सिंग-सींग] यह वाद्य पशुओं के सींग से बनाते है। मुख में बजाना वाले बाबा 'रखसिंगा' कहलाता है।[३] इसका शैव तथा गोरखपंथी साधु प्राय प्रवास में लाते है इसीलिए उनको 'सींगिया बाबा' भी कह दिया जाता है। नेपाल तथा दक्षिण में यह धातु का बनता है जो 'कोम्बिकी' अथवा 'कनहार्न' तथा काम्ब कहलाता है। पालि-पकाटी में नफ्फारवाले के बाजों में 'सींग' का नाम है जो गाय की सींग की तरह का प्राचीन, मध्यकाल मध्यकालों में पंचमगर अथवा पाँच बाजों का उल्लेख किया है। यह मथुरा की एक बौद्ध कला-कृति (ई दूसरी शती) में अंकित है।

प ब टी ५२०१७ 'बाजहिं ढोल होइ झनकार ... रहा झनकार। (७) पाँच बिजयको ७१।१८ 'पाँचो शबद जो बाजत रहे हीर ... बाजो महादेव को बसन पा शब्दों या बाजों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। बाजो ... उल्लेख है—पंच बाजिक सिरो टीका में भी पंचवाद्यिक ... सूर्य के निर्दिष्ट प्रथम का उल्लेख से पहले पाँच बाजों तृतीय निर्देश हुए। तथ बाद्य के पूर्व क्षेमा-मण्डल ... परिचय दिया है। यह अधिकार (घड्ड, मारो दुन्दुभ, झल्लरी और मल्ल) का राजा अथवा राज्य का था।

मधुर प्रकार द्वारा वर्णित नक्कारखाने में बजाया नगाड़ा ढुढुन, करना कांसा, शीश तथा मंजीरे नामक बाजों के नाम है। सम्भवत प्राचीन 'पंचशब्द' का यह मध्यकालीन रूप था।

२—गीता अध्याय १, श्लो ११ १८। श्लो ११ तत शंखाश्च भेर्यश्च पणवा नकगोमुखा। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥

३—प्रचलित वाद्य, पृ १११।

४—मानि म पृ २६।

सींगे का बनाया जाता था और दो एक साथ दो बजाए जाते थे।

ब्रज में प्रायः हिरन के सींग का बाजा सिंगी तथा भैंस के सींग का विषान [सं० विषाण] कहलाता है।[1] सूरसागर में कृष्ण के खिलौनों में भी इन दोनों बाजों का उल्लेख है—'नोई बेंत विषान बाँसुरी द्वार पवेर छवैरे। लै अति जात मुख राधिका कबहुँ खिलौना मेरे॥' अथवा बेनु-विषान मुरलि-धुनि कोरों संख सबद सहनाई। (४ ५७)। होली के बाजों में भी इसका उल्लेख है।

तूर (१५८) [सं० तूर] यह प्रायः धातु का बनता है। विवाह के स्वागत के समय विशेष रूप से बजाने की प्रथा है। यह कई आकार के बनाये जाते हैं। इसका ही दूसरा नाम 'तुरही' है। संस्कृत में 'काहली' नाम मिलता है किन्तु साँप की अनुकृति वाली 'नकबे' नाम से जानी जाती थी। सूरसागर में कृष्ण-जन्म पर 'तूर' बजने का वर्णन मिलता है—'सबर्ये मास मोहन भए (हो) आँगन बाजे तूर। (१५८)।

जायसी ने वसन्तोत्सव के सिलसिले में अनेक बाजों के साथ 'तूर' का उल्लेख भी किया है।[2]

महुवरि, महुअरि[3] (१४७८ १४८४) [सं० मधुकरी] इस बाजे का उल्लेख होली-वर्णन में ही है—'हरि-संग खेलति हैं सब फाग।... बजत बाँसुरी संख महुवरि बाजत ताल मृदंग। (१४७८) अथवा महुवरि बाँसुरि चंग बाजत रंग होरी। (१४८४)। दधिदान प्रसंग में कृष्ण के संबंध में गोपियाँ कहती हैं—'सूर स्याम जानी चतुराई जिहि अभ्यास महुअरि की। (२१ ५)। प्रायः सँपेरे इसको काम में लाते हैं। संस्कृत में इसको 'नागस्वर' कहते थे तथा इसके अन्य प्रचलित नाम 'पुंगी' 'बिजीवा' तथा 'तुंबी' है।[4] यह एक तुंबे से बनाया जाता है जिसके तले में छेद करके बाँसुरी के समान दो बाँस के टुकड़े लगे होते हैं।

मुहचंग (१४८४) बाजत कर मुहचंग बैन उमंगे री रंग राँची ग्वालिन। (१४८४)—यह मुँह से बजाया जाने वाला बाजा है। ब्रज में इसको 'मौचंग' भी कहते हैं तथा फाग के नृत्य में मृदंग तथा झाँझ के साथ बजाया जाता है।[5] यह कृष्ण-सखा मनसुखा का प्रिय बाजा माना गया है। यह धातु का बनाया जाता है तथा इसका रूप त्रिशूल से मिलता है। अत्यन्त छोटा होते हुए भी यह अपने स्वर माधुर्य द्वारा सबका ध्यान आकर्षित कर लेता है।

गोमुख (१५ १) [सं०] होली के बाजों में ही इसका उल्लेख है।

(ग) चमड़े से मढ़े हुए वाद्य

१८८ यह बाजे ताल-वाद्य के अन्तर्गत भी आते हैं। हाथ अथवा डंडी आदि की चोट से

१—अष्टछाप वाद्य पृ० २६।

२—प० स० टी० १८६।१५,१४ 'बाजे ढोल डफ औ भेरी। मंदिर तूर झाँझ चहुँ फेरी। संख सींग डफ दमन बाजे। बंसकारि महुवरि सुर साजे। और कहा जेत बाजन भले। भाँति भाँति सब बाजत चले॥

३—कृष्णदास 'सुरमंडल, बिना महुवरि रसतरंग मन मोहे।'

४—अष्टछाप वाद्य पृ० २२, पं० सं० ५२०।५। 'संगीत-रत्नाकर' के अनुसार मधुकरी सींग अथवा लकड़ी से बनाये थे जिसकी लम्बाई अट्ठाईस अंगुल होती थी। 'संगीतरत्नाकर' में भी 'मधुकरि' नाम उल्लिखित है। कृष्ण को 'महुअरि' बजाने का अभ्यास होने के उल्लेख से अनुमान है कि इसका मूल सुरली होगा।

५—कृ० को, प्र० १५, अध्या० २।

ध्वनि पैदा करते हैं। निम्नलिखित नामावली में कुछ तो प्राचीन नाम हैं तथा कुछ उस समय के ब्रज में प्रचलित—

मृदंग, मिरदंग (१४८८ १५ ८ १४२) [सं०] यह ढोलक से मिलता जुलता प्राचीन वाद्य है। बीच में चौड़ा तथा मुखों पर पतला होता है। दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते हैं तथा बीच का भाग मिट्टी का होता है। प्राचीन काल में वर्तमान तबले के समान इसका प्रचार था तथा कीर्तन उत्सव आदि में भी बजाते थे।

पखावज (१५११) [पक्षातोद्य—प्रा पक्खाउज्ज—पखावज][1] यह मृदंग से मिलता-जुलता किन्तु कुछ बड़ा होता है। तहसील माँट में इसको 'इकतरियाँ' कहते हैं।[2] कुछ लोगों के मतानुसार पखावज का खोल लकड़ी का होता है तथा कुछ के अनुसार दोनों एक हैं।

ढोल ढोलना (१५२४ ११८) [प्रा ढुल्ल] कृष्ण-जन्मोत्सव पर सूर ने सुनार द्वारा सोने का ढोलना लाने का बखान किया है—'धनवह सोना ढोलना (मढ़ि) ल्याए चतुर सुनार। बीच-बीच हीरा लगे (नग) लाल लगे को हार' (१५८)। होली में वर्णित ढाल बाजों में भी इसका नाम मिलता है—'डिमडिम पटह ढाल डफ बीना मुरंज चंग यह तार।' (१५२४)। इसको प्राय 'ढोलक' भी कहते हैं तथा स्त्रियाँ लोक गीतों के साथ ढोलक बजाती हैं। परन्तु लौकिक बाजों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह हाथ से बजाई जाती है। इसका नाम प्राचीन संगीत-ग्रन्थों में नहीं है। आईने-अकबरी में 'ढुल्ल' सम्भवत: ढोल के लिए आया है तथा नक्कारखाने में एक साथ चार ढुल्ल बजने का वर्णन है।[3]

मुरज[4] (६४ १५१२) [सं मुरज] कृष्ण-जन्मोत्सव पर कवि ने मुरज बजने का वर्णन किया है। यह भी मृदंग की आकृति वाला बाजा है। इसका एक मुख दूसरे से छोटा होता है तथा इसे प्राय गले में डाल कर बजाते हैं।

मुहँचंग (१५३५) का उल्लेख भी है।

हुडुक (१४० १५११) मुरज के साथ ही डौंरू का नाम भी लिया गया है। होली के बाजों में भी इसका नाम आया है—'डौंरू मुरलि डफ दुंदुभि बाजे बहु बिधि साज।' (१५२१)। यह ढोलक से मिलता-जुलता किन्तु छोटा बाजा है। दाहिने हाथ के बीच के टुकड़े से पीट कर तथा बाएँ ओर लकड़ी से पीट कर बजाते हैं।

आवझ[5] (१४८५) आवझ, (१५११)—'दुंदुभि ढोल पखावज आवझ, बाजत

१—प सं० टी ५२०। १ सं० पक्षवाद्य—पखावज। संस्कृत के किसी भी कोश में यह शब्द नहीं मिलता। विद्यापति तथा बहुनायक में 'पखावज' शब्द है। सम्भवत: चौदहवीं शती में यह शब्द प्रचलित होने लगा था। पखावज वाद्य, पृ १ 'पुष्टिपोषक वार्ता' (१४९१) की सूची में 'पखावज' का सम्भवत: प्रथम उल्लेख है।

२—कु० बी०, प्र० १५।

३—आईने अ, पृ १ १।

४—कालिदास, उत्तरमेघ श्लो १, 'संगीताय प्रहतमुरजा स्निग्धगम्भीर घोषम्।'

५—म० सं टी [सं आतोद्य—प्रा० आओज्ज—आवज्ज—आवझ]। अमरकोश में वाद्य 'वादित्र' तथा 'आतोद्य' पर्यायवाची शब्द माने गए हैं।

रूप मुरली अधिकारी। (१५११) यह भी ढोलक के समान ही चमड़े से मढ़ा जाता है। धार्मिक मजाओं के अनुसार यह पोली लकड़ी का बनता था। संभवतः सूरकालीन 'आवज' का रूप इसके से मिलता हुआ था।[१] तुलसी तथा जायसी ने पखावज और 'आउज' का साथ-साथ उल्लेख किया है।[२]

२८६ दुंदुभि (१४४) [सं] वैदिक-काल के वाद्य-वाद्यों में इसका उल्लेख हुआ है। यह तबले के समान जोड़ी बाजा बाजा है। छोटा नगाड़ा बातु का बना होता है। इसको ही व्रज में कहीं—'भीम मृदंग निर्झर निसान डफ भेरि भ्रमर गुंजार। अथवा धमौटी कहते हैं। दूसरा नगाड़ा बड़ा होता है तथा दो लकड़ियों से बजाते हैं। इसके 'दमामा' या 'नक्कारा' [फ़ा नक्कारा] नाम भी प्रचलित थे।[३] दुंदुभि मांगलिक वाद्य है, अतएव जन्मोत्सव विवाह तथा पूजा आदि के समय मंदिरों में बजाने की प्रथा है। कृष्ण-जन्म पर देवताओं के दुंदुभी बजाने का निर्देश कवि ने किया है—देवनि दिवि दुंदुभी बजाई सुनि मथुरा प्रकटे जादवपति। (६२४) फाग के उत्सव में भी उल्लेख है—'दुंदुभि बाजै गहगही रंगमीजी ग्वालिनि। (१४८४)। दुंदुभि 'धौंसा' से भिन्न होना चाहिए।[४]

दुंदुभी के साथ ही नफ़ीरी अथवा शहनाई बजने पर नौबत (२११४) नाम से प्रसिद्ध है। रासलीला शीर्षक पदों में एक दरबार के रूपक पद से नौबत का भी बोध होता है—बेनु विषान संख धर्मों पूरत बाजै नौबत बाजा। इस उत्सव में राज-दरबारों में नौबत बजने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है। आजकल जन्मोत्सव अथवा विवाह-कार्य आदि के समय नौबत बजने का रिवाज है। जनपदी बोली में नौबत 'पुराना' अथवा 'झड़ना' भी कहते हैं।

भेरी (१२२१) 'पुर घर-घर भेरि-मृदंग-पटह-निसान बजै' (१४२) भेरि (६२४ ७०१ ६५८) [सं भेर भेरी]—इस बाजे का उल्लेख कृष्ण-जन्मोत्सव तथा फाग में विशेष रूप से है। भेरी मृदंग से मिलता-जुलता बाजा है, ढोल या नगाड़े से नहीं। व्रज में एक लम्बी तुरही के समान बाद्य यंत्र को भी 'भेरि' कहते हैं। विवाह के पहले इसको बजाने की प्रथा है। सूरसागर के 'भीम मृदंग निर्झर निसान डफ भेरि भ्रमर गुंजार' पदांश से उपर्युक्त

कर के अनुसार कुछ लोग 'आवज' को 'हुडुक्का' का पर्यायवाची मानते थे। पदमावती में औजी' तथा 'हुडुक्का' दोनों के अर्थ भिन्न हैं। पदमावत तथा विनयावली में भी आउज' तथा 'हुडुक' प्रायः अलग दिये गए हैं।

आईने (पृ २७१) से पता चलता है कि आवज तथा हुडुक एक ही थे किन्तु अष्टछाप काव्य में हुडुक का नाम नहीं मिलता है।

१—अष्टछाप वाद्य पृ० १५।

२—तुलसी, गीता ११२, पटह बंदि पखावज आउज झांझ बेनु डफ तार। नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कर कंकन झनकार।

३—आईने अ पृ १ १ अबुलफ़ज़ल ने राजकीय नक्कारखाने में अठारह जोड़े 'कुवर्गा' अथवा 'दमामा' तथा बीस जोड़े नक्कारा (नगाड़ा) होने का वर्णन किया है। पदमावत में 'तबल' शब्द नक्कारे का अर्थ सूचक है।

प सं टी २११। तथा ४२७।१ 'दमांमों [फ़ा दमामा] का भी निर्देश है।

४—परमानंददास 'दाहु बाजे बाजे दमाम दुंदुभि धौंसा बाजे।'

वर्ष म 'भेरि' शब्द प्रयुक्त होने का संदेह होता है क्योंकि इसकी ध्वनि भेरि से मिलती बताई गई है। ताल-वाद्य भेरी का उल्लेख यहाँ प्राप्त होता है— जैसे मुरलि शब्द सुनि बाजे बहु विधि साज। बिध-बिध भेरी झिमझिमा शब्द सुघोष समाज। (१५२१) अथवा पुर घर घर भेरि-मृदंग-पटह-निसान बज। (१४२)।

मदन भेरि१ आकृति म डमरू से मिलती है किन्तु बीच का घेरा पोले बीच का होता है।

निसान निशान (१४ १२७६) कवि ने प्राय जन्मोत्सव तथा वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना की तुलना 'निसान' के नाद से की है— निमय प्रमय-निसान बजावत देत महरि की गारी। (१२२) अथवा घर घर बजे निसान पु नगर सुहावन रे। (१४१) तथा 'पुरवा पवन उठी दसहूँ दिसि गरज निसान बजायो। (१२९२)। यह कवि तकि अथवा जोड़ी का बजता है तथा युद्ध बजने से मग्न होता है। निसान युद्ध में वीरों को प्रोत्साहन देने वाला वाद्य है। अन्य कवियों ने प्राय रणयात्रा के वर्णन में निसान का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[१] सूर ने भी पावस ऋतु के चित्र में निसान बजने का वर्णन किया है (१२९२)।

पटह (१४२ १५१२) [सं पटह] 'संगीत पारिजात' के मतानुसार पटह का एक ढालक है।[२] बाद्य में सेना के कूच के समय जिन पाँच बाजों का उल्लेख किया है उनमें पटह भी है।

पनव (१४) [सं पणव] यह प्राचीन वाद्य है। वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख है।

डिमडिम (१५२४) डिमडिमी (१५१२) [सं डिंडिम] यह डमरू की आकृति वाला किन्तु छोटा बाजा है। मिट्टी के घेरे के मुखों को पतली झिल्ली से मढ़ देते हैं। ब्रज में आज भी बच्चों को यह बाजा अत्यधिक प्रिय है।

ढोंढा (४२७) कृष्ण के प्रति गोपियों के व्यंग्य-वाक्य में इसका उल्लेख पाया है— लोगों की ढोंढी का बाजी बजवी स्याम मधुराय। (४२७)। यह चमड़े का छोटा नगाड़ा सा होता है। पहले ठाकुर की ओर से ढुग्गी पिटवा कर घोषणा करने की प्रथा थी।

डमरु डमरू (डिमय) [सं डमरु] यह शिव का प्रिय बाजा है। प्रसिद्धि के अनुसार ताण्डव नृत्य के समय वह इसको बजाते हैं। सूर ने भी शिव का बाजा बताया है— कुनकुना कर हँसत है हरि नचत डमरु बजाय (७८८) तथा हाथ त्रिशूल दूजे कर डमरु सिंगी नाद बजावै॥ कापालिक सैव भी डमरू रखते हैं।

ढाग (१५११ १४८५) [प्रा ढक्क] लकड़ी के घेरे पर चमड़े से मढ़ा बाजा है। ब्रज में ब्याह नामक लोकगीत वंश को बजा कर गाने की प्रथा है। यह दाहिने हाथ से बजाते हैं। महोत्सव में चार मंगल पहुरे और दस मंगल बाजे करबक का नाम दिया है या 'डफली' अपनी भी कहलाती है।[४] डफली के घेरे में झाँझ लगी होने पर वह 'खंजरी' नाम से जाती है।

डफ (१४२ १४८६,१५२२) [प्र डफ] यह हाथी के बाजों में प्रमुख स्थान

१—कृष्णदास, मदनभेरि और ताल झिमझिमी मुर मोरी।
२—सूरल 'बाजत निसान झिमताल मृ नरेश के।'
३—मध्ययुग वाद्य, पृ ४।
४—मध्ययुग वाद्य पृ ४२।

रखता है। यह चंग से मिलता-जुलता है तथा उसी तरह बजाया जाता है। सूरसागर में होली के बाजों में इसका अनेक बार निर्देश हुआ है—'डफ की धुनि सुनि बिकल भई सब कोउ न रहति घर धूंघटवारो' अथवा 'डफ बाजन लागे हेली। व गह बसहु जैसे तहँ री जहँ बसत स्याम सहेली। (३४८१ ३५२२)। साथ ही कृष्ण-जन्मोत्सव पर भी उल्लेख है—'डफ-झाँझ-मृदंग बजाइ, सब नंद भवन गए। (६४२)।

दक्षिण का महा नगाड़ा' भी ब्रज में 'डफ' कहलाता है जो होली में चौपाइयों के साथ निकलता है।[1]

उपंग (३४८५) [सं उपांग]—'बीन मुरज उपंग मुरली झाँझ झालरि ताल। (३४६४)। यह बाद्य भी ब्रज के प्रिय बाजों में से है। होली के अवसर पर प्रायः भी डफ के समान उपंग दिखाई दे जाता है। यह डमरू अथवा ढोलक के समान होता है जिसका मिट्टी लकड़ी अथवा धातु का बना घेरा एक ओर मढ़ा होता है। इसी ओर एक ताँत की डोरी लगी होती है जिसके सिरे पर चमड़े का टुकड़ा लगा होता है। इससे चोट करने से ध्वनि निकलती है। बंगाल में उपंग का एक रूप 'आनंग' अथवा 'आनंद लहरी' कहलाता है।[2] आईने-अकबरी में इसे नरसल से बना बताया है। कुंभराहो की शिल्प कला में इस प्रकार के बाजे के चित्रण से इसका अस्तित्व दसवीं शती में होना निश्चित सा है।[3]

कृष्ण-जन्मोत्सव पर ढाढ़ और ढाढ़िनि संबंधी पदों का उल्लेख किया जा चुका है। इन पदों में इनके हुरुका (६४९) [सं हुडुक्का][4] तथा ढाढ़ (६५५) बजाने की चर्चा है—'ढाढ़िनि मेरी नाचै गावै हौं हूँ ढाढ़ बजाऊँ। (६५५) तथा 'ढाढ़ो और ढाढ़िनि गावै ठाढ़े हुरुक बजावै हरषि असीस देत मस्तक नवाइ कै। (६४९)।

(घ) घनवाद्य

२११ यह बाजे ताल-वाद्य हैं तथा प्रायः सभी अन्य बाजों के साथ बजाये जाते हैं। इनमें केवल 'जलतरंग' ही स्वर उत्पन्न करता है। जलतरंग का उल्लेख अष्टछाप कवि कृष्ण दास ने किया है।[5] यह बाजे काँसे के बने हुए और श्रुति-मधुर होते हैं। यों पीतल या लकड़ी के भी बनते हैं। सूरसागर में उल्लिखित इस श्रेणी के बाद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

झाँझ[6] (६४२) [प्रा झंझा] यह जोड़ी का बाजा है। इसके गोलाकार दो टुकड़े काँसे के बने होते हैं। कीर्तन पूजा आदि में प्रायः झाँझ बजाने की प्रथा प्रचलित है। अकबर बादशाह के नक्कारखाने में तीन जोड़ 'संज' (झाँझ) बजाये जाते थे।

१—अष्टछाप वाद्य पृ ४२।

२—अष्टछाप वाद्य पृ ४४।

३—अष्टछाप वाद्य भूमिका पृ ९।

४—ना० सं टी १२३१६, हुडुक वाद्य डफ वाद्य 'मंजीरा' : ६ यह दोनों ओर चमड़े से मढ़ा हुआ बाजा है। बार्ड देव के अनुसार 'हुडुक्का' की लम्बाई एक हाथ होती थी। इसे कंधे से लटका कर दाहिने हाथ से बजाते थे।

५—कृष्णदास, 'सुरमंडल पिनाक, मधुचरि जलतरंग मन मोहै।'

६—पं सं टी १२०। ६ आईन-ए-अकबरी 'कांस्यताल' ही झाँझ है। पुष्पो वाद्य वादित्र सूची में झाँझ की जगह 'कताल' का उल्लेख है।

७—आईने अ, पृ १३।

तास (१५ ५) यह भी खोल से मिलता-जुलता वाद्य है। इसके दोनों टुकड़े छोटी से बड़े रहते हैं। ब्रज में इसको 'तार' भी कहते हैं।[1] मढ़ पुर हाथ तार कर प्रयुक्त होना स्वाभाविक है—'डिमडिम पटह ढोल डफ बीना मृदंग चंग अरु तार।' (१५२४)।

करताल[2] (१४८२) यह लकड़ी का वाद्य-यंत्र है जिसमें पीतल की खोल बीच के स्थान में लगी होती है। दोनों हाथों में एक-एक जोड़ी लेकर बजाते हैं। इसकी लम्बाई एक फुट तक की होती है। कीर्तन में अधिकतर इसे बजाते हैं।

गिरगिरी राइगिरगिरी (१५११) ब्रज के करताल अथवा खड़ताल के नाम पर ही दक्षिण में भी एक करताल नामक वाद्य प्रचलित है। दक्षिण का करताल-नाम से समान होते हुए भी आकृति में भिन्न है। उसमें काठ के दो ढोल टुकड़े से होते हैं जो ऊपर की ओर कुछ दबे होते हैं।[3] यही बाजा ब्रज में आज चिड़चिड़ो अथवा रायचिड़चिड़ी कहलाता है।[4] सूरदास जी ने सम्भवतः इसी को 'राइगिरगिरी' कहा है—बाज मुरज डफ खोल झालरी सुर पखावज तार। मदनभेरि सब राइगिरगिरी सुरमंडल झनकार। अथवा (दूजे) बाजे गिरगिरी चार भेरी सहरैं अपार, संतन हित फूलडोल। (१५१५)।

झालरी (१५१२ १५०१) [सं झल्लरिका झालरी] यह भी खोल की प्रकृति का वाद्य है जो धातु से बनता है। ब्रज में इसे लकड़ी से बजाते हैं तथा इसका दूसरा नाम 'बड़ियावल' या 'बड़ियाल' है।[1] झालरि झिल्लरी (परि १२६) शब्द भी सूरसागर में उल्लिखित है।

मंजीरा (परि १२६) [सं मंजीर] बाजत ताल मृदंग खोल डफ मंजीरा सहनाई। मंजीरे से छोटे आकार की पीतल की दो कटोरियाँ सी होती हैं जिनके बीच में छेद करके एक डोरी में बाँध लेते हैं। इसे कीर्तनों में ढोलक के साथ बजाते हैं।

घुँघरू, घंट (१४८) भी ध्वनि की उमंग में बजाने का विवरण है—घुंघरू घंट घुमार आदि मनभाती हो।

२९९— आजकल इन प्राचीन वाद्यों में से बहुत से चल रहे हैं तथा साथ ही कुछ नये भी सम्मिलित हो गये हैं जैसे स्वर वाद्यों में सितार गिटार वायलन हारमोनियम पियानो आदि। तालवाद्यों में तबले ने महत्त्वपूर्ण स्थान ले लिया है। यह प्रायः सभी वाद्य-यन्त्रों तथा नृत्य संगीत का आवश्यक अंग सा हो गया है। कीर्तनों के साथ ढोलक और मंजीरा विशेष रूप से बजाते हैं।

तानपूरे के साथ शास्त्रीय संगीत चलता है। प्राचीन काल की प्रमुख वाद्य वीणा अब कम दिखाई देती है। उत्सव त्योहार आदि पर प्रचलित प्राचीन वाद्यों का ऊपर उल्लेख किया गया है। आज के कुछ प्रमुख स्वरवाद्य पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हमारे जीवन में आकर घुल मिल गये हैं जैसे वायलन पियानो गिटार बैंजो आदि।

१—अष्टछाप वाद्य पृ ४६।

२—प० सं टी ५२०१० 'कमताल' शब्द तामलो में करताल के अर्थ में प्रयुक्त किया है। आईने अकबरी के 'कमा' का वर्णन इससे मिलता है।

३—अष्टछाप वाद्य, पृष्ठ यही।

४—अष्टछाप वाद्य, पृ० ४०।

३—संगीत सबधी पारिभाषिक शब्दावली

२६१—रास-लीला के अन्तर्गत प्रधानतया मुरली पदों में कुछ प्रारंभिक संगीत ज्ञान की सूचक नामावली का परिचय मिलता है। सूर ने भी संगीत को कला[1] माना है—'कला चौसठि संगीत' (१ ७१)। संगीत में गायन वादन तथा नृत्य तीनों की गिनती होती है। भारत में प्रमुख दो पद्धतियाँ चल रही हैं—एक उत्तरभारत की दूसरी दक्षिण की कर्नाटक। मुसलमानी संगीत-कला का प्रभाव उत्तर मे पड़ा था जिससे दोनों में कुछ अन्तर आ गया किन्तु दोनों का आधार एक ही है।

सूर ने संगीत नाद[2] (४९१४ १६९) अथवा शब्द (१ २७) से सम्मोहन का निर्देश किया है—'ऐसी मगन नाद-रस सारंग बधत बधिक बिन बान। (१६९) अथवा 'बंसी-नाद-स्वाद रस अंतर मानत नहिं श्रुति पद। (४९१६) तथा मदन रमन की सुधि न रही तनु मुनत सबर यह काम। (१ २७)। नियमित तथा स्थिर आंदोलनों द्वारा उत्पन्न ध्वनि को नाद कहते हैं। यह मधुर संगीत ध्वनि है।[3] मुरली-नाद के अन्तर्गत ग्राम, तान तथा मूर्छना (१२७१) [सं] का उल्लेख भी हुआ है— मुरलिका बाजति है यह बान। तीनि ग्राम इकईस मूर्छना कोटि उनचास तान॥ (१२७१) संगीत के सात शुद्ध तथा शुद्ध स्वरों के समूह अथवा सप्तक (स रे, ग म प ध नी) को ही ग्राम कहते हैं। यह संगीत का आधार है। इन स्वरों के क्रमपूर्ण विस्तार को 'तान' कहते हैं तथा एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में स्वरों का आरोह-अवरोह ही मूर्छना है। तान' शब्द 'तन्' [तानना] 'धातु' से बना है अतएव अर्थ स्पष्ट हो है। इसका मुख्य ध्येय गायन-वैचित्र्य बढ़ाना है। 'ख्याल' नामक गीत मे तानों का प्रयोग अधिक होता है। तान का उल्लेख दोनो पदों मे भी अनेक बार हुआ है — तान तान[4] बजान माहो हरि होती है। (१५१२) अथवा इक उघटति इक नृत्यति एक तान लेति उपज' (१५ ६)तथा गावति सबै मधुर सुर गौरी। तान लेति है दे मकझौरी (१५२८)।

सरगम (१०६९) अथवा सप्त सुरनि का निर्देश भी है—'सप्त सुरनि मुरली बाजति धुनि सुनि मोहे सुर-नर-गंधर्व-मन' नृत्य करत अष्ट संगीत पद निरखि सूर रीझत मन ही मन। (१०४५) अथवा 'मंद-मंद मुसुकाई, बाँसुरी बजाई। सरगम मुनी के साधि सप्त सुरनि गाई॥ अतीत अनागत संगीत विच तान मिलाई। सुर ताल नृत्य ... धुनि मृदंग बजाई॥ सकल कला गुन प्रवीन नवल बाल भाई। (१०६९) तथा सप्त सुरनि मे भेद बतावति नागरि रूप-अनूप' (१०५२)। प्रत्येक राग में लगने वाली स्वरों की सामूहिक रचना को ही सरगम कहते हैं। यह अनन्त शब्दों में हो सकती है। इसके द्वारा स्वर तथा राग का ज्ञान होता है। एक दो स्थलों में आलाप[5] (१ ७१) की चर्चा भी है।

१—मध्ययुग में ब्रज नगर नाचने वाले 'कलावन्त' कहलाते थे।

२—प सं टी ४०९१६ 'नाद विलीव राम रस विवश लवन धोहि विधि दीन्ह। प० सं टी १४।६ कतहुँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला।

३—संगीत शास्त्र, पृ ४।

४—तुलसी गीता १ २ उमगहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान।

५—शार्ङ्गदेव ने आलप्तिगान की अनिबद्ध गान की श्रेणी में रक्खा है जिसको अब आलाप कहते हैं। पहले इन दोनों में थोड़ा सा भेद मानते थे। रत्नाकर के अनुसार रागों के सम्बन्ध में ग्रह, अंश मन्द्र तार न्यास अपन्यास अल्पत्व बहुत्व, षाडवत्व, औडुवत्व आदि दस बातों का ध्यान रखने पर गायन 'रागा-

तान 'अवघस्त' पद भी उल्लेखनीय है— पिक सुक बिहंग पवन थकि थिर रहे तान अलापत जब गिरिधारी। (१८ ४)। आलाप एक प्रकार की तान है। स्वरों का क्रमानुसार विस्तार तान तथा विलंबित लय का 'आलाप' कहलाता है। इन तानों से ही संगीत में विस्तार रस सौंदर्य की उत्पत्ति होती है।

ताल (१४९, ३५ १) [दे ताल] का उल्लेख उपयुक्त पदांशों के अतिरिक्त अन्य थोड़े से स्थानों में भी हुआ है। ताल से संगीत तथा नृत्य में समय का परिमाण किया जाता है। ताल बाजों से भा यही प्रयोजन सिद्ध होता है— एक कर मिरदंग ताल' (३५ १)। नृत्य के समय भी हाथ से तालो बजा कर ताल देने का उल्लेख किया गया है—'नाचै कर दै-दै ताल' (१४९) अथवा नाचत महर मुदित मन कीन्हें ग्वाल बजावत तारी। (६२१)। ताल नृत्य में रूपताल (१ ६८) की चर्चा है—सूर भुवनि के भेद अपार। नाच। सुघर मिले अपार। यह एक ताल विशेष है।

बोल (३५ ५) का उल्लेख एक होली पद में है— झूमक सटी माधुरी मेंडु बिच बिच मीठे बोल। गीत के स्वरों के साथ तानें लेने पर उनको बोल-तानें कहते हैं। इसी (बोल-अलाप भी होते हैं। नृत्य में इसका बहुत महत्त्व है।

४—राग रागिनियाँ

२१४—सूर ने कृष्ण द्वारा मुरली में अनेक राग-रागिनी बजाने का निरूपण किया है— 'राग-रागिनी प्रगट दिखावो नाचो ना विधि कम। सप्त सुरनि के भेद बतावति नागरि रूप अनूप। (१०६२) अथवा 'राग-रागिनि मेलि गावै सुघर पुंड मलार। (१४४६) तथा बेनु-सब्द और मन हरि लीन्हो नाना राग बजाइ। (१४७१) हरि जू मुरली पुन्हैं सुनाई मधुरे सुर गति राग रागिनी, सबी तान उपजाई। (२७६) अथवा 'प्यारी कर बांसुरी लई। उसी राग रागिनी तरंगनि बिनु बिनु उपज भई। (२७११)।

संगीत-शास्त्रानुसार रागें छः मानी गई हैं। सूर ने इस विनती की चर्चा की है— षट् छः राग छत्तीस रागिनी हरि होरी है। (३५१२)। रागिनियां की अलग कुछ के अनुसार ठीक है और कुछ के अनुसार छत्तीस। यह रागों की पत्नियां मानी गई हैं। परमानन्द में इन छः रागों के नाम तथा छत्तीस रागिनियों का उल्लेख है।[१] सूर ने भा छत्तीस रागिनियां नाम कहलाता है।

प प टी ५२८०१ बोलअम्बर बेर सब सुनो। कबहिं अलाप सुघि बीजुनी। सुनो पारिभाषिक शब्द था और किसी अवसर अथवा कला में पारंगत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। राग रागिनी।'

१—प सं टी ११६।७ 'मानहुँ बीन बडे कामिनी। रागहिं सबे राग रागिनी।'

१—भैरवो कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा। श्री रागो मेघरागश्च रागा षडिति कीर्तिता ॥

१—प १ टी ५२८०।२५ प्रथम राग भैरो भेद कीन्हो। दोसरें मालकोस पुनि कीन्हो। बनि हिन्डोल राग किन्ह आए। चौथे मेघ मेलार सोहाए। पुनि वाहू सिरी राग मन दिया। दीपक कीन्ह उठा बरि दिया। छपउ राग बापुनि मन गुना। सौ बापुनि छत्तीस रागिनी।

६—नृत्य

२६६—नृत्य का उल्लेख प्रमुख रूप से कृष्ण-जन्म, रासलीला तथा वसन्तोत्सव शीर्षक पदों में हुआ है। नृत्य (६४४) नृत्यति (१५ ६) तथा नाचति (१५११) [सं० नृत्] शब्द प्रायः नाचने के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कृष्ण-जन्मोत्सव पर गोकुल वासियों का आनंदित होकर नृत्य करने का उल्लेख मात्र कर दिया गया है— आनंद प्रतिसै भयौ घर घर नृत्य ठावँहिं ठावँ। (६४१)। साथ ही तारी बजाने का वर्णन भी है—'नाचैं कर दै दै तारि।' (६४६)। शिशु कृष्ण के बाल-नृत्य का कवि ने कई पदों में सुन्दर चित्रण किया है— 'हरि अपनैं आँगन कछु गावत' अथवा 'आँगन स्याम नचावही जसुमति नंदरानी।' कालिय-नाग प्रसंग में उस कृष्ण द्वारा किया गया ताण्डव नृत्य भी उल्लेखनीय है— सबै ब्रज है जमुना के तीर' 'कंकन देत अहीर'। होली के हुल्लड़ में सबका मत्त होकर यौवन की उमंग में बढ़ कर नाचने का चित्रण हुआ है, साथ ही 'फूमक' धमार 'चाँचर' आदि लोक गीतों के गाने का निर्देश है—'नाचति तरुनि बाल वध नारी।' (१५१२) अथवा 'इक गावत इक नृत्यत इक रहत मोहन' (१५ ८)। चाँचर के संबंध में बताया जा चुका है कि यह गीत-विशेष होने के साथ ही लकुट-नृत्य विशेष भी है।

रास-लीला के अनेक पदों में नृत्य का विस्तृत वर्णन है। इसमें हाव-भाव अंग संचालन पैरों का ताल पर पटकना तथा नुपूर किंकिणी आदि सुमधुर ध्वनि का चित्र उपस्थित किया गया है— भौंह मोरनि नैन फेरनि तहाँ तैं नहिं टरे। अंग निरखि अनंग लज्जित सकै नहिं ठहराइ।" इते पर हस्तकनि गति-छवि नृत्य भेद अपार। (१७६६) अथवा नृत्यत स्याम स्यामा हेत। मुकुट-लटकनि भृकुटि-मटकनि नारि-मन सुख देत॥ कबहुँ चलत सुघग गति सौं कबहुँ उघटत बैन। लोल कुंडल गंड-मंडल चपल नैननि सैन॥ (१७६६) तथा 'राधा मोहन मंडल माँझ। मनहुँ बिराजत संध्या साँझ। पग पटकत लटकत लट बाहु। मटकत भौंहनि हरत उछाहु। अंचल चंचल झूमका।" मंडित गंड प्रस्वेद कन। बाजत भूषन मुदंग। नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिलित ध्वनि माधुरी। (१७६८)। एक स्थल पर संगीत द्वारा भाव-प्रदर्शन तथा अनुसार पर नृत्य करने का संकेत है— सुर भवनि के भेद अपार। नाचति कुँवरि मिले अनुसार। अद्भुत सबै संगीत मैं। (१७९०)।

नृत्य के बोल की सूचक शब्दावली यहाँ मिलती है— प्राननि सौं प्रान नैन नैननि अँटकि रहे, चटकीली छवि देखि लपटात स्याम घन। होड़ा-होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अंक भरैं, ता ता थेई थेई उघटत हैं हरषि मन। अथवा 'बेनु मधुर धुनि बोलत थेइ थेइ संगहि नाच नचाए (४२७१)। नृत्य प्रायः स्वर तथा ताल का अनुगत बताया गया है और मृदंग वाद्य पर किये जाने का कहीं कहीं निर्देश है—सुर ताल गत नृत्य ध्याइ, पुनि मरदंग बजाई। (१७६६)। यह मंडली-नृत्य आज भी विशेष रूप से ब्रज में प्रचलित है और वृन्दावन मथुरा की रासलीला का विशिष्ट स्थान है। जन्माष्टमी के अवसर पर ब्रज के भक्त-गण विशेष रूप से कृष्ण-कथा से संबंधित प्रमुख घटनाएँ स्वाँग रूप में अथवा गीत वादन तथा नृत्य के साथ उपस्थित करते हैं।

ग्वाल ने रास का उल्लेख किया है। शंकर के अनुसार आठ सोलह अथवा बत्तीस व्यक्तियों का मंडलीनृत्य ही 'रासनृत्य' कहलाता है।[१] व्यास-वर्णित 'रेचक रसासारक' तथा मंडली'

१—शंकर, अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद् यत्र नृत्यन्ति नायकाः।
पिंडीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम्॥

आदि विशेषताएँ उपर्युक्त नृत्य संबंधी पदांशों में स्पष्ट रूप से चित्रित हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार भारती (पूर्व देश अथवा भरत जनपद।) सात्वती (पुष्पठ व कठियावाड़) कैशिकी (सिन्ध देश या बरार) तथा आरभटी चार शैलियों के नृत्य होते हैं। बाद में नटों के आरभटी नृत्य की विशेषताओं में इसका उल्लेख किया है।[1]

एक विनय पद में कीर्तन के साथ नृत्य करने से जीवन के मिथ्याकर्मों के पीछे नाचने का रूपक बाँधा गया है। इसके साथ मंदिरों में कीर्तन और नृत्य करने का परिचय भी मिलता है। वृन्दावन के मंदिरों में कीर्तन के लिए पद लिख कर गाने का प्रमुख कार्य वल्लभाचार्य जी ने सूर को सौंप दिया था। अतः इनको मंदिरों में प्रचलित पूजा भोग कीर्तन आदि तत्कालीन पद्धतियों का ज्ञान होना स्वाभाविक है—'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल। काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ विषय की माल। महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल। भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल। तृष्णा नाद करति घट भीतर नाना विधि दै ताल। माया कौ कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ-तिलक दियौ भाल। कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल। (१५३)। नृत्य पर जीवन यापन करने वाली नटनियों (४१४७) का अनेक बार जिक्र आया है। इसके सम्बन्ध में पहले भी बताया जा चुका है। जायसी ने नट पद्धति तथा वाद्य-वादन के समाज को प्रचार कहा है (५५७।८ ५२७।२)।

१६७ वर्तमान समय में संगीत पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा है। शास्त्रीय पद्धति में राग रागिनियों के अनुसार गाने की शैली कम रही है किन्तु साधारण गीतों तथा वाद्य वादन में पश्चिमी देशों में प्रचलित संगीत शैली भी मिल गई है। इस प्रकार का मिश्रण सामान्य चित्रपट के संगीत में बहुत है जिसकी लोकप्रियता असंदिग्ध है। इसी प्रकार का प्रभाव नृत्य पर भी दिखाई पड़ता है।

१—सूर सा० प० पृ० ११ नट आरभटी शैली में नृत्य कर रहे थे। इस नृत्य की पांच विशेषताओं पर यहाँ प्रकाश पड़ता है। मदलीपुत—[illegible] ने इसकी [illegible] है जिसमें एक पुरुष स्त्रियों के घेरे के बीच में नाचता है। मोक के 'बरसानेठाकरे' में इनको ही हल्लीसक नृत्य बताया गया है। इस नृत्य का उद्गम पुरानी [illegible] हल्लीसक नृत्यों से किसी रूप में [illegible] हुआ होगा।

खंड ६

पशु-पक्षी

के समय द्रौपदी की अवस्था ऐसी थी मानो 'मृगी सिंह बस भेरी' (२५१)। रुक्मिणी कथा में भी उल्लेख हुआ है— 'सकत स्रृगाल सिंह को भोजन सुरवन देखि छीन लै जाई।' (४७८८) अथवा 'गृह कंदरा समान सेज भइ सिंहनु चाहि बनी' (१८१५)। कृष्ण और राधा के रूप-वर्णन में प्रायः कमर का उपमान सिंघ[1] (१४२१) हो है— 'कटि सिंह विरोधी' (१८५१) अथवा 'उपमा हरि तनु देखि लजानी। ...कटि निरखत केहरि डर मान्यो बन-बन रहे दुराई[2]'। (२३७६) अथवा 'जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग'। (२७२८)। मुख की शोभा का इस प्रकार वर्णन है— 'मनु मर्कटहिं अंक लीन्हो सिंहिका के सूत।' (८ २)। खरगोश तथा सिंह की प्रसिद्ध कथा की ओर भी संकेत है— 'ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै आपुन कूप परयौ।' (११९)।

स्रृगाल (४८ १) स्यार, सियार (५७) [सं. सृगाल)] अथवा जम्बुक (४७८७) [सं. जम्बुक जम्बूक] के व्यर्थ जीवन का अधिकतर विनय पदों में उदाहरण दिया गया है अथवा मनुष्य-जीवन की निस्सारता बताने के लिए बना है— 'सूरदास प्रभु तुम्हरे भजन बिनु जैसे सूकर-स्वान-सियार।' अथवा 'या देही को गरब न करिए स्यार काग गिध खैहैं।' (२७)। शिशुपाल तथा कृष्ण की तुलना सिंह तथा सृगाल से की गई है— 'करनि सिंह तुम्हरी बरी कैसे चपै सृगाल।' (४८ १) अथवा 'हरि मुख जम्बुक पानिहि' (४७८७)।

वराह[3] (१९१ १९२) [सं. वराह] विष्णु के वराहावतार का वर्णन तृतीय स्कन्ध में है— 'तब हरि तनु-बराह धरि आयौ' (१९१)।

सूकर (४१) [सं. सूकर)] कुछ विनय पदों मे सूकर के तुच्छ जीवन का जिक्र है— 'उदर भरयौ कूकर सूकर लौं।' (१५) 'भजन बिनु कूकर सूकर जैसौ।' (१२७) तथा 'सो तन सूकर-स्वान-मीन ज्यौं इहिं सुख कहाँ जियौ।' (११९)। सुअर बहुत ही गंदा पशु माना जाता है।

रीछ (५८१) [सं. ऋक्ष)] राम की सेना मे थे— 'रीछ लंगूर किलकारि लागे करन' (५८२)। सिंह तथा रीछ मनुष्यभक्षी पशु[4] हैं।

२—पालतू पशु

१ —यों तो प्रायः सभी जानवर जंगली ही होते हैं किन्तु कुछ घर में पाले भी जा सकते हैं। इनमें से कुछ उपयोगी होते हैं तथा कुछ केवल शौक के लिए पाले जाते हैं। बन्दर की गिनती जंगली जानवर के साथ पाले जाने वाले पशुओं मे भी आ सकती है। कुछ लोग

१—प. सं. टी. १२।१ 'पवन सिंघ रैंधहि एक बाटा। दूसर बानि निर्मंहि एक पाटा।'

२—प० सं. टी. ५५।१ 'केहरि लंक पवन बल हुरे।'

३—हर्ष० का. अ. पृ. १९१ भारत के लोग विष्णु की उपासना नारायण रूप में करते थे। महाविष्णु की मूर्तियों में वराह या नृसिंह रूप उनकी कल्पना ही थी। मथुरा-कला की गुप्तकालीन मूर्तियों में ऐसी मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

४—इंडिया एज नोन टु पाणिनि 'क्रव्याद' (मांस भक्षी) पशुओं में पाणिनि ने सिंह व्याघ्र वृक द्वीपिन् बिडाल तथा श्वा पशुओं का उल्लेख किया है। राजकी महलों में पाले जाने वाले कुत्ते 'कौलेयक' [बात २२—कुक्कुर] नाम से जाने जाते थे।

मैमनि मतिहिं न पावत ।'[१] (१२८३) अथवा 'मृग मैनी तु अंजन है। (१४२३)। मृग पशुमात्र के अर्थ में भी आया है—'सकल बन मृग चैन पावत (१८४५)'[२] अथवा 'मुनि खग मृग मौन धरे' (१२४१)। कृष्ण की अनुपस्थिति पशुओं को कम दुखदायी नहीं थी—'ते न मृगा तृन चरत चरर भरि भए रहत हूस गात' (१८२)। प्रारंभिक पदों के भक्ति-माहात्म्य वर्णन में कुरंग की चर्चा है—'ज्यों कुरंग जल देखि अवनि को प्यास न गई चहुँ दिसि धायौ। (१२१)।

सारंग शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे चितकबरा हिरन शेर हाथी कोकिल सारस मयूर आदि। मध्यकालीन काव्य में 'सारंग' शब्द को ले कर पूरे पूरे पद बनाने की प्रवृत्ति मिलती है। सूरसागर में भी कुछ पद इसी प्रकार के हैं, जैसे पद ११ २७९१ २७२९ तथा ११८१—'सारंग बिकल भयी सारंग में सारंग तुल्य सरीर। (११) तथा पथिमि सारंग एक मच्छरि। (२७२९)। यहाँ सारंग (हिरन) को संगीत से आकर्षित कर बधिक के पकड़ने की सूचना भी मिलती है— जैसे मगन नाद-रस सारंग बधत बधिक बिन बान' (११९)। आजकल हिरन शब्द ही प्रायः सुनने में आता है।

१ १—बिलार बिलाव (१११ १५७) [सं बिडाल बिडालक] शब्द निम्न पदों में उल्लिखित है— मन सुवा तन पींजरा तिहिं माँझ राखे चेत। काल फिरत बिलार तनु धरि अब धरो तिहिं लेत। (१११) तथा जैसे घर बिलाव के मूसा रहत बिषय-बस वैसो। (१५७)। इन पंक्तियों से दोनों प्रकार की बिल्ली का बोध हो जाता है—इधर-उधर घरों में घूमने वाली जो पिंजड़े में पाले हुए पक्षियों की घात में रहती है तथा घरों में पाली जाने वाली जो चूहों को मार मार कर लोगों को परेशानी से मुक्त करती है। अक्सर लोग बिल्लियाँ आज भी इसी उद्देश्य से पाल लेते हैं। कभी कभी शौक में भी सुन्दर बिल्लियाँ पाली जाती हैं। आज 'बिल्ली' शब्द खड़ी बोली में तथा बिलार' प्रादेशिक बोलियों में अधिक चलता है।

उपर्युक्त पद्यांश मे मूसा [सं मूषक] शब्द की ओर ध्यान जाता है। मूसा' शब्द बोलियों म चल रहा है किन्तु यों 'चूहा' शब्द अधिक प्रचलित है। बिल्ली तथा चूहे का बैर कुत्ते और बिल्ली के समान ही प्रसिद्ध है। चूहा बिल बना कर रहता है।

कूकर (१५७) [सं कुक्कुर] तथा स्वान (१२७) [सं श्वान] शब्द इन पदों में अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं—'हौं गज चस्यो स्वान की नाई (७४)। कुत्ते का द्वार पर कान रपकना अपशकुन समझा जाता था—'फटकत स्रवन स्वान द्वार पर' (११५९)। उसकी टेढ़ी पूँछ से संबंधित मुहावरा है—'प्रकृति जो जाकै अंग परी। स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहुँ न करी। (४१४४)। 'मेरौ मन मतिहीन गुसाईं—सब करत स्वान की नाईं' (१ १) 'कौर कौर कारन कुबुधि जड़ किते सहत अपमाना' 'भजन बिनु कूकर सूकर जैसो' (१५७) तथा 'स्वान तुल्य है बुधि तुम्हारी। जूठनि काज सहत दुख भारी। (२८४) आदि उद्धरणों से स्वान का सारे दिन भटकना तथा घर घर जाने के लिए भिड़की खाने की

१—कालिदास, कुमारसम्भव सर्ग ५ श्लो ११—

'लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ २१८, २२१, अष्टाध्यायी में 'मृग' शब्द जंगली जानवरों के साधारण अर्थ में ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है। एक सूत्र (११ ४ १२) में हिरन Cervidal के अर्थ में आया है। पाणिनि ने दो प्रकार के हिरनों 'ऋष्य' (antelope) और 'न्यङ्कु' (gazelle) के नाम भी दिये हैं।

सी है—'वृषभ स्यं न सौं धरनि चकासत बल-मोहन-तन हरैं—पीठ पकरि भुज सौं महि फेरयौ नृपस सहित पछारयौ (२ ७५) मुनी करतुति वृषासुर की— (२ १)।

मेंढनि (४४६) [सं० मेढ मेढक] का भ्रमर-स्कन्ध की पुरवा-कथा में निर्देश हुआ है। यह मेढ़ की तरह का चौपाया होता है।[1]

३—दूध देने वाले जानवर

१०२—इस सूची में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान धेनु (१२२) [सं० धेनु], सुरभी, सुरभि (६ १२११ १८१५) [सं० सुरभि] गोधन (५१) तथा गाई (५६ ५१) या गैया[2] (४) [सं०गौ—गावी—गाई—गाइ—गाय] का है। विनय-पदों में प्रभु की वत्सलता का उदाहरण गाय तथा उसके बच्चे से कई जगह दिया गया है— ज्यों गैया बच्छ के सुमिरत उठि धावै। (४)। प्रसिद्ध तथा वृष्णा कपिली गायों का भी वर्णन है। इन पदों में गाय चराना उसका हरहाई[3] (५१) होना आदि भी वर्णित है—'माधी जू, यह मेरी इक गाइ। अब आज तै आप-आगें दई, लै आइयै चराइ। यह अति हरहाई हटकत हूँ बहुत अमारग जाति। फिरति वेद-बन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राति। (५१) अथवा माधो नैकु हटकौ गाइ। —भ्रमत निस वासर अपथ पथ, अगह गहि नहिं जाइ।—छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम-दल खाइ। ... (५६)। गाय के पैरों के नीचे के भाग को खुर [सं० खुर] कहते हैं। बच्चे के जन्म आदि मंगल अवसरों पर ब्राह्मणों को गायें दान की जाती थीं[4]—'लई गैयां गनी न जाहि, तरुनी बच्छ बढ़ी[1] जे चरहिं जमुन कै तीर दूनें दूध चढ़ीं। खुर तांबें रूपें पीठि सोनें सींग मढ़ी। ते दीन्हीं द्विजनि अनेक हरषि असीस पढ़ीं। (६४२)। हिन्दू धर्म में 'गोदान' का बड़ो में ऊँचा स्थान है—'एकनि कौ गो-दान समर्पत' (१४१)। गाय का भारत में 'माता या मैया' का स्थान दिया गया है।[5] पूजा के 'पंचगव्य' में भ्रात गाय का मूत्र गोबर दूध दही तथा घी सम्मिलित है। गाय के बच्चे को बच्छ [सं० वत्स] बछरू (६४४१ ५६) बछरनि[6] (१ ६२५) या गो-सुत (१ ५६) [सं० वत्सक सं वत्सकम—बच्छकम—

किया है। व्याकरणि ने 'आहिक' आदि का नाम और जोड़ दिया है।

१—अथर्व में भेड़ के लिए 'अवि' शब्द मिलता है और 'आविक' का अर्थ ऊन है। ऋग्वेद में 'ऊर्णावती' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

२—ऋ० वो० प्र० ६, अध्या २ हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में 'गावी' शब्द गाय के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। उपयोगिता के कारण गाय वैदिक काल से ही पूज्य मानी गई है। ऋक्वेद तथा निर्घट्ट ने इसे 'अघ्न्या' कहा गया है।

३—ऋ० वो० प्र० ६ अध्याय २ 'हरिया' गाय हरी पत्तियों के प्रलोभन में दौड़-दौड़ कर खेतों में घुस जाती है।

४—मानस, बाल १६४ 'हाटक धेनु बसन मनि, नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह।

५—मनुजी, भाग १ पृ० ४२ गाय की पूजा करने का उल्लेख मनुजी ने किया है। गोबर से भूमि लीपने व गो मूत्र को पवित्र समझ कर पीने की चर्चा भी है।

६—ऋ० वो० प्र० ६, अध्याय १२, गाय का तुरत पैदा हुआ मादा बच्चा 'बछरी' कहलाता है। उससे कुछ बड़ी 'बछिया' होती है तथा जवान होने पर

(१२२९) । वन से लौटते समय कृष्ण के गो-चारण का बार-बार चित्रण मिलता है— वृन्दावन तें धेनु-वृन्द में वेनु बजावत आवत। बिडरीं (१२११) शब्द से गायों के इधर-उधर भागने का अर्थ व्यक्त होता है— भोर भई मुरली सब बिडरीं। मुरली से गाय तथा अन्य सभी पशु-पक्षी विमोहित हो जाते थे। मुरली के इस प्रभाव का कवि ने कई पदों में वर्णन किया है—धेनु मुख तृन तजि रहे, बछरा न पीवत छीर। या सुनि बेनु धुनि चकित रहति। तृन दंतनु नहिं गहति। बछरा न पीवत छीर। पंछी न मन में धीर। (१२४१) अथवा पसु मोहे सुरभी विथकित। (१२१८) । कृष्ण के मथुरा-गमन पर उनकी प्रिय गायों की दशा भी दयनीय हो जाती है—'ऊधो इतनी कहियो जाइ। अति कृस गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाइ।...जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हौ सूँघति सोई ठौर। (४९८८)।

गोचारण शीर्षक पदों में गायों के विभिन्न वर्णों पर आधारित उनके नामों का उल्लेख है — कारी गोरी, धौरी धूमरि लै लै नाम बुलावत। (१२३५) अथवा कजरी धौरी सेंदुरी धूमरि मेरी गैया। (१२८४) । इस दृष्टि से पद १ ११ बहुत महत्वपूर्ण है। इस पद में गायों के नामों की सूची सी है— धौरी धूमरि राती रौंछी, बोल बुलाइ चिन्हौरी। पियरी मोरी गौरी गैनी खैरी कजरी जेती। दुलही फुलही भौंरी भूरी हाँकि ठिकाई तेती।

दूध के सिलसिले में कृष्ण को कजरी तथा धौरी का दूध प्रिय होने का जिक्र भी कई बार है— धौरी दूध औटि है राख्यौ' (११५४) या मीठौ दूध गाइ धूमरि को (१२४९)

दुग्ध-दोहन शीर्षक पदों में धार[1] (११५१) शब्द कई बार आया है। शाम के समय वन से लौट रही हुई गायें अपने बच्चों को देखकर या स्मरण कर जो ध्वनि करती है उसको सूर ने हूँकति (४९८८) अथवा 'राँभति (१ ६८) कहा है—हूँकति लीन्हें गायें या 'राँभति गाइ बच्छ हित सुध करि प्रेम उमगि थन दूध चुवावत। गाय भी हूँकना हुंकार' या 'रँभाना' शब्द बोले जाते हैं। महाभारत में भी 'रम्भमाणा' गाय का उल्लेख[2] है। 'कृष्ण-जन्म से गाएं एक दूषित हुई थीं—'भाजन भराये धेनु, सबै अनु पय-फेनु, पयस्वी कमल-वन उमगि लहर क। अंकुरित तरु-पात उकठि रहे जे गात वन बेली प्रफुलित कलिनि कहर कै। (६८)

गाय के बाँधने में नुन (१२४१) अथवा जुरा (१११) [सं० अपं] का ही प्रायः उल्लेख है। आजकल गाय को हरी घास चराने के पश्चात् नाँद [सं नंदा] में भुस खली

१—कृ श्री प्र १ अध्या २ धौरी = सफेद स्यामा = काली कजरी = चित-कबरी हरियारी = हरी पत्तियों के लिए खेतों में घुसने वाली भूरी, = भूरे रंग की लल्ली = लाल रंग की कारी = काली आँखों वाली फूलो = सफ़ेद फूलों वाली, कपिला = सीधी गाय।

२—कृ० श्री , प्र १ अध्या० ३ वैदिक संस्कृत (तै ब्रा ७।५।१।१) में 'प्रातदोहि' तथा 'सायंदोहि' शब्द प्रातः तथा सायंकाल दुहने वाली धारों (वर्तमान शब्द 'धीवाई' व 'संझा') के लिए प्रयुक्त हुए हैं। [मत ७।५।२। 'सायंदुग्धो वा एष एतस्यार उत्सोमद् यौ:'] ।

३—कृ श्री प्र १, अध्या २ महाभारत, विराट पर्व, गोहरण पर्व ।

वर्णन है। यहाँ पर अनेक नाम एक साथ दिये गये हैं। उस समय किन जानवरों तथा पक्षियों का मांस खाते थे इसका भी परिचय मिल जाता है। इनमें छागर' (बकरा) 'मेंढ़ा' 'हरिन' 'सगुना (एक हिरन) रोझ (नीलगाय) चोतर' 'मीन' (एक बारहसिंहा) 'पाँड' (साँभर) 'तीतर' बटई' (बटेर) 'लवा 'सारस कूँज' (क्रौंच या कुलंग) 'पुखारि' 'परेवा 'पंडुक' 'गोहा' (तीतर जातिका) भुकक (बटेर जाति का) 'जमरजोरी' 'हारिल', 'चरख' 'कोंच' 'बनकुकरी' 'जल कुकरी' चकवा-चकई 'पिदारे' (पिदृ) 'नकटा' 'सेती 'सोम 'सिसारे' आदि[१]।

४ सवारी के लिए उपयोगी पशु

१४—इस शब्दावली में दो पशु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—तुरंग (१९१) [सं], हय[२] (१६६) [सं] अस्व[३] (विनय) [सं अश्व] बाजि बाजी (२१ १६६२) [सं वाजिन्] तुरी (४८ ४) [सं तुरंग] अथवा ताजी [फ़ा ताजी—अरब देश का घोड़ा] तथा कुंजर (१११ २५११) [सं कुंजर—श्रेष्ठ हाथी] गजेन्द्र (८२६) गयन्द (४४८) [सं गजेन्द्र श्रेष्ठ हाथी] गजराज (११६४) राज (१७ २७ १६६ १८८१) [सं] मतंग (२१६०) [सं] मैगल (१ २)।[सं मदकल मदकारिन] अथवा हाथी (११२) [सं हस्ति]— क्योंकि चढ़ी तुरंग महागज।' (१९१)।

इन दोनों का उल्लेख सेना के चार अंगों तथा सवारी के साधनों के अंतर्गत किया गया है। हाथी तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख विनय-पदों में गज-ग्राह कथा (४२६ ४३१) के अन्तर्गत अनेक बार हुआ है—'दौरि छुड़ायौ हाथी' (११२) अथवा—'हा करुनामय कुंजर टेर्‌यौ रह्यौ नहीं बल थाकौ' (११३) अथवा 'दुखित गयंदहिं जानि कै आपुन उठि धावै। (४) या 'ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त नाम लेत वाकौ दुख टार्‌यौ' (१४) तथा 'गज-मोचन ज्यौं भयौ अवतार। (४२६)। कहीं कहीं निरंकुश मतवाले हाथी और मन का रूपक किया गया है— माधौ जू मन सबही बिधि पोच। अति उन्मत्त निरंकुस मैगल चिंता-रहित असोच। (१ २)। स्त्रियों की चाल का उपमान भी मतंग ही है—'मंद मंद

गडरी के योतक थे। 'जावाल' तथा महाजाबाल' बकरी भेड़ें पालने वाले को कहते थे। 'अवि' अथवा आविक' भेड़ों के नाम थे।

१—म सं टी ५४१। छागर मेंढ़ा बड़ भी छोटे—मोट बड़े सब टोइ टोइ धरे। बरदे दूसरे कुकुर न चरे। कंठ परी जब छूरी रकत ढरा होइ आंसु। के अपान तन पोषा का हौ परावा मांसु।

२—मानस बाल २६८, हय गय स्यन्दन साजहु जाई।
३२६, 'गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी।
जानकी, १७१ 'बाजी दास बाजि गज हेम बसन मनि।'

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १४३ २१६, एक दिन में घोड़े द्वारा पूरी की गयी यात्रा को 'आश्वीन' कहा जाता था। 'अश्व' तथा वाडव' शब्द भी मिलते हैं। कौटिल्य के अनुसार श्रेष्ठ अश्व कम्बोज सिन्धु तथा बाह्लीक से आते थे। पृ २१८ हाथी को 'हस्तिन', 'नाग' अथवा 'कुंजर' नामों से पुकारा जाता था। बड़ी सूंड वाला 'पुष्कर' कहलाता था तथा 'द्विहस्ति' एवं 'त्रिहस्ति' ऊँचाई मोटाई के नाम थे। हस्ति-दंत का उपयोग भी होता था।

हचैसता के पौर। नीख सुरंग कुमैत स्याम तेहि परदे सब मन रंग। बरन अनेक भाँति भालिन के चमकत चपला संग। (४७१४)।

म्लेन [फ्रा० जीन] कड़ाऊ वर्णित है—'म्लान जराइ जु समसपाइ रहि देखत दृष्टि भ्रमाइ। (४७१४)।

कृष्ण-रुक्मिणी विवाह में भी कृष्ण का घोड़े पर जाने का वर्णन है—तुरी ताजी बिना ताजनं[1] चपल चपला भीहरी। जान जरित जराव पाखरि लगी सब मुक्ता लरी'।[1] जीन [फ्रा० जीन] घोड़े की पीठ पर पड़ी चमड़े की गद्दी को कहते हैं।

पाखरि [सं० प्रखर] घोड़े पर पड़ी झूल होती है।

ताजन [फ्रा० ताजियाना] चाबुक [फ्रा०] या कोड़े [सं० कषर] को कहते हैं।

ताजी [फ्रा० ताजी] अरब देश के प्रसिद्ध घोड़े थे।

घोड़े की बाग (२१) [सं० वल्गा] का परिचय भी मिलता है—'बाएँ कर वाम्हि बाग' (२१)। इसको बाग रास [सं० रश्मि] भी कहते हैं।

पद्मावत (४६) से ग्यारह-बारह किस्मों के घोड़ों के संबंध में पता चलता है। उसमें 'लील नीले रंग का घोड़ा भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। हाँसुल' कुमैत' 'हिनाई' 'भंवर' (भौरे के रंग का मुश्की) आदि सुरसागर के घोड़ों से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'समुंद' (बादामी) 'सियाह' (कमदोह लाल) 'दुरा' (इस रंग का घोड़ा दुर्लभ है) 'सुरंग' (लाख के रंग का या शीशा कुमत) 'महुअ' (महुए के रंग का), 'सर्र (रोएँ सफ़ेद व लाल) 'कोकाह' (सफ़ेद) 'बोलाह' (गर्दन व पूँछ के बाल पीले) तुखार (तुषार देश का मध्यएशिया में शकों के एक कबीले व मूलस्थान से आने वाले घोड़े कुषाण तथा गुप्तकाल में इस नाम से प्रसिद्ध थे।) आदि नये नामों पर भी प्रकाश पड़ता है। आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अरबी सौदागर या ताजिक व्यापारी राष्ट्रकूट राजाओं के लिए घोड़े लाने लगे थे और धीरे धीरे उनके विदेशी नाम भी प्रचलित हो गए। बाण ने भारतीय नामों का सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उल्लेख किया है जैसे 'शोण' 'श्याम' 'श्वेत' 'पिंजर' 'हरित' 'तित्तिर' 'कल्माष' आदि।[2]

एक दो स्थानों पर ऊट (१५७) [सं० उष्ट्र?] का नाम भी मिलता है—'सुरदास प्रभु बंठ-भजन बिनु मनौं ऊंट-वृष-भैंसौं। (१५७)। करभ (६९) [सं०]—करभ-कर आकृति'—ऊँट अथवा हाथी दोनों अर्थों में आता है। आज ऊँट पर अधिकतर तरकारी फल आदि सामान लादकर गाँवों से नगर में ले आते हैं।[4] इसके अतिरिक्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश में

1—प० सं० टी० ४५८।६ 'ताजन नाम चिह्न चाबुक'।

2—हर्ष सा० अ० पृ १४३, बाणकालीन घोड़ों के साज में 'सवएकलापी' 'किकिणी' तथा 'मालो से युक्त 'पर्याण' अथवा जीन प्रचलित थी। यह 'साल सारक' (चेरखाब) से बाँधी जाती थी। मालो' पूँछ में पहनाई जाने वाली चोने की लकड़ी थी तथा 'सवएकलापी' नाम से लटकने वाली पुतलियाँ होती थीं।

3—प० सं० टी० ४६। (१)।

4—इंडिया एज नोन टू पाणिनि पृ १११, 'उष्ट्र' तथा 'प्रोष्ठक' शब्द अष्टाध्यायी में उल्लिखित हैं। करभ (ऊँट का बच्चा) मूं'चालक' कहलाता था, क्योंकि वह डोर से बाँध कर रक्खा जाता था।

ऊँटगाड़ी या 'सिकरम' भी दिखायी देती है। रेगिस्तान की सवारी तो ऊँट ही है। वहाँ एक साथ कई लोग ऊँटों पर सफ़र करते हैं जिसको काफ़िला कहते हैं।

५—जल में रहने वाले जानवर

१ १—मच्छ[1] (६० ९९ १०९) [सं. मत्स्य मत्स्य] माछी (२४७६) [सं. मीन] मीन (६० १ ७ १८१२) अथवा मैन (१ ७) तथा मकर (२४१२ २४१८) शब्दों का अनेक पदों में निर्देश है। सब प्रथम विनय-पदों में उदाहरण रूप में इसका प्रयोग हुआ है—'मीन ज्यों [illegible] कारनि (६९) अथवा जैसी जाल काल जब बाँध्यो भयो मीन जल हायो। (६७) तथा जैसे मीन किलकिला दरसत ऐसे रहो प्रभु डाटत। (१ ७)। उपर के पश्चात् से सूर के समय में जाल [सं. जाल] से मछली पकड़ने की सूचना भी मिल जाती है। विष्णु का मत्स्य-अवतार भी उल्लेखनीय है—'सुमिरि छिन हरि मच्छ रूप धारयौ' (४४३)।

कृष्ण के कमल मकराकृत होने का उल्लेख किया जा चुका है—'स्रवन कमल मकर मानो मन मीन बिसान (२४१८) अथवा कलित कमल मंद-मकर मनहुँ मिलन मैन। (१ ७)। प्रेम की श्रेष्ठता अथवा उसमें अविच्छिन्नता का भाव व्यक्त करने के लिए जल तथा मछली का उदाहरण अनेक बार दिया गया है—सूर स्याम के रंगहि राची टरति नहीं जल ज्यों मीनहीं। (२८०६) अथवा नाद करेंगे मीन जल बिछुरे होइ की बारि बीहा (१४४०) तथा 'ज्यों जल हीन मीन तरफत त्यों ब्याकुल प्रान हमारी। (१८१२) अथवा—जौ है मीन दूध मैं डारे बिनु जल नहिं सचु पावै (हो)। (१४३)। रूप-वर्णन संबंधी पदों में नैनों की उपमा केवल मीन से दी गयी है—नैन मीन मुखनिधि सुर लालिका जल बीच। (२४११)।

प्रायः मछली शब्द ही बोलने में आता है। खानिय भोजन में मछली का विशिष्ट स्थान है। पद्मावत के बादशाह-भोज वर्णन में पढ़िन 'रोहू' सब सुर्भ हैं मनि 'करिया' आदि अनेक किस्मों की मछलियों के नाम एक साथ दिए गए हैं।[1] बोहित-खण्ड में भी बाग़ु व 'रोहू' का वर्णन है।[2]

१ ७—कूरम कूर्म (४२०१ ११४) अथवा कछुप कच्छ कच्छप (१०९ १०१) [सं. कच्छप] का वर्तमान प्रचलित रूप 'कछुआ' है। विष्णु के कूर्म-अवतार का सूरसागर अष्टम-स्कन्ध में वर्णन है—जैसे भयो कूर्म अवतार—(४१८) या सुमिरि छिन

१—मानस, बाल २००, 'बेसर ऊँट बाहन बहु बाजी। चले बस्तु भरि अनगिन भांती।' (बेसर = खच्चर)।

२—प. सं. टी., २१२ 'कोल्हूति मयर मछ बहु बरना।' ३३।६ 'जम्मर्हि मंछ रोहु की बानी।' ३३।७ 'रहु अपूरि मीन जल भरी।' १४०। 'मछ मछ मंछ बहुरि नहुं रहही।'

३—प. सं. टी., १४२।, 'करे मंछ पढ़िना जो रोहू।—बाबे।'

४—वही, १४०।४, 'उलटत बगुला एक दिखावा। मछु धोखाविरि पवन धाखा।' १४८।२, 'बहु काढ़ी जो देखहु रोहू।'

कच्छप-रूप धार्यौ' (४३५)। समुद्र-मंथन में इस रूप में उन्होंने देवताओं की सहायता की थी—'बासुकि नेति अरु मंदराचल रई कमठ मैं आपनी पीठि धारौं। (४३५)। इसके अतिरिक्त अन्य स्फुट प्रसंगों में भी चर्चा आई है—हरि जू की आरती बनी—कच्छप अध आसन अनूप अति डाँडी सहस फनी। (१३१) अथवा मुकुट मनु मकर अरु केस सँवार ज्यों मधुप मधु धन कूरम बनाई। (४८ १)।

गज-ग्राह कथा में ग्राह के कई समानार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं—नक्र(११२) [सं० नक्र] मगर (१५६४ २४६१) [सं० मकर] तथा ग्राह (७ ५ ६६) [सं ग्राह] 'माधो जू मन ग्राह तें छुड़ायौ' (४४) अथवा नक्र नक्र-सोध कीनी (४१२)। देवल ऋषि के शाप से एक गंधर्व के ग्राह होने तथा अगस्त्य ऋषि द्वारा दिये गये शाप से राजा इन्द्रद्युम्न के गजेन्द्र होने की यह कथा (४२६) विष्णु की भक्तवत्सलता को सिद्ध करने के लिये बार बार बताई गई है।कवि को कृष्ण की विशाल श्याम-वर्ण बाहुओं को देखकर जल से बाहर निकले मगरों का संदेह होता है—स्याम बाहु बिसाल केसर-खौरि विविध बनाइ। सहज निकसे मगर मानो धूम खेलत आइ ॥ (२४८६)।

आजकल मगर' नाका' तथा 'घड़ियाल' शब्द प्रचलित हैं। मगर का शिकार भी किया जाता है।

वर्षा-वर्णन में विशेष रूप से दादुर दादर (१६२१ ६१ १२१६) [सं दर्दुर] अथवा मेढ़ा (१५६४) [सं मंडूक] का उल्लेख हुआ है। वर्षा से प्रसन्न होने वाले जब मोर, पपीहा आदि के साथ साथ ही दादुर का नाम सदैव लिया जाता है—अब लागनि पुकार दादुर सम, जिनहीं कुँवर कन्हाई' (८१६) अथवा दल दादुर ललकार' (१६२१) तथा 'दादुर मोर चकोर मधुप पिक बोलत अमृत बानी। (१६१६)। विरहिणी गोपियों को इन सब का स्वर आराध्य के बिना शूल के समान कष्ट देता है—दादुर मोर पपीहा बोलत कोकिल शब्द सुनावै।

सूरदास प्रभु सौं कहियौ नैननि है झर लायौ।[1] (१६१७)। साँप मेढकों को अक्सर खा जाता है—दादुर खाए सेपनि' (१६२८)।

पद्मावत में मेंढा' शब्द मेढक के अर्थ में आया है।[2] कुएं का मेंढक या 'कूप मंडूक' शब्द संकीर्णता का भाव व्यक्त करता है।[3]

६—सर्प तथा अन्य रेंगने वाले जानवर

१ अ—साँप के पर्यायवाची शब्दों की भरमार है। विनय-पदों में स्फुट उल्लेखों के अतिरिक्त रूप-वर्णन पदों में उपमान के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। अजगर (१ ५)—[सं अजगर] अत्यधिक भयंकर तथा विशालकाय होता है। यह साँपों की जाति में सबसे अधिक बड़ा है। जंगलों में पेड़ ऊँची घास अथवा झाड़ियों की आड़ में छिपकर सरलता से अपना शिकार पकड़ लेता है तथा साबित ही निगल लेता है। फिर इसका दिन तक हिलना डुलना कठिन हो जाता है। शिकार के चारों ओर रस्सी की तरह लिपटकर

१—प सं टी १४७१६, 'दादुर मोर कोकिला चोल। करहिं बोल बड़ रही न ओल।'

२—वही १४७।१ दादुर' न जान कु मा कर मेंढा।

रही फनिग की मनि ज्यौं' (४'९१) 'मानौं मनिधर मनि ज्यौं छोड़यौ फन तर रहत दुराए। (१२९२)।

रूप-वर्णन शीर्षक पदों में राधा तथा गोपियों की बेणी पन्नग [सं०] अथवा फनि [सं फणिन्] के समान वर्णित है[1]— मनौ रह्यौ पन्नग पीवन कौं ससि-मुख सुधा निहारि (२७३३) अथवा 'कबरि प्रथित अहिपति न सहस फन' (२७१५) तथा एक फनि (२७१)। बाल-गोपाल की चोटी भी नागिनि (७६१) [सं] जैसी ज्ञात होती थी— काढ़त गुहत न्हवावत जैहै नागिन सी भुंई लोटी। (७९३) तथा तरुण कृष्ण की बाहें अहिराज का भ्रम करती थीं—'भुजा देखि अहिराज लजाने। (२१७१)। सुन्दर भुज भी भुजंगिनि का मान कराती थी—'नैन मीन भुजंगिनी भुज' (२८११)। काम भुजंगम [सं भुजगम] से डसे जाने की अवस्था का चित्रण कई स्थला में है — नहिं संभार अजहुँ भुजगिनि बसि मदन भुजंगम डसी। (२७३१)। उन्हें विरहावस्था में लम्बी काली रातें भी नागिन के समान ज्ञात होती थी — पिय बिनु नागिनि कारी रात। जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात। (१८६)। पूतना की अवस्था साँप डसने को सो हो गयी थी 'गइ मुरझाइ परी मानो पर मनौ भुजंगम खाई' (६७)। यहाँ भुजंग [सं भुजग] को दूध पिलाने की प्रथा का पता चलता है— कहा होत पयपान कराये विष नहिं तजत भुजंग। (११२)।

११ —उरग द्वीप (११६१) अथवा नागलोक (२१)[सं] भी उल्लेखनीय है— नागलोक की नाएं'। नाग कद्रू से उत्पन्न तथा कश्यप के वंशज माने गए हैं। इनका निवासस्थान पाताल है। नागों के प्रसिद्ध आठ कुल हैं—वासुकि तक्षक कुलक कर्कोटक पद्म शंखचूड़ महापद्म और धनंजय।

गुदरारी (१५ ४) अजगर को कहते हैं। विद्याधर-शाप-मोचन पद में नंद को साँप काट लेने की घटना है। ऋषि अंगिरा के शाप से विद्याधर सर्प हो गया था। उसने कृष्ण के चरण-स्पर्श से अपने पूर्व रूप को पा लिया। साँप के काटने को डसनो (२७११)[1] डसि (१८९) तथा खाई (६७) कहा गया है और साँप काटने पर मूर्च्छित होना तथा 'लहरें खात (१८८) आदि का वर्णन है। साँप विल में रहता है[2]। साँप को ग्रामीण बोली में कीड़ा कहते हैं।

नृग-उद्धार-कथा में गिरगिट (४८१७) [कृकलास] का निर्देश है—'तनक चूक्यौ गिरगिट कीन्हौं' तथा कुकुरदरि (४१८७) [सं कुक्कुर] का गोपियों की विरहावस्था के वर्णन में— मई रीति हुति उरग आपूँदरि जाई बनौ न जात (४ ५७)। गिरगिट छिपकली से मिलता जुलता है जो शरीर का रंग बदलता रहता है।[3]

१—प सं मी , १८५।२, 'सिज नाग मै बे पे डसा।'
२—प सं ठी १०।१ गिरगिट संग धरे दुख सैता।
जिन जिम रात मीत जिन सैता।'
३—प सं ठी , ४।६ 'कौन्हेसि गहुआ रहहिं जनि मारी।'

नूपुर और किंकिनी की तुलना मराल अथवा 'मराल-सोम' से अनेक स्थलों में है—'मनो मयूर मराल छौना किंकिनी-कल-राव' (३ ७) या' नूपुर परम रसाल। मानहुँ चरन कमल दल सोभी बैठे बाल मराल। (२४ १)। कृष्ण बलराम को देखकर नीलकंठीर और मराल का भ्रम उनके वस्त्रों के कारण होता है अमला मनि माहुँ सरस्वति संग उभय युग कल मराल अरु नीलकंठीर। (७७१)। गज के समान मराल या हंस की भी चाल से उपमा दी गई है—गज गति मंद मराल विरोधी' (१८५१) अथवा नयन मई गति हंसी' (२७४१)।[१]

हंस के संबंध मे काव्य-प्रसिद्धि है कि वह मोती चुगता है—'अब तजि हंस चुगे मुक्ता हल' (१८४८) तथा यह भी प्रसिद्ध है कि 'मानसरोवर छाँड़ि हंस तट काग सरोवर न्हावै। (३५६) तथा 'उड़ि जाए तजि हंस भाव मनु मानसरोवर तीर के (२६८१)। आत्मा का रूपक हंस से प्राय भी बाँधा जाता है तथा मानसरोवर से परमात्मा का[२] —'जा मन हंस तजी यह काया प्रेत प्रेत कहु भाषी। (७) अथवा मुनि-मन-हंस-पच्छ-जुग जाके बल उड़ि ऊरध जात। (९) तथा जनि छवि छिरहिं सरोवर जाहिं। ...हंस उज्ज्वल पंख निमल अंग मलि-मलि न्हाहिं। मुक्ति मुक्ता अनगिने फल तहाँ चुनि चुनि खाहिं। (३३८)। इस प्रकार हंस अपने उज्ज्वल वर्ण सुन्दर गति तथा कण्ठ ध्वनि के कारण प्रसिद्ध है।

३११ सारस[३] (३३३३ २३७९) [सं] जल-सरोवर के निकट रहने वाले पक्षियों का वर्णन इस प्रकार है—देखी माई जल सरोवर साज्यो। ... सारस हंस मोर सुक-सैनी वैजयंति समतूल। (३३३७)। हंस के समान ही सारस जल में रहता है। सारस का शरीर चितकबरा और टाँगें व चोंच लम्बी सी होती है। सारस का जोड़ा हमेशा साथ रहता है। यदि एक की मृत्यु हो जाती है तो दूसरा फिर कभी जोड़ा नहीं बनाता।[४] सारस का यह प्रेम प्रसिद्ध है।

बक बकी (२३९३) [सं बक] बगुली (३५७) [सं बक + पोतक— बगोला—बगुला] बलाक (२४२५) [सं] तथा बलाहक [सं बलाहक] शब्द विशेष रूप से कृष्ण के कंठ में पड़ी मुक्तामाल के उपमान रूप में प्रयुक्त हुए है—'स्याम हृदय जलसुत की माला—मनहुँ बलाक पंक्ति नवघन पर... (२४२५) तथा 'मनु बगपाँति माल मोतिन की' (३२३३)। उनकी रोमावली से भी बग पंगति का आभास होता है—'रोमावली सुभग बक-पंगति जाति नाभिवद मूँह। (२३९३)। इस उदाहरण में बकों के एक पंक्ति म उड़ने के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है।

कवि के अनुसार भयवद् भजन के बिना मनुष्य-जीवन और पशु-पक्षियों के जीवन में कोई अन्तर नहीं रह जाता है—'बक बगुली अरु गीध-गीधिनी आइ जनम लियो तैसो।'

१—प० सं टी ३२।३, 'कंक तिन्हको सारंग सैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी।

२—प सं ग्री ३०।२।, हंस जो रहा सरीर महँ पाँख जरे तन चाक।

३७०।६ 'सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं खंजन देखाए।'

३—मानस ७२० 'मोर हंस सारस पारावत। यहाँ 'पारावत' का अर्थ कबूतर है।

४—प ०० टी ३३।४५ 'चंदहि प कि जो सेवहि लंका।

सेत पीत राते बहु रंगा।—

कुरलहिं सारस भरे हुलासा।

जियन हमार मुयहिं एक पासा।

११७—खंजन (२४२८, १८६१) [सं०] अथवा खंजरीट (१५२१) [सं०] शब्द प्राय नेत्रों के उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं—'मानहुँ खंजन बिच सुक बैठ्यो' (२४९८) या 'कमल बदन ऊपर है खंजन मानो जुगल बारि' (१८६१) तथा 'खंजरीट मृग मीन मधुप मिलि',। खंजन जल के निकट रहने वाली सफेद भूरे पीली तथा श्याम वर्णों की छोटी सी चिड़िया है। यह अत्यधिक चंचल होती है। एक पल भी एक स्थान पर नहीं रह पाती है। अत कवियों ने नेत्रों की चपलता का उपमान इससे ही लिया—'खंजरीट मति मृगा चपल भए' (१८२१) अथवा 'देखि री हरि के चंचल नैन। खंजन-मीन-मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन। (२४११)।

पिक (११२ १८१०) [सं] कोयल[१] (१९२२ २८) तथा कोकिला (१८११) [सं कोकिल] पक्षी वर्षा-वर्णन में विशेष रूप से उल्लिखित हैं—'मोर पुकार पुकार कोकिला' (१८११) 'करत मचावैं कोयल' (१९२२)। कोयल की स्वर-माधुरी वियोगिनी गोपियों को अब सुखकर नहीं—'चातक पिक दादुर चकोर, ये सबै मिले हैं चोर। (३९४१)।

इनके प्राचुर्य को वर्षा ऋतु में भी आकुलता नहीं होती इसका क्या कारण हो सकता है—'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि। किधौं उहिं देस बकनि मग छांडे धरनि न बूंद प्रवेसनि। चातक मोर कोकिला उहिं बन बधकनि बधे विसेषनि। (३९२८)। आज भी अमराइयों में कोयल का मधुर स्वर लोगों को वसन्त की सूचना देता है। एक कोयल की आवाज सुनकर दूसरी भी बोलने लगती है। वर्षा शीर्षक कुछ पद कोकिल को संबोधित किये गये हैं—'कोकिल हरि को बोल सुनाउ।' (३९५८) अथवा 'सुनि री सखी समुझि सिख मेरी। (३९५९)। यह पक्षियों द्वारा प्रिय को संदेश भेजने का ढंग नया नहीं कहा जा सकता। कोकिला के स्वर-माधुर्य से ही कवि प्राय नायिका की वाणी की तुलना करते रहे हैं 'बानी मधुर जानि पिक बोलति कदम करारत काग (१०७४) अथवा—

'कटि केहरि कोकिल कल बानी ससि मुख प्रभा धरी।
मृग मूसी नैननि की सोभा जाति न गुप्त करी।
चंपक-बरन चरन-कर-कमलनि दाड़िम दसन लरी।
गति मराल अरु बिंब अधर-छबि अहि अनूप कबरी। (५. ७)

सीता-वियोग में राम-विलाप शीर्षक इस पद्यांश से मध्यकालीन प्रचलित उपमानों का अनुमान हो सकता है।

परेवा[२] [सं पारावत] तथा कपोत (१२७७) [सं] भी उल्लेखनीय नाम हैं। 'धीर कपोत बदत ता ऊपर' हरि बने चोर, कपोत मधुप पिक सारंग सुधि बिसरी। (२७९८)—वर्णन कूटपदों में है। हिंडोला-दीपक पद (परि० १ ९) में कालिंदी-तट के वर्णन में अनेक पक्षियों के नाम एक साथ लिये गये हैं—'तहं मास मुनिवरी मुंज बैठे मत्त अलि-कुल गुंज। हंस-चक्रक-चकोर चातक कीर कोकिल पुंज। कुंज कुंज तहं मोर निरतत करत कुलाहल नाद। सुमिल परेवा मू न पिकज कपोत कुल-कुल-नू र। बोलहिं गहगह मधुर बानी

१—न सं टी, ५१७५, 'झुक झुक कोहल-करि रावा। को निगराज बोल बहु भावा।'

२—न सं टी० २७१३, 'फिरहिं परेवा भी करवाहीं।'
१९३५, 'फिरिनि परेवा धाम बस....।'

अथवा सुवटा या सुआ (५१८८, १४) [सं. शुकः] का उल्लेख विनय पदों में बहुत हुआ है। हरि-भक्तवत्सलता बताने के लिए अन्य कथाओं के साथ गणिका-कीर कथा भी बार बार बताने से कवि नहीं थकता— 'कीर पढ़ावत गणिका तारी व्याध परम पद पावौ' (६७) अथवा 'सुआ पढ़ावत गनिका तारी। (८)। सांसारिक आकर्षणों के मोह तथा भ्रम को समझाने का भी तरह तरह से कवि ने यत्न किया है— 'विषय भरी नलिनी के सुक ज्यौं बिन गुन मोहिं गह्यौ' (४९) 'सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौने जकर्यौ। (३११) अथवा 'कबहुँ सुवा होत सेमर कौ अंतहिं कपट न बचिवौ। (५९) अथवा 'ज्यौं सुक सेमर फूल बिलोकत जात नहीं बिनु खाए। (१) तथा 'सेमर फूल सुरंग अति निरखत मुदित होत खग भूप। (१२)। नलिनी पर बैठते ही नाल के झुकने से वह उलटा लटकने लगता है और अपने उड़ने की शक्ति को भूल जाता है। माया से भ्रमित प्राणी की अवस्था भी ऐसी ही है। एक पद में 'सुआ' आत्मा का बोधक है— सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै। जा बन राम-नाम अमृत-रस स्रवन-पात्र भरि लीजै। (१४)।

रूप-वर्णन में शुक नासिका का उपमान है— 'नासिका पर कीर वारत' (२४५१) या 'नासिका सुक नैन खंजन कहत कवि सरमाइ' (२१७२)। आजकल 'तोता' शब्द अधिक बोला जाता है। ग्रामीण बोली में 'सुवा' या 'सुआ' भी कहते हैं। तोते की चोंच सुन्दर होती है। वर्षा-वर्णन तथा वन के पशु-पक्षियों में कीर का बहुत बार उल्लेख है—'ते वन बिपिन अधीर कीर पिक कोकिल हैं बिलखात। (१८२)। मनुष्य बोली के शब्द सीखने में पक्षियों में सबसे अधिक कुशल तोता पढ़ाने का उल्लेख सूरसागर में है।

सारिका या सारी [सं. शारिका] (१९११) मैना को कहते हैं। पिंजड़े में पाली जाने वाली चिड़िया में सुक तथा सारिका[1] दोनों ही हैं—'हंस सुक पिक सारिका[2] 'कूजै सुक-सारी (१७१९)।

१२१—चकोर[3] चकोरी (२०११, २१२, १८५१ [सं.] का चन्द्र के प्रति अनुराग

१—मानस, बाल., ११८ 'सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए।' प. सं. टी., २११ 'सारी सुवा सो पढ़वइ करहीं।' शुक-सारिका तथा तोता-मैना का साथ-साथ उल्लेख प्रायः होता है। यह एक दूसरे के साथ आनंद-मग्न रहते हैं।

२—कालिदास, उत्तरमेघ श्लो. २१, 'पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां।'

३—हर्ष. सां. अ. पृ. १८९, विन्ध्याटवी के पशु-पक्षियों के वर्णन में बाण ने अनेक नाम दिये हैं तथा प्रत्येक किस कार्य में निमग्न था यह बताया उनके स्वभाव पर भी प्रकाश डालता है—जैसे चकोर अपनी चकोरी की चोंच से चुम्बन ले रहा था, सनकुक्कुटी कोटर में बैठी थी, मैना बच्चों को पढ़ना सिखा रही थी, तुरंत पक्षी पीलु फल खा रहे थे तोतों के बच्चे परीक्षण व कलहल कर रहे थे। इनके अतिरिक्त करकोष, हिमकली, रक्तु मेमने, कोमल पक तथा कपूर हिरन, गोलांगूल मृग, नीलगाय, भेड़िये हाथी, तेंदुए, सूअर, चूहे, कालितानक तथा बन्दर तथा लंगूर आदि पशुओं का भी वर्णन है।

हर्ष. सां. अ. पृ. ६७ बाणोक्ती हर्ष-प्रसंग में कुछ गृह-पशु-पक्षियों का उल्लेख राजभवन तथा अन्तःपुर वर्णन में आया है। इनमें पंजर-शुक-सारिका, गृहमयूर, हंसमिथुन, चक्रवाक-युगल, गृह सारसी तथा भवन हंसी उल्लेखनीय हैं। पशुओं में गृहहरिणिका, पंजरसिंह तथा राजस्थानीय कौलेयक नाम दिये गये हैं।

रे पापी तू पंखि पपीहा पिय पिय' कर पकराति पुकारत। (१९५६) किन्तु कभी कभी दुख की सम्वेदना मिलती भी जाती है—'बहुत विन बीती पपिहा प्यारो। बासर रैन नाम लै बोलत भयौ विरह ज्वर कारो॥ (१९५५)। पपीहे का रंग हल्का स्याम या भूरा होता है और चोंच भारी सी होती है। पपीहा तथा चातक को एक ही बताया गया है—आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाम तुम्हारो। (३६८५)। काले पपीहे को ही चातक कहते हैं। इस पद मे इस बात का संकेत है। पद ३२५ में एक साथ एक निष्ठ प्रेम सिखाने वाले इन पक्षी का जिक्र किया गया है जैसे स्वाति-चातक[१] कमल-रवि भ्रमर मधुप दीपक-पतंग मीन जल परेवा-परेवी कुरंग-नाद तथा पारतीय पत्नी का पति के प्रति एकांत प्रम।

वर्षा वसंत तथा अन्य स्फुट प्रसंगों में प्रयुक्त कुछ और पक्षियों के जोड़े के नाम उल्लेखनीय हैं जैसे दादुर पैहर (१९२२) गरदी (११४१) झिल्ली (३९४६) [सं झिल्ली] तथा गदगद (परि १०१)। झिल्ली के लिए आज अधिक प्रचलित शब्द 'भींगुर' है। इसकी आवाज को ग्राम 'झनकारना' कहते हैं। एक स्थल पर भरुही का नाम भी आया है—'ज्यौं भारत भरुही के अंडा राखे गज के घंट तरी। सूरजदास ताहि बर काकी मिथि बासर जो बपत हरी। (४७७७)। यह सम्भवतः 'भारद्वाज' [सं] नामक छोटी चिड़िया है। महाभारत के युद्ध मे घंटे से ढक जाने के कारण इसके अंडे को रक्षा की कथा है जो भगवान का भक्तों की सहायता करने का एक उदाहरण है।

कुछ कुरूप तथा अशुभ समझे जाने वाले पक्षी भी हैं जैसे—

काग (२८१ ११४६ ४२ १) [सं काक] या वायस (४३७१) [सं वायस] तथा गीध गीधनी (२७ ३६ १५७) [सं गृध्र गृध्र] तथा उलूक (१ २४५२) [सं उलूक]। मृतक शरीर पर मंडराने वाले पशु-पक्षियों का उल्लेख विनय-पदों में अनेक बार है—या देही को गरब न करिये स्यार काग गिध खैहै। (८६) अथवा 'यह तन-जरि जनम मुठो स्वान काग न खाइ। (११६)। कुरूप होने के साथ ही कौए की आवाज भी कटु होती है।[१] एक कौए के मरते ही थोड़ी देर मे सैकड़ों कौए जमा हो जाते है, फिर कुछ देर बाद ही उड़ जाते है—'घरी इक सजन कुटुम्ब मिलि बैठे रुदन बिलाप कराही। जैसे काग काग के मूर्ए, कां कां कर उड़ि जाहीं। (३१९)। अपना स्वभाव कौन छोड़ सकता है, प्रत्युत हरि-विमुखों से दूर ही रहना श्रेयस्कर होता है—कागहि कहा कपूर चुगाएँ, स्वान न्हवाएँ गंग। (३३२)। अशुभ शकुनों में काग का बोलना भी है—बाएँ काग दाहिने खर स्वर व्याकुल घर फिरि धाई। (३१५८) तथा 'माथे पर ह्वै काग उड़ानो कुसगुन बहुतक पाई। (३१५६)। कालियदमन के पहले इसका उल्लेख है।

१—प सं टी २६१४ पिउ पिउ साबे करें पपीहा।'

१४२।१ पपिहा तस बोले पिउ पीक।

२—तुलसी दोहा १ ७ जाँचै बारह मास पिये पपीहा स्वाति जल।'

दोहा २ २ 'सुनि मोहन चकोर सखि रावण'

मानस, अयोध्या० २१५ 'संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।

तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार।

३—प सं टी, २६१७ 'दुहुकहिं मोर सौहावन लागा। होइ कोरहुर बोलहिं कागा।'

परशुराम व जमदग्नि कथा (४५२ ४५८) में सहस्त्रबाहु द्वारा कामधेनु चुरा ले जाने का प्रसंग है।

ऐरावत[1] (१५९४ ११२१) [सं] इन्द्र का हाथी ऐरावत माना गया है— सुर धन उहित इन्द्र जब आवत। चपला चरन ऐरावत देख्यो उतरि गगन तें धरनि धँसावत। (१५९४) अथवा 'तब तिहिं समय आनि ऐरावति गजपति सौं कर जोरे। (११२१)। श्वेत वर्ण का ऐरावत तथा कामनाधेनु दोनों समुद्र-मंथन से प्राप्त चौदह रत्नों में थे— कामना धेनु पुनि सप्तरिषि कौं दई' 'अप्सरा पारिजातक धनुष अस्त्र गजस्वेत ले पाँच सुरपतिहिं दीन्हें। (४१५)।

गरुड़ (५, ७ १० १५ ४११) [सं गरुड़] यह विष्णु की सवारी है अतः पक्षियों का राजा माना जाता है। गज-ग्राह कथा में इसका उल्लेख सबसे अधिक है— गरुड़ समेत सकल सेनापति पाछें लागे आवत। (४११) अथवा प्रति करुणा-कातर करनामय गरुड़हु की छुटकायौ। (४१)। गरुड़ सर्पों का शत्रु भी माना गया है अतएव कालियनाग का भय उसके प्रति स्वाभाविक था (११९१)। हिन्दू धर्म के अनुसार पृथिवी हाथियों की सूड़ों पर टिकी है जो आठ स्थानों पर है। ऐरावत' पूर्व में माना गया है। पृथ्वी के हाथी इन सबके द्वारा उत्पन्न माने गये हैं।

सेस (६२२ ६२१) [सं शेष शेषनाग] विष्णु की शैया शेषनाग है—'सेस नाग के ऊपर पौढ़त' (२१५)। वसुदेव जब शिशु कृष्ण को गोकुल ले जा रहे थे उस समय विष्णु अवतार होने के कारण ही शेषनाग ने छाया कर वर्षा से उनकी रक्षा की—'सेष सहस फन ऊपर छायो लै गोकुल कौं जायँ' (६२२)। कच्छप दिग्गज तथा शेषनाग के पृथिवी धारण करने की प्रसिद्धि है।

फनपति (१६१) [सं० फणपति] अथवा बासुकी (४१५) [सं वासुकि] की चर्चा भी है। समुद्र-मंथन में बासुकी की 'नेति' थी। हरि-कृपा पर ही पूरी सृष्टि निर्भर है— सहस पवन अरमत ससि दिनकर फनपति सिर न डुलावै। (१६१)। यह कश्यप-पुत्र माना गया है तथा नाग के आठ कुलों में से एक एवं सर्पराज है।

तच्छक (९९) [सं तक्षक] पातालवासी एक विशेष नाग है। इसका परीक्षित कथा में जिक्र आया है—'विप्री श्राप तिहिं तच्छक खाइ' (९९)।

उच्चैस्रवा (४७ ४) [सं उच्चैःश्रवा] यह इन्द्र के घोड़े का नाम है। द्वारकापुरी में कृष्ण के चौगान खेलने में इसका उल्लेख आया है।

सूरसागर मे उल्लिखित पक्षियों के नामो के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रमुख नाम बुलबुल बया प्रायः या पड़की फाख्ता पीरैया महोख बतख तथा कुलंग है। पद्मावत में इनमें से कुछ नाम मिल जाते हैं।[१]

१—प सं टी १६।५, 'लाख सहस्र हस्ती सिंघली जिमि कविलास परापति कली।'
२—प सं टी, २८।२ 'बोलहिं पांडुक एकै तुही।...पड़की कही 'तै माहरि पुकारा।
६७।, कोकिल पिय को भावै है मिलहिं पुकारै रोख।'
१५८ पीरी व हुक बहु पिय कर्ल्ड। को पिउ रोका न चोसर गाई। जाहि पया पंखि पिय कंठलावा। करै मेराउ सोई गौरवा...पिपरि सिखोरि भाव वलहुता...।

१—वृक्षादि के सूचक साधारण शब्द

१२४—वृक्षों तथा फूलों के नाम सूरसागर के स्फुट प्रसंगों में प्राय उपमान रूप में बिखरे हुए हैं। कुछ पदों में अवश्य एक साथ इनकी सूची भी मिलती है जैसे सीताहरण के बाद राम का वृक्षों को सम्बोधित करना या रास-लीला पदों में कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों का यमुना तट के लता-वृक्षों से पता पूछना (१४१०।१।१०१०)—द्रुम बेली पूछें सब सुन्दरि (१७४१)। बसन्त-शोभा वर्णन में प्रकृति के प्रफुल्लित रूप का चित्रण किया गया है (१५२१ १२१५)। इसी प्रकार हिंडोला शीर्षक पदों में भी यमुना तट की शोभा का वर्णन कवि ने किया है (२८९१ ३५२१ ३५३५)।

वृक्ष के पर्यायवाची अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं—तरुवर (८९ २९५) [सं] द्रुम (१८७४५ ८) [सं], वृच्छ (२० ७ [सं वृक्ष] तथा बिटप' (परि १९१ ११८१) [सं बिटप]। वृक्ष की प्रकृति की भी कवि ने सूचना दी है—तरुवर फूले फले पतझरें अपने कालहिं पाइ। (२९५)।[१] लता के साधारण पद के सूचक भी अनेक शब्द मिलते हैं छता (१८७४) [सं] बेलि [२] बेली, बल्ली, (२७१४ १२१ ५ ८ १४७२) [सं बेल्लि)]। वृक्षों से लिपटी लताएँ कमल हरित तथा कोमलता का प्रतीक है—'द्रुम नि पर बल्ली त्रियोविविधि मिलति पति परिवानि। (१११८) या कनक बलि सी सुंदरी द्रुम के ढर हारी। (१०१८)।

फूल के कुछ प्रमुख पर्यायवाची नामों का भी उल्लेख किया जा सकता है जैसे फूल' (५ ८ १५३५) सुमन (१११४) [सं] पुहुप (१४११ ७०७) [सं पुष्प] तथा कुसुम (२७१४) [सं]। कलिका (१११२) अथवा कली (२५४२) [सं] प्रस्फुट सौन्दर्य का प्रसिद्ध उपमान है। फूलों के माध्यम सेवा तथा हिंडोले का उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही पूजन सामग्री में भी फूल का प्रमुख स्थान है। मनसिज के पुष्प-धनुष की चर्चा भी की जा चुकी है। साथ फूलों को गुलदस्ते [फा] के रूप में सजाया जाता है तथा वे फूलदानों की भी शोभा बढ़ाते हैं। पद्मावत में बहुवचन रूप पाया है।[१] वृक्ष की शोभा पल्लव (१ ७ १४७१ २८११) [सं] दल (१११२) [सं] पत्रावलि (२४१ ... अथवा पत्ता पात (८८ ७१) [सं पर्ण] से ही होती है—'पत्रावलि परिवेष'। ... इनका गिरना कौन रोक सकता है। वह भी नियमित रूप से परवश है—ता दिन ... तरुवर के सब पात भरि गईं। (७१) या 'परति पता पिरि परे ते फिरि न ला... होवे। [सं बिटप-... अधिकतर प्रयुक्त होता है ...

१—प० ४ टी, १७६।१ ... घोरो] लोकगीतों में प्रायः 'बिरवा' शब्द अधिकतर ... बन सोवा।
१५२।, 'तरिवर ... पाव ... कटे दिपाला।
२—प ब टी १८३।७ 'पियरि पात ... बरन छुड़ाई।
... ७४, बेल पाकि बढ़ि ... मूल भरे'।
... फूल मधुर मूल ... छूटे ... ।

(८८) । नये कोमल पत्ते को *किसलय* (२७१४) [*सं०*] कहते हैं—'किसलय कुसुम कुंज सम सामक' (२७१४) अथवा—'कर पल्लव किसलय कुसुमाकर बानि प्रसित भए भौंर' (१७४४) । इसको कोंपल' भी कहते हैं ।[1]

१२६—मुरली का प्रभाव अचल प्रकृति पर समान रूप से पड़ता था—'द्रुम बेली अनुराग पुलक तनु ।' (१६०८) । फिर उसे कृष्ण का वियोग' क्यों न खलता—'वास गई, सोभा गई, सब कुम्हिलाने फूल । सूरदास प्रभु तुम बिना उपटे सब अरु मूल[2] । (४५६२) अथवा 'खग मृग तृन बनी वृन्दावन गया प्याल बिसारे । (४०२७) । कृष्ण का साहचर्य प्राप्त करने वाले वृन्दावन के लता वृक्षों का सौभाग्य कौन न पाना चाहेगा—'बनि बंसीवट बनि जमुना तट बनि बनि लता तमाल । (१६६२) अथवा 'वृन्दावन द्रुम लता हूजिये । (१६६४) ।

कवि ने वृक्षों की शाखाओं और पत्तों में छिपे पक्षियों का लेख संबंधी एक पद में चित्र खींचा है—'ज्यों व्याध डर तैं छुटत खग उड़ि चलत उहाँ फिरि तकत नहिं त्रास माने । जाइ बन द्रुमनि मैं दुरत *त्योंहीं भए, स्याम-तनु-रूप-बन मैं समाने ।* (२८१७) । *लता तथा* वृक्षों के मंडल अथवा आयाधार स्थान कुञ्ज (२७२६) [सं] अथवा निकुंज (२७१४) [सं०] का कृष्ण राधा तथा गोपी प्रेम में महत्वपूर्ण स्थान है । यमुना-तट के वृक्ष तथा निकुंज उनकी अमित प्रेम-पूर्ण लीलाओं के साक्षी स्वरूप थे—'ठाढ़े नव कुंजनि तर' (१४४७) 'नैंकु निकुंज कृपा करि आइये । (११८८) अथवा एक बीस कुंजनि मैं भाई नाना कुसुम सेज अपनैं कर किए मोहिं छो सुरत न जाई । (४ ०२) या नवल निकुंज नवल रस बोऊ राजत हैं प्रतिसम रँग भीनें' (२७८४) तथा 'बाहिबोरी प्रात कुंज तैं निकसे रोमि रीमिहो कहु बात । (२७११) । *कुंजों में रमण करने के कारण ही कृष्ण को कुञ्ज बिहार* (१४४५) कहा गया है । कृष्ण-वियुक्त ब्रज की गोपिकाओं को वही शीतल कुञ्ज अग्नि के समान जलता था 'बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजैं । तब वे लता लगति तन सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं । (४६८६) ।

२—पुष्पों के नाम

११७—प्रमुख पुष्पों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

१ करवीर (१६१२) तथा कुटज (१६१२) ये वर्तमान समय के लोकप्रिय पुष्पों में नहीं हैं ।

कुसुम्भ कुसुम (१७८८) [सं] पुष्प का उल्लेख रंगों में किया जा चुका है । वस्त्रों में यह रंग उस समय लोगों को प्रिय था और होली में भी टेसू व कुसुम का रंग बनाते थे—'टेसू कुसुम निचोड़ के रंगभीनी भामिनि । केसर को भी कुसुम कहते हैं ।

१—ह० बी , म ब अध्या २, अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली में इसे 'पीपी' भी कहते हैं ।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ २११, 'मूल' शब्द कहीं कहीं वनस्पति का पर्यायवाची भी है । पतंजलि ने वृक्ष के भागों 'मूल' 'स्कन्ध 'फल' 'पलाशपलाश' का उल्लेख किया है । पाणिनि ने 'पर्ण', 'पुष्प', 'फल' तथा 'मूल' आदि नाम की विशेषताओं पर पौधों के नाम रखने वाले का वर्णन किया है जैसे 'शंखपुष्पी' । उनके विचार में वृक्ष तथा फल का नाम प्रायः एक ही होता था जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलकी ।

तथा माधवी (१६११) का उल्लेख है।

बेला (१७११) मोंगरिया एक लता होती है जिसका फूल लाल होता है।

चमेली (१५२१) की झाड़ी होती है तथा सफ़ेद रंग का फूल आता है। इसको संस्कृत में 'जाती' अथवा मालती भी कहते हैं।[१] यह चमेली तथा रामचमेली दो किस्मों की होती है।[२] आईने अकबरी में मालती का फूल चमेली के समान बताया गया है।[३] सूरसागर में मालती (१७११) नाम भी मिलता है। बेला-चमेली अथवा चम्पा-चमेली नाम प्रायः साथ लिये जाते हैं। 'बेलि चमेली मालती बूमकति द्रुम डारी।' कुसुमों से सैया सजाने का वर्णन इस प्रकार है।— केतकि करना बेल चमेली फूलनि सेज बिछाऊँ। (२ २४)।

जूही (१७११) जाही (१७११) [सं यूथिका जूही] यह फूल भी श्वेत रंग का होता है। अबुलफ़ज़ल ने इसके तिबारा फूलने तथा बांस के पेड़ से लिपट जाने का वर्णन किया है।[४]

१२८—केवड़ा (१५१५) इसका बड़ा-सा झाड़ गन्ने की पत्तियों की तरह का होता है। इस झाड़ पर अत्यधिक मीठी सुगन्धि वाली बालें आती हैं। केवड़े का अर्क आजकल जल तथा मिठाइयों में सुगन्धि लाने के लिए भी डाला जाता है। बसन्त ऋतु के फूलों में इसका उल्लेख है— जहाँ कमल केवरा फूले केतकी करनैल फूल फूलो मधु मालती बेलि। अबुल फ़ज़ल ने कपड़ों को सुगंधित करने के लिए सूखा केवड़ा रखने का उल्लेख किया है। यह दक्षिण गुजरात मालवा व बिहार में अधिक होता है।[५]

निवारी (१५२१) का श्वेत फूल चैत के महीने में लगता है। इसको आजकल 'निवाड़ी' भी कहते हैं। अबुलफ़ज़ल ने इसका फूल एक पत्त का बताया है जो रायबेल से मिलता-जुलता है। इसके एक साथ इतने अधिक फूल आते हैं कि पौधा ढक जाता है।[६]

सेवती (१५११) [सं सेमंती अथवा सं शतपत्रिका-शतपत्रिया-सदवत्तिया सेवतिया—सेवती सफ़ेद गुलाब] 'जाही जूही सेवती करना कनियारी। बेलि चमेली मालती बूमकति द्रुम डारी।' (१७११)। आईने अकबरी की फूलों की सूची में सेवती के संबंध में बताया गया है। इसकी आकृति गुलाब जैसी रंग सफ़ेद तथा चार से छः तक पंखुड़ियाँ होती हैं और गुजरात तथा दक्षिण में अधिक होता है।

पाडल (१५२१) यह पाडल बिपुल गंभीर, मिलि मूलक हो। अबुलफ़ज़ल ने पाडल' के संबंध में भी बताया है। उन्होंने इसे पाँच-छः लम्बी पंखड़ियों का बताया है तथा इससे जल को सुगंधित करने की चर्चा भी की है। यह वर्ष भर फूलता है।

सूमो (७५२१) चूच्छी मस्वी मोमरो मिलि मूमक हो। यह फूल वर्तमान समय

१—कालिदास उत्तरमेघ, श्लो १५ 'प्रत्यासन्नौ समममिमत्वैर्जालकैर्मालतीनाम्' टीका, 'सुमनो मालती जातिः' इति।

२—आईने अ , पृ १७७।

३—आईने अ पृ १८५।

४—आईने अ , पृ १७६।

५—आईने अ , पृ १७८।

६—आईने अ पृ , १७ ।

७—आईने अ , पृ १७७।

८—आईने अ पृ०, १७६।

के लोकप्रिय फूलों में नहीं किया जा सकता है।

मरुआ मरुवो (१२९१) [सं० मरुवक] इसके फूल छोटे व लाल दो रंगों के होते हैं तथा फागुन चैत में पुष्पित होता है। यह 'मरुआ' नाम से आज भी जाना जाता है।

गुलाब (२०११) [फ़ा] चंपक आदि गुलाब बकुल प्रति पुष्पित कहुँ देखे नैन। (२०११)। गुलाब का पौधा छोटा किन्तु कँटीला होता है। यह लाल पीला गुलाबी तथा सफ़ेद आदि कई रंगों का होता है। माघ जाड़े में खिलता है। सौन्दर्य तथा भीनी सुगन्धि के कारण गुलाब फूलों का राजा माना गया है। इसकी लता भी होती है। जंगली गुलाब का फूल छोटा होता है। गुलाब की कलम लगाते हैं।

मल्लिका (१११६) [सं] रास दीपक पदों में अनूप पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि। वर्णन किया गया है।

कूजा (२०११) [फ़ा कूजा] 'कूजा मरुआ कुंद सौ कहूँ बोर पताटी। (२०११) जाति मल्लरी (पृ १७९) में कूजा का वर्णन है। यह आकृति में गुलाब के समान होता है। सम्भवतः मोतिया या बेले का ही नामान्तर है। इसका 'कूजक' नाम भी है।

चम्पक (२०११) [सं चम्पक] चम्पा के सुनहले फूल से शरीर के रंग की तुलना की गई है— चम्प कली तनु' (६८०४) अथवा 'चंपक बरन' (५७)। चम्पा का पौधा क़रीब आठ हाथ ऊँचा होता है। चैत में यह फूलता है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार पद्मि[illegible] स्त्रियों के हास से पुष्पित होता है।[1] दूसरी कवि प्रसिद्धि है कि चम्पा के फूल पर भौंरा बैठता है— चोख हमहिं ऐसो लागत ज्यों बुधि बनी को फूल। (४१४६)। चम्पा [illegible] बहन तेल सुगन्ध होती है। जाति मल्लरी में चम्पा का वर्णन है।[2]

बन्धूक बंधुक (७२२ १४१० ६४५) [सं० बन्धूक बंधूक] बन्धूक कुसुम [illegible] अर उपमान रूप में ही प्रयोग हुआ है। यह अधरों का प्रचलित उपमान था— 'अधर बिम्ब अस पटतर नाहीं। बिहँसत बंधूक लजाहीं।' (२४१७) अथवा 'बिंधुक पर बिंब बारि वारत अधर बंधुक लाल। बन्धूक बिदुम बिंब वारत डरे भए डेहाल।' (२५५१)। बंधूक अधरों का उपमान भी है— देखत हरन एक शोभा उपजति उपमा बरनि सकाइ।—किंशुक सुमन बंधूक कुसुम तर मरकत अरुन कसि। (२७५०)। राधा के मस्तक के सिन्दूर बिन्दु पर बन्धूक इस प्रकार शोभित था— मनौ बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठ्यो पंख पसारि। (२७१६)। अधर का उपमान होने से स्पष्ट ही है कि यह फूल लाल रंग का होता है। इसका पौधा बरसात में फूलता है। संस्कृत साहित्य में बंधूक के लिए 'जपा' नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[3] आज इसके अधिक प्रचलित नाम 'गुड़हल' 'गुडहल' अथवा 'गुडदुपहरिया' है।[4] मालाओं में बंधूक पुष्प गूँथने की प्रथा नहीं है। विरवाह के अनुसार झाड़ी के कांटे के समान ही

१—कालिदास, उत्तरमेघ श्लोक १४, मल्लिनाथ टीका 'अनु इत्यमात् चम्पको'

२—प सं टी, २०१२२ 'चम्पा प्रीति न औरहि दिन दिन आवरि बास।'

३—जाति म० पृ० १७०।

४—कालिदास कुमारसं श्लो० ११ 'सान्ध्य तेज प्रतिमकमानुसरत श्याम'।

५—प सं टी १ ६१२ 'फूल दुपहरी जानहुँ रहा। फूल मरहिं जब जब [illegible] रहा।

घर में लड़ाई करवाता है।[१] मधुलफ़जल ने भी 'गुड़हल' का नाम लिया है।[२]

बकुल (१३१७ १५२१) यमुना-तट पर खिले फूलों में बकुल को भी स्थान मिला है— 'मृदु मंजुल बकुल तमाल मिलि भूमक हो। (१५२१)। इसका दूसरा नाम मौलिश्री' या 'मौलसिरी' है। फूल पीले रंग का नन्हा सा किन्तु सुगन्धियुक्त होता है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार स्त्रियों के कुल्ले से पुष्पित होता है।[३] माईने अकबरी में 'मौलिश्री' नाम दिया गया है।[४] पद्मावत में 'बोलसरि [सं बकुलश्री] नाम है (४७७।६)। कालिदास ने 'केसर'[५] शब्द प्रयुक्त किया है।

बहुलि (१७११) [सं बहुला—इलायची नील का पौधा] 'बकुल बहुलि बट कदम पै ठाढ़ी ब्रजनारी।

पद्मावत में प्राय यही सब नाम मिलते हैं। बसन्त-खंड तथा रत्नसेन-विदाई-खंड में अनेक नाम एक साथ दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त 'नागकेसरि' 'गुलाल' 'सुदरसन सोनजरद' सदबरग' रूपमंजरि' 'सिंगारहार' 'बरना' 'पुलककावली' आदि कुछ नये नामों की ओर भी ध्यान जाता है।[६] यह नाम आईने अकबरी की फूलों की सूची में भी दिये गये हैं।

११—भारतीय फूलों में सर्वोच्च स्थान कमल का है।[७] साहित्य चित्रकला तथा वास्तुकला सभी में कमल का विशिष्ट स्थान रहा है। यह सरोवर में खिलता है। पत्ते भी अत्यन्त आकर्षक गोल आकार के होते हैं जो पानी की सतह पर तैरते रहते हैं तथा फूल सीधी डंडी पर पानी की सतह पर खिलता है। इसकी जड़ की तरकारी बनती है जिसे 'भसीड़ा' कहते हैं तथा 'कमलगट्टे' को भूनकर मखाना बनाते हैं। पत्ते को 'पुरैन' भी कहते हैं। लाल कमल भारत में प्रायः सब जगह होता है। श्वेत कमल या पुंडरीक काशी के आसपास और नीलकमल तिब्बत व चीन में अधिक होता है। अमेरिका तथा जापान में पीला कमल उगता है।

सूरसागर में भी कमल को परम्परागत महत्व मिला है। काव्य की परम्परा के अनु-

---

१—हु जी पृ १२ सम्या ११

२—आईने अ० पृ १म२।

३— विकसित बकुल सीधुगंडूषसेकात् कवि-प्रसिद्धि।

कालिदास, उत्तरमेघ श्लो १५, 'रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः

प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी

कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः।'

मल्लिनाथ टीका 'अशोकबकुलयोः स्त्रीपादताडनगण्डूषमदिरे दोहदमिति प्रसिद्धि'

४—आईने अ पृ १०म।

५—'अथ केसरे बकुलो वञ्जुलः' इत्यमरः।

६—श सं० टी, १८८। तुम्ह बोलहि सब फूल सहेली। जो जेहि पास पास रहु बेली। कोइ केवरा कोई चंप नेवारी। कोइ केतुकि मालति फुलवारी।... तह कांट। १५७— जिमी कर पहुमावति नारी। हौं पिय कंवल सो कुन्द नेवारी। मौलि बसि रहीं सो मालति बेली। कदम सेवती चांप चमेली।...

७—श सं टी० १७७।१ 'हौं पिय कंवल सो कुन्द नेवारी।'

सिंधु की तजि मिलत भए उपहार। (९ १)। इस पदांश में चन्द्रोदय होते ही कमल के फूल बन्द हो जाने की ओर भी संकेत है।

१११—पंकज (१४) [सं पंकज] आराध्य के चरण-कमल सब दुःख दूर करने में समर्थ हैं—'सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध ताप-दुख-हरन हमारे। (१४)। गोपियों का प्रेम दृढ़ देखकर कवि उनका जीवन धन्य समझता है—तें धनि पुरुष नारि धनि तेई, पंकज चरन रहीं पुकराईं। (१६४१)।

वारिज (२७११ २४१४) [सं] रूप-वर्णन-पदों में कमल का महत्त्व स्पष्ट ही है—'कमल-नैन के कमल-वदन पर वारिज वारिज वारि। अथवा मानु नदी एक नाम नई थी।....भ्रम-तनु मिटे छकुचि अंचल दियो वारिज मुख पर वारि दई थी। (२७२१)। वारिज जल के बिना नहीं रह सकता। प्रेम में अभिन्नता बताने के लिए इसका उल्लेख किया जाता है—'वारिज ज्यों जल-हीन। (१८५९)।

पदुम[1] [सं पद्म] चरण-पदुम की वंदना में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है—'पदुम-बास सुगंध सीतल लेत पाप नसाहिं। सदा प्रफुल्लित रहैं, जल बिनु, निमिष नहिं कुम्हिलाहिं। (११८)। विष्णु की चार भुजाओं में से एक में पद्म माना गया है संख चक्र-गदा-पद्म चतुर्भुज साजत रे। (१४९)। अवसर आने पर उनके कोमल कर आयुध भी धारण करने में समर्थ है—पानि-पदुम आयुध धारै।

सरोज (१ ७ १४ २११४) [सं] कृष्ण का मुख मानो खिला हुआ कमल है—मुख विकास सरोज मानहु सुवति-लोचन भृंग। (२४११)। कृष्ण की शोभा का बखान विनय-पदों में भी है—'बाहु-पानि सरोज-पल्लव धरे मृदु मुख बेनु। (१ ७) अथवा 'सेव चरन-सरोज सीतल' (१ ७) तथा वंदौं चरन सरोज तिहारे। सुन्दर स्याम कमल-दल लोचन ललित त्रिभंगी प्रान पियारे। जे पद पदुम सदा सिव के धन सिंधु-सुता उर तें नहिं टारे' (९४)।

अरविंद (२१ १८५९) [सं अरविन्द] लाल अथवा नीले कमल को कहते हैं। कुछ पद विनती के प्रारंभ किये गये हैं—'हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि चरनारविंद उर धरौ। (२१ २११) चकवे चकई का मिलन तो दिन में होता है किन्तु रात्रि भ्रमर के लिए वरदान होकर आती है—'चकित सूर चकई बिलाप निसि अलि जु मिले अरविंदहिं। सूर हमें दिन-राति दुसह दुख कहा कहै गोविंदहिं। (१८८९)।

कंज (२५ १ ११७४) [सं कंजम्] कृष्ण तथा राधा के प्रति सखियाँ यह विचार प्रकट करती हैं—'सुंदर स्याम पिया की जोरी....मैं मधुकर वे कंज कली हैं चतुर परै नहिं भोरी। (२५२२)। भ्रमर फूल फूल पर मँडराता है किन्तु कमल का फूल उसे धूम फूलते ही अपनी पंखड़ियों में बन्द कर लेता है। 'कर कंजनि' (२५ १) का निर्देश भी है। सुकंज (१९१२) की गणना पावस ऋतु के फूलों में है।

कंजुक (२४५ ४१ १ २६ [सं कंजुक कंजु=जल] भवरों की कालिमा के उपमानों में विद्रुम लाल कंचुक कुसुम आदि के साथ कंजुक को भी रक्खा गया है—'देखि सखि अधरनि की लाली। किधौं भवन कंजुक बिच बैठी पुरइनि आइ। (२४५) अथवा 'अधर

[1] १—ईडिया एज नोन टू पाणिनि पृ २१५ पुष्करादि पाठ में पाणिनि ने 'पद्म' 'उत्पल' 'बिस', 'मृणाल' आदि पर्यायों का उल्लेख किया है। अन्य उल्लेखनीय पुष्प 'कुमुद' तथा 'कलिका' थे।

'हांसत बन रतनारे देखियत मानहुँ विधि टेसू फूले। (१४७२)। पलाश वृक्ष का नाम 'ढाक' भी है। इसके फूल को 'टेसू' के अतिरिक्त 'केसू' भी कहते हैं।[१] टेसू नारंगी रंग का अत्यन्त चित्ताकर्षक फूल है। फूल के नीचे की डंडी काली सी होती है। इसके फूलों से होली खेलने के लिए विशेष रूप से पीला रंग बनाया जाता है— टेसू कुसुम निचोइ कै रंगमीजी गवालिनि। (१४८५)। 'कनागत' [सं. कन्यागत] के दिनों में कागोर' [सं. काक-बलि] ढाक के पत्ते पर देने की प्रथा है। आईने अकबरी में भी 'केसू' नाम मिलता है।[२]

तमाल (७१२ २७१७ २७५) [सं. तमाल] संयोग प्रेम के कई पदों में कृष्ण को तमाल तथा उस पर आश्रित कनक-बेल से राधा की उत्प्रेक्षा दी गई है—

'स्यामी पुष्प तमाल बेलो-कनक सुभग सिंगाइ।

हृदय कहकह मुसुकि फूले प्रेम फलनि सपाइ। (२७१७)

अथवा 'मानहु तरुन तमाल स्याम तन ललता मालती संसी। (२७११)

तथा कनक-बेलि तमाल अरुझी' (२७५)

और कदाचन कै सिसु तमाल ये कनक-लता सी गोरी' (१५२२)।

विनय पदों तथा बाल-वर्णन में भी कृष्ण के रूप को तमाल से ही तुलना की गई है— करि मन नंद-नंदन ध्यान। ...सुरसरी के तीर मानो लता स्याम तमाल। (१ ७) अथवा 'नए नाइ भृकुटी नंदरानी सुंदर स्याम तमाल। (११२)।

अशोक (५१६) [सं. अशोक] नवम-स्कन्ध में सीता का लंका की अशोक-वाटिका में रहने का प्रसंग है—'पुनि आयी सीता जहँ बैठी बन असोक के माहिं। (५१६)। अशोक की पत्तियाँ आम के पत्तों से मिलती-जुलती हैं किन्तु किनारे लहरदार सी होती हैं। आम के समान ही इसके पत्तों के भी वन्दनवार शुभ अवसरों पर बनाने की प्रथा है। अशोक वृक्ष पर बैसाख में सुनहले रंग का बौर आता है तथा फल निबौरी के आकृति से मिलता है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार किसी रूपवती स्त्री के पादाघात से अशोक पुष्पित होता है।[३] पूजा के निमित्त पंचपल्लवों में पीपल बरगद अशोक गूलर तथा आम्र वृक्षों के पत्ते रक्खे जाते हैं।

कदम, कदम्ब (१७ १ १०८८ १४१७) [सं.] यमुना तट की लीलाओं में कदम्ब वृक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है—'आपु चढ़े कदम पर धाइ कूदि परे दह में अतुराइ। (११५७) अथवा आपु देखत कदम पर चढ़ि' (१४ १) और बै सब चीर कदम चढ़ि बैठे हम बन मोझ उघारी। (१४ १) तथा आपुन बैठ्यो कदम-डारि चढ़ि नारी द्वै द्वै सकनि बुलाई।' (२ ५१)। कालिय-दमन चीरहरण तथा पनघट लीलाओं आदि महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में कृष्ण का प्रिय वृक्ष कदम्ब ही ज्ञात होता है। कदम्ब के वृक्ष का नाम नीप[४] [सं. नीप] भी है— अति बिस्तार नीप तरु तामैं लै लै जहाँ तहाँ लटकाए (१४ २) हिंडोला शीर्षक पदों में भी इस शब्द का उल्लेख है—'नीप-छाँहँ जमुन तीर' (१४४७)। कदम्ब का फूल हल्के पीले रंग का बालदार सा होता है जो सावन भादों में आता है।

१—क. को. पृ. १२, अध्या० ११।

२—आईने अ. पृ. १ १।

३—कालिदास उत्तरमेघ श्लो. १२ टीका मल्लिनाथ 'पादाघाताद्शोकः'।

४—वही श्लो. २, 'कुर्वन्तो नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं।
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।'

मुसलमान भी इसे 'तुमाजा' (शाही टोपी) की आकृति वाला बताया है।[१] प्राचीन समय में इसके फलों से 'कादम्बरी' नामक मदिरा बनाते थे।

४—फलों के वृक्ष

११४—इन वृक्षों के नाम विभव-वर्णों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की सूचक शब्दावली में भी मिल जाते हैं जिनकी चर्चा की जा चुकी है। कुछ उल्लेखनीय नाम यह हैं— आम, अब ब अ तुम्मा (१५४७ १० ६ विनय)[२] [सं आम्र] तथा रसाल (५४२) [सं] नीम नगाइ आम को चाहें (१५४२)। फरहदी (१० ६ ७१० १७४१) [सं०] जमुना-तट के वृक्षों में तो कदली वृक्ष का उल्लेख है ही कदली-खोट निचोरत चंचल अधर सुधा रस भीनो (१०४१) इसके अतिरिक्त कदलवन में वेरों का उपमान भी है— है अमिय अंग बिनु पात (२०१)। वर्णों के प्रसंग में भी कदली के संबंध न बताया गया है। रंभा (२६०१ २४ ६) [सं] कदली का ही पर्याय है— जानु जंघ सुघटनि करभा नहीं रंभा-तूल। (१०१) तथा सुबल अब मरकत-मनि रंभा (२४ ६)। कदली वंटक साधु प्रसाधुहि बेहरि के संग बेनु बंधाने। (२१०)—यह प्रसमानता कवि तथा प्राप्य केवल न है। कदली दल सी पीठि मनोहर' (४ २२) भी कहा गया है।

बदरा (१० ६) [सं बदरी] 'कहि धौं री कुमुदिनि कतहूँ कहि बदरी कर बीर। गोपिकाएँ वृक्ष वृक्ष से अपने मोहन का पता पूछती फिरती है। राम-कथा में शबरी के जूठे बेर खाने का प्रसंग है जो भक्त के प्रति उनके अटूट स्नेह का उदाहरण है। बदरी को बेर [सं बदर—बअर—बइर— बर] कहते हैं। इसके कँटीले वृक्ष पर मीठे या खट्मिट्ठे छोटे-छोटे फल लगते हैं। बंबली बर की भाड़ भी दिखाई देती है। बरिया साख (माघ शुक्ला सप्तमी) को स्त्रियाँ बर की पूजा करती हैं। प्रसिद्ध पद में कहीं कहीं बैना के बदले एक वाला जाती है।" एक पत्तल रखकर उसके ऊपर पूरी के ऊपर बर के पत्ते रखकर उनसे कामना के लिये भाल सूखती हैं तथा एक वाला जाती है।"

गूलर (१११) [स उदुम्बरः] इसका नाम इसके प्रदेश में बड़ा स्तुति के सिलसिले में उल्लेख है—'मैं बड़ा एक गूलर को ज्यों गूलर फल-बीच। (१११)। यह अबली पेड़ है। उसके पत्ते पर इसके फल न दुख पड़ जाते हैं—(कान्ह को मोर प्यार हैं आली काम विषय रस चोर। गूलर वो फल दृष्ट रह गूलर को फल ढोर।" (४२१८)। इसके कच्चे फल की तरकारी बनती है। बटु (४११६) [स वटु] प्रमरगीत में गोप-संबंधी चर्चा करते हुए गोपियाँ कहती हैं—'बनजीव लाल अवध अपरस्त तुनि-तुनि हूँ गई। मधु वृक्ष यहाँ क्यों बंधा फल बर पंक परे। (४४१६)। जामुन के वृक्ष की ऊँचाई आम-वृक्ष के समान होती है तथा भारी बरसात में बढ़ी रस का फल भाता है। जामुन का फल साम की दृष्टि से भी महत्व रखता है। इसको साथ फल 'जामुन' या 'फरौंदा' कहते हैं।

१—शार्दि स पृ १४१।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ २११, पाणिनि के समय में प्रयुक्त फल भाव निम्न, कन्द, हरीतकी ताला (बदरा) तथा कवल थे।

३—कालिदास उत्तरमेघ, श्लो ११ 'मन्मयपुन्द हारवकाये सामन्थोरमबरमय' ... बो, पृ १४, सख्या ११।

५ अन्य वृक्षों के नाम

१३५ कुछ अन्य उल्लेखनीय वृक्षों के नाम यह हैं—

सेमर (१ ० १०२) [सं शाल्मलि] का उल्लेख विनय-पदों में तोते के चकित भ्रम के सिलसिले में हुआ है। फल के लाल रंग को देखकर वह आकर्षित होता है किन्तु रुई निकलने पर निराशा ही हाथ आती है। सांसारिक मिथ्या आकर्षणों को बताने का कवि ने बार बार प्रयत्न किया है। प्रथम-स्कन्ध में ही तूल (१ २) [सं तूल = रुई तुला = रुई का पौधा] का उल्लेख भी हुआ है—'चढ़ि बयौ तूल तांबरौ पायौ। (१२६)। इसके बारे में पहले भी जिक्र किया जा चुका है।

आक-रुई—(२५७१) [सं अर्क—आक] आक का पौधा छोटा सा होता है। फूल सफेद रंग का होता है तथा पत्ता तोड़ने पर दूध सा निकलता है। इसके फल से ही रुई निकलती है। अकौआ-छठ (सावनसुदी छठ) के दिन स्त्रियाँ इसकी पूजा करती हैं।[1] अपने कृष्ण प्रेम के संबंध में गोपियाँ कहती हैं हरि बरसन की साध मुई। उड़ियै उड़ी फिरति नैननि संग फर फूटे ज्यों आक-रुई। (२५७१)। इसका दूसरा नाम मदार है।

धतूरा (४९५) [सं धुस्तुर धुत्तूर] एक विषैला पौधा है—सूरदास प्रभु दरसन कारन मानौं फिरति धतूरा खाय। इसके फूल का रंग काला तथा फल गोल होता है।

नीम—(१५४२) [सं निंब] नीम के दल व फल निबौरी[2] (४२९२) [सं निम्बफलिका] अत्यन्त कड़वे होते हैं— नीम लगाइ आम को आसैं। (१५४२)। अथवा दास ताहि कै कटुक निबौरी को अपल मुख कहै। यों नीम का औषधि रूप में प्रयोग होता है और विशेषतः चाम को कुछ बीमारियों में बहुत ही लाभप्रद है। इसको डंडी की 'दातोन बनती है। नीम को कुछ लोग 'नीब भी कहते हैं। मीठी पत्ती वाली नीम भी होती है।

बट (१० ६ १ ८५, १७९१) [सं वटः] यमुना तट के वृक्षों में वटवृक्ष का उल्लेख है। साक खाने के लिए गोपाल सखाओं के साथ वट वृक्ष की छाया ही पसन्द करते हैं—'खात मडली में बैठे मोहन बट की छाई (१ ८५)। वट पर रास का वर्णन भी है—'बंसी बट तट रास रच्यो है, सब गोपिन सुखकारी। (१७९१)। वट-वृक्ष सबसे अधिक विशालकाय होता है। इसकी शाखाओं की जड़ें जमीन में घुस जाती हैं। गरमी की लू तथा धूप से वट की छाया पथिकों की रक्षा करती है। वट वृक्ष की आयु बहुत होती है। वर्तमान समय का अधिक प्रचलित नाम 'बरगद' है। ज्येष्ठ की अमावस्या (बरमावस) को वट वृक्ष की पूजा होती है।[3]

१३६ बबुर (९१) [सं बर्बुर] कृत्य के अनुकूल उसका फल बताने के लिए कवि ने कई बार कहा है—'बोवत बबुर दाख फल चाहत जोवत है फल लागे (९१)। इसका फल पीला सा होता है। यह वृक्ष कँटीला होता है। गाँवों में विश्वास है कि 'सिजारी' अथवा 'चौथइया' बुखार बबूल के बने पटोक मिलने से उतर जाता है।[4] बबूल तथा आम

१—हु० को , भ , म १२ अप्पा १३।

—प सं टी १८७१७ 'कारूँ हाथ परी निबकौरी।

३—हु० को, प्र १२ अप्पा १३।

४—ब को , प्र १२, अप्पा १३।

जाते हैं।[१]

कुस (१२१४) [सं कुश।] यह एक पवित्र वृक्ष विशेष है। रावाभरत-राम-सीता में वन बसने का वर्णन है—'बरत बन-बांस घरहरत कुस कास, चरि चरत है भांस मति प्रबल बावो। (१२१४) अथवा 'सटकि बात बरि बरि हुम बेली पटकत बांस कांस कुस ताल। (१२१२)। कुश के आसन के संबंध में पहले भी जिक्र किया जा चुका है।[२] इसकी ही एक किस्म दभ से श्राद्ध में पितरों का तर्पण किया जाता है।

जवास्मौ (परि० १६१) [सं० यवासक] 'सूर करम की बीर परोस्यौ फिरि फिरि बरत जवास्यौ।। जवासा छोटा सा कँटीला पौधा होता है जो गरमी में ही हरा-भरा रहता है किन्तु वर्षा में मुरझा जाता है। इस पर सफेद कलियाँ और लाल फूल आते हैं।

गुजा (स्क १) [सं] या घुँघुचनि (विनय) [सं गुंजा] का उल्लेख कृष्ण के खिलौनों तथा बंदर का भाग समझ कर फूकने के सिलसिले में किया गया है।

तुलसी (१० ६ १७१) यह एक सुगंधियुक्त पत्ती वाला पवित्र पौधा है। इसके फूल को 'मंजरी' कहते हैं। यह पौधा पवित्र माना जाता है और अक्सर स्त्रियाँ जल चढ़ाती हैं। घर की तथा बन तुलसी' दो प्रकार की तुलसी होती है। पंचामृत में तुलसी की पत्ती डाली जाती है। 'माल तिलक जबननि तुलसीदल मेट अंक लिये। — (१७१) में साधु का चित्रण है।

सञ्जीवन (५६१) [सं संजीवन] नवम-स्कन्ध में हनुमान लक्ष्मण के अचेत होने पर इसकी जड़ ले आते हैं—'द्रोनागिरि पर आहि संजीवनि बैद सुषेन बताई। (५६१) अथवा 'द्रोनागिरि हनुमान सिधायो। संजीवनि को भेद न पायो तब सब सैल उठायो। (५६४)। यह कोई औषधिक जड़ी बूटी ज्ञात होती है।[३]

लताओं में लवंग लता (३५१५ [सं० लवंग लवंग] का उल्लेख किया गया है—'फूले चंपक चमेलि फूलि सवंग लता बेलि सरस रसही फूल जाल। फूली निवारी एलि मौलरी सेवति सुवेल संतनि छिन फूल जाल। (३५१५)। बिम्ब (१२७७) [सं] की उपमा प्रायः अधरों से दी गई है—'अरुपति विद्रुम बिंब खिसाने दामिनि अधिक डरी। (१२७७)। तरकारियों में भी 'कुनरू' (१८३१) या बिम्ब का उल्लेख किया जा चुका है। इसकी लता पर परवल की तरह का हरा फल लगता है जो पकने पर लाल हो जाता है।

७—कल्पित पौराणिक वृक्ष

११८—इस शब्दावली में दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—कल्पवृक्ष (११४) [सं] [अथवा कल्पतरोवर (१९५६) तथा पारिजातक (४१५ परि

१—हर्ष सा पृ १४२, वन-ग्राम के घरों की दीवारें बेणुपोट (कड़े बांस), कसप्रालि (सरकुल) तथा शरकांड से बनाई गई थीं।

२—मानस अयोध्या, १९९, कुस सांथरी निहारि सुहाई।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ २१३, औषधियों का मूल में 'जिवला', तथा प्रमुक्त' प्रचलित थे। पतंजलि ने वाष्ह्मी' का उल्लेख किया है।

४—प सं० टी १ ६११ 'बिंब सुरंग लाति बन पारे।'

कालिदास उत्तरमेघ श्लो १९ 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बा धरोष्ठी।

खण्ड ११

गृहस्थी की उपयोगी वस्तुएँ

ही संस्कृत शब्द 'धाराभवक' प्रयुक्त किया है।[1] कुछ स्थलों में 'कनक झारी' का उल्लेख भी है—'सीतल जल कपूर रस रचयौ झारी कनक लिए अंचवावति' (१११२)।

गागरि, गागरी (२ १७) [सं० गर्गरी-गगरी-गगरी] विशेष रूप से पनघट-लीला में गगरी का अनेक पदों में उल्लेख है—काहू की गगरी ढरकावै। काहू की इंडुरी छटकावै। काहू की गागरि भरि फोरै। काहू के चित चितवत चोरै। (२ १७) अथवा 'जल झकोरि गागरि भरि नागरि जबहीं सीस उठायौ। घर की चली जाइ ता पाछैं सिर तैं घट ढरकायौ। (२ २१) होली में खेलने के लिए गागर में रंग भरने का उल्लेख है—एक लिए सिर सोंधे गागरि। (२४१)। यह भी मिट्टी अथवा धातु की होती है—'फोरी सब मटुकी अरु गगरी। कृष्ण का माँ को समझाने का ढंग चित्तात्मक है—कदम-तीर तैं मोहिं बुलायौ गढ़ि गढ़ि बातैं बानति। मटकत गिरी गागरी सिर तैं अब ऐसी बुधि ठानत। (१ ८९)। घट (१४० २ २४) गगरी का ही दूसरा नाम घट भी है जिसे आजकल अधिकतर 'घड़ा' कहा जाता है। पनघट-लीला में ही घट का उल्लेख है—'घट मेरी जबहीं भरि देहौ लकुटी तबहीं देहौं' (२ २८) घट भरि दियौ स्याम उठाइ। (२ २५) अथवा सखियनि बीच भर्‌यौ घट सिर पर, तापर नैन चलावै। कुसत ग्रीव मटकति नक-बेसरि मंद मंद गति आव (२ ५६) आदि पद्यांशों में पानी भरने और सिर पर गागर रखकर चलने का भी स्वाभाविक चित्रण हुआ है। मंद मंद गति चलत अधिक छवि अंचल रही उड़ाइ' (२ ५८) आदि घट भरि चलो झमकाइ' भी ऐसे ही चित्र हैं। घड़ा कंचन का भी बताया गया है—'चंदन अगर कुमकुमा केसरि, बहु कंचन घट फोरि (१५२५)। प्रारंभिक विनय-पदों में एक स्थल पर मनुष्य जीवन के संबंध में यह उक्ति प्रयुक्त हुई है—'आयु भग्न-घट जल ज्यौं खोवै' (१४२)। होली में भी रंग से भरे घट से—धूरि धातु रंग घट भरे हरि होरी है। (१५१२)।

पनघट-लीला प्रसंग कृष्ण-गोपी-राधा प्रेम के संयोग पदों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कृष्ण की शैतानी से यह ऊपर ही ऊपर झुँझलाती हैं उलाहना लेकर यशोदा के पास जाती हैं किन्तु उनका अन्तर्मन प्रफुल्लित हो उठता है—'यह लीला सब स्याम करत हैं ब्रज-जुवतिनि के हेत। सूर भजै जिहिं भाव कृष्ण कौं ताकौं सोइ फल देत। (२ ५०) अथवा राधा सखिनि लई बुलाइ। चली जमुना-जलहिं भरिबैं चली सब सुख पाइ॥ सबनि इक इक कलस लीन्हौ तुरत पहुँचो जाइ। तहाँ देखौ स्याम सुन्दर कुँवरि मन हरषाइ। (२०५४) तथा 'मोहन बिन मन न रहै, कहा करौं माई (री) (२ ६२)।

पानी भरने का स्थान पनिघट (२ ७) पनघट (२ ५७) कहलाता है—गागरि नागरि लै पनघट तैं चली घरहिं कौं आवै। ग्रीवा डोलति लोचन लोलनि हरि के चितहिं चुरावै। ठठकति चलै मटकि मुख मोरै बंकहिं भौंह चलावै। (२ ५७)। घाट (१० १) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[2] ग्वालिनों का जमुना तट पर जल भरने जाने का ही वर्णन है—सुनहु सखी री या जमुना तट। हौं जल भरति अकेली पनिघट वहाँ स्याम मेरी

१—हर्ष० ४ प० पृ० ८१ राज्यश्री के विवाह के समय वासगृह में एक कोने में कनक 'धाराभवक' रक्खा हुआ था। पर्यंक के सिरहाने पानी से भरा 'भिङ्गारक' था। उस समय भिङ्गारक की प्रथा थी। 'कादम्बरी' में चंद्रापीड़ के शयन-कक्ष में भी इसी रूप नाम का उल्लेख है।

२—प० स० मो०, ५६।५, 'पनघट घाट हैंस भिन्न हो हों'।

मटुकी और माट सामान्यतः मिट्टी के ही बनते हैं किन्तु कृष्ण-जन्मोत्सव प्रसंग में सोने के माट का उल्लेख भी है—'कनक को माट लाइ, हरद दही मिलाइ छिरकैं परस्पर छल बल धाइ कै' (६४९)। होली प्रसंग में भी साधारण तथा सोने के माट का परिचय मिलता है—'भरहिं माट कंचन रंग भरि भरि, लै धाई तिय जोरि' (३५११) अथवा 'नव केसरि के माट भरैहैं' (३५२) तथा 'कंचन माट भराइ कै रंग होरी। छीटैं भरती अबीर लाल रंग होरी' (३४८४)।

कमोरी (८८१ ८८७ ९ २) यह भी दूध दही रखने का मिट्टी का पात्र है तथा मटुकी का समानार्थक है। अतएव माखन-चोरी लीला के अनेक पदों में इसका भी निर्देश हुआ है—'ठाढ़ी भई मथनियां कैं ढिग रीती परी कमोरी। (९०१) 'नित प्रति रीती देखि कमोरी मोहिं मति उपजत भ्रम्यमों' (९ १) अथवा 'आपुन गई कमोरी मांगन हरि पाई ह्यां घात। (८८८)। फाग-वर्णन में भी 'केसर भरी कमोरी' का उल्लेख है।

दोहनी (१ १६ २ २७) [सं० दोहनी] जिस पात्र में दूध दुहते हैं उसे दोहनी कहा जाता है। अतएव गो-दोहन लीला के पदों में दोहनी की चर्चा होना स्वाभाविक ही है—'कैसे बछरा दोहनी दुदुअनि कैसे बछरा बन लै जाबहु' (१ १६)। कृष्ण की दोहनी भी 'कनक' की बताने का प्रलोभन कवि रोक नहीं सका है—'कनक कनक की दोहनी दै दै री मैया। तात दुहन सीखन कह्यौ मोहिं धौरी गैया' (१ २७)। अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली में 'दोनी' [दोहनी] शब्द आज भी चल रहा है।[1]

१४२ चुरू (८ १) [सं चुलुक] भोजन संबंधी पदों में मुख प्रक्षालन का जल चुरू में रखने का निर्देश है—'लैहि जननी चुरू भराए। तब कछु कछु मुख पखराए' (८ १)। यह पानी रखने का एक छोटा बर्तन है।

कुण्डी (४६१) [सं कुण्डिका—कुंडिया—कुंडी—कूंडी] यह एक कटोरे की तरह का पात्र है। नवम स्कन्ध में राम-सीता-विवाह के समय कंकण-मोचन के अवसर पर सोने की कुंडी जल से भर कर रखने का निर्देश है—'पूंगीफल-युत जल निरमल धरि आनी भरि कुंडी जो कनक की।

कुंड (४ ५) [सं कुंड] कूंडा या कूंड भी नाद की तरह का पात्र होता है। यज्ञ के निमित्त बनाया गया यज्ञ-कुंड इसी प्रकार का विशेष पात्र है। भृगु-अवतार मे यज्ञ-कुंड से 'पुरुष' के निकलने की कथा है।

कमंडली, कमंडल[2] (११ २) [सं कमंडलु] यह पानी पीने का एक विशेष प्रकार का जलपात्र होता है। यह लकड़ी मिट्टी या धातु का बनता है। अब सामान्यतः साधु सन्यासियों के पास इस प्रकार का जलपात्र रहता है। सूरसागर में ब्रह्मा-वत्स-हरण में कमंडली ब्रह्मा का उल्लेख है—'देखि लोक-मंडली कमंडली चिदैं रह्यौ' (११ २)। सुदामा का कमंडल काठ का बना हुआ बताया गया है—'टूटी कमंडल चूर काठी कौ' (४८५७)।

१—बु को, पृ १ अध्याय ६।

२—हर्ष का भा, (चित्र ३) श्रीकर्णेश्वर टीला मथुरा से प्राप्त बोधिसत्त्व की मूर्ति के हाथ में कमलकुड्मल के साथ कमंडलु है। देवगढ़ मंदिर के दशावतारस्थ शिलापट्ट पर अंकित नारायण मूर्ति के हाथ में भी ऐसा कमंडलु है।

हर्ष का भा, पृ १९ दिवाकर मित्र के आश्रम में भिक्षापात्र तथा चीवर वस्त्रों के साथ कमंडलु का उल्लेख भी है।

कटोरी, कटोरा (१०१४ १८११ ४४११) [सं करोटि करोट कटोर] यह
व थाल तरकारी तथा घी आदि रखने के काम में आने भी आते हैं— 'ताती घृत भरि धरी
प्रेरी' (१०१४) भरि सब छाजन विविध व्यंजन से (१८११)। एक स्थल पर बाल में
माने का तेल रखने का भी वर्णन है—'ये कंचन कनक कटोरा भरि-भरि मेलत तेल फुलैल ।
४४१४)।

कचोरा[१] (१८११) कटोरे का ही समानार्थक है अतएव घी रखने का वर्णन है—
घेरत सुवास कचोरा नायी।

मध्यदेश खेत की बोली में बेले को 'बोला' भी कहते हैं। 'बरिया' शब्द भी गाँवों में
मिलता है। बड़े से छोटा कूप रखने का पात्र यहाँ 'ठीमा' या 'चमड़ा' कहलाता है। सुराही
का अन्य नाम 'कुंजो' भी है। इसके अतिरिक्त मटकी या कमोरी को 'कमरी' 'चपटिया
हुंडिया' [सं भांडिका] या 'हंडुकी' भी कहते हैं तथा दूध जमाने का पात्र 'जमावनी' कह-
लाता है।'[२]

३—अन्य पात्र

१४४—ढकनियाँ (२२१८) [ढाकना हि०] दधि-दान अथवा माखनचोरी प्रसंग
में दध बड़ी को ढाकने का भी वर्णन है—'सुभग ढकनियाँ ढाँकि बाँधि पट जतन राखि छींके
समुदायो। (२२१८)। पात्रों को ढकने के काम आने वाली तश्तरी या रकाबी ही ढकनी
कहलाती है।

तष्टी[१] (१८११) ज्योनार संबंधी पात्रों म यह भी है—'भरि तष्टी झारी जल
ल्याई' (१८११)। इसको ही संभवतः आज 'तस्तरी' या 'रकाबी' कहते हैं।

हठरी (१४२८) यह मकान से मिलता जुलता मिट्टी का खिलौना होता है। दीपा-
वली की लक्ष्मी-पूजा तथा गोधन-पूजा में 'हठरी' रखते हैं। बच्चे इनमें दिये जलाकर रखते हैं
अथवा इन्हें खीलों से भरते हैं। सूरसागर में भी दीपमालिका के वर्णन में उल्लेख है— सुरभी
काज्ह जगाय बारिकाहि बस मोहन बैठे हैं हठरी। (१४२८)।

१४५. तुलसी की शब्दावली में कुछ ऐसे शब्दों की ओर ध्यान जाता है जो सूर
सागर में नहीं मिलते हैं जैसे 'करखुली' 'सिल' तथा 'लोढ़ा' आदि।[४] पद्मावत में रत्नसेन
ज्योनार तथा बादशाह भोज वर्णन में खाने के पात्रों की चर्चा है। रत्नसेन आदि का भोजन
सोने की पत्तलों के ऊपर रखे हुए माणिक्य-जटित सुवर्ण थालों में परोसा गया था। एक
एक व्यक्ति के आगे सौ सौ जोड़ी कटोरियाँ रक्खी थीं जो रत्नों से जड़ी हुई थीं। इससे व्यंजनों
के आधिक्य का अनुमान भी कराया गया है। यहाँ जायसी ने कुछ भिन्न नाम जैसे 'खोरा'
'खोरी' [प्रा खोर खोरअ = कचुल्ला] तथा 'गडु अन्' [सं गडुक = टोंटीदार लोटा]
का उल्लेख किया है। दोनों के पात्रों में जो एक बड़ी समानता है वह है उनका सोने का तथा

१—न सं टी ११५।१ 'पंक्ति वानी भरे कचोरा।'

२—पू वी पू १ अध्या १।

३—न वी पू १२ अध्या १४ ठाकुर जी को नहलाने की पीतल की डिबिया को
आज भी 'तष्टा' या 'चरणोदकी' कहते हैं।

४—तुलसी दोहा ३२१ 'लखपी सीया करखुली सरस बाज अनुहारि।'
४१, ओरहि सिलि लोढ़ा सरन माये अदृक पहार।

नवनीत निकालती है। मथने की ध्वनि के लिए घमरको[1] शब्द प्रयुक्त किया है—'ज्यौं ज्यौं मोहन नाचै त्यौं त्यौं रई घमरको होइ (री)। तैसिये किंकिन-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर होइ (री)। (७६६) अथवा (एरी) मानव सौं दधि मथति जसोदा घमकि मथनियाँ घूमै। निरखत लाल ललित मोहन पग परत घटपटे भू मैं। (७६५)। शिशु कृष्ण कभी तो नृत्य करते हैं और कभी मां की मथानी पकड़ लेते हैं और वह सहसा फुसला कर उनको ऐसा करने से रोकना चाहती है—'नंद जू के बारे कान्ह छाँडि दै मथनियाँ (७६१)। ब्रज के गोप-गृहों का चित्र भी खींचा है— घर घर गोपी बढ़ो बिलोवैं कर-कंकन झंकार। (१ २६)। इस नित्य-प्रति के जीवन के चित्रों में कहीं कहीं कवि उनके अलौकिक रूप को नहीं भूल पाया है—'जब दधि-मथनी टेकि अरै। आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकि संभु डरै। (७६०) अथवा जब मोहन करि गही मथानी। परसत कर दधि माट नेति चित उदधि सैल वासुकि भय मानी। (७६२)।

माखन-चोरी में भी इस रूप का निर्देश हुआ है—'ठाढ़ी मई मथनियाँ कैं ढिग रीती परी कमोरी। (६ १)। मथने की क्रिया को प्रायः मथति (७६४ ७६७) अथवा बिलोवै (१ २६) कहा गया है। आजकल दही 'बिलोना' [सं बिलोडन] और मथना' दोनों प्रचलित हैं। मथानी लकड़ी का एक डंडा सा होता है जो दही के पात्र में पड़ा रहता है। इसके नीचे चक्र होता है। बड़े पात्रों में जब दही मथते हैं तो रई में एक रस्सी भी बाँध ली जाती है। इसको ही सूरसागर में नेति (७६१) [सं नेत्र] कहा गया है—'धरि माखन मनि खंभ निकट धरि, नेति लई कर बाह (७६२)। आजकल इसे 'नेती' या 'नेता' कहते हैं।

माखन चोरी के पदों में छीकैं (६ ५) सीकैं (६११) अथवा सिकहरे (६४५) [सं शिक्यक—प्रा सिक्कक—सिक्कम—सिक्का—सीका—छींका] का अनेक बार उल्लेख हुआ है। गोपियाँ दूध दही तथा माखन छींके पर टाँग कर जाती थीं किन्तु कृष्ण अपने सखाओं के साथ नये नये उपायों द्वारा वहाँ तक भी पहुँच जाते थे— चोरि चोरि दधि माखन मेरौ नित प्रति गीधि रहे हो छींकै' (६०५) अथवा 'ग्वाल के काँधे चढ़े तब लिये छींके उतारि' (६ ७) या 'कब सीकै चढ़ि माखन खायौ' (६११) तथा 'आपु खाइ तो हम मानैं औरनि देत सिकहरे तोरि। (६४५) तथा 'ऊखल चढ़ि सींकै को लीन्हौं' (६४६)। छींका दीवाल पर टाँगने का तांबे या रस्सी का जाल सा होता है। इसमें खाना भी रख कर टाँग दिया जाता है। खाद्य-पदार्थों से दूर बचा रहता है। साथ ही बिल्ली कुत्ते आदि जानवरों से रक्षा भी हो जाती है। आजकल इसका उपयोग ग्राम्य-जीवन में अधिक होता है।

पनघट-लीला तथा दधि-दान-लीला में गोपियों का जल या दही की मटकी अथवा कलस आदि पात्र सिर पर रखकर ले जाने से संबंधित अनेक पद हैं। इनमें ही इंडुरी, गिंडुरी या गेंडुरी (२ १७ २ १४ २ ३५) के अधिक उल्लेख है। यहाँ कृष्ण का उनकी गेंडुरी छीन लेने का वर्णन है—'काहू की इंडुरी फटकारै' (२ २०) 'मीठे वेहु न मेरी गिंडुरी

१—ब्र बो पृ ६, अध्या ६, प्रान्त की पश्चिमी की नृपक बोली में इस ध्वनि को 'घुरका' 'घुरकन' अथवा 'घमरा' कहते हैं।

प्र १ अध्या १ पश्चिमी के कतिपय मथानी को बिलोमनी' 'मथनी' अथवा वलाममो' कहते हैं। सादाबाद में इसी को 'पसमा' [सं प्रसमक] कहते हैं।

है—'कैसे से नोईं पय बाँधत कैसे मैया मटकावहु' (१०१६)। गो-दोहन के पदों में कहीं कहीं इसका उल्लेख है। अलीगढ़ को इगलास तहसील में इसको 'नेमना' या 'सोमना' अनूप शहर में 'बंधा' तथा साहाबाद में 'नोईं' कहते हैं।[१]

डोर अथवा डोरी[२] तथा गुन [सं गुण] (१४६ १६७६ १११) का उल्लेख 'चकडोरी' तथा पुडीडोर (२४७१) नामक खिलौनों के साथ किया गया है चकडोरी की रीत यह है, फिर गुन हीं सौं लपटाइ। (४११२)। पुडीडोर ज्यौं (१६७६) डीठि । हिंडोले की डोरी रेशम तथा सोने के तारों से बनाई गई थी—पंचरंग पाट कनक मिलि डोरी (१८५)। साधारणतः डोर' अथवा 'डोरी' बारीक किन्तु मजबूत सूत की होती है। पतंग तथा चक की डोरी ऐसी ही बनाई जाती है। सिलाई करने के तागे [फा ताग] को भी आजकल डोरा कहते हैं। ऋग्वेद में तागे के लिए 'रज्जु शब्द मिलता है। अलीगढ़ के ग्रामीण लोग जानवरों को पानी पिलाने की रस्सी को डोर' [देश शब्द] कहते हैं। यहीं डोर से मोटी रस्सी लेजू [सं रज्जु —प्रा लज्जू—लेजू] कहलाती है। लेजू' पानी भरने की रस्सी को ही अधिकतर कहते हैं। पानी भरते समय घड़े की गरदन में पड़ी रस्सी का फंदा 'घासी' अथवा 'फाँसा' [सं पाशक] नाम से जाना जाता है।[३]

बट[४]—'अलक शु हुती भुअंगम हू मी बट लट मनहुँ भई' (४ २२)—का उल्लेख भी किया जा सकता है। सून (५४२) [सं शून] अथवा सुतरी (४१ ८) की चर्चा लका दहन तथा भ्रमरगीत में है—सन भर सूत चीर-पाटंबर लै लंगूर बँधाए। (५४२) अथवा 'सूरदास कहुँ सुनी न देखी पोत सुतरी पोहत' (४१ ८)। सुतरी' को ही आजकल सुतली' भी कहते हैं। यह सन अथवा मूज से बनी पतली और चिकनी रस्सी होती है। बंदनवार, खाट के पायते आदि में इसका उपयोग होता है। हिंडोला-वर्णन में रेशम बरता का वर्णन है। हिंडोले की डोरी अनेक रंगों के रेशम की थी—'बहु रंग रेशम-बरता होगी रास भकोर (१४७६)।

१४६—अनुक्रम-बंधन-शीर्षक पदों में भी का छोकारेव में कुछ की साँटी[५] (२४८ ६११) [हि छट'], अकुट (सं लकुट] (६७४) अथवा बेंत (६६७) [सं० वेत्र] या छरी (१४७२) से मारने का वर्णन भी है—सांटिनि मारि करी पहुनाई, चितवत काहे डरायौं' (६८८) अथवा 'जब लगु सीं कर माई बाँधे छर-छर मारी साँटी' (६६६) या

१—कु भी , पृ ७ संख्या २ ।

२—प सं टी ५५७।६ 'मन को डारि लागि तेहि तार्ई ज्यों सो गहि गुन जोत।

३—क भी , पृ ७, संख्या २ ।

४—क भी , पृ ६ संख्या १ बेलदी के दो पुंजों को हथेली से ऐंठने को 'बंटना' कहते हैं। यह बटी हुई रस्सी दुहरी तिहरी करके 'मरुकने' अथवा लपटने पर 'रस्सा' कहलाती है। सोन सनों को 'गर्दे' के गुल्ले हटके 'चरखे' से उमेठ कर निकाली लट ही 'बट' के नाम से जानी जाती है। यह ऐंठी सी होती है।

५—प सं टी १८८।१ 'बहु विधि मान सौंटियन्ह फेरी।' सौंटिया [सोंटा लिए हुए प्रतिहारी] वेत्रपाणि प्रतिहार राजा के प्रधान औपचारिक होते थे। प्राचीन काल से यह पद चला आया था और मध्यकालीन महलों तथा दरबारों में भी इसकी प्रथा थी।

रक्खा है। ऐसे ही घरों में रात का अंधकार भी दीप दीपक (१६८, १६१) [सं] से दूर होता है। सिंहलद्वीप-खण्ड के 'मानसरोदक' तथा 'आरती' संबंधी पदों में इसका उल्लेख हुआ है—'तेल-फूल-पावक-पुट भरि धरि, बनी न बिना प्रकासत। कहुत बनाइ दीप की बतियाँ कैसे भी तम नासत। (१६८) अथवा 'मही सराव सप्त सागर घृत बाती सैल घनी। तड़ित पूल उडुगन नभ अंतर अंजन घटा घनी। यह प्रताप दीपक सुनिरंतर लोक सकल भजनी। (१७१)। इन उद्धरणों में दीपक जलाने के लिए आवश्यक वस्तुओं में सराव तथा तेल अथवा घृत का उल्लेख भी है तथा फूल की बाती अथवा बतियों [सं वर्ति वर्ती] का भी। बाती को प्राय बत्ती भी कहते हैं तथा दीपक को 'दिया [दीपक—दीअअ—दीआ—दीया—दिया]। कपास की रुई से बत्ती बनाते हैं तथा दीपक के तेल या घी में डालकर जलाते हैं। फूल का उल्लेख वस्त्रों की बनावट के सिलसिले में हो चुका है।

दंतुवनि दतुअनि, दतौनी (९५८१ ११६५ १२१७) [सं दन्तधावनं दन्तपावनं] तथा सीसी[1] (१६१४) भी उल्लेखनीय शब्द हैं। प्रात 'दतौनी' के बाद माता यशोदा दोनो बालकों को कलेवा देती थीं— प्रातहिं तैं मै दियौ जमाइ। दतुअनि करि जु गए दोउ भाइ। (११६५) अथवा 'माता दुहुँनि दतौनी कर दै जल झारी भरि ल्याइ। उत्तम विधि सौं मुख पखरायौ ओढ़े वसन अंगोछि। (१२२१)। आजकल नीम की हरी डाली की दतौन अधिक प्रचलित है। गाँवों म अधिकतर यही उपयोग में आती है। दाँतों के लिए लाभदायक होने के साथ ही सरलता से प्राप्त होती है। भ्रमरगीत म पारे की सीसी फूटने की चर्चा है—'सीसी फूटि गई (१६१४)। एक विनय-पद में मन को तोता तथा शरीर को पिंजरा (विनय २८६) [सं पिञ्जरं] बताया गया है— मन सुवा तन पींजरा। उर्दू काव्य मे 'क़फ़स' [= पिंजरा] शब्द की बहुत महत्ता है। जायसी ने मंजूसा [सं मञ्जूषा] 'पिंजर और 'काँजी [सं कंजिका] शब्द प्रयुक्त किये हैं।[1] मंजूसा हाथी की अंबारी तथा कठघरे' के अर्थ मे भी आया है।[2] चाँदी सोने के पिंजरे तथा उसकी डंडी का वर्णन भी है।[3] साधारण पिंजड़ा लोहे अथवा बाँस आदि का बनता है।

१५१—घर की अन्य आवश्यक वस्तुओं में संदूकनि, संदूक (९५१२ २११६) [फा० सन्दूक] है। राधा के मोहिनिरी प्रसंग में उनकी माँ कहती हैं— संदूकनि भरि धरे सो न कोऊ री। (२५१२)। नेम-पदों मे भी इसका एक स्थान पर जिक्र है— कञ्चन कुसुम नेमि मंदिर म पच संदूक पट पटई (२११६) यह प्राय लकड़ी का बना हुआ होता है जिसमें दो कुन्दे व साँकरें लगी रहती हैं। दमीदह वन के यादों के लोग परा बड़े संदूक को छिम्मा कहते हैं तथा उससे छोटे को 'छिदूक अथवा 'संदूक'। बिल्कुल ही छोटा 'सिपुल्लिया या संदूकची

१—प सं टी, ११११२, 'बरनौ गीवँ कूंज के रीसी।
कंज नार जनु लागेउ सीसी।
२—प सं टी, ७७।१ 'जब सिंघर हुत कूद परेवा'
७७।२ पाखि मजूसा बेधे पावा।
११८।२ सारदूर रूपे की काँड़ी।'
३—२१४।७ 'कनक कनक मंजूसा साथ पंवर श्री हार।'
२५१।७ 'बेठे तिप मंजूसा साजा।
४—२१८।१,२ 'हंस कनक पिंजर हुति आना। औ अंमित नग परस पखाना।
औ सोनहा सोने की डाँड़ी। सारदूर रूपे की काँड़ी।'

प्रायः तीन पत्र (४ ५४ ४ १ ४ ११) लेकर वृन्दावन आते हैं—कृष्ण वसुदेव-देवकी तथा कुब्जा द्वारा लिखे गये। यह सूर की सुन्दर मौलिक कल्पना है। कृष्ण नंद बाबा तथा यशोदा को विनय पत्र सखाओं को मैत्री भाव से तथा गोपियों को योग का संदेश देते हुए प्रमावेश से पृथक पत्र लिखकर भेजते हैं। भ्रमरगीत शीर्षक पद पत्रों से ही प्रारंभ होता है। कृष्ण के अतिरिक्त कुब्जा भी पत्र भेजती है—'कुब्जा सुन्यो आवत ब्रज ऊधौ महलनि लियौ बुलाइ। अपने कर पाती लिखि राखेहि, गोपिन सहित बड़ाइ। (४ ११)। वह अपनी स्थिति स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है—'हम पर काहे झुकति ब्रजनारी। यामें भाग नहीं काहू को हरि की कृपा निनारी। कुबिजा लिख्यो संदेस सबनि को अरु कीन्ही मनुहारी। हौं तौ दासी कंसराइ की देखी मनहि बिचारी। (४ १२) अथवा 'सखी यह राधा सौं कहियौ... मो पर रिस पावति बिनु कारन मैं हौं तुम्हरी दासी। फिर कभी व्यंग्य-संदेश भी भेजती है—'चाहिए काम्ह तुम्हारे प्रीतम ना बसुदा के जाए। देखी बूझि आपने जिय मैं तुम धौं कौन सुख दीन्हे। ये बालक तुम मत ग्वालिनी सबै मूँड़ करि लीन्हे।। सूरदास प्रभु सुनि सुनि बातें रहे भूमि सिर नाए। इत कुबिजा उत प्रेम गोपकनि कहत न कछु बनि आए। (४ १५)।

मथुरा की ओर निरंतर दृष्टि लगाए गोपियों को पत्र पाने की प्रसन्नता पर उसमें लिखे संदेश से मानो तुषारापात होता है—पाती मधुबन ही तैं आई। सुंदर स्याम आपु लिखि पठई आइ सुनी री माई। अपने अपने गृह तैं दौरीं लै पाती उर लाई.. (४१ ४) अथवा निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती। लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती। (४१ ५) या 'लिखि आई ब्रजनाथ की छाप। ऊधो बांधे फिरत सीस पर बांचत आवै ताप। उलटी रीति नंद नंदन की घर घर भयो संताप। (४१ ७) और 'ऊधो नीकी छांबी चीठी। जोगीनाथ लिखो कर अपनें यामें जोग बसीठो। (४११) तथा 'ऊधो कहा करैं लै पाती। जौ लौं मदन गुपाल न देखैं बिरह जरावत छाती।....यह पाती लै जाहु मधुपुरी जहं वै बसैं सुजाती। (४११५)। गाँव में पत्र मिलने पर अनपढ़ी-लिखी स्त्रियों को दूसरों से पत्र पढ़वाना पड़ता है—'ब्रज में पाती पढ़न न आवै। सुंदर स्याम आप लिखि पठईं कोउ न बाँचि सुनावै। (४१ ६)। भावोद्रेक में पत्र पढ़ना कितना कठिन होता है—नैन सजल कागद अति कोमल कर अंगुरी अति ताती। परसैं जरै, बिलोकैं भीजै दुहूँ भाँति दुःख छाती। क्यो बाँचै ये अंक सूर प्रभु, कठिन मदन सर घाती। (४१ ८)। इन स्थलों में लिखावट के लिए अंक अथवा छाप शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा पढ़ने के लिए बाँचि (११६ ४१ ८)।

भ्रमरगीत की भूमिका-रूप में इन पत्रों के अतिरिक्त रुक्मिणी का कृष्ण को ब्राह्मण द्वारा पत्र भेजने का प्रसंग है—'द्विज पाती दे कहियो स्यामहि। (४७८६) या 'पाती दीजो स्याम सुजानहि। (४७८०)। कुछ स्फुट प्रसंगों में लिखने के साधारण प्रसंग हैं—'अक्षर अरनि करैं हम लेखनि जल-सागर मसि घोरि (१२५) अथवा 'कम-कागद अपित देखो भी न मन पतियाइ। अखिल लोकनि भटकि आयो लिख्यो मेटि न जाइ। (११६) तथा 'ये बतियाँ छतियाँ लिखि राखौं जे नंदलाल कही।। (४ ११)। ब्याज (११ ५) की चर्चा एक संयोग पद में है 'ब्याज नहीं पिय आवहि, क्यों कह्यौ ठगाने। (११७५)।

१५५—मुसल (मिसम) का उल्लेख छन्दों में किया जा चुका है। रसोई में काम आने वाली कुछ आवश्यक चीजों में 'चलनी' [सं चालनी चालिका] चलनी' [सं० चालनी] तथा सूप' [सं शूर्प—सुप्प—सूप] 'सिलबट्टा'[१] [सं शिला + पट्टक] तथा पटा-बेसन' [सं पट्टक + बेसन], 'संडासी [सं संदंशिका] आदि की कमी की ओर ध्यान जाता है जो सूरसागर की शब्दावली में नहीं मिलते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र की बोली में इनको सामूहिक रूप से 'सौंज' कहते हैं। 'सौंज' शब्द अवश्य अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। साथ अन्य छोटी छोटी किन्तु आवश्यक घरेलू चीजों में 'सुई' [सं सूचिका] 'कैंची [तु०] या 'कतरनी' [सं कर्तनी], सरौता झाड़ू आदि को भी गिना जा सकता है।

५—बैठने तथा सोने के उपकरण

१५६—'फर्नीचर' की दृष्टि से सूरसागर से उद्धृत शब्दावली सीमित है। यहाँ थोड़े से शब्द ही उल्लेखनीय हैं। बैठने के लिए आसन (१६५) [सं आसन] का उपयोग अधिक होता था[१]। अतिथि से सर्वप्रथम आसन ग्रहण करने का आग्रह किया जाता था— अरघासन करि हेत बए' (७ १)। भोजन भी अधिकतर आसन पर बैठ कर करते थे— आसन दै चौकी आगै धरि' (१ १४)। कुसासन (२४१) [सं कुश = पवित्र घास विशेष] अथवा कुस साथरी (५६५) पर बैठकर पूजा की जाती थी अथवा ऋषि मुनि बैठते थे। इसे आज भी पवित्र समझते हैं—'कुश-आसन दै तिन्हहिं बिठायौ' (१४१)। समुद्र तट पर सेतु-बंध के समय राम का इसी पर बैठने का निर्देश है—'कुस-साथरी बैठि एक आसन बासर तीनि बिताए। (५६५)। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।[३]

लकड़ी तथा धातुओं से बनी हुई भी कुछ चीजें व्यवहार में आती थीं। इनमें प्रमुख उल्लेखनीय नाम यह है—

चौकी[४] (१ १४) [सं चतुष्की अथवा चतुष्किका—चउक्किकपा—चउक्की— चौकी] इसका उल्लेख भोजन के सिलसिले में है। चौकी पर भोजन के पात्र रखने की प्रथा थी। यह चार पायों की छोटी सी मंचिका होती थी। इस प्रकार खाने का ढंग पंजाब तथा गुजरात आदि में कहीं कहीं आज भी है।

बैठकी (७२८) [हि बैठना] जब शालिग्राम की मूर्ति बैठकी पर रख कर पूजा करते हैं—'देव सहज चंदनहि लिपायौ। चौक देइ बैठकी बनायौ। शालिग्राम तहाँ बैठायौ। धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ायौ। (१६ २)। बाल-गोपाल नंद के मणिमय आँगन में घुटनों चलते तो प्रत्येक मणि में उनकी छाया से कमल बैठकी का भास होता था—

'कनक-भूमि पर कर-पग छाया यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति। (७२८)।

२—तुलसी दोहा , ५६ , थोरेहिं सिल लोढ़ा सदन, लागे अढुक पहार।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ , १४४ फर्नीचर दो प्रकार का था—आसन (बैठने के लिए), शयन (लेटने के लिए)। 'शयनासन' शब्द पालि 'सेनासन' से मिलता है।

३—अनूदी भाग १, पृ ४२ साधारण घरों में लोग जमीन पर बैठते थे। वह प्रायः लकड़ी की बनी चौकी कुरसी, मेज आदि का उपयोग नहीं करते थे। यह लोग प्रायः जमीन पर ही एक कपड़ा बिछाकर सो भी जाते थे।

४—हर्ष चां अ०, पृ ४५, बाण ने हर्ष के चौकी पर बैठने का वर्णन किया है।

यह चित्र आज भी हर घर में देखा जा सकता है।

झोलना (१५८) [सं. हिन्दोल झोलना = हिलना से] झूलने के कारण पालने को झोलना भी कहा गया है—'ले आयो मनि झोलना (हो) बिसकर्मा सुतहार' (१५८)।

खटोला (४८१७) [सं. खट्वा + पोतलक] इसका उल्लेख सुदामा-चरित से संबंधित पद में है—'सुनो बात सुत सुनो खटोला काहू को पलंग कनक पाटी' को। बच्चों की सोने की छोटी खाट को ही खटोला कहते हैं। यहाँ खटोले की पाटी बाँस की बताई गई है। साधारण खाटों की पाटी तथा पाये बाँस के ही होते हैं अतएव सुदामा की निर्धनता की ओर संकेत है। खटोले से बड़ी खटिया और उससे बड़ी खाट होती है। खाट या खटोले की पायेंते की रस्सी या अदवायन ढीली होने पर आज अलीगढ़ क्षेत्र में 'झाँझर झक्का' 'झोंगी' या 'झटोला' कहते हैं।[1] अदवायन की ओर का भाग 'पायंता [सं. पादान्त] होता है। यहाँ की ग्रामीण बोली में खाट खटोला चौकी तख्त पट्टा आदि को सामूहिक रूप से 'आगर' कहते हैं।[2]

पलक (४८४१, ५११) पलंग[3] (४८११, २२९) पलिका (२१४९) [सं. पर्यङ्क पल्यंक] आदि शब्दों का उल्लेख अनेक पदों में हुआ है। यशोदा बालक कृष्ण को पलंग पर सुला देती है—'आप चली गृह-काज कौं तहँ नंद बुलाए' (६८४) अथवा 'जसुमति लै पलिका पौढ़ावति (८१५)। कृष्ण राधा तथा गोपी संयोग प्रेम तथा भ्रमरगीत के पदों में भी निर्देश है—'आए स्याम उनींदे आतुर पलिका पौढ़ी पलोटिहीं पाइ।' अथवा 'स्यामा सदन सिधारि भये पुर पंचस भारि पलंग।' (४१६५) तथा 'तरुनाई तन की बदि आवन बड़ी पलंग मन ताकी पासी।' (४९५५)। सुदामा जब अपने बाल-सखा कृष्ण का दर्शन करते हैं तो वह सुन्दर पलंग पर लेटे हुए थे और रुक्मिणी चँवर से हवा कर रही थीं—'पौढ़े हैं परजंक परम रुचि रुकमिनि चौंर डुलावत तीर (४८४९)। उनको भी आदरसहित सुवर्ण के पलंग पर बैठाया गया—आदर करि मंदिर लै आए, कनक पलंग बैठाए' (४८११)। पलंग की सोने चाँदी की पाटी तथा पाए राजसी वैभव में आते थे। कुछ स्फुट प्रसंगों से यह उदाहरण लिए गए हैं—'पुहुप-प्रजंक परी नवजोबनि (५१९) अथवा 'टूटी छानि मेघ जल बरसै टूटौ पलंग बिछइयै' (२९९)। बड़ी खाट को पलंग कहते हैं। प्रायः इसकी बुनावट निवाड़ से होती है तथा पैताने और सिरहाने टेक लगी होती है जो प्रायः कलात्मक नक्काशी तथा आकृतियों से अलंकृत होते हैं। पलंग का संबंध धनवानों से है। यह उपर्युक्त पदांशों से भी स्पष्ट है।[4]

१—प. सं. टी., ८११।५ 'सीसु लाइके पाटी बाँधा।'

२—अ. की., पृ. ६, संख्या १।

३—अ. की. पृ. ६, संख्या ५।

४—प. सं. टी., २९११४५ 'अमर रतन कसौटा बाना।
ओ सुठि सुरंग बिछाव बिछावा।
तेहि मँह पलंग सेज की डासी।
आ कहँ देखि रती सुखवासी।'

५—अकबर, भाग १, पृ. २७२ सुल्तानकालीन जनवर्ग में निवाड़ के पलंग उपयोग में आते थे। अन्य व्यवहार में आने वाली चीजों में पीढ़ी, मूँढा, लोहे के स्टूल (साधारण वर्ग में) तथा लकड़ी के दीवान (श्रीमन्तों के घरों में) थे।

खण्ड १२

मनोविनोद तथा वाहन

७—मनोविनोद के साधन

१५८—स्ठाम-स्कम्म पूर्वार्द्ध के प्रारंभिक पदों व बाल-लीलाओं के सिलसिले में कृष्ण के कुछ प्रिय खेलों तथा खिलौनों का कई जगह अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन है। इन पदों से उस समय ब्रज में प्रचलित बच्चों के मनोविनोद के प्रिय साधनों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

पालने में झोंके खाते अनेक खिलौनों (७ २) द्वारा शिशु का ध्यान आकर्षित होता है। कुछ और बड़े होने पर झुनझुना (७८८) ही उनका मुख्य खिलौना है—झुनझुना कर ईंस हुरि हुर नवत डमरु बजाइ (७८८)। यह बच्चे का छोटा खिलौना नन्हें बच्चों का मन भी बहलाता है। इसको आजकल झुनझुना भी कहते हैं।

कुछ बड़े होकर बालक कृष्ण जब घर में सखाओं के साथ खेलते हैं तब कुछ नये खिलौने उनको प्रिय हो जाते हैं। इनमें भौंरा (१२८०) [सं भ्रमरक] चकडोरी अथवा चकई डोरी (१२८० ८१) [सं चक्र चक्रिका] के नाम हैं—"दै मैया भौंरा चक डोरी। जाइ लेहु आरे पर राखी काल्हि मोल लै राखे कोरी—आनि लिए सब सखा संग के खेलन लागे मोद की चोरी। ढेंढि हुरि ढेंढि सब बालक कर भौंरा चकरिनि की डोरी। भौंरा को आजकल लट्टू कहते हैं। चकई एक लट्टू की तरह का ही काठ का खिलौना होता है जो डोरी में बांध कर हवा में ऊपर नीचे खींच-खींच कर खेलते हैं। इसकी डोरी (१२८३)। भौंरा को आजकल लट्टू कहते हैं। चकई—चकडोरी का रोग गई फिर गुन ही 'चकडोरी' कहलाती है—'ऊधो हरि गुन हम चकडोर।—चकडोरी भी बच्चों को उतने ही प्रिय हैं। ही सी लपटाइ। (४१६२)। यह काठ के खिलौने आजकल भी बच्चों को उतने ही प्रिय हैं। अन्य प्रसाद लोपक पदों में एक जगह यशोदा चकई डोरि का प्रलोभन देकर सबरे घोर उनका ध्यान बटाना चाहती है—चकई डोरि पाट के लटकन लेहु मेरे लाल खिलौनो। (८१)। रंग बिरंगी डोरी बच्चों को अधिक पसन्द आती है—लै आए, हेंसि स्याम दुरवही रेंग रही रैंग रैंग बहु डोरी (१२८७)।

१६—घर के बाहर खेलने की चीजों में गेंद (११५१) [सं गेंदुक कंदुक] (१११ ८११) [प्रा रख्या कंदुक (४१११) [सं कंदुक] तथा चौगान-बटा (१११) सखाओं का प्रमुख इन पर गेंद चौगान + सं वट—गोली गेंद] उल्लेखनीय नाम है। सखाओं का एक खेल हुइ बोट्टा।

१—सं पं० टी ४८३।६ 'हेंदुरि एक खेल है जो कई है। कई मुसलमान खेलार

(१) हेंदुरि की कल्पना चौगान के खेल से की गई है। मार्केट प्रसन्नरी के अनुसार मुसलमान के समय में गेंद डाल कर पड़ी से खेलते हैं। ऐसा लगता है हेंदुरि सन् ११ वीं १७ वीं को में यह खेल बहुत प्रिय था। उसके बढ़े के लिए प्रयुक्त होता था। होर खेलार रत पूरी मकेला।

समयों में चौगान या उसके [illegible] चौगान युवक रत खेला।

प सं टी० ११६।६ पहुँ

—औमि देहल गोइ ले आई।

(४) गोर = गेंद [प्रा पृष]।

प० सं टी ११६।८ 'खेलों कीहु साहि ली हुला जबत नहीं होर

(५) हुला = चौगान के मदान में बने दो खम्भे जिनमें से गेंद निकालते हैं।

खेलने का वर्णन है—'खेलन चले कुंवर कन्हाइ। कहत घोष निकास जैये। जहां खेलैं बाइ। गेंद खेलत बहुत बनिहैं ग्वाली फोकट बाइ। (११६)।[1] श्रीदामा की गेंद यमुना में गिरना कालिय-दमन-कथा की भूमिका कही जा सकती है। गेंद खेलने का सजीव चित्रण मिलता है— 'इक मारत इक रोकत गेंदहि, इक भागत करि नाना रंग।—मचत जो जाहि ताहि सो मारत खेल आपनी दाव (११५१) अथवा 'स्याम सखा को गेंद चलाई। श्रीदामा मुरि अंग बचायी गेंद परी कालीदह जाई। जाइ गहो तब फेंट स्याम की देहु न मेरी गेंद मंगाई' (११५३) तथा 'जानि-बूझि तुम गेंद गिराई, पर दीन्हें ही बने कन्हाई। (११६१)। खेल में दाव अथवा दाँव का अर्थ 'बारी' का होता है।

चौगान तथा बटा आज के 'पोलो' से मिलता-जुलता खेल था। द्वारिका में भी रुक्मिणी का पत्र मिलने के पहले कृष्ण के चौगान खेलने का वर्णन एक पद में है—'मन-मोहन खेलत चौगान। द्वारावती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान।[2]—निकसे सबै कुंवर असवारी[3] उच्चैश्रवा के पोर। गोल बुरंग कुमैत स्याम देहि पर के सब मनरंग।—जबहीं हरि से गोइ कुराबत कंदुक कर सों लाइ। तबहीं ग्रीवकहीं करि भावत हलधर हरि के पाइ। (४७८४)। हाल (४७८४) वर्तमान 'पोलो' के लिए प्रयुक्त होने वाला पारिभाषिक शब्द था। क्रमागत में खेलार, 'घोरा' (घोड़ सवारी करने वाला) तथा 'कूरी' शब्द अधिक विशेष[4] बने हैं। यहाँ चौगान के खेल का स्पष्ट वर्णन है। द्वारावती का चौगान घोड़े पर खेला जाने वाला राजसी खेल है किन्तु बचपन का चौगान बटा सम्भवतः गेंद बल्ले के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—'लै चौगान-बटा अपनै कर, प्रभु आए घर बाहर। (१४११) अथवा सुबल श्रीदामा सुदामा ब भए एक ओर। और सखा बँटाइ लीन्हे गोप-बालक-वृ द—बटा धरनी डारि दीनो लै चले ढरकाइ। आपु अपनी घात निरखत खेल जम्यौ बनाइ। (८१२)।

११[5]—माता उनके सब खिलौने ठाम को सँभाल कर रख देती हैं। बच्चों के स्वभाव का कितना स्वाभाविक चित्रण है—

'सैंतति महरि खिलौना हरि के।
जानति टेव आपने सुत की रोवत है पुनि मरि के।
भरि चौगान बेत मुरली भरि, भर भौंरा चकडोरी। (१११)।

उनको यह भी भय है—'यहं वहं डारे रहत खिलौना राधा आनि धै जाइ चुराई' (११३८)।

गेंद [सं. कंदुक्] भी कृष्ण के खिलौनों में था। आज भी छोटे बालकों को गेंद या

1—तुलसी गीता बाल० १६, अनुज सखा सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान।
2—ना. स. टी. ४२७८१ 'होइ मैदान परी सब थोर।
(१) सनुलब्भात ने 'मैदान' शब्द का प्रयोग किया है। यह वह भूमि होती है जहाँ चौगान खेलना सम्भव होता है।
3—ना. स. टी० ४२२।२ 'चोमेन तुरै चढ़ी की रानी।
4—वही ४२७।४ हाल सो करी गोइ ले जाता। गुरी गुरी बीच ले जाता।'
(५) 'घोड़' के लिए प्राचीन शब्द 'घोडा तथा कंदुक' थे। सूरसागर में इन शब्दों का ही प्रयोग है। वर्तमान 'पोलो' को 'हाल' कहते थे। इसमें से गेंद निकालने पर बाजी होती थी। सनुलब्भात ने इसका उल्लेख किया है। इसका भारतीय समानार्थक शब्द 'कूरी' था।

ऐसा प्रतीक पूरावान खिलौनों से अधिक प्रिय समझता है और वे इससे तरह-तरह —
है। चकडोर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कन्हा भी उसके द्वारा मनोरंजन करता है यह —
करते हैं — गोई खेल बिपान बाँसुरी हार मोर सबई। वे बनि आह मुरह राधिका कमुख
खिलौना देई। (४०५७)। [दे० चुरामान] प्रस्तर बच्चों को बहुत अच्छी लगती

गुड़ घी-माख (१७८०) कर के उससे खेलना उसका उत्तम मनोविनोद है—
है। बाल देव की गुड़ियाँ जमा कर के उससे खेलना उनका उत्तम मनोविनोद है—
'जदपि महाराज सुख संपति कौन बनी मति जानहिं।
तदपि सूर वे छिन न तजत हैं वा मधुरी की मानहिं।।'
'गुड़ी डोर' (२५७१) का उल्लेख है— जैसी दृष्टि ज्यों गुड़ी डोर
स्थूल प्रसंगों में गुड़ी डोर — कृष्ण तथा उनके सखाओं के उड़ाने का वर्णन नहीं है। पतंग
इस पाई लागी पावहि। । कृष्ण तथा उनके सखाओं को बहुत प्रिय लगता है। बहुरों में शाम के समय छत पर
महाप्रा प्राय प्राय छोटे लड़का को बहुत प्रिय लगता है। लड़कियों की प्रिय गुड़िया
बड़े हुए लड़कों की रंगबिरंगी पतंगें आकाश में दिखाई देती हैं। लड़कियों की प्रिय गुड़िया
(४२५१) या पुतली (४११२) [दे० पुतली] का बोध कुछ स्थूल प्रसंगों से होता है—
'इस पाती बिन मोल की ज्यों गुड़िया बिनु डोरी। —इस पंक्ति में समवत कठपुतली
के खेल की ओर संकेत है। ज्यों ऊपर डोरे की पुतरी को पूर्व को मानै (४१११)—यहाँ
'पुतरी' शब्द ४९ प्रतिमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बंदर के नाच का यहाँ परिचय मिलता
है—'नंद-नगरि बाँधि बाँधि कपी ज्यों नचाई (१ १२)। यह खेल बच्चों को मानकर
भी आकर्षित करता है। कठपुतली वाला पुतलियों को डोरे से बाँधकर नाने के साथ त-
तरह के खेल दिखाता है। यह खेल प्राचीन समय से चला आ रहा है।

इसके अतिरिक्त बच्चों के दौड़-दौड़ कर खेलने के अन्य खेलों में से कुछ की चर्चा है,
जैसे आँखि मुदाइ (४६७)— हरषि स्याम सब सखा बुलाए खेलन आँखि मुदाई। यशोदा
कहति अपने वाले आँगन में खेलने का आग्रह करती है— मेरे आगे खेल करौ कछु, मुख
दौरे देखा करे। मैं मूँदौ हरि आँखि तुम्हारी बालक रहौ लुकाई (८६७) अथवा हरि तब
अपनी आँख मुदाई। सखा सहित बलराम छपाने जहँ-तहँ गये भगाई। कान लागि कह्यौ
जननि यशोदा या घर में बलराम। बलदाऊ को आवन देहौ श्रीदामा सों काम। दौरि दौरि
बालक सब आवत छुवत महरि की गात—हुँति-हुँति तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर'
(२४)। यह खेल आज भी इसी प्रकार खेला जाता है। जिस निश्चित स्थान या वस्तु को
छूना होता है उसको बढ़ी बढ़ी देना कहते हैं जैसा कि इसमें माता यशोदा को छूने का वर्णन
है। जो सब को पकड़ता है वही 'चोर' कहलाता है। चोर का किसी विशेष साथी को पक
डने का निश्चय करने के बाल-स्वभाव के ज्ञान का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त तारी बजाकर भागने का भी एक खेल था— हाथ तारी देत भाजत
सबै करि करि होड़। हैरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जाय। उठे बोलि तबै श्रीदामा जाहु
तारी मारि। आगे हरि पाछे श्रीदामा धर्यो स्याम हुँकारि। जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ो छुवत
कहा जु मोहिं।'

१—तुलसी दोहा ५११ बनै कहूँ चंद ज्यों।
दोहा ६ १४ —ज्यों गुड़ी बिन बाव।
तुलसी की कवितावली में पतंग 'चंग' तथा 'गुड़ी' दोनों शब्दों का प्रयोग
मिलते हैं।
२—प० से ही ७१८ 'जागहु गात लगाई कोई।'

कह्यौ जु मोहिं । (८३१) । इस प्रकार खेल में बच्चों के लड़ने व चिढ़ने का स्वाभाविक चित्रण है—'खेलत मैं को काको गुसैयाँ । हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ' । (८६३) ।

३६२—श्रीकृष्ण का प्रिय मनोविनोद वेणु (१२६५) मुरली (१३३) बंसी (१२६६) बाँसुरी (अथवा १२६७) मुरलिका (१२७४) वादन था । मुरली शीर्षक अनेक पदों की रचना हुई है । वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार मुरली ब्रह्म की उस आनन्ददायिनी शक्ति की प्रतीक है जो संसार से विकर्षित कर ब्रह्म तक पहुँचाती है । सूरसागर के अनेक पदों में मुरली का इसी प्रतीक रूप में वर्णन है—'बाँसुरी बजाइ आछे रंग सौं मुरारी—जमुना जू थकित भई नहीं सुधि सभारी । सूरदास मुरली है तीनि-लोक प्यारी । (१२६७) अथवा 'बंसी बनराज आजु आई रन जीति (१२६८) अथवा 'जब तैं बंसी स्रवन परी । तबही तैं मन और भयौ सखि मो तन-सुधि बिसरी (१२६९) । पशु-पक्षी गायें तथा यमुना तक पर मुरली ध्वनि का प्रभाव पड़ता है । विशेष भावनाओं की प्रतीक राधा तथा गोपियाँ तो सांसारिक बंधनों को भूल कर खिंची चली आती थीं—*मुरली-धुनि स्रवन सुनत भवन रहि न परै'* (१२७) अथवा 'जबहिं बन मुरली स्रवन परी । चकित भई गोप-कन्या सब काम धाम बिसरी । अथवा 'कुल मर्जाद बेद की आज्ञा नैकहुँ नहीं डरी । (१६१८) तथा 'जबहि बन बेनु सुनत सब धाइ । मातु-पिता बांधव अति त्रासत जाति कहाँ अकुलाइ । (१६२१) । मुरली-ध्वनि का जादू ऐसा था कि वह आभूषण तथा शृंगार सब उलटे करने लगती थीं और आतुरता से मिलने की एक चाह ही बस रह जाती थी—'अंग आभरण उलटि साजे रही कछु न सम्हारि । (१६२५) *गोपिनि परम कंठ हरि लाग्यो लख्यौ न कहा प्रभाउ* (१६२६) तथा 'जाके पिता मातु है जाकी काहु हम नहि जाने (१३६) ।

रास प्रसंग म भी मुरली का महत्त्वपूर्ण स्थान है । मुरली के आकर्षण से दौड़ कर आई आकुल गोपियों को यह परम-आनंद मिलता है—'रास रस मुरली ही तैं जान्यौ' (१६७०) । मुरली-माहात्म्य अनेक पदों म वर्णित है—'मुरली धुनि बैकुंठ गई । नारायन-कमला सुनि दंपति अति रुचि हृदय भई । (१६८२) *अथवा जब हरि मुरली नाद प्रकास्यौ । जंगम जड़* थावर चर कीन्हे पाहन जलज विकास्यौ (१६८४) तथा 'जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु' (१६८५) ।

गोचारण-शीर्षक पदों मे भी मुरली बजाने का वर्णन है—'वृन्दावन तैं धेनु-वृन्द मैं बेनु अधर धरे आवत ।

मुरली पर कृष्ण का विशेष प्रेम देख कर गोपियाँ कभी तो उसके सौभाग्य से प्रसन्न होती हैं तथा कभी सपत्नी भाव से झुंझलाती हैं—मुरली कौन सुकृत-फल पाए (१२७६) अथवा 'सखी री मुरली लीजै चोरि । जिनि गोपाल कीन्हें अपने बस प्रीति सबनि की तोरि । (१२७५) अथवा मुरली भई सौति बजाइ' (१८१२) तथा मुरली हम पर रोष भरी । अंग हमारी आपुन अँचवत नैकहुँ नहीं डरी । (१८९) तथा 'जाके गुन मैं जानति हौं' (१८०३) । मुरली उत्तर संबंधी कुछ पद (१६४८ १६५१) है—'गोपर कालिन कहा रिसात । —मैं बँसुरिया बांस की जो ती भई अधीन—। (१६५१) अथवा—'मेरे कुच की और नहीं । पररितु सीत तपा बरषा मैं ठाढ़े पाइ परी—तुम जानति मोहिं बांस बसुरिया अगिनि छाप दै आई । (१६५४) तथा 'सम करिहौ जब मेरी सी । तब तुम अधर-सुधा-रस विलसहु मैं हौं रहिहौं चेरी सी । अगिनि सुहाग (१६५५ १६५८) का उल्लेख है—

मोर' (१४४९) अथवा 'हुलसति पिय संग खेलति झूलक ललति स्यामल गात ।' (१४५१) 'झमकि झूलक लेति दै झुलनी मचै छबि फेन' (११५६)। झमकि तथा झूलक झोंटा (१४५१)—'सखिता विसाखा देहि झोंका' (२२५१) खेल को भाव पेंगें बढ़ाना भी कहते हैं। खेल झूलने का यह ढंग होता है। झूले के साथ गाने का भी उल्लेख है—'गान्ही गान्ही बूंदनि बरसै मधुर मधुर धुनि बोरनों' (१४५) अथवा 'राग रागिनी मेलि गावै (१४४९) और 'कजरी गावति कोउ हरषि झुलावति' (१४५२)।

३६४—कुछ विनय पदों में नगरों तथा राजा-श्रीमन्तों के प्रिय सुरुचिपूर्ण प्रचलित प्रसिद्ध खेल चौपरि, पासे[१] (१) [सं पाशक] का रूपक है। चौपड़ के हाथी दाँत के चौकोर लम्बे तीन टुकड़े को 'पाँसा' कहते हैं। इस दृष्टि से पद १ महत्त्वपूर्ण है— चौपरि जगत मड़े युग बीते। गुन पाँसे क्रम अंक चारि गति सारि न कबहुँ जीते। चारि पसार दिसानि मनोरथ घर फिरि फिरि गिनि आवै—भानी जम जमघात प्रथम दिसि आठ सात-दस लावै। पोड़ष-युक्ति, युवति चित पोडष बरस निहारै।—पंद्रह पिय अबलम्ब चौदह दस चारि पढ़ै सर साधै। तेरह रतन अमोल अधि पधि हारस पटन धरा जब बाँधै। नहिं दचि पंच पयादि अरुनि पकि पंच एकादसि ठानै। नौ दस आठ प्रकृति तृष्णा सुख सदन सात संधानैं। चौक अचार भरे दुविधा छकि रस रचना रचि भारी। (१)। इसमें गिनती या संख्या का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है तथा चौपड़ के कुछ पारिभाषिक शब्दों की ओर ध्यान जाता है। बाजी हारी (१) का अर्थ हारना है। युधिष्ठिर का चौपड़ में द्रौपदी तक को हारने की कथा है।

जुआरी जूआ (२९)[३] [सं द्यूत] 'जूआ खेलत कहाँ जुआरी'—जुआ का

१—तुलसी गीता ७ १९ अति भवत कुटिल कुटिल कच छबि अधिक सुन्दर पाल्हीं।

पट उकुत भूषन ललत हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १६५, शतरंज के अतिरिक्त आकर्ष पर खेला जाने वाला एक और खेल था जो भारतीय चौपड़ से मिलता था। इसमें पासे होते थे। इस प्रकार चौपड़ को प्राचीन खेलों में गिना जा सकता है।

प सं दो ११२।१ 'खेलु सारि पाँसा तौ आवै।'

(१) सारि [सं सारि = गोट] ११२।७ खेली के हिया' कच्चे बाढ़ु' 'रहै न आठ अठारह बाजा' 'सतएं घरें' 'दुवा' 'दुपसारि' 'नवगेहु' 'सोरिया' आदि शतरंज के पारिभाषिक शब्दों तथा दाँवों का प्रयोग किया है।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ १६१, १६२, ऋग्वेद से ही शतरंज का उल्लेख मिलने लगता है। अष्टाध्यायी में 'द्यूत' अथवा 'अक्षद्यूत' नाम मिलते हैं। जुआरी को 'आक्षिक' कहा गया है। पतंजलि के अनुसार जुए की मानव वाला व्यक्ति अक्ष-कितव' या 'अक्ष-धूर्त' था। कितव (जुआरी) प्राचीन वैदिक शब्द है। यह शब्द इसी अर्थ में बौद्ध साहित्य तथा महाभारत (सभापर्व) ५८।४ में मिलते हैं। अष्टाध्यायी तथा अर्थशास्त्र के अनुसार यह खेल अक्ष तथा शलाका दो प्रकार से खेला जाता था। अजन्ता के चित्र में अक्ष चौकोर टुकड़ों के रूप में चित्रित है। संस्कृत साहित्य में 'अक्ष' का अर्थ दाँव रहा है पासा नहीं। वैदिक साहित्य में पासा का ही अर्थ था। शकुनि के विचार से 'अक्ष' के कारण ही द्यूत निंद्य खेलों में गिना जाने लगा।

तथा अन्य विभिन्न खेलों के अतिरिक्त उत्सव त्यौहार तथा दावतों आदि को भी गिना जा सकता है। रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक नृत्य गायन चित्र-प्रदर्शनी तथा काव्य-रसास्वादन कलाप्रियता के उदाहरण हैं। मनोरंजन के नवीन साधनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रेडियो तथा चित्रपट का है।

गाँवों में आज भी विशेष अन्तर नहीं हुआ है। वहाँ लोग आज आल्हा ढोला भागवत महाभारत रामायण-पाठ नौटंकी मेला त्यौहारों तथा उत्सवों से ही प्रमुख रूप से अपना मनबहलाव करते हैं। वहाँ बच्चों के खेलों में कबड्डी मुकाछिपी गेंद गोली आदि को गिना जा सकता है। सावन के महीने में लड़कियों के झूले भी दिखाई देते हैं और गुड़िया के खेल उनको विशेष प्रिय होना स्वाभाविक है।

२—वाहन

३६६—सूरकालीन कुछ सवारियों का ज्ञान भी उनके काव्य से होता है। रथ की सवारियों में उन्होंने थोड़े से नामों का प्रयोग किया है—रथ अथवा स्यंदन (२६,४ १ ४ १ २७) [सं०] सेना के चार अंगों में प्राचीन काल से ही रथ का स्थान रहा है। सेना संबंधी शब्दावली में इसके बारे में बताया जा चुका है। सूरसागर के सभी युद्ध प्रसंगों तथा रूपकों में रथ का उल्लेख है ही इसके अतिरिक्त प्राचीन समय से ही श्रीमंत नागरिकों की प्रमुख सवारी रथ थी। राजा तथा सामन्त हाथी व घोड़े की सवारी भी करते थे[1]। सूर काव्य में मथुरा नगर से आने वाले कंस तथा कृष्ण के संदेश-वाहकों अक्रूर तथा उद्धव के रथों का अनेक पदों में वर्णन है—'आयसु पाइ सुफलक रथ कर बाहि, अनुपम तुरंग साज[2] खूब जोह्यौ। (३५५६) 'यह सुनि रथ हाँकि दियौ नगर परयौ पार्छ। (३५६२) अथवा 'ठाढ़े चितवैं धाइ स्याम की उड़त न रथ की धूरि। (३५७६)। अक्रूर रथ में बिठाकर कृष्ण बलराम तथा सब आदि को मथुरा ले जाते हैं—'केतिक दूरि गयौ रथ माई। नंद-नंदन के चलत सखी ही धूरि क्यों मिलन न पाई। (३६१५) अथवा सखी री वह देखौ रथ जात। कमल-नयन काँधे पर पीत बसन फहरात। (३६१६) और जब रथ भयौ अदृश्य अगोचर लोचन अति अकुलात। (३६१६) तथा 'सबै अजान भई तिहि औसर, कछु रथ न चढ़ी। (३६१८)।

इस प्रकार अक्रूर का रथ अपने साथ ब्रज का सुख तथा आनन्द लेकर चला गया और वह इस अचानक पड़े दुख के आधिक्य के कारण कुछ कह भी न सके—'वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही। चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी कहि न सकति कछु काम दही। (३६२२)। दुबारा फिर मथुरा की ओर से रथ आते देख कर श्याम के आने को

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १४८, सवारियों को अष्टाध्यायी में 'वाहन' या 'वाह्य' कहा गया है। यह दो प्रकार की थी—भूमि तथा जल की। जल के वाहन को 'उद-वाहन' कहते थे। साधनों के अनुसार 'पशु-वाहन' 'चरवाहन', 'चर्म-वाहन' आदि नाम होते थे। पाणिनि काल में भी रथ धनिकों की सवारी थी। कई रथों को सामूहिक रूप से 'रथ्या' या 'रथकट्या' कहा जाता था। पतंजलि ने रथ में जुते जानवरों के अनुसार भी विभाजन किया है—'आश्व रथ' 'औष्ट्र-रथ' तथा 'गार्दभ-रथ'।

२—प० सं० डी० ४६१८ अनुमान के रथवाह—रथ के घोड़े को रथवाह कहा है। मानस ६, ८० 'नभ रथ तुरग चित्कार कठोरा।

कुरुक्षेत्र तक जाते हैं। गाँव के लोग शकट में किस प्रकार मस्ती करते यात्रा पूरी करते हैं इसका स्वाभाविक चित्रण है— अपने अपने सकट साजि कै मिलन चली ग्रमिलाषी। कोउ गावत कोउ बेनु बजावत कोउ उतावल धावत' (४२०)।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त शकटासुर-वध उनके अलौकिक-चरित में महत्वपूर्ण स्थान रखता है— सकट रूप धरि असुर सीधौ तिरछौ महराव सकटा संहार्यौ (१८) समर्थे सूर सकट पग ठेलत (१८१)। शकट को बैल खींचते थे तथा रथ को अधिकतर घोड़े। शकट प्राचीन समय में सामान ले जाने के काम आता था। इसमें जो बैल जोते जाते थे उनको शाकट कहते थे। अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख है। पतंजलि ने इन गाड़ियों के काफिले को 'शाकट-सार्थ' कहा है। बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार के पाँच सौ गाड़ियों के सार्थ के अनेक उल्लेख हैं। यह सार्थ पूरे देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को 'वणिज' ले जाने के साधन थे।[1]

१९८—जल की सवारियों में नौका, नाव[2] (६६,८८४,८८५) [सं नौका] का उल्लेख राम-कथा में है— नौका ही चढ़ि मैं जाऊँ' (४८५) तथा मेरी नौका जनि चढ़ौ त्रिभुवनपति राइ। (४२१) तथा 'महाराज रघुपति इत ठाढ़े तैं कत नाव दुराई (४८४)। राम की चरण-रज से नौका की देहगति कहीं अहिल्या के समान न हो जाये केवट के इस भय का बड़ा वर्णन है। विनय-पदों में नाम-रूपी नौका का बार-बार उल्लेख है— नाहिं चितवत देत सुत-तिय नाम-नौका ओर (९९)। संसार सागर में मनुष्य की जीवन-रूपी नौका का खेवनहार प्रभु ही हैं। यह रूपक हमारे साहित्य में नया नहीं है।

नाव के अलावा बेरौ[3] (४२१) [सं बेड़ा] पोत (७५५) [सं पोत] तथा जहाज (१९८,१८१८) [अ] और बोहित[4] (४२२८) आदि जल-वाहनों का भी उल्लेख हुआ है—'सेमर डारहिं काटि कै बाँधी तुम बेरौ। बार-बार सीपति कहै, धीवर नहिं मानै। (८८५)। पोत तथा 'जहाज' प्रायः समानार्थक हैं। यह नाव से कहीं बड़े होते हैं तथा समुद्र यात्रा के लिए उपयोगी हैं। यहाँ जलधि-कूप न मिलने से यही बोध कराया गया है— जलधि थकित जनु काग पोत को कूल न कतहूँ पायौ री। (७५५) विनय-पदों में मन की तुलना जहाज के पक्षी से की गयी है—'मेरी मन अनत कहाँ सुख पावै। जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै। (१६८)।

१९९—वायु की सवारी में विमान[5] (२८१) का नाम लिया जा सकता है। राम-कथा में इसका उल्लेख है। राम आदि रावण के विमान पर बैठ कर अयोध्या आते हैं—

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि पृ २४८।

२—प सं० टी १४५।७ 'मोर नाव खेवक बिनु पानी ।

३—बेड़ा नावों या जहाजों के समूह को भी बेड़ा कहते हैं। 'बेड़ा पार होना' और बेड़ा गर्क होना' प्रसिद्ध मुहावरे हैं।

४—प सं टी , १४६।४ 'बोहित खीन्ह दीन्ह ले ताहू। १४७।१ चलहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं। १४० (७) बोहित=जहाज [सं बोधित्थ—बोहित्थ] 'बोधि' नाव के नीचे के भाग को कहते हैं। तामिल भाषा में भी 'बोदि' जहाज का एक भाग विशेष है।

५—प सं टी १२२।२ सावा पवमानमिव देवान् ।', १२२।६ 'होय उड़न पवारन भूलहिं। देखि देवान देवता भूलहिं।

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

—श्रीतिम में प्रयुक्त सूरसागर के समस्त सांस्कृतिक नामों की सूची। प्रथम अंक अनुच्छेद [वैराग्य] का तथा दूसरा अंक सूरसागर की पूर्ण पदसंख्या का बोधक है। शब्दों का संकलन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर [प्रथम संस्करण संवत् २ ५ वि] से किया गया है।

शब्दानुक्रमणिका

		१७७।१७२१
		१८८।१९६
ऋणा		
ऋण	ए	२१०।१६ २
एकावलि	ऐ	१२४।१५१४ ३९२१
ऐरावत	औ	१०१।६ ६
		११।७१४ ४२ ७१४
औषधि		
औषधी	क	१०८।११८
		१ ६।
कांच		१४ ।७२३
कांचुरी		१५८।४७४
कांची		१७।४४११
कांजी		११७।८ २ ३१७ ११२
कांजिरि		११।२८ १ ३१७ ११२
कांस		११।२८ १ १४२ ११४ ११६
कंकन		२ ।११२ ११४ ११६
कंकण		१३१४ ११६
कंचन		१७७।५२४
		५७।११४
कंचनपुर		११।११३२
कचनहार		२८१।१८८५ ११६ ४८ ४
कंचुकी		११।२१५ १ २१७४
कंचु		२८४४२१ २१२
कंज		४१११ ११८४
कंथा		११ ।४१११
		११।११७२, ७११२४१
		१ ४।११ २५११
कंदुक		११।११७८, २१८
कंदर्प		२१२।११६
कुंदर		११७।१२११ १७ ६
कुंदी		११२।४ ४,
कद		७।१४४२
कंद		७८।७४२
कंठ		१४११।७८५
कंठी		१४२।४६१६
कंपक		२७४।११८
कचरी		१२५।१८११
		११।११८११
		११।११८११
		११।११८११
कचनारी		११४।१८११
कचरी		१५५।१८११
कचोरा		१ ७।१७६ १७१
कचोरी		१ ७।१७६ १७१
कच्छ		१ ७।१७६ १७१ २२ ५१२८,
कच्छप		११२।१८८ ४४११
कच्छप		४८११ १४ १८११ ४४११
कटक		११।१ १४ १८११ ४४११
		११।१ २ ७११
कटोरा		७८।० २ ७११
कटोरी		१५७।१८११
कटुआ		११।१७ ६ १ ८,१४१७
कठौ		११।१७ ६ १ ८,१४१७
कदम		११।१७ ० २०१ १०४१
कर्दम		११।११ ४ १५१ ४४२
कदली		२१ ।१४२ १४८ ११६
कनुआ		१११४ ११०
कनक		१७७।१५१
		१७७।१११
कनकपुर		११।१५११
कनकपुरी		११।१०११
कनसार		१२०।११११
कनिमाटी		१२७।१११४
कनीर		१४७।१४
कनेल		१० ।१७११, १ २
कनील		१ ।११२
कपी		२११।१७७,११८१
कपिराज		१७७
कपूर		११८।१२७७
		६१।११४१ ४२०१
कपोल		१४२।११०२
कमरी		१४२।११०२
कमंडल		
कमंडली		
कुंडल		
कुंडलपुर		

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका
